जैन आगम साहित्य
मनन और मीमांसा

[जैन वाङ्मय का परिचयात्मक अध्ययन]

लेखक
राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्यायप्रवर
श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के सुशिष्य
देवेन्द्र मुनि शास्त्री

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०)

- विषय
  आगमों एवं व्याख्या ग्रन्थों का परिचयात्मक अध्ययन

- आशीर्वचन
  उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज

- लेखक
  देवेन्द्र मुनि शास्त्री

- प्रथम प्रवेश
  मई १९७७
  ज्येष्ठ सुदी १०, वि० सं० २०३४
  वी० नि० २५०३

- प्रकाशक
  श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
  शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

- मुद्रक
  श्रीचन्द सुराना के लिए
  दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-२८२००४

- मूल्य : चालीस रुपये मात्र

Published on the occasion of the Deeksha Golden Jubilee of
Adhyatmayogi Upadhyaya Sri Pushkar Muniji

JAIN ĀGAM SĀHITYA: MANAN AUR MIMANSA

[A Panoramic Study of Jain Canonical Literature
with comparative study of relevant
Buddhist & Vedic Sacred Texts]

By
Devendra Muni Shastri
Disciple of
Rajasthankesari Adhyatmayogi Upadhyayapravar
Sri Pushkar Muniji Maharaj

Published by
Sri Tarak Guru Jain Granthalaya, Udaipur (Raj.)

Sri Tarak Guru Jain Granthmala Publication No. 71

O *Subject*
A Panoramic Study of Jain Canonical and Commentory Literature

O *Ashirvachan*
Upadhyaya Sri Pushkar Muniji

O *Author*
Devendra Muni Shastri

O *First Edition*
May, 1977 A. D.
Jyestha Shukla, 10, Vikram Samvat 2034

O *Publishers*
Sri Tarak Guru Jain Granthalaya
Shastri Circle, Udaipur (Rajasthan) India

O *Printers*
For Srichand Surana
Durga Printing Works,
Daresi 2, Agra-282004

O *Price* : Rs. Forty only
Rs. 40/- only

जिनकी सुमधुर वाणी ने
हृदय और मस्तिष्क को समान रूप से प्रभावित किया।
जिनकी लोह लेखनी ने
जीवन की दिव्यता और भव्यता का अंकन किया।
जिनके निर्मल जीवन ने
अपार हार्दिक स्नेह एवं सौजन्य प्रदान किया।
उन महामहिम परम श्रद्धेय
प्रज्ञास्कन्ध अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी
उपाध्यायप्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज
के पुनीत कर-कमलों में
सविनय, सादर समर्पित

—देवेन्द्र मुनि

जैनधर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति का मूल आधार आगम साहित्य है। आगम साहित्य की सुदृढ़ नींव पर ही जैनदर्शन व संस्कृति का सुनहरा भव्य-प्रासाद खड़ा है। जैन आगम श्रमण भगवान महावीर की वीतराग वाणी का अपूर्व खजाना है। जब मैं आगम साहित्य को पढ़ता हूँ तब मेरा हृदय आनन्द विभोर हो जाता है। वीतराग वाणी में आत्मा को उज्ज्वल—आलोकमय करने की जो अपूर्व शक्ति है वह छद्मस्थ की वाणी में कहाँ है ? वीतराग वाणी कामधेनु के दूध की तरह निर्मल है। कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न के समान आनन्ददायिनी है।

भौतिकवाद की चकाचौंध में मानव सारपूर्ण आगम साहित्य के पठन-पाठन को छोड़कर निस्सार साहित्य के पठन-पाठन में लगा हुआ है। घर में रही हुई अपूर्व निधि से वह अपरिचित है और दूसरे साहित्य में वह निधि की अन्वेषणा कर रहा है, यह कितनी भयंकर विडम्बना है ?

जैन आगम साहित्य का संक्षेप में परिचय पाठकों को प्राप्त हो सके ऐसे एक ग्रन्थ की आवश्यकता मैं दीर्घकाल से अनुभव कर रहा था। मैंने अपने योग्य शिष्य देवेन्द्र मुनि को इस विषय पर लिखने का आदेश दिया। मेरे आदेशानुसार उसने यह ग्रन्थ तैयार किया है। सम्पूर्ण जैन समाज ग्रन्थ का लाभ ले सके इस दृष्टि से स्थानकवासी व तेरापंथी परम्परा मान्य आगमों के अतिरिक्त मन्दिरमार्गी व दिगम्बर मान्य आगमों का भी परिचय दिया गया है। साथ ही आगमों के व्याख्या साहित्य का भी। तुलनात्मक दृष्टि से जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य के साथ भी तुलना की गई है। अन्त में मूल वीतराग वाणी की व व्याख्या साहित्य की सूक्तियाँ भी दी गई हैं।

संक्षेप में लेखक ने अधिक से अधिक जानकारी देने का प्रयास किया है। मुझे यह ग्रन्थ बहुत ही पसन्द आया है और मुझे आशा है कि जिज्ञासु पाठकों को भी यह पसन्द आयेगा।

देवेन्द्र मुनि पूर्ण स्वस्थ रहकर अधिक से अधिक मौलिक साहित्य का सृजन कर साहित्य के क्षेत्र में अभिनव कीर्तिमान स्थापित करे और वह जन-जन के लिए आदर्श प्रकाश-स्तम्भ बने यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

विजया दशमी
२–१०–७६ —उपाध्याय पुष्कर मुनि
जैन-स्थानक, रायचूर (कर्णाटक)

प्रकाशकीय

जैन आगम साहित्य भारतीय साहित्य की एक अनमोल और महान उपलब्धि है। यह अक्षर-देह से जितना विराट और विशाल है उससे भी अधिक अर्थगरिमा के गौरव से मण्डित है। उस विराट आगम साहित्य का मन्थन कर नवनीत निकालना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं है, यह गुरुतर कार्य तो आगम साहित्य का गहन अध्येता ही सुगम रीति से कर सकता है। हमें परम आह्लाद है कि सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी, प्रसिद्ध वक्ता, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के सुशिष्य श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न तैयार किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आगम साहित्य का महत्त्व, अंग, उपांग, मूल, छेद, पूर्व, प्रकीर्णक, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाएँ तथा दिगम्बर साहित्य और तुलनात्मक अध्ययन, सुभाषित, शब्द कोष आदि पर संक्षेप में सारपूर्ण परिचय प्रदान किया गया है। लेखक ने सागर को एक गागर में भरने जैसा श्रमसाध्य कार्य किया है जो बहुत ही स्तुत्य है, प्रशंसनीय है।

आधुनिक युग में समय की कमी अत्यधिक अनुभव की जा रही है। कम से कम समय में व्यक्ति अधिक से अधिक जानना चाहता है, उनके लिए यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी सिद्ध होगा और जिन्होंने आगम साहित्य का गहन अध्ययन किया है उनके लिए भी इस ग्रन्थ में बहुत कुछ नई सामग्री मिलेगी। मुनिश्री का शोध-प्रधान व समन्वयात्मक दृष्टिकोण सर्वत्र मुखरित हुआ है। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से मुनिश्री सदा दूर रहे हैं। यही कारण है कि आपश्री के साहित्य को जैन-अजैन सभी मूर्धन्य मनीषियों ने पसन्द ही नहीं किया अपितु मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशंसा भी की है।

हमें परम प्रसन्नता है कि हम प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न का प्रकाशन ऐसे सुनहरे अवसर पर करने जा रहे हैं जबकि समाज श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी का स्वर्ण-जयन्ती समारोह विराट रूप से मनाने जा रहा है। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य को आगम प्राणों से भी अधिक प्यारे रहे हैं अतः इस पावन-प्रसंग पर हम यह ग्रन्थ प्रकाशित कर अपने आपको धन्य अनुभव कर रहे हैं। राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति की ओर से विराटकाय अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है जो अभिनन्दन ग्रन्थों की परम्परा में एक विशिष्ट अभिनन्दन ग्रन्थ होगा। साथ ही प्रस्तुत संस्थान से 'जैन कथाएँ' के पच्चीस भाग व श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के प्रवचन साहित्य, निबन्ध साहित्य

और कविता साहित्य के प्रकाशन की योजना है। उसके अन्तर्गत जैन कथाएँ के सोलह भाग, ज्योतिर्धर जैनाचार्य प्रकाशित हो गये हैं। अन्य साहित्य भी प्रकाशित हो रहा है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के शुभाशीर्वाद से एवं उदारमना दानी महानुभावों के सहयोग से एवं श्रीचन्द जी सुराना के सम्पादन-मुद्रण आदि के हार्दिक सहयोग से हम प्रकाशन के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति कर रहे हैं और हमारे प्रकाशन अत्यधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि सभी के सहयोग से हम अधिक से अधिक सुन्दर प्रकाशन कर समाज की अत्यधिक सेवा करेंगे।

—मंत्री,
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

लेखक की कलम से

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेद का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाईबिल का है, इस्लाम धर्म में जो स्थान कुरान का है वही स्थान जैन-परम्परा में आगम-साहित्य का है।

वेद तथा बौद्ध और जैन आगम-साहित्य में महत्त्वपूर्ण भेद यह रहा है कि वैदिक परम्परा के ऋषियों ने शब्दों की सुरक्षा पर अधिक बल दिया जबकि जैन और बौद्ध परम्परा में अर्थ पर अधिक बल दिया गया है। यही कारण है कि वेदों के शब्द प्रायः सुरक्षित रहे हैं और अर्थ की दृष्टि से विद्वानों में एक मत नहीं है। आज तक वैदिक विज्ञों ने अनेक प्रयत्न किये हैं पर अर्थ की दृष्टि से वे एक मत स्थिर नहीं कर सके हैं। जैन और बौद्ध परम्परा में इससे बिल्कुल ही विपरीत रहा है। वहाँ अर्थ की सुरक्षा पर अधिक बल दिया गया है, शब्दों की अपेक्षा अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यही कारण है कि आगमों के पाठभेद मिलते हैं, पर उनमें प्रायः अर्थ-भेद नहीं है।

वेद के शब्दों में मंत्रों का आरोपण किया गया है जिससे शब्द तो सुरक्षित रहे, पर उसके अर्थ नष्ट हो गए। जैन आगम साहित्य में मंत्र-शक्ति का आरोप न होने से अर्थ पूर्ण रूप से सुरक्षित रहा है।

वेद किसी एक ऋषि विशेष के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, जब कि जैन गणिपिटक एवं बौद्ध त्रिपिटक क्रमशः भगवान महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैन आगमों के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर रहे हैं और सूत्र के रचयिता गणधर हैं।

जैन और वैदिक परम्परा की संस्कृति पृथक्-पृथक् रही है। जैन संस्कृति अध्यात्म प्रधान है। जैन आगमों में अध्यात्म का स्वर प्रधान रूप से झंकृत रहा है, वेदों में लौकिकता का स्वर मुखरित रहा है। यहाँ पर यह बात भी विस्मरण नहीं होनी चाहिए कि आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व अणु-विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान आदि के सम्बन्ध में जो बातें जैन आगमों में बताई गई हैं उन्हें पढ़कर आज का वैज्ञानिक भी विस्मित है। जैन आगम साहित्य का इन अनेक दृष्टियों से भी महत्त्व रहा है।

कुछ समय पूर्व पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञों की यह धारणा थी कि वेद ही आगम और त्रिपिटक के मूल स्रोत हैं पर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त ध्वंसावशेषों ने विज्ञों की धारणा में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है कि

आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह पूर्ण रूप से विकसित थी और वह श्रमण संस्कृति थी।

निष्पक्ष विचारकों ने यह सत्य-तथ्य एक मत से स्वीकार किया है कि श्रमण संस्कृति के प्रभाव से ही वैदिक परम्परा ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों को स्वीकार किया है। आज जो वैदिक परम्परा में अहिंसादि का वर्णन है वह जैन संस्कृति की देन है।[१]

आगम शब्द के अनेक अर्थ हैं। उस पर प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने विस्तार से चर्चा की है।

आचाराङ्ग में जानने के अर्थ में आगम शब्द का प्रयोग हुआ है। 'आगमेत्ता-आणवेज्जा'[२] जानकर आज्ञा करे। लाघवं आगममाणे[३] लघुता को जानने वाला। व्यवहारभाष्य[४] में संघदासगणी ने आगम-व्यवहार का वर्णन करते हुए उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किये हैं। प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान है और परोक्ष में चतुर्दश पूर्व और उनसे न्यून श्रुतज्ञान का समावेश है। इससे भी स्पष्ट है कि जो ज्ञान है वह आगम है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरों के द्वारा दिया गया उपदेश भी ज्ञान होने के कारण आगम है।

भगवती[५], अनुयोगद्वार[६] और स्थानाङ्ग[७] में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ पर प्रमाण के चार भेद किये गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। आगम के भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किए गए हैं। लौकिक आगम भारत, रामायण आदि हैं और लोकोत्तर आगम, आचार, सूत्रकृत आदि हैं।

लोकोत्तर आगम के सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम ये तीन भेद भी किए गए हैं।[८] एक अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार और मिलते हैं—आत्मागम,

---

१ संस्कृति के चार अध्याय : पृ० १२५—रामधारीसिंह 'दिनकर'
२ आचारांग १।५।४ ज्ञात्वा आज्ञापयेत्
३ आचारांग १।६।३ लाघवं आगमयन् अवबुध्यमानः
४ व्यवहारभाष्य गा० २०१
५ भगवती ५।३।१९२
६ अनुयोगद्वार
७ स्थानाङ्ग ३३८-२२८
८ अनुयोगद्वार ४९-५० पृ० ६८, पुण्यविजयजी सम्पादित—महावीर विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित
९ अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य।
—अनुयोगद्वार सूत्र ४७०, पृ० १७९

अनन्तरागम और परम्परागम।[१०] आगम के अर्थरूप और सूत्ररूप ये दो प्रकार हैं। तीर्थंकर प्रभु अर्थरूप आगम का उपदेश करते हैं अतः अर्थरूप आगम तीर्थंकरों का आत्मागम कहलाता है क्योंकि यह अर्थागम उनका स्वयं का है, दूसरों से उन्होंने नहीं लिया है किन्तु वही अर्थागम गणधरों ने तीर्थंकरों से प्राप्त किया है। गणधर और तीर्थंकर के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नहीं है एतदर्थ गणधरों के लिए वह अर्थागम अनन्तरागम कहलाता है किन्तु उस अर्थागम के आधार से स्वयं गणधर सूत्ररूप रचना करते हैं।[११] इसलिए सूत्रागम गणधरों के लिए आत्मागम कहलाता है। गणधरों के साक्षात् शिष्यों को गणधरों से सूत्रागम सीधा ही प्राप्त होता है, उनके मध्य में कोई भी व्यवधान नहीं होता। इसलिए उन शिष्यों के लिए सूत्रागम अनन्तरागम है किन्तु अर्थागम तो परम्परागम ही है क्योंकि वह उन्होंने अपने धर्मगुरु गणधरों से प्राप्त किया है। किन्तु वह गणधरों को भी आत्मागम नहीं था। उन्होंने तीर्थंकरों से प्राप्त किया था। गणधरों के प्रशिष्य और उनकी परम्परा में होने वाले अन्य शिष्य और प्रशिष्यों के लिए सूत्र और अर्थ परम्परागम है।[१२]

श्रमण भगवान महावीर के पावन प्रवचनों का सूत्र रूप में संकलन-आकलन गणधरों ने किया, वह अंग-साहित्य के नाम से विश्रुत हुआ। उसके आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद ये बारह विभाग हैं। दृष्टिवाद का एक विभाग पूर्व साहित्य है।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार गणधरों ने अर्हद्‌भाषित मातृकापदों के आधार से चतुर्दश शास्त्रों का निर्माण किया, जिसमें सम्पूर्ण श्रुत की अवतारणा की गई।[१३] ये चतुर्दश शास्त्र चतुर्दश पूर्व के नाम से विश्रुत हुए। इन पूर्वों की विश्लेषण

---

१० अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्तागमे, अणंतरागमे परंपरागमे य

—अनुयोगद्वार सूत्र ४७०, पृ० १७९

११ (क) श्रीचन्द्रीया संग्रहणी गा० ११२
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति गा० ९२

१२ तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणंतरागमे गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणतरागमे अत्थस्स परंपरागमे तेण परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे णो अणंतरागमे, परम्परागमे

—अनुयोगद्वार ४७०, पृ० १७९

१३ धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाई देसया तस्स।
सव्व जिणाण गणहरा, चोद्दसपुव्वा उ ते तस्स॥
सामाइयाइया वा वयजीवनिकायभावणा पढमं।
एसो धम्मोवादो जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० २९२-२९३

पद्धति अत्यधिक क्लिष्ट थी अतः जो महान् प्रतिभासम्पन्न साधक थे उन्हीं के लिए वह पूर्व साहित्य ग्राह्य था। जो साधारण प्रतिभासम्पन्न साधक थे उनके लिए एवं स्त्रियों के उपकारार्थ द्वादशांगी की रचना की गई।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने लिखा है कि दृष्टिवाद का अध्ययन-पठन स्त्रियों के लिए वर्ज्य था। क्योंकि स्त्रियां तुच्छ स्वभाव की होती हैं, उन्हें शीघ्र ही गर्व आता है। उनकी इन्द्रियाँ चंचल होती हैं। उनकी मेधा-शक्ति पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल होती है एतदर्थ उत्थान-समुत्थान प्रभृति अतिशय या चमत्कार युक्त अध्ययन और दृष्टिवाद का ज्ञान उनके लिए नहीं है।[१४]

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि स्त्रियों को यदि किसी तरह दृष्टिवाद का अध्ययन करा दिया जाए तो तुच्छ प्रकृति के कारण 'मैं दृष्टिवाद की अध्येता हूँ' इस प्रकार मन में अहंकार आकर पुरुष के परिभव-तिरस्कार प्रभृति में प्रवृत्त हो जाये जिससे उसकी दुर्गति हो सकती है एतदर्थ दया के अवतार महान् परोपकारी तीर्थंकरों ने उत्थान, समुत्थान, आदि अतिशय चमत्कार युक्त अध्ययन एवं दृष्टिवाद का अध्ययन स्त्रियों के लिए निषेध किया।[१५] बृहत्कल्पनिर्युक्ति में भी यही बात आई है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने और मलधारी हेमचन्द्र ने स्त्रियों की प्रकृति की विकृति व मेधा की दुर्बलता के सम्बन्ध में लिखा है वह पूर्ण संगत नहीं लगता है। वे बातें पुरुष में भी सम्भव हैं। अनेक स्त्रियाँ पुरुषों से भी अधिक प्रतिभासम्पन्न व गम्भीर होती हैं। यह शास्त्र में आये हुए वर्णनों से भी स्पष्ट है।

जब स्त्री अध्यात्म-साधना का सर्वोच्चपद तीर्थंकर नामकर्म का अनुबन्धन कर सकती है, केवलज्ञान प्राप्त कर सकती है तब दृष्टिवाद के अध्ययनार्थ जिन दुर्बलताओं की ओर संकेत किया गया है और जिन दुर्बलताओं के कारण स्त्रियों को दृष्टिवाद की अधिकारिणी नहीं माना गया है उन पर विज्ञों को तटस्थ दृष्टि से गम्भीर चिन्तन करना चाहिए।

मेरी दृष्टि से पूर्व-साहित्य का ज्ञान लब्ध्यात्मक था। उस ज्ञान को प्राप्त

---

१४ तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए य।
इति आइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो त्थीण ॥

—विशेषावश्यकभाष्य गा० ५५२

१५ "इह विचित्रा जगति प्राणिनः तत्र ये दुर्मेधसः ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणामतिगम्भीरार्थत्वात् तेषां च दुर्मेधत्वात् स्त्रीणां पूर्वाध्ययनानाधिकार एव तासां तुच्छत्वादि दोषबहुलत्वात्

—विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५५ की व्याख्या पृ० ४८
प्रकाशक—आगमोदय समिति बम्बई

करने के लिए केवल अध्ययन और पढ़ना ही पर्याप्त नहीं था, कुछ विशिष्ट साधनाएँ भी साधक को अनिवार्य रूप से करनी पड़ती थीं। उन साधनाओं के लिए उस साधक को कुछ समय तक एकान्त-शान्त स्थान में एकाकी भी रहना आवश्यक होता था। स्त्रियों का शारीरिक संस्थान इस प्रकार का नहीं है कि वे एकान्त में एकाकी रह कर दीर्घ साधना कर सकें। इस दृष्टि से स्त्रियों के लिए दृष्टिवाद का अध्ययन निषेध किया गया हो। यह अधिक तर्कसंगत व युक्ति-युक्त है। मेरी दृष्टि से यही कारण स्त्रियों के आहारक शरीर की अनुपलब्धि आदि का भी है।

गणधरों द्वारा संकलित अंग ग्रन्थों के आधार से अन्य स्थविरों ने बाद में ग्रन्थों की रचना की, वे अंगबाह्य कहलाये। अंग और अंगबाह्य ये आगम ग्रन्थ ही भगवान महावीर के शासन के आधारभूत स्तम्भ हैं। जैन आचार की कुञ्जी हैं, जैन विचार की अद्वितीय निधि हैं, जैन संस्कृति की गरिमा हैं और जैन साहित्य की महिमा हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अंगबाह्य ग्रन्थों को आगम में सम्मिलित करने की प्रक्रिया श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में एक समान नहीं रही है। दिगम्बर परम्परा में प्रस्तुत प्रक्रिया स्वल्प समय तक ही चली जिसके फलस्वरूप दिगम्बरों में अंगबाह्य आगमों की संख्या बहुत ही स्वल्प है किन्तु श्वेताम्बरों में यह परम्परा लम्बे समय तक चलती रही जिससे अंगबाह्य ग्रन्थों की संख्या अधिक है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है कि आवश्यक के विविध अध्ययन, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और निशीथ आदि दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से मान्य रहे हैं।

श्वेताम्बर विद्वानों की यह मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बहुत बड़े परिमाण में लुप्त हो गया है पर पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। अंगों और अंगबाह्य आगमों की जो तीन बार संकलना हुई उसमें उसके मौलिक रूप में कुछ अवश्य ही परिवर्तन हुआ है। उत्तरवर्ती घटनाओं और विचारणाओं का समावेश भी किया गया है। जैसे स्थानाङ्ग में सात निह्नव और नवगणों का वर्णन। प्रश्न-व्याकरण में जिस विषय का संकेत किया गया है वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है तथापि आगमों का अधिकांश भाग मौलिक है, सर्वथा मौलिक है। भाषा व रचना शैली की दृष्टि से बहुत ही प्राचीन है। वर्तमान भाषा शास्त्री आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। स्थानांग, भगवती, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ और कल्प को भी वे प्राचीन मानते हैं। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है कि आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अंग साहित्य लुप्त हो चुका है। अतः उन्होंने नवीन ग्रन्थों का सृजन किया और उन्हें आगमों की तरह प्रमाणभूत माना। श्वेताम्बरों के आगम-साहित्य को दिगम्बर परम्परा प्रमाणभूत नहीं मानती है, तो दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों को श्वेताम्बर परम्परा मान्य नही करती है, पर जब

मैं तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करता हूँ तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों ही परम्पराओं के आगम ग्रन्थों में मौलिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नही है। दोनों ही ग्रन्थों में तत्त्वविचार, जीवविचार, कर्मविचार, लोकविचार, ज्ञान-विचार समान है। दार्शनिक दृष्टि से कोई अन्तर नही है। आचार परम्परा की दृष्टि से भी चिन्तन करें तो वस्त्र के उपयोग के सम्बन्ध में कुछ मतभेद होने पर भी विशेष अन्तर नहीं रहा। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में नग्नत्व पर अत्यधिक बल दिया गया किन्तु व्यवहार में नग्न मुनियों की संख्या बहुत ही कम रही और दिगम्बर भट्टारक आदि की संख्या उनसे बहुत अधिक रही। श्वेताम्बर आगम साहित्य में जिनकल्प को स्थविरकल्प से अधिक महत्त्व दिया गया किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से आर्य जम्बू के पश्चात् जिनकल्प का निषेध कर दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में स्त्री के निर्वाण का निषेध किया है किन्तु दिगम्बर परम्परा मान्य षट्खण्डागम में मनुष्य-स्त्रियों के गुणस्थान के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि 'मनुष्य-स्त्रियाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और सयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।[१६] इसमें 'संजद' शब्द को सम्पादकों ने टिप्पण में दिया है, जिसका सारांश यह है कि मनुष्य स्त्री को 'संयत' गुणस्थान हो सकता है और संयत गुणस्थान होने पर स्त्री मोक्ष में जा सकती है। प्रस्तुत प्रश्न को लेकर दिगम्बर समाज में प्रबल विरोध का वातावरण समुत्पन्न हुआ तब ग्रन्थ के सम्पादक पं० हीरालालजी जैन आदि ने पुनः उसका स्पष्टीकरण 'षट्खण्डागम के तृतीय भाग की प्रस्तावना' में किया किन्तु जब विज्ञों ने मूडबिद्री (कर्णाटक) में षट्खण्डागम की मूल प्रति देखी तो उसमें भी 'संजद' शब्द मिला है।

वट्टकेरस्वामि विरचित मूलाचार में आर्यिकाओं के आचार का विश्लेषण करते हुए कहा है जो साधु अथवा आर्यिका इस प्रकार आचरण करते हैं वे जगत में पूजा, यश व सुख को पाकर मोक्ष को पाते हैं।[१७] इसमें भी आर्यिकाओं के मोक्ष में जाने का उल्लेख है।

किन्तु बाद मे टीकाकारों ने अपनी टीकाओं मे स्त्री निर्वाण का निषेध किया है। आचार के जितने भी नियम हैं उनमें महत्त्वपूर्ण नियम उद्दिष्ट त्याग का है जिसका दोनों ही परम्पराओं मे समान रूप से महत्त्व रहा है।

---

१६ सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजद (अत्र संजद इति पाठशेषः प्रतिभाति)—ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।
पट्खण्डागम, भाग १, सूत्र ९३ पृ० ३३२, प्रका०—सेठ लक्ष्मीचन्द शितावराय, जैन साहित्योद्धारक फंड, कार्यालय अमरावती, (बरार) सन् १९३९

१७ एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्झंति॥ —मूलाचार ४/१९६, पृ० १६८

श्वेताम्बर आगम-साहित्य में और उसके व्याख्या साहित्य में आचार सम्बन्धी अपवाद मार्ग का विशेष वर्णन मिलता है किन्तु दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में अपवाद का वर्णन नहीं है, पर गहराई से चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर परम्परा में भी अपवाद रहे होंगे, यदि प्रारम्भ से ही अपवाद नहीं होते तो अङ्गबाह्य सूत्रों में निशीथ का नाम कैसे आता। श्वेताम्बर परम्परा ने अपवादों को सूत्रबद्ध करके भी उसका अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए निषिद्ध कर दिया गया। विशेष योग्यता वाला श्रमण ही उसके पढ़ने का अधिकारी माना गया। श्वेताम्बर श्रमणों की संख्या प्रारम्भ से ही अत्यधिक रही जिससे समाज की सुव्यवस्था हेतु छेदसूत्रों का निर्माण हुआ। छेदसूत्रों में श्रमणाचार के विशुद्ध स्वरूप और शुद्ध क्रिया-कलाप की व्याख्या दी गई है। श्रमण के जीवन में अनेकानेक अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंग समुपस्थित होते हैं, ऐसी विषम परिस्थिति में किस प्रकार निर्णय लेना चाहिए, यह बात छेदसूत्रों में बताई गई है। आचार सम्बन्धी जैसा नियम और उपनियमों का वर्णन जैन परम्परा के छेदसूत्रों में उपलब्ध होता है वैसा ही वर्णन बौद्ध परम्परा के विनयपिटक में मिलता है और वैदिक परम्परा के कल्प-सूत्र, श्रौत-सूत्र और गृह्य-सूत्रों में मिलता है। दिगम्बर परम्परा में भी छेदसूत्र बने थे पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं।

मेरे मन के कण-कण में अणु-अणु में आगम साहित्य के प्रति गहरी निष्ठा रही है। मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि कर्म रूपी व्याधि को नष्ट करने के लिए आगम साहित्य संजीवनी बूटी के समान है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग भगवान की वाणी में जो माधुर्य रहा हुआ है वह अन्यों की वाणी में कदापि नहीं मिल सकता। तिजोरी बिना चाबी के नहीं खुल सकती वैसे ही बिना गुरुगम के आगमों के गहन रहस्य समझ में नहीं आ सकते। यही कारण है कि बिना गुरुगम के अध्ययन करने से सर्वज्ञ की वाणी का सही अर्थ न ज्ञात होने से अर्थ के अनर्थ भी हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में उसी आगम-वाणी का एवं उसके व्याख्या साहित्य का संक्षेप में परिचय दिया गया है, जिससे प्रबुद्ध पाठकों को आगम की महत्ता का परिज्ञान हो सके। परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्यायप्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज एवं पूजनीया मातेश्वरी प्रकृष्ट प्रतिभा की धनी महासती श्री प्रभावतीजी महाराज एवं ज्येष्ठ भगिनी परमविदुषी महासती पुष्पवतीजी महाराज की हार्दिक इच्छा थी कि मैं आगम साहित्य पर लिखूं। उन्होंने समय-समय पर मुझे प्रेरणा भी दी। एक बार मैंने लिखना प्रारम्भ भी किया किन्तु अन्यान्य लेखन कार्य में व्यस्त होने से उस कार्य में प्रगति नहीं हो सकी। सन् १९७५ का वर्षावास हमारा पूना (महाराष्ट्र) में था। सौराष्ट्र प्रान्त के महान् प्रभावशाली सन्त कविवर्य नानचन्दजी म० के शताब्दी ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना बनी। बम्बई महासंघ के अध्यक्ष स्थानकवासी समाज के मूर्धन्य मनीषी श्री चिमनभाई चकूभाई शाह का मुझे अत्यधिक आग्रह

हुआ कि मैं स्थानकवासी परम्परा मान्य बत्तीस आगमों का संक्षेप में परिचय लिखूं। समय बहुत ही कम था, मैं उसे टालना चाहता था, पर सद्गुरुवर्य ने आदेश दिया कि तुझे इसी विषय पर लिखना है। आदेश को शिरोधार्य कर मैंने बत्तीस आगमों का सार बहुत ही संक्षेप में लिख दिया, जो चिमनभाई को अत्यधिक पसन्द आया और वह स्मृति ग्रन्थ में गुजराती भाषा में प्रकाशित भी हुआ। उसी लेखन में आवश्यक संशोधन परिमार्जन व परिवर्धन कर, आगम साहित्य के प्रकीर्णक, व्याख्या साहित्य, दिगम्बर साहित्य, एव तुलनात्मक अध्ययन लिखकर मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार किया है, इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखन पूना (महाराष्ट्र), रायचूर और कर्णाटक की विहार यात्रा में सम्पन्न हुआ।

जिज्ञासुओं के अन्तर्मानस में यह प्रश्न उद्बुद्ध हो सकता है कि स्थानकवासी परम्परा जब बत्तीस आगमों को ही प्रमाणभूत मानती है तो अन्य श्वेताम्बर व दिगम्बर मान्य आगम साहित्य व व्याख्या साहित्य पर मैंने क्यों लिखा? उत्तर में इतना ही निवेदन है कि जरा विचारों को विराट बनायें, प्रमाण और अप्रमाण के चक्कर में पड़कर राग-द्वेष की वृद्धि कर कर्मबन्धन न करें अपितु सार तत्त्व ग्रहण कर समत्व की अभिवृद्धि करें। आगम साहित्य किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय की धरोहर नहीं है अपितु श्रमण भगवान महावीर की वाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला संकलन-आकलन है जिसे उनके उत्तराधिकारियों ने पल्लवित और प्रणीत किया है। बत्तीस आगमों के गहन रहस्यों को समझने के लिए उनका अध्ययन-चिन्तन बहुत ही आवश्यक है।

प्रत्येक आगम पर और उसके व्याख्या साहित्य पर मैं बहुत ही विस्तार से लिखना चाहता था, पर ग्रन्थ अत्यधिक बड़ा न हो जाये एतदर्थ संक्षेप में लिखा है। तुलनात्मक अध्ययन को भी मैं विस्तार से लिखना चाहता था और वह आवश्यक भी था किन्तु लम्बी विहार यात्रा होने के कारण ग्रन्थाभाव रहा जिससे मैं अधिक विस्तार से नहीं लिख सका। मैं उन सभी ग्रन्थ व ग्रन्थकारों का हृदय से आभार मानता हूँ कि जिनका मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में उपयोग किया है।

मेरे हाथ में दर्द होने के कारण श्री सौभाग्यचन्द जी तुरखिया एवं धर्मानुरागिणी बहिन गुलाब एम. ए. ने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में सहयोग किया है और परमविदुषी पंजाबसिंहनी श्री केसरदेवी जी एवं अध्यात्मप्रेमी श्री कौशल्यादेवी जी की सुशिष्या प्रतिभामूर्ति बहिन विजयाश्री ने अत्यन्त श्रम से शब्दानुक्रमणिका तैयार की। श्री रमेश मुनि जी, श्री राजेन्द्रमुनिजी, श्री दिनेश मुनि जी की सतत सेवा, शुश्रूषा के कारण मैं लेखन-कार्य को शीघ्र कर सका हूँ अतः मैं उन्हें हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ। स्नेहमूर्ति श्रीचन्द जी सुराना ने प्रूफ आदि संशोधन कर एवं मुद्रण कला की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाधिक सुन्दर बनाने का प्रयास किया है अतः उन्हें विस्मृत नही हो सकता। धर्मप्रेमी सुश्रावक भक्तप्रवर श्रीमान पारसमलजी मुथा एवं परमभक्त धर्मानुरागी श्रीमान् जवरीलालजी बलवन्तराजजी मुथा रायचूर वालों को भी भुलाया नही जा सकता जिनके उदार सहयोग से ही ग्रन्थ

प्रकाश में आ गया है। आशा है इन सभी का निरन्तर मधुर सहयोग भविष्य में भी मिलता रहेगा। जिससे साहित्य के क्षेत्र में मैं सतत प्रगति करता रहूँगा।

मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ जन-जन के अन्तर्मानस में वीतराग-वाणी के प्रति गहरी निष्ठा पैदा करेगा—साम्प्रदायिक विषमता मिटाकर समता समुत्पन्न करेगा। आतंकवाद, पंथवाद, पूंजीवाद, रंगभेद, युद्धवादी और हृदयहीनता के नरभक्षी जन्तु जो आधुनिक मानव के मानस में पनप रहे हैं जिससे वह विज्ञानविदों के युग में रहकर भी बिल्कुल अशिक्षित, असभ्य और पागल हो रहा है, वह मानसिक कुण्ठाओं एवं दैहिक पीड़ाओं से पीड़ित, त्रस्त व संत्रस्त हो रहा है। अपने भोगों का निरन्तर स्मरण कर विवेकहीन होकर उनकी पूर्ति के लिए अहर्निश प्रयास कर रहा है। पागल कुत्ते की तरह इन्द्रिय-सुखों के विषयों की ओर भटक रहा है और उनकी पूर्ति न होने पर आत्महत्या की ओर प्रवृत्त हो रहा है। सचमुच ये आत्म-हत्या के आंकड़े दिल को दहलाने वाले और हृदय को झकझोरने वाले हैं। ऐसी विषम-वेला में आगम साहित्य का अध्ययन, चिन्तन, मनन और स्वाध्याय व्यक्ति के बहिर्मुखी दृष्टिकोण को बदलकर अन्तर्मुखी बना सकता है। उसके मानसिक तनाव को कम कर सकता है। उसमें समता, सरलता, स्नेह, सौजन्य जैसे सद्भावों के सुन्दर सुगन्धित सुमन खिला सकता है, सुख-शान्ति की सरस सरिता प्रवाहित कर सकता है। इसी आशा व विश्वास के साथ प्रस्तुत ग्रन्थरत्न प्रबुद्ध पाठकों को समर्पित करते हुए मेरा मन आनन्द आह्लादित है। हृदय आनन्द विभोर है।

अक्षय-तृतीया
श्रवणबेलगोला, बाहुबली
(कर्नाटक)
दि० २१-४-९०

—देवेन्द्र मुनि

FOREWORD

I. Jainism is a pre-Aryan religion. It belongs to the Śramaṇic current of thought. Jainism prevailed even before Pārśva and Vardhamāna, the last two Tīrthankaras.[1] Jacobi has traced Jainism to early primitive currents of metaphysical speculation.[2] Jainism reflects the cosmology and anthropology of a much older pre-Aryan upper class of North-eastern India.[3] Jaina tradition presents the fundamental concepts of the cycle of time and of eternity. The Jaina principles which have been preached to the people for ages by their Tīrthankaras who have conquered the wheel of life. Somehow the teachings of these pro upto the time of Pārśva, the twentythird Tīrthankara are not available now for the benefit of mankind And we are quite aware that when we go back from history to pre-history, the shadow of the past lengthens, and as the shadow lengthens we have to fall back upon tradition and secondary sources. It is with Vardhamāna Mahāvīra, the last Tīrthankara that we can find ourselves on surer ground. Tīrthankara Mahāvīra preached the doctrine to his Gaṇadharas. His teachings were oral and fundamental. That is the *Arthāgama*. Gaṇadharas and their disciples downwards formulated the teachings of the master in a systematic way and presented in the form of codified expression. The formulated expression of the teachings of Tīrthankara is the *Śabdagrantha*. And it forms the beginning of the canonical literature.[4]

---

1 Radhakrishnan (S) : *Indian Philosophy*, Vol. I. (Allen Unwin, 1922), p. 287.

2 Jacobi (H) : *S. B. E.* Vol. XXII. p. xv.

3 Zimmer (H) : *Philosophies of India*. (Kegan Paul) 1953. p. 183.

4 *Āvaśyaka niryukti*, Gatha. 89-90—as quoted by Sri Devendra Muni Shastri, in his *Jaina Āgama aur Sāhitya*, p. 6.

II. The Jaina Canonical literature is so vast that it has been too difficult to give a coherent and comprehensive picture of the entire canvas of the sacred literature. Attempts have been made by several writers to present a synoptic picture of the sacred literature. They very often flounder on some sectarian ground. I am glad that here, in this work of Shri Devendra Muniji entitled *Jaina Āgama Sāhitya : Manana aur Mīmāṁsā* (Hindi), we can get a fairly coherent and comprehensive account of the Āgama literature of the Jainas without prejudice or pride conceiving any section of the Jaina community. It is a fair presentation of all the aspects of the canonical literature giving a panoramic picture of the literature of all shades of Jaina faith; of the Digambara and the Śvetāmbara sections.

III. The Jaina canonical literature has been so vast as we said above that it has been difficult to present a critical study of the entire literature without entering into the intricasies of the implications of the different shades of thought in Jaina philosophy. The Jaina contributions are vast, varied and valuable. They have enriched in no small measure the treasures of the Indian Literature. But even then till recently their value was not probably realised.[1] Shri Devendra Muniji has done well to present a critical and comprehensive study of the canonical literature of the Jainas.

IV. Shri Devendra Muniji's book '*Āgama Sāhitya*' has been divided into the seven chapters and a glossary. In the first chapter he has given the general survey of the Āgama literature. He has emphasised the importance of Āgama literature for the Jainas. As the Vedas for Vedic, the Pitakas for the Buddhist Śāstra, so are the *Śruta, Sūtra or Āgama* for the Jainas.[2] The word *Āgama* has been variously interpreted by the Ācāryas. Āgama is that writings which gives a true picture of reality. It is the knowledge gained through the words of an authority (Āptavacana) and Āptavacana has also been considered as Āgama.[3] He has given in this chapter the distinction between Pūrva and Anga. A scientific analysis of the classification of the Pūrva and Angas has also been discussed. Several other concepts like the Anga, Upānga, Mūla and Cheda have been *consi-*

---

1 Kapadia (H. R.) : *Canonical Literature of the Jainas*, (H. R. Kapadia, Surat. 1941) p. 206.

2 Shri Devendra Muni Shastri : *Jaina Āgama Sāhitya : Manana aur Mimaṁsā* (Hindi) p. 5.

3 *Ibid.*, p. 6.

dered in detail. A classic analogy of the Āgama literature with the Puruṣa comparing the various parts of the Āgamic literature with the organic functions of the body has been very ably discussed. In all these discussions in the first chapter he has extensively used original references from the classical texts and commentaries. As he says, the Pūrvas were never commited to writing. Regarding the codification of the 11 Angas, Shri Muniji suggests that it must have been finally formulated between Vīra Samvat 827 and 840. Before that period the Āgamas were traditionally handed over from the teacher to the disciple by oral tradition.[1]

The second chapter gives the analysis of the Anga literature. He deals in this chapter the critical appraisal of the 12 Angas including the *Dṛṣṭivāda*. The importance of *Ācārānga* cannot be underestimated. It occupies the first place in the '*Dvādaśāngi*'. In the *Ācārānganiryukti* Bhadrabāhu says that Tīrthankara Bhagavān Mahāvīra preached Ācaranga first and then other Angas.[2] Although considered from the linguistic point of view it may not be considered the first. Shri Muniji has given a critical study of Dr. Jacobi's views about the eclectic nature of *Ācārānga*. Shri Muniji has given an elaborate and critical study of the Anga literature in an admirable way. *Dṛṣṭivāda* is considered the 12th Anga in which there is description of other systems of thought in the light of the philosophical problems present at that time. The *Dṛṣṭivāda* was a vast compendium giving the critical discussion of the different schools of philosophical thought. But gradually, due to the fading of the memory of the succeeding generations of scholars, the contents of the work appear to have been lost. In the *Bṛhatkalpaniryukti*, it has been suggested that following persons were debarred from studying the *Dṛṣṭivāda* as for example: men of low intelligence, men of bad conduct, men full of pride, those of less self-control and women who are of this nature. But Shri Muniji has suggested that the view the women were debarred from studying *Dṛṣṭivāda* was possibly due to sociological and psychological considerations. For the study of *Dṛṣṭivāda* it was emphasised that severe concentration in solitude was necessary. And it was difficult for women to

---

1. Shri Devendra Muni Shastri: *Jain Āgam Sāhitya : Manan aur Mimaṁsa* (Hindi) p. 42.
2. *Ācārānganiryukti* : 8.—As quoted by Shri Devendra Muniji: *Jaina Āgama Sāhitya*, p. 49.

undergo the rigour of solitude. Therefore the prohibition of the study of *Dṛṣṭivāda* by women was more due to sociological and psychological factors and not for any doctrinal points.

In the third chapter we get the study of the Aṅgabāhya literature. In this chapter, Shri Muniji has discussed the following forms of literature in this category. (i) Upāṅga literature, (ii) Mūla Āgama Sāhitya (iii) Cheda Āgama Sahitya, and (iv) Prakīrṇaka Āgam Sāhitya. In the *Upāṅga literature he* has given an admirable analysis of the nature of the Upāṅga literature and the various forms of Upāṅgas like, Aupapātika, Rājapraśnīya, Prajñāpanā and Sūryaprajñapati etc. He has discussed the contents and the critical analysis of the 12 Upāṅgas. He has then given a critical study of the Mūla Āgamas like : Uttarādhyayana, Daśavaikālika, Nandi, and Anuyogadvāra. The last part of this chapter gives the study in an exhaustive and critical way the four Cheda literature (i) Daśāśrutaskandha, (ii) Bṛhatkalpa, (iii) Vyavahāra, (iv) Niśītha, and (v) Āvaśyaka. This chapter gives an exhaustive account of the canonical literature called Aṅgabāhya literature.

The fourth chapter is an important chapter for the proper understanding of Aṅga and Upāṅga literature. In this chapter, *Shri* Muniji has very ably presented the critique of the Commentary literature on the important Aṅgas. In this chapter he has discussed the (i) Niryukti (ii) Bhāṣya (iii) Cūrṇi, (iv) Tīkā and other forms of critical studies of the Aṅga literature. He says that the determined connotation of the specific terms used in the Aṅga literature and their critical presentation is the significant contribution of the Niryukti forms of literature.[1] And the commentators of the Aṅga literature base explanations and critical notes on the content of the *concepts of the Niryuktis He has also given in this chapter* the Bhāṣya and the Cūrṇi forms of literature. The chapter is an exhaustive study of the commentaries in various Aṅgas and the Upāṅgas. This chapter has made unique contribution for the critical study of all forms of critical and explanatory writings in Saṁskrit and the in the regional languages like, Hindi, Gujarati and in English upto the present day.

In the fifth chapter we find the catholic outlook of Shri Muniji. It expresses the vast reading and the ability of interpretation of Shri

1 Shri Devendra Muni Shastri : *Jaina Āgama Sāhitya*, Ch. IV, p. 455.

Muniji. The chapter discusses the content and the interpretation of the canonical literature of the Digambaras. Just when the Digambara and Śvetāmbara traditions developed it is difficult to say. Shri Muniji quotes a Sūtra from *Ācārānga* where in there is the description of 'Sacela' and 'Acela' types of śramaṇas. It appears that the two types of monks mentioned are the Śvetāmbara and Digambara munis.[1] The personality of Bhagwān Mahāvīra and of his disciples Sudharmā and Jambu was so great that it was difficult to express the differences of opinions before them. It was later after these great men that we find expression of the differences of opinion which gave rise to the development of the two major sects of the Jainas. However, it may please be noted that there are no doctrinaire differences between these sects of the Jainas. This becomes clear if we study the pontifical geneology (Pattāvali) of the Śvetāmbara and Digambara sects.[2] I believe that it is high time that the different sects of the Jainas should come together and establish a rapport between themselves for the benefit of the exposition and development of Jaina thought and the harmonious blending of the two streams of thought and life. Munishriji has very ably analysed the Digambara canonical literature in dispassionate and scholarly way without expressing any personal predilections of his own. This chapter speaks eloquently of the academic brilliance and fairimindedness of Muniji.

The sixth chapter is still more brilliant in its content and the interpretation of the Āgamas as it gives a comparative study of the Jainas canonical literature with Buddhist and the Vedic sacred texts. A proper understanding of the Jaina canons would be possible if we understand the other systems of Indian thought in the right perspective. Jaina thought is not an isolated line of thinking. It forms an integrate past of the general stream of Indian thought right from the immemorial times. As I once said the development of Indian philosophy has been a process of synthesis and assimilation of the Śramaṇic and the Vedic currents of thought.[3] At the conclu-

---

1 Shri Devendra Muni Shastri : *Jaina Āgama Sāhitya,* Ch. V, p. 561.

2 *Ibid*, p. 562.

3 Kalghatgi (T.G.) : Presidential Address at the 42nd Session of the Indian Philosophical Congress held at Patna in December 1968, History of Philosophy Section : *The Indian Weltanschauung*, p. 4.

sion of the chapter Shri Muniji says that in the writings of the Acāryas of the Digamabara and Śvetāmbara tradition we find academic excellance, lofty thoughts and synoptic view of life. The study of the canonical literature is not only necessary but it is an imperative for the development of the spiritual life of man Shri Muniji hopes that in this world where material values are dominant and when we have lost sight of the spiritual, if his book promotes interest in the study and understanding of the Āgamas of the Jainas, his efforts in writing the book would be more than recompensed.[1]

The seventh chapter is a significant addition which is very useful for the study of Jaina sacred literature. He has given extensive quotations from the sacred texts with their Hindi translation. Students of literature and philosophy would find the quotations very useful and enlightening.

He has also added the glossary of technical terms and the bibliography of books used, with the index of words.

The book entitled *Jaina Āgam Sāhitya : Manan aur Mīmāṁśa* is a remarkable addition to the books on Jaina philosophy and literature. I do hope more of such books of sterling academic excellence will be forthcoming from the able pen of Shri Devendra Muniji Shastri. Praṇāmas to Shri Muniji for this work.

Professor and Head of the Department
of Jainology & Prakrits
Manas Gangotri, Mysore-6

T. G. Kalghatgi.
M.A.,Ph.D.

1 Shri Devendra Muni Shastri : *Jaina Āgama Sāhitya*, p. 638.

विषयानुक्रमणिका

षष्ठ खंड-तुलनात्मक अध्ययन (जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य) ६०३–६३८

सप्तम खंड-आगम साहित्य के सुभाषित ६३६–६७३

परिशिष्ट

□□

जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन

- आगम साहित्य का महत्त्व
- आगम के पर्यायवाची शब्द
- आगम की परिभाषा
- पूर्व और अंग
- अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य
- आगमों का वर्गीकरण
- अनुयोग
- अंग, उपांग, मूल और छेद
- श्रुत पुरुष
- निर्यूहण आगम
- ४५ आगमों के नाम
- ८४ आगमों के नाम
- ३२ आगमों के नाम
- जैन आगमों की भाषा
- आगम वाचनाएँ
- आगम विच्छेद का क्रम
- लेखन परम्परा
- आगम लेखन युग

जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन

आगम साहित्य का महत्त्व

जैन आगम साहित्य भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि है, अनुपम निधि है और ज्ञान-विज्ञान का अक्षय भण्डार है। अक्षर देह से वह जितना विशाल और विराट् है उससे भी कहीं अधिक उसका सूक्ष्म एवं गम्भीर चिंतन विशद व महान् है। जैनागमों का परिशीलन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि यहाँ केवल कमनीय कल्पना के गगन में विहरण नहीं किया गया है, न बुद्धि के साथ खिलवाड़ ही किया गया है और न अन्य मत-मतान्तरों का निराकरण ही किया गया है। जैनागम जीवन के क्षेत्र में नया स्वर, नया साज और नया शिल्प लेकर उतरते हैं। उन्होंने जीवन का सजीव, यथार्थ व उजागर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जीवनोत्थान की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है, आत्मा की शाश्वत सत्ता का उद्घोष किया है और उसकी सर्वोच्च विशुद्धि का पथ प्रदर्शित किया है। उसके साधन रूप में त्याग, वैराग्य और संयम से जीवन को चमकाने का सन्देश दिया है। संयम-साधना, आत्म-आराधना और मनोनिग्रह का उपदेश दिया है।

जैनागमों के पुरस्कर्ता केवल दार्शनिक ही नहीं, अपितु महान् व सफल साधक रहे हैं। उन्होंने 'काण्ट' की भाँति एकान्त-शान्त स्थान पर बैठकर तत्त्व की विवेचना नहीं की है और न 'हेगेल' की भाँति राज्याश्रय में रहकर अपने विचारों का प्रचार किया है और न उन वैदिक ऋषियों की भाँति आश्रमों में रहकर व कंद-मूल-फल खाकर जीवन-जगत् की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है, किन्तु उन्होंने सर्वप्रथम मन के मैल को साफ किया, आत्मा को साधना की अग्नि में तपाकर स्वर्ण की तरह निखारा। प्रथम ही स्वयं ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना की, कठोर तप की आराधना की, और अन्त में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को नष्ट कर आत्मा में अनन्त पारमात्मिक ऐश्वर्य के दर्शन किये। उसके पश्चात् उन्होंने सभी जीवों की

रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन किये ।[1] आत्म-साधना का नवनीत जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया । यही कारण है कि जैनागमों में जिस प्रकार आत्म-साधना का वैज्ञानिक और क्रमबद्ध वर्णन उपलब्ध होता है, वैसा किसी भी प्राचीन पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारक के साहित्य में नहीं मिलता। वेदों में आध्यात्मिक चिन्तन नगण्य है और लोकचिन्तन अधिक । उसमें जितना देवस्तुति का स्वर मुखरित है, उतना आत्म-साधना का नहीं। उपनिषद् आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अवश्य ही अग्रसर हुए हैं किन्तु उनका ब्रह्मवाद और आध्यात्मिक विचारणा इतनी अधिक दार्शनिक है कि उसे सर्वसाधारण के लिए समझना कठिन ही नहीं, कठिनतर है । जैना-गमों की तरह आत्मसाधना का अनुभूत मार्ग उनमें नहीं है । डाक्टर हर्मन जेकोबी, डाक्टर शुब्रिंग प्रभृति पाश्चात्य विचारक भी यह सत्य-तथ्य एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि जैनागमों में दर्शन और जीवन का, आचार और विचार का, भावना और कर्तव्य का, जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है, वैसा अन्य साहित्य में दुर्लभ है ।

आगम के पर्यायवाची शब्द

मूल वैदिक शास्त्रों को जैसे 'वेद', बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है वैसे ही जैन शास्त्रों को 'श्रुत' 'सूत्र' या आगम कहा जाता है । आजकल आगम शब्द का प्रयोग अधिक होने लगा है किन्तु अतीत-काल में श्रुत शब्द का प्रयोग अधिक होता था ।[2] श्रुतकेवली, श्रुत स्थविर[3] शब्दों का प्रयोग आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है किन्तु कहीं पर भी आगम-केवली या आगम-स्थविर का प्रयोग नहीं हुआ है ।

सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम,[4] आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय और जिनवचन[5], श्रुत ये सभी आगम के ही पर्यायवाची शब्द हैं ।

---

१. सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं ।
—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार

२ नन्दी सू० ४१

३ स्थानांग० सू० १५०

४ सुयसुत्त ग्रन्थ सिद्धंतपवयणे आणवयण उवएसे पण्णवण आगमे या एगट्ठा पज्जवासुत्ते —अनुयोगद्वार ४, विशेषावश्यक भाष्य गा० ८।६७

५ तत्त्वार्थभाष्य० १-२०

आगम की परिभाषा

आगम शब्द—'आ' उपसर्ग और 'गम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ समन्तात् अर्थात् पूर्ण है और 'गम्' धातु का अर्थ गति-प्राप्ति है।

आगम शब्द की अनेक परिभाषाएँ आचार्यों ने की हैं। 'जिससे वस्तुतत्त्व (पदार्थ-रहस्य) का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है'[1]; 'जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है'[2] 'जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो, वह आगम है'[3] 'जो तत्त्व आचार परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है'।[4] 'आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहा जाता है। उपचार से आप्त वचन भी आगम माना जाता है।'[5] 'आप्त का कथन आगम है'।[6] 'जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।'[7] इस प्रकार आगम शब्द समग्र श्रुति का परिचायक है, पर जैनदृष्टि से वह विशेष ग्रन्थों के लिए व्यवहृत होता है।

जैन दृष्टि से आप्त कौन है? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है वह जिन, तीर्थंकर, सर्वज्ञ भगवान्

---

१ आ-समन्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागमः।

२ आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्धयन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः।

—रत्नाकरावतारिका वृत्ति

३ आ-अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्ति रूपेण, मर्यादया वा यथावस्थित प्ररूपणा रूपया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन स आगमः।

—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति

—नन्दी सूत्र वृत्ति

४ आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः।

—सिद्धसेनगणी कृत भाष्यानुसारिणी टीका पृ० ८७

५ आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं च।

—स्याद्वादमंजरी, ३८ श्लो० टीका०

६ आप्तोपदेशः शब्दः—न्यायसूत्र १।१।७

७ सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।
आगम एव य सत्थं आगमसत्थं तु सुयनाणं॥

—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५६

आप्त हैं और उनका उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है;[1] क्योंकि उनमें वक्ता के साक्षात् दर्शन एवं वीतरागता के कारण दोष की संभावना नहीं होती और न पूर्वापर विरोध तथा युक्ति-बाध ही होता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं—'तप-नियम-ज्ञान रूप वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचनमाला गूँथते हैं।[2]

तीर्थंकर केवल अर्थरूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं।[3] अर्थात्मक ग्रंथ के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं। एतदर्थ आगमों में यत्र-तत्र 'तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते, (समवाय) शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन आगमों को तीर्थंकर प्रणीत कहा जाता है।[4] यहाँ पर यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि जैनागमों की प्रामाणिकता केवल गणधरकृत होने से ही नहीं है अपितु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता एवं सर्वार्थ साक्षात्कारित्व के कारण है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार गणधर के समान ही अन्य प्रत्येक बुद्ध

---

१ (क) जं णं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाण-दंसण-धरेहिंतीय-पच्चुप्पण्ण-मणागय-जाणएहिं तिलुक्कवहित महितपूइएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं-पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा-आयारो जाव दिट्ठवाओ।

—अनुयोगद्वार सूत्र ४२

(ख) नन्दीसूत्र ४०।४१

(ग) बृहत्कल्प भाष्य गा० ८८

२ तव नियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० ८९-९०

३ (क) अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० १९२

(ख) धवला भाग १ पृ० ६४ तथा ७२

४ नन्दीसूत्र ४०

निरूपित आगम भी प्रमाण रूप होते हैं।[1] गणधर केवल द्वादशांगी की ही रचना करते हैं। अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।[2]

यह भी माना जाता है कि गणधर सर्वप्रथम तीर्थंकर भगवान के समक्ष यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करते हैं कि भगवन्! तत्त्व क्या है? (भगवं किं तत्तं?) उत्तर में भगवान उन्हें 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' यह त्रिपदी प्रदान करते हैं। त्रिपदी के फलस्वरूप वे जिन आगमों का निर्माण करते हैं वे आगम अंगप्रविष्ट कहलाते हैं, और शेष सभी रचनाएँ अंगबाह्य।[3] द्वादशांगी अवश्य ही गणधरकृत है क्योंकि वह त्रिपदी से उद्‌भूत होती है किन्तु गणधरकृत समस्त रचनाएं अंग में नहीं आतीं। त्रिपदी के बिना जो मुक्त व्याकरण से रचनायें होती हैं वे चाहे गणधरकृत हों या स्थविरकृत, अंगबाह्य कहलाती हैं।

स्थविर दो प्रकार के होते हैं:—

(१) संपूर्ण श्रुतज्ञानी और (२) दशपूर्वी

सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी चतुर्दशपूर्वी होते हैं। वे सूत्र और अर्थरूप से सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनागम के ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी कहते हैं या लिखते

---

१ (क) सुत्तं गणहरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्ण दसपुव्वकथिदं च॥ —मूलाचार ५-८०

(ख) जयधवला, पृ० १५३

(ग) ओघनिर्युक्ति, द्रोणाचार्य टीका, पृ० ३

२ (क) विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५०

(ख) बृहत्कल्पभाष्य १४४

(ग) तत्त्वार्थभाष्य १-२०

(घ) सर्वार्थसिद्धि १-२०

३ (क) यद् गणधरैः, साक्षाद् लब्धं तदंगप्रविष्टं तच्च द्वादशांगमेतत्पुनः स्थविरैर्भद्रबाहु स्वामिप्रभृतिभिराचार्यैरूपनिबद्धं तदनंगप्रविष्टं, तच्चावश्यक निर्युक्त्यादि। अथवा वारत्रयं गणधरपृष्ठेन सता भगवता तीर्थंकरेण यत्प्रत्युच्यते 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' इति यत्त्रयं तदनुसृत्य यन्निष्पन्नं तदंगप्रविष्टं, यत् पुनर्गणधर प्रश्न व्यतिरेकेण शेषकृत प्रश्नपूर्वकं वा भगवतो व्युत्कलं व्याकरणं तदधिकृत्य यन्निष्पन्नं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्त्यादि, यच्च वा गणधर वचांस्येवोपजीव्यद्दब्धमावश्यक निर्युक्त्यादि पूर्वस्थविरैस्तदंगप्रविष्टं ....सर्वपक्षेपु द्वादशांगानामांगप्रविष्टं शेषमनंगप्रविष्टं।

(ख) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पत्र ४८

हैं उसका किंचित् मात्र भी विरोध मूल जिनागम से नहीं होता। एतदर्थ ही बृहत्कल्पभाष्य में कहा है कि—जिस बात को तीर्थंकर ने कहा है उस बात को श्रुतकेवली भी कह सकता है[1]। श्रुतकेवली भी केवली के सदृश ही होता है। उसमें और केवली में विशेष अन्तर नहीं होता। केवली समग्रतत्त्व को प्रत्यक्षरूपेण जानते हैं, श्रुतकेवली उसी समग्रतत्त्व को परोक्षरूपेण-श्रुतज्ञान द्वारा जानते हैं। एतदर्थ उनके वचन भी प्रामाणिक होते हैं। प्रामाणिक होने का एक कारण यह भी है कि चतुर्दश पूर्वधर और दश पूर्वधर साधक नियमत: सम्यग्दृष्टि होते हैं।[2] 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहि पवेइयं[3] तथा 'णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' उनका मुख्य घोष होता है। वे सदा निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे करके ही चलते हैं।[4] एतदर्थ उनके द्वारा रचित ग्रंथों में द्वादशांगी से विरुद्ध तथ्यों की संभावना नहीं होती, उनका कथन द्वादशांगी से अविरुद्ध होता है। अत: उनके द्वारा रचित ग्रन्थों को भी आगम के समान प्रामाणिक माना गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उनमें स्वत: प्रामाण्य नहीं, परत: प्रामाण्य है। उनका परीक्षण-प्रस्तर द्वादशांगी है। अन्य स्थविरों द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का मापदण्ड भी यही है कि वे जिनेश्वर देवों की वाणी के अनुकूल हैं तो प्रामाणिक और प्रतिकूल हैं तो अप्रामाणिक।

पूर्व और अंग

जैन आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायांग में मिलता है। वहाँ आगम साहित्य का पूर्व और अंग के रूप में विभाजन किया गया है। पूर्व संख्या की दृष्टि से चौदह[5] थे और अंग बारह[6]।

---

१ बृहत्कल्पभाष्य गा० ९६३-९६६
२ बृहत्कल्पभाष्य गा० १३२
३ आचारांग ५।१६३। उद्दे० ५
४ भगवती २।५
५ चउदस पुव्वा प० तं०—
उप्पाय पुव्वमग्गेणियं च तइयं च वीरियं पुव्वं।
अत्थीनत्थि पवायं तत्तो नाणप्पवायं च॥
सच्चप्पवायपुव्वं तत्तो आयप्पवायपुव्वं च।
कम्मप्पवायपुव्वं पच्चक्खाणं भवे नवमं॥
विज्जाणुप्पवायं अवंझपाणाउ बारसं पुव्वं।
तत्तो किरियविसालं पुव्वं तह बिंदुसारं च॥ —समवायांग, समवाय १४
६ दुवालसंगे गणिपिडगे प० तं—
आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपन्नती, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुए, दिट्ठिवाए।
—समवायांग, समवाय १३६

पूर्व

पूर्व श्रुत व आगम साहित्य की अनुपम मणि-मंजूषा है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर पूर्व साहित्य में विचार-चर्चा न की गई हो। पूर्वश्रुत के अर्थ और रचना काल के सम्बन्ध में विज्ञों के विभिन्न मत हैं। आचार्य अभयदेव आदि के अभिमतानुसार द्वादशांगी से प्रथम पूर्व साहित्य निर्मित किया गया था। इसी से उसका नाम पूर्व रक्खा गया है।[1] कुछ चिन्तकों का यह मंतव्य है कि पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा की श्रुत-राशि है। श्रमण भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण यह 'पूर्व' कहा गया है।[2] जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि पूर्वों की रचना द्वादशांगी से पहले हुई।

वर्तमान में पूर्व द्वादशांगी से पृथक् नहीं माने जाते हैं। दृष्टिवाद बारहवाँ अंग है। पूर्वगत उसी का एक विभाग है तथा चौदह पूर्व इसी पूर्वगत के अन्तर्गत हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार श्रमण भगवान महावीर ने सर्वप्रथम 'पूर्वगत' अर्थ का निरूपण किया था और उसे ही गौतम प्रभृति गणधरों ने पूर्वश्रुत के रूप में निर्मित किया था। किन्तु पूर्वगत श्रुत अत्यन्त क्लिष्ट और गहन था, अतः उसे साधारण अध्येता समझ नहीं सकता था। एतदर्थ अल्प मेधावी व्यक्तियों के लिए आचारांग आदि अन्य अंगों की रचना की गई। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने स्पष्ट कहा है—'दृष्टिवाद में समस्त शब्द ज्ञान का अवतार हो जाता है तथापि ग्यारह अंगों की रचना अल्प मेधावी

---

१ (क) प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात्।

—समवायांग वृत्ति, पत्र १०१

(ख) सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दश।

—स्थानांगसूत्र वृत्ति १०।१

(ग) जम्हा तित्थकरो तित्थपवत्तणकाले गणधराणं सव्वसुत्ता-धारत्तणतो पुव्वं पुव्वगतसुत्तत्थं भासति तम्हा पुव्वं ति भणिता।

—नन्दीसूत्र (विजयदान सूरि संशोधित चूर्णि पृ० १११ अ)

२ (क) अन्ये तु व्याचक्षते पूर्वं पूर्वगत सूत्रार्थमर्हन् भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति पश्चादाचारादिकम्। —नन्दी, मलयगिरि, पृ० २४०

(ख) पुव्वाणं गयं पत्त-पुव्वसरूवं वा पुव्वगयमिदि गणणामं।

—षट्खंडागम (धवला टीका) वीरसेनाचार्य पु० १ पृ० ११४

पुरुषों और महिलाओं के लिए की गई।'[1] जो श्रमण प्रबल प्रतिभा के धनी होते थे, वे पूर्वों का अध्ययन करते थे[2] और जिनमें प्रतिभा की तेजस्विता नहीं होती थी, वे ग्यारह अंगों का अध्ययन करते थे।[3]

जब तक आचारांग आदि अंग साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था तब तक भगवान महावीर की श्रुतराशि चौदह पूर्व या दृष्टिवाद के नाम से ही पहचानी जाती थी। जब आचार प्रभृति ग्यारह अंगों का निर्माण हो गया तब दृष्टिवाद को बारहवें अंग के रूप में स्थान दे दिया गया।

आगम साहित्य में द्वादश अंगों को पढ़ने वाले[4] और चौदह पूर्व पढ़ने-वाले[5] दोनों प्रकार के साधकों का वर्णन मिलता है किन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही है। जो चतुर्दशपूर्वी होते थे, वे द्वादशांगवित् भी होते थे क्योंकि बारहवें अंग में चौदह पूर्व हैं ही।

अङ्ग

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही भारतीय परम्पराओं में 'अङ्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन परम्परा में उसका प्रयोग मुख्य आगम ग्रन्थ गणि-पिटक के अर्थ में हुआ है। 'दुवालसंगे गणिपिडगे'[6] कहा गया है।

(१) आचार (२) सूत्रकृत् (३) स्थान (४) समवाय (५) भगवती (६) ज्ञाताधर्मकथा (७) उपासक दशा (८) अन्तकृत्दशा (९) अनुत्तरोप-

---

१ (क) जइवि य भूतावाए, सव्वस्सवओगयस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहावि हु, दुम्मेहे पप्प इत्थी य॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५४

(ख) प्रभावक चरित्र, श्लो० ११४-१६, प्रभाचन्द्र सूरि

२ (क) चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ। —अंतगड ३ वर्ग अ० ९

(ख) सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ। —अंतगड ३ वर्ग अ० १

(ग) भगवती ११-११-४३२। १७-२-६१७।

३ (क) सामाइयमाइयाइं एकारस अंगाइं अहिज्जइ। —अंतगड ६ वर्ग अ० १५

(ख) वही, ८ वर्ग अ० १

(ग) भगवती २।१।९

(घ) ज्ञाताधर्म अ० १२। ज्ञाता २।१

४ अन्तगड वर्ग ४, अ० १

५ अन्तगड वर्ग ३, अ० ९

६ समवायांग प्रकीर्णक समवाय सूत्र ८८

पातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद—ये बारह अंग हैं।

आचार प्रभृति आगम श्रुत-पुरुष के अंगस्थानीय होने से भी अंग कहलाते हैं।[1]

वैदिक परम्परा में वेद के अर्थ में अंग शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है अपितु वेद के अध्ययन में जो सहायक ग्रन्थ हैं, उनको अंग कहा गया है और वे छह हैं[2]—

(१) शिक्षा—शब्दोच्चारण के विधान का प्ररूपक ग्रन्थ।

(२) कल्प—वेद-निरूपित कर्मो का यथावस्थित प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ।

(३) व्याकरण—पद-स्वरूप और पदार्थ निश्चय का वर्णन करने वाला ग्रन्थ।

(४) निरुक्त—पदों की व्युत्पत्ति का वर्णन करने वाला ग्रन्थ।

(५) छन्द—मन्त्रों का उच्चारण किस स्वर विज्ञान से करना, इसका निरूपण करने वाला ग्रन्थ।

(६) ज्योतिष—यज्ञ-याग आदि कृत्यों के लिए समय शुद्धि को बताने वाला ग्रन्थ।

बौद्ध साहित्य के मूल ग्रन्थ त्रिपिटक माने जाते हैं। यद्यपि उनके साथ अंग शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु पालि-साहित्य में बुद्ध के वचनों को नवांग[3] और द्वादशांग[4] अवश्य ही कहा गया है। नवांग इस प्रकार है—

(१) सुत्त—बुद्ध का गद्यमय उपदेश।

(२) गेय्य—गद्य-पद्य मिश्रित अंश।

---

१ मूलाराधना ४।५९९ विजयोदया।

२ पाणिनीय शिक्षा—४१-१२

३ सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र २।३४ (डॉक्टर नलिनाक्ष दत्त का देवनागरी संस्करण, रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, सन् १९५३)

४ सूत्रं गेयं व्याकरणं, गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तकं निदानं, वैपुल्यं च सजातकम्।
उपदेशाद्‌भुतो धर्मो, द्वादशांगमिदं वचः॥
—बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ अभिसमयालंकार की टीका, पृ० ३५

(३) **वैयाकरण**—व्याख्यात्मक ग्रन्थ।

(४) **गाथा**—पद्य में निर्मित ग्रन्थ।

(५) **उदान**—बुद्ध के मुखारविन्द से निःसृत भावपूर्ण प्रीति-उद्‌गार।

(६) **इतिवुत्तक**—लघुप्रवचन, जो 'बुद्ध ने इस प्रकार कहा' से प्रारम्भ होते हैं।

(७) **जातक**—बुद्ध के पूर्व-भव।

(८) **अब्भुतधम्म**—चमत्कारिक वस्तुओं और विभूतियों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ।

(९) **वेदल्ल**—प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये उपदेश।

द्वादशांग इस प्रकार हैं—

(१) सूत्र (२) गेय (३) व्याकरण (४) गाथा (५) उदान (६) अवदान (७) इतिवुत्तक (८) निदान (९) वैपुल्य (१०) जातक (११) उपदेश धर्म और (१२) अद्‌भुत धर्म।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

आगमों का दूसरा वर्गीकरण देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय का है। उन्होंने आगमों को अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य इन दो भागों में विभक्त किया।[1]

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का विश्लेषण करते हुए जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने तीन हेतु बतलाये हैं। अंगप्रविष्ट श्रुत वह है—

(१) जो गणधर के द्वारा सूत्र रूप से बनाया हुआ होता है।

(२) जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित होता है।

(३) जो शाश्वत सत्यों से सम्बन्धित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घकालीन होता है।[2]

---

१ अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।
—नंदीसूत्र ४३

२ गणहर थेरकयं वा, आएसा मुक्क-वागरणओ वा।
धुव-चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५२

एतदर्थ ही समवायांग[1] एवं नन्दीसूत्र में[2] स्पष्ट कहा है—द्वादशांगभूत गणिपिटक कभी नही था, ऐसा नहीं है, कभी नहीं है, और कभी नहीं होगा, यह भी नहीं। वह था, है, और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

अंगबाह्य श्रुत वह होता है :

(१) जो स्थविर कृत होता है,

(२) जो विना प्रश्न किये तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित होता है।

वक्ता के भेद की दृष्टि से भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद किये गये हैं।[3] जिस आगम के मूलवक्ता तीर्थंकर हों और संकलनकर्ता गणधर हों वह अंगप्रविष्ट है। पूज्यपाद ने वक्ता के तीन प्रकार बतलाये हैं—(१) तीर्थंकर (२) श्रुतकेवली (३) आरातीय[4]। आचार्य अकलंक ने कहा है कि आरातीय आचार्यो के द्वारा निर्मित आगम अंगप्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंगबाह्य कहलाते हैं।[5]

समवायांग और अनुयोगद्वार में तो केवल द्वादशांगी का ही निरूपण है किन्तु नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य का तो भेद किया ही गया है, साथ ही अंगबाह्य के आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में आगम की सम्पूर्ण शाखाओं का परिचय दिया गया है जो इस प्रकार है—

---

१ दुवालसंगे णं गणिपिडगे ण कयावि णत्थि, ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भविस्सइ।
भुविं च, भवति य, भविस्सति य, अयले, धुवे, णितिए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए णिच्चे।
—समवायांग, समवाय १४८, मुनि कन्हैयालाल 'कमल' सम्पादित, पृ० १३८

२ नन्दीसूत्र ५७

३ वक्तृविशेषाद् द्वैविध्यम्। —तत्वार्थ भाष्य १।२०

४ त्रयो वक्तारः—सर्वज्ञस्तीर्थंकरः इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति।
—सर्वार्थसिद्धि १।२० पूज्यपाद

५ आरातीयाचार्यकृतांगार्थप्रत्यासन्नरूपमंगबाह्यम्।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १।२०, अकलंक

आगम

- अंगप्रविष्ट
  - आचार
  - सूत्रकृत
  - स्थान
  - समवाय
  - भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति)
  - ज्ञाताधर्मकथा
  - उपासकदशा
  - अन्तकृत्दशा
  - अनुत्तरोपपातिकदशा
  - प्रश्नव्याकरण
  - विपाक
  - दृष्टिवाद
- अंगबाह्य
  - आवश्यक
    - सामायिक
    - चतुर्विंशतिस्तव
    - वन्दना
    - प्रतिक्रमण
    - कायोत्सर्ग
    - प्रत्याख्यान
  - आवश्यक व्यतिरिक्त
    - कालिक
      - उत्तराध्ययन
      - दशाश्रुतस्कंध
      - कल्प
      - व्यवहार
      - निशीथ
      - महानिशीथ
      - ऋषिभाषित
      - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
      - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
      - चन्द्रप्रज्ञप्ति
      - क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति
      - महल्लिकाविमानप्रविभक्ति
      - अंगचूलिका
      - वंगचूलिका
      - विवाहचूलिका
      - अरुणोपपात
      - वरुणोपपात
      - गरुड़ोपपात
      - धरणोपपात
      - वैश्रवणोपपात
      - वेलन्धरोपपात
      - देवेन्द्रोपपात
      - उत्थानश्रुत
      - समुत्थानश्रुत
      - नागपरितापनिका
      - निरयावलिका
      - कल्पिका
      - कल्पावतंसिका
      - पुष्पिका
      - पुष्पचूलिका
      - वृष्णिदशा
    - उत्कालिक
      - दशवैकालिक
      - कल्पिकाकल्पिक
      - चुल्लकल्पश्रुत
      - महाकल्पश्रुत
      - औपपातिक
      - राजप्रश्नीय
      - जीवाभिगम
      - प्रज्ञापना
      - महाप्रज्ञापना
      - प्रमादाप्रमाद
      - नन्दी
      - अनुयोगद्वार
      - देवेन्द्रस्तव
      - तन्दुलवैचारिक
      - चन्द्रवेध्यक
      - सूर्यप्रज्ञप्ति
      - पौरुषीमंडल
      - मण्डल प्रवेश
      - विद्याचरण विनिश्चय
      - गणिविद्या
      - ध्यानविभक्ति
      - मरणविभक्ति
      - आत्मविशोधि
      - वीतरागश्रुत
      - संलेखनाश्रुत
      - विहारकल्प
      - चरणविधि
      - आतुर प्रत्याख्यान
      - महाप्रत्याख्यान

(१) सिद्ध	(२) मनुष्य
श्रेणिका	श्रेणिका
मातृकापद	मातृकापद
एकार्थिकपद	एकार्थिकपद
अर्थपद	अर्थपद
पृथक् आकाशपद	पृथक् आकाश
केतुभूत	केतुभूत
राशिवद्ध	राशिवद्ध
एकगुण	एकगुण
द्विगुण	द्विगुण
त्रिगुण	त्रिगुण
केतुभूत	केतुभूत
प्रतिग्रह	प्रतिग्रह
संसार-प्रतिग्रह	संसार-प्रतिग्रह
नन्दावर्त	नन्दावर्त
सिद्धावर्त	मनुष्यावर्त

---

१ नन्दीसूत्र ६-६७
२ „ ६६
३ „ १०१
४ „ ११६
५-६ „ ११८-११६ चा

दिगम्बर मान्यतानुसार आगमों का वर्गीकरण

आगम[1]

अंगप्रविष्ट
- आचार
- सूत्रकृत
- स्थान
- समवाय
- व्याख्याप्रज्ञप्ति
- ज्ञाताधर्मकथा
- उपासकदशा
- अन्तकृतदशा
- अनुत्तरोपपातिकदशा
- प्रश्नव्याकरण
- विपाक
- दृष्टिवाद
  - परिकर्म
    - चन्द्रप्रज्ञप्ति
    - सूर्यप्रज्ञप्ति
    - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
    - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
    - व्याख्याप्रज्ञप्ति
  - सूत्र
  - प्रथमानुयोग
  - पूर्वगत
    - उत्पाद
    - अग्रायणीय
    - वीर्यानुप्रवाद
    - अस्तिनास्तिप्रवाद
    - ज्ञानप्रवाद
    - सत्यप्रवाद
    - आत्मप्रवाद
    - कर्मप्रवाद
    - प्रत्याख्यानप्रवाद
    - विद्यानुप्रवाद
    - कल्याण
    - प्राणावाय
    - क्रियाविशाल
    - लोकबिन्दुसार
  - चूलिका
    - जलगता
    - स्थलगता
    - मायागता
    - आकाशगता
    - रूपगता

अंगबाह्य
- सामायिक
- चतुर्विंशतिस्तव
- वन्दना
- प्रतिक्रमण
- वैनयिक कृतिकर्म
- दशवैकालिक
- उत्तराध्ययन
- कल्पव्यवहार
- कल्पाकल्प
- महाकल्प
- पुंडरीक
- महापुंडरीक
- अशीतिका

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र १/२० श्रुतसागरी वृत्ति

अनुयोग—

आर्य वज्र के पश्चात् आर्यरक्षित होते हैं। इनके गुरु का नाम 'आचार्य तोसलिपुत्र' था। आर्यरक्षित नौ पूर्व और दसवें पूर्व के २४ यविक के ज्ञाता थे।[1] इन्होंने सर्वप्रथम अनुयोगों के अनुसार सभी आगमों को चार भागों में विभक्त किया—

(१) चरण-करणानुयोग—कालिक श्रुत, महाकल्प, छेद श्रुत आदि।
(२) धर्म कथानुयोग—ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।
(३) गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।
(४) द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद आदि[2]।

विषय-सादृश्य की दृष्टि से प्रस्तुत वर्गीकरण किया गया है। व्याख्या-क्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप होते हैं :—

(१) अपृथक्त्वानुयोग
(२) पृथक्त्वानुयोग

आर्यरक्षित से पहले अपृथक्त्वानुयोग का प्रचलन था। अपृथक्त्वानुयोग में हर एक सूत्र की व्याख्या चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से होती थी। यह व्याख्या अत्यधिक क्लिष्ट और स्मृति-सापेक्ष थी। आर्यरक्षित के चार मुख्य शिष्य थे—(१) दुर्बलिका पुष्यमित्र (२) फल्गुरक्षित (३) विन्ध्य और (४) गोष्ठामाहिल। उनके शिष्यों में विन्ध्य प्रबल मेधावी था। उसने आचार्य से अभ्यर्थना की कि सहपाठ से अत्यधिक विलम्ब होता है अतः ऐसा प्रबन्ध करें कि मुझे शीघ्र पाठ मिल जाए। आचार्य के आदेश से दुर्बलिका पुष्यमित्र ने उसे वाचना देने का कार्य अपने ऊपर लिया। अध्ययनक्रम चलता रहा। समयाभाव के कारण दुर्बलिका-पुष्यमित्र अपना स्वाध्याय व्यवस्थित रूप से नहीं कर सके। वे नौवें पूर्व को भूलने लगे, तो आचार्य ने सोचा कि प्रबल प्रतिभा-सम्पन्न दुर्बलिका पुष्य-

---

१ प्रभावक चरित्र : आर्यरक्षित, श्लोक ८२-८४

२ (क) आवश्यक नियुक्ति,-३६३-३७७
(ख) विशेषावश्यक भाष्य, २२८४-२२९५
(ग) दशवैकालिक नियुक्ति, ३ टी०

मित्र की भी यह स्थिति है तो अल्पमेधावी मुनि किस प्रकार स्मरण रख सकेंगे[1] ?

पूर्वोक्त कारण से आचार्य आर्यरक्षित ने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन किया। चार अनुयोगों की दृष्टि से उन्होंने आगमों का वर्गीकरण भी किया।[2]

सूत्रकृतांग चूर्णि के अभिमतानुसार अपृथक्त्वानुयोग के समय प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य आदि अनुयोग की दृष्टि से व सप्त नय की दृष्टि से की जाती थी, परन्तु पृथक्त्वानुयोग के समय चारों अनुयोगों की व्याख्याएं अलग-अलग की जाने लगीं।[3]

यह वर्गीकरण करने पर भी यह भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती कि अन्य आगमों में अन्य वर्णन नहीं है। उत्तराध्ययन में धर्म-कथाओं के अतिरिक्त दार्शनिक तत्त्व भी पर्याप्त रूप से हैं। भगवती सूत्र तो सभी विषयों का महासागर है ही। आचारांग आदि में भी यही बात है। सारांश यह है कि कुछ आगमों को छोड़कर शेप आगमों में चारों अनुयोगों का संमिश्रण है। एतदर्थ प्रस्तुत वर्गीकरण स्थूल वर्गीकरण ही रहा।

---

१ ततो आयारिएहिं दुब्बलिय पुस्समित्तो तस्स वायणायरियओ दिण्णो, ततो सो कइ वि दिवसे वायणं दाऊण आयरियमुवट्ठितो भणइ मम वायणं देंतस्स नासति, जं च सण्णायघरे नाणुप्पेहियं, अतो मम अज्झरतस्स नवमं पुव्वं नासिहिति·ताहे आयरिया चिंतति—'जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं झरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरगड्ढं चेव।'

—आवश्यक वृत्ति, पृ० ३०

२ (क) अपुहत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो।
पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहि रक्खिअज्जेहिं।
जुममासज्ज विहत्तो अणुओगे ता कओ चउहा॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० ७७३-७७४

(ख) चतुर्ष्वेकैकसूत्रार्थाख्याने स्यात् कोपि न क्षमः।
ततोऽनुयोगांश्चतुरः पार्थक्येन व्यधात् प्रभुः॥

—आवश्यक कथा १७४

३ जत्थ एते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिहं वक्खाणिज्जंति पुहुत्ताणुयोगे अपुहुत्ताणुजोगो, पुण जं एक्केक्कं सुत्तं एतेहिं चउहिं वि अणुयोगेहिं सत्तहिं णयसत्तेहिं वक्खाणिज्जति।

—सूत्रकृतचूर्णि, पत्र ४

दिगम्बर साहित्य में इन चार अनुयोगों का वर्णन कुछ रूपान्तर से मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग में महापुरुषों का जीवन-चरित है। करणानुयोग में लोकालोकविभक्ति, काल, गणित आदि का वर्णन है। चरणानुयोग में आचार का निरूपण है और द्रव्यानुयोग में द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदि का विश्लेपण है।

दिगम्बर परम्परा आगमों को लुप्त मानती है अतएव प्रथमानुयोग में महापुराण और अन्य पुराण, करणानुयोग में त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, चरणानुयोग में मूलाचार और द्रव्यानुयोग में प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि का समावेश किया गया है।[1]

श्रीमद् राजचन्द्र ने चारों अनुयोगों का आध्यात्मिक उपयोग बताते हुए लिखा है—'यदि मन शंकाशील हो गया है तो द्रव्यानुयोग का चिन्तन करना चाहिये, प्रमाद में पड़ गया है तो चरण-करणानुयोग का, कपाय से अभिभूत है तो धर्मकथानुयोग का और जड़ता प्राप्त कर रहा है तो गणितानुयोग का।'

अनुयोगों की तुलना वैदिक साधना के विभिन्न पक्षों के साथ की जाय तो द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध ज्ञानयोग से है, चरण-करणानुयोग का कर्मयोग से, धर्मकथानुयोग का भक्तियोग से। *गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की प्रणाली होने से राजयोग से मिलता है।*

---

१ प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमविपुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥
लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनाञ्च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगञ्च ॥४४॥
गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धि रक्षांगम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अधिकार १, पृ० ७१ से ७३

अंग, उपांग, मूल और छेद

आगमों का सबसे उत्तरवर्ती चतुर्थ वर्गीकरण है—अंग, उपांग, मूल और छेद।

नन्दीसूत्रकार ने मूल और छेद ये दो विभाग नहीं किये हैं और न वहाँ पर उपांग शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उपांग शब्द भी नन्दी के पश्चात् ही व्यवहृत हुआ है। नन्दी में उपांग के अर्थ में ही अंगबाह्य शब्द आया है।

आचार्य उमास्वाति ने, जिनका समय पं. सुखलालजी ने विक्रम की पहली शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है,[1] तत्त्वार्थभाष्य में अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग किया है। उपांग से उनका तात्पर्य अंगबाह्य आगमों से ही है।[2]

आचार्य श्रीचन्द्र ने, जिनका समय ई० ११११२ से पूर्व माना जाता है, उन्होंने सुखबोधा समाचारी की रचना की। उसमें उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए अंगबाह्य के अर्थ में 'उपांग' शब्द प्रयुक्त किया है।[3]

आचार्य जिनप्रभ, जिन्होंने ई० १३०६ में **'विधिमार्गप्रपा'** ग्रन्थ पूर्ण किया था, उन्होंने उसमें आगमों की स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए **'इयाणि उवंगा'** लिखकर जिस अंग का जो उपांग है, उसका निर्देश किया है।[4]

जिनप्रभ ने **'वायणाविही'** की उत्थानिका में जो वाक्य दिया है, उसमें भी उपांग-विभाग का उल्लेख हुआ है।[5]

पण्डित बेचरदासजी दोशी का अभिमत है कि चूर्णि-साहित्य में भी

---

१ तत्त्वार्थसूत्र—पं० सुखलालजी विवेचन पृ० ९।

२ अन्यथा हि अनिबद्धमंगोपांगशः समुद्रप्रतरणवद्दुरध्यवसेयं स्यात्।

—तत्त्वार्थ भाष्य १-२०

३ सुखबोधा समाचारी पृ० ३१ से ३४

४ पं० दलसुख मालवणिया—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १ की प्रस्तावना में पृ० ३८।

५ एवं कप्पतिप्पाइविहिपुरस्सरं साहू समाणियसयलजोगविही मूलगन्थनन्दि अणुओगदार—उत्तरज्झयण—इसिमासिय-अंग-उवांग-पइण्णय-छेयगन्थआगमेवा-इज्जा।—वायणाविहि पृ० ६४ जैन सा० बृ० इ० प्रस्तावना, पृ० ४०-४१ से।

उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है।[१] किन्तु सर्वप्रथम किसने किया, यह अन्वेषण का विषय है।

मूल और छेद सूत्रों का विभाग किस समय हुआ, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना स्पष्ट है कि दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि की निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्तियों में[२] मूलसूत्र के सम्बन्ध में किञ्चित्मात्र भी चर्चा नहीं की गई है। इससे यह ध्वनित होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'मूलसूत्र' इस प्रकार का विभाग नहीं हुआ था। यदि हुआ होता तो अवश्य ही उसका उल्लेख इन ग्रन्थों में होता।

श्रावक विधि के लेखक धनपाल ने, जिनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है, अपने ग्रन्थ में पैंतालीस आगमों का निर्देश किया है[३] और विचारसार-प्रकरण के लेखक प्रद्युम्नसूरि ने भी, जिनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है, पैंतालीस आगमों का तो निर्देश किया है[४] पर मूलसूत्र के रूप में विभाग नहीं किया है।

विक्रम संवत् १३३४ में निर्मित प्रभावक-चरित्र में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद का विभाग मिलता है;[५] और उसके पश्चात् उपाध्याय समयसुन्दर गणी ने भी **समाचारीशतक** में उसका उल्लेख किया है[६]। फलितार्थ यह है कि मूलसूत्र विभाग की स्थापना तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो चुकी थी।

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमों को 'मूलसूत्र' यह अभिधा क्यों दी गई, इसके संबंध में विभिन्न विज्ञों ने विभिन्न कल्पनाएँ की हैं।

---

१. जैन साहित्य का इतिहास, भा० १ 'जैन श्रुत', पृ० ३०

२. देखिए—दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, और उत्तराध्ययन शान्त्याचार्यकृत बृहद् वृत्ति।

३ गाथासहस्री में समयसुन्दर गणी ने धनपालकृत 'श्रावकविधि' का निम्न उद्धरण दिया है—'पणयालीसं आगम', श्लो० २९७, पृ० १८।

४ विचारलेस, गाथा ३४४-३५१ (विचारसार प्रकरण)

५ ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया।
ततोऽङ्गोपाङ्गमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः ॥२४१॥
— प्रभावक चरितम्, दूसरा आर्यरक्षित प्रबन्ध
(प्र. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)

६ समाचारी शतक पत्र—७६

प्रो० विन्टरनित्ज का मन्तव्य है कि इन आगमों पर अनेक टीकाएँ हैं। इनसे मूलग्रन्थ का पृथक्करण करने के लिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है।[1] किन्तु उनका यह तर्क वजनदार नहीं है क्योंकि उन्होंने पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्र में माना है जबकि उसकी अनेक टीकाएँ नहीं है।

डॉ० सारपेन्टियर,[2] डा० ग्यारीनो[3] और प्रोफेसर पटवर्धन[4] आदि का अभिमत है कि इन आगमों में भगवान महावीर के मूल शब्दों का संग्रह है, एतदर्थ उन्हें मूलसूत्र कहा गया है। किन्तु उनका यह कथन भी युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि भगवान महावीर के मूल शब्दों के कारण ही किसी आगम को मूलसूत्र माना जाता है तो सर्वप्रथम आचारांग

---

1 A History of Indian Literature, Part II, Page 446—

Why these texts are called "root Sutras" is not quite clear. Generally the word Mūla is used for fundamental text, in contradiction to the commentary. Now as there are old and important commentaries in existence precisely in the case of these texts they are probably termed "*Mula-Texts*".

2 The Uttradhyayana Sutra, Page 32—

In the Buddhista work Mahavytpatti 245, 1265 Mulgrantha seems to mean original text that is the words of Buddha himself. Consequently there can be no doubt whatsoever that the Jainas too may have used Mula in the sense of 'Original text' and perhaps not so much in opposition to the later abridgements and commentaries as merely to denote actual words of Mahavira himself.

3 ल रिलिजियन द जैन पृ. ७९ (La Religion the Jain), Page 79—

The word Mul-Sutra is translated as *trates originaux*.

4 The Dashvaikalika Sutra—A Study, Page 16—

We find however the word Mula often used in the sense of "original text" and it is but reasonable to hold that the word Mula appearing in the expression Mula-Sutra has got the same sense. Thus the term Mulasutra would mean the "Original test" i. e. "The text containing the original words of Mahavira (as received directly from his mouth)." And as a matter of fact we find that the style of Mula sutras No. 183 (उत्तराध्ययन and दशवैकालिक) as sufficiently ancient to justify the claim made in their favour by original title, that they present and preserve the original words of Mahavira.

के प्रथम श्रुतस्कन्ध को मूल मानना चाहिये, क्योंकि वही भगवान महावीर के मूल शब्दों का सबसे प्राचीन संकलन है।

हमारे मन्तव्यानुसार जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमण के आचार सम्बन्धी मूल गुणों महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है और जो श्रमण-जीवनचर्या में मूल रूप से सहायक बनते हैं और जिन आगमों का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है उन्हें मूलसूत्र कहा गया है।

हमारे इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि पूर्वकाल में आगमों का अध्ययन आचारांग से प्रारंभ होता था। जब दशवैकालिक सूत्र का निर्माण हो गया तो सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ाया जाने लगा।[1]

पहले आचारांग के *'शस्त्रपरिज्ञा'* प्रथम अध्ययन से शैक्ष की उपस्थापना की जाती थी परन्तु दशवैकालिक की रचना होने के पश्चात् उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।[2]

मूलसूत्रों की संख्या के संबंध में भी मतैक्य नहीं है। समयसुन्दर गणी ने (१) दशवैकालिक, (२) ओघनिर्युक्ति, (३) पिण्डनिर्युक्ति, (४) और उत्तराध्ययन ये चार मूलसूत्र माने हैं।[3] भावप्रभसूरि ने (१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक, (३) पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति और (४) दशवैकालिक ये चार मूलसूत्र माने हैं।[4]

प्रो० वेबर और प्रो० बूलर ने (१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक एवं (३) दशवैकालिक को मूल सूत्र कहा है।

---

१ आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उवरिं इयाणिं किं तेन होवंती उ॥
—व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गा० १७६
(संशोधक मुनि माणक०, प्र० वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर)

२ पुव्वं सत्थपरिण्णा, अधीय पढियाइ होइ उवट्ठवणा।
इण्हिंच्छज्जीवणया, किं सा उ न होउ उवट्ठवणा॥
—व्यवहारभाष्य उद्दे० ३, गा० १७४

३ समाचारी शतक।

४ अथ उत्तराध्ययन-आवश्यक-पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति-दशवैकालिक-इति चत्वारि मूलसूत्राणि। —जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लो० ३० की स्वोपज्ञवृत्ति।
(ले० भावप्रभसूरि, प्र० झवेरी जीवनचन्द साकरचन्द)

डा० सारपेन्टियर, डा० विन्टरनित्ज और डा० ग्यारीनो ने (१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक, (३) दशवैकालिक, एवं (४) पिण्ड निर्युक्ति को मूल सूत्र माना है।

डा० सुब्रिग ने उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्ड निर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को मूल सूत्र की संज्ञा दी है।[1]

स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार को मूल सूत्र मानते हैं।[2]

कहा जा चुका है कि 'मूल' सूत्र की तरह 'छेद' सूत्र का नामोल्लेख भी नन्दीसूत्र में नहीं हुआ है। 'छेद सूत्र' का सबसे प्रथम प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति में हुआ है[3]। उसके पश्चात् विशेषावश्यक भाष्य[4] और निशीथ भाष्य[5] आदि में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि हम आवश्यक निर्युक्ति को यदि ज्योतिर्विद वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु की कृति मानते हैं तो वे विक्रम की छठी शताब्दी में हुए हैं[6]। उन्होंने इसका प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि 'छेद सुत्त' शब्द का प्रयोग 'मूल सुत्त' से पहले हुआ है।

अमुक आगमों को 'छेदसूत्र' यह अभिधा क्यों दी गई ? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रन्थों में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नहीं है। हाँ यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रों को 'छेदसुत्त' कहा गया है वे प्रायश्चित्त सूत्र हैं।

स्थानाङ्ग में श्रमणों के लिए पांच चारित्रों का उल्लेख है—

---

१ ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृ० ४४-४५ लेखक एच० आर० कापडिया।

२ (क) जैनदर्शन, डा० मोहनलाल मेहता पृ० ८९, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० २८ प्रस्तावक पं० दलसुख मालवणिया

३ जं च महाकप्पसुयं, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि॥

—आवश्यक निर्युक्ति ७७७

४ वही —विशेषावश्यकभाष्य २२९५

५ (क) छेदसुत्ताणिसीहादी, अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी। मंतनिमित्तोसहिपाहुडे, य गाहेंति अण्णात्थ॥ —निशीथभाष्य ५९४७
(ख) केनोनिकल लिटरेचर, पृ० ३६ भी देखिए।

६ जैनागमधर और प्राकृत वाङ्मय—लेखक पुण्यविजयजी,
—मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ० ७१८

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसंपराय (५) यथाख्यात ।[१] इनमें से वर्तमान में तीन अन्तिम चारित्र विच्छिन्न हो गये हैं । सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिक चारित्र ही जीवन पर्यन्त रहता है । प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। संभवतः इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो ।

मलयगिरि की आवश्यक वृत्ति[२] में छेदसूत्रों के लिए पद-विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद-विभाग और छेद ये दोनों शब्द समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। संभवतः इसी दृष्टि से छेदसूत्र नाम रखा गया हो। क्योंकि छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं है । सभी सूत्र स्वतंत्र हैं । उनकी व्याख्या भी छेद-दृष्टि से या विभाग-दृष्टि से की जाती है ।

दशाश्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प ये सूत्र नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्घृत किये गये हैं,[३] उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो, यह भी सम्भव है ।[४]

छेदसूत्रों को उत्तम श्रुत माना गया है। भाष्यकार भी इस कथन का समर्थन करते हैं ।[५] चूर्णिकार जिनदास महत्तर स्वयं यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेदसूत्र उत्तम क्यों है ? फिर स्वयं ही उसका समाधान देते हैं कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्त विधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना गया है ।[६] श्रमण-जीवन की साधना

---

१ (क) स्थानांग सूत्र ५, उद्देशक २, सूत्र ४२८
(ख) विशेषावश्यक भाष्य गा० १२६०-१२७०

२ पद विभाग, समाचारी छेदसूत्राणि ।
—आवश्यक निर्युक्ति ६६५, मलयगिरि वृत्ति

३ कतरं सुत्तं ? दसाउकप्पो ववहारो य । कतरातो उद्घृतं ? उच्यते पच्चक्खाण-पुव्वाओ ।
—दशाश्रुतस्कंधचूर्णि, पत्र २

४ निशीथ १६।१७

५ छेयसुयमुत्तम सुयं । —निशीथभाष्य, ६१४८

६ छेयसुयं कम्हा उत्तमसुत्तं ? भण्णति—जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा ए तेणच्चरणविशुद्धं करेति, तम्हा तं उत्तमसुत्तं ।
—निशीथभाष्य ६१८४ की चूर्णि

का सर्वाङ्गीण विवेचन छेद-सूत्रों में ही उपलब्ध होता है। साधक की क्या मर्यादा है ? उसका क्या कर्त्तव्य है ? इत्यादि प्रश्नों पर उनमें चिन्तन किया गया है। जीवन में से असंयम के अंश को काटकर पृथक् करना, साधना में से दोषजन्य मलिनता को निकालकर साफ करना, भूलों से बचने के लिए पूर्ण सावधान रहना, भूल हो जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहण कर उसका परिमार्जन करना, यह सब छेदसूत्र का कार्य है।

समाचारी शतक में समयसुन्दर गणी ने छेदसूत्रों की संख्या छः बतलाई है[1]—

(१) दशाश्रुतस्कंध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प, (४) निशीथ, (५) महानिशीथ, (६) जीतकल्प।

जीतकल्प को छोड़कर शेष पांच सूत्रों के नाम नन्दी सूत्र में भी आये हैं।[2] जीतकल्प जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की कृति है, एतदर्थ उसे आगम की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। महानिशीथ का जो वर्तमान संस्करण है, वह आचार्य हरिभद्र (वि० ८वीं शताब्दी) के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है। उसका मूल संस्करण तो उसके पूर्व ही दीमकों ने उदरस्थ कर लिया था। अतः वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथ भी आगम की कोटि में नहीं आता। इस प्रकार मौलिक छेदसूत्र चार ही हैं—(१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प और (४) निशीथ।

श्रुतपुरुष

नन्दीसूत्र की चूर्णि में श्रुतपुरुष की एक कमनीय कल्पना की गई है।[3] पुरुष के शरीर में जिस प्रकार बारह अंग होते हैं—दो पैर, दो जंघाएँ, दो ऊरु, दो गात्रार्ध (उदर और पीठ), दो भुजाएँ, गर्दन और सिर, उसी प्रकार श्रुतपुरुष के भी बारह अंग हैं।[4]

---

१ समाचारी शतक, आगम स्थापनाधिकार।

२ कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा-दसाओकप्पो, ववहारो, निसीहं, महानिसीहं।
—नन्दी सूत्र ७७

३ इच्चेतस्स सुतपुरिसस्स जं सुतं अंगभागठितं तं अंगपविट्ठं भणइ।
—नन्दीसूत्र चूर्णि, पृ० ४७

४ (क) पायदुगं जंघा उरू गायदुगद्धं तु दो य बाहू यं।
गीवा सिरं च पुरिसो बारस अंगो सुयविसिट्ठो॥
—नन्दीसूत्र वृत्ति, २, ३

दाँया पैर	आचारांग
बाँया पैर	सूत्रकृतांग
दाँयीं जंघा	स्थानांग
बाँयीं जंघा	समवायांग
दाँया ऊरु	भगवती
बाँया ऊरु	ज्ञाताधर्मकथा
उदर	उपासकदशा
पीठ	अन्तकृत्दशा
दाँयीं भुजा	अनुत्तरोपपातिक
बाँयीं भुजा	प्रश्नव्याकरण
ग्रीवा	विपाक
शिर	दृष्टिवाद

श्रुतपुरुष की कल्पना आगमों के वर्गीकरण की दृष्टि से एक अतीव सुन्दर कल्पना है। प्राचीन ज्ञान भण्डारों में श्रुतपुरुष के हस्त-रचित अनेक कल्पना-चित्र मिलते हैं। द्वादश उपांगों की रचना होने के पश्चात् श्रुत-पुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपांग की भी कल्पना की गई है, क्योंकि अंगों में कहे हुए अर्थों का स्पष्ट बोध कराने वाले उपांग सूत्र हैं।[1] किस अंग का उपांग कौन है, यह इस प्रकार है :—

अंग	उपांग
आचारांग	औपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थानांग	जीवाभिगम

(ख) इह पुरुषस्य द्वादश अंगानि भवन्ति तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरुणी, द्वे गात्रार्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा, शिरश्च, एवं श्रुतरूपस्य अपि परमपुरुषस्य आचारादीनि द्वादश अंगानि क्रमेण वेदितव्यानि..........श्रुतपुरुषस्य अंगेषु प्रविष्टम् अंगभावेन व्यवस्थितमित्यर्थः। यत् पुनरेतस्यैव द्वादशांगात्मकस्य श्रुतपुरुषस्य व्यतिरेकेण स्थितम् अंगबाह्यत्वेन व्यवस्थितं तद् अनंग-प्रविष्टम्। —नन्दीसूत्र मलयगिरि वृत्ति, पृ० २०३

(ग) श्रुतं पुरुषः मुखचरणाद्यंगस्थानीयत्वादंग शब्देनोच्यते।
—मूलाराधना ४।५९९ विजयोदया

१ अंगार्थस्पष्टबोधविधायकानि उपांगानि। —औपपातिक टीका

समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृत्दशा	निरयावलिया-कल्पिका
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

श्रुतपुरुप की तरह वैदिक वाङ्मय में भी वेदपुरुप की कल्पना की गई है। उसके अनुसार छन्द पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिप नेत्र हैं, निरुक्त श्रोत्र हैं, शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख है।[१]

निर्यूहण आगम

जैन आगमों की रचनाएँ दो प्रकार से हुई हैं—(१) कृत, (२) निर्यूहण। जिन आगमों का निर्माण स्वतंत्र रूप से हुआ है वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे गणधरों के द्वारा द्वादशांगी की रचना की गई है और भिन्न-भिन्न स्थविरों के द्वारा उपांग साहित्य का निर्माण किया गया है, वे सब कृत आगम हैं। निर्यूहण आगम ये माने गये हैं[२]—

(१) आचारचूला (२) दशवैकालिक
(३) निशीथ (४) दशाश्रुतस्कन्ध
(५) बृहत्कल्प (६) व्यवहार
(७) उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन

आचारचूला यह चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है, यह बात आज अन्वेपणा के द्वारा स्पष्ट हो चुकी है। आचारांग से आचार

---

१ छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिपामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोतमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं च वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

—पाणिनीय शिक्षा ४१, १२

२ आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २१-२२, पं० दलसुखभाई मालवणिया

—प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

चूला की रचना-शैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना आचारांग के बाद हुई है। आचारांग-निर्युक्तिकार ने उसको स्थविर कृत माना है।[1] स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है[2] और वृत्तिकार ने चतुर्दशपूर्वी किया है[3] किन्तु उनमें स्थविर का नाम नहीं आया है। विज्ञों का अभिमत है कि यहाँ पर स्थविर शब्द का प्रयोग चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के लिए ही हुआ है।

आचारांग के गम्भीर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए 'आचार-चूला' का निर्माण हुआ है। निर्युक्तिकार ने पाँचों चूलाओं के निर्यूहण स्थलों का संकेत किया है।[4]

दशवैकालिक चतुर्दशपूर्वी शय्यंभव के द्वारा विभिन्न पूर्वों से निर्यूहण किया गया है। जैसे–चतुर्थ अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्‌धृत किये गये हैं।[5]

---

१ थेरेहिऽणुग्गहट्ठा, सीसहिअं होउ पागउत्थं च।
आयाराओ अत्थो, आयारंगेसु पविभत्तो॥
—आचारांग निर्युक्ति गा० २८७

२ थेरे गणधरा —आचारांग चूर्णि, पृ० ३२६

३ 'स्थविरैः' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्‌भिः। —आचारांग वृत्ति २९०

४ बिइअस्स य पंचमए, अट्ठमगस्स बिइयंमि उद्देसे।
भणिओ पिंडो सिज्जा, वत्थं पाउग्गहो चेव॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया, वण्णिज्जई समासेणं।
छट्ठस्स य पंचमए, भासज्जायं वियाणाहि॥
सत्तिक्कगाणि सत्तवि, निज्जूढाइं महापरिन्नाओ।
सत्थपरिन्ना भावण, निज्जूढाओ धुयविमुत्ती॥
आयारपकप्पो पुण, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधिज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया॥
—आचारांग निर्युक्ति गा० २८८-२९१

५ आयप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवाय पुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविधा॥
सच्चप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ वक्क सुद्धीउ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १६-१७

द्वितीय अभिमतानुसार दशवैकालिक गणिपिटक द्वादशांगी से उद्धृत है।[1]

निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से हुआ है। प्रत्याख्यान पूर्व के बीस वस्तु अर्थात् अर्थाधिकार हैं। तृतीय वस्तु का नाम आचार है। उसके भी बीस प्राभृतच्छेद अर्थात् उपविभाग हैं। बीसवें प्राभृतच्छेद से निशीथ का निर्यूहण किया गया है।[2]

पंचकल्पचूर्णि के अनुसार निशीथ के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं।[3] इस मत का समर्थन आगम प्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी ने भी किया है।[4]

दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और व्यवहार, ये तीनों आगम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी के द्वारा प्रत्याख्यान पूर्व से निर्यूढ़ हैं।[5]

दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति के मन्तव्यानुसार वर्तमान में उपलब्ध दशाश्रुतस्कंध अंगप्रविष्ट आगमों में जो दशाएँ प्राप्त हैं उनसे लघु हैं। इनका निर्यूहण शिष्यों के अनुग्रहार्थ स्थविरों ने किया था। चूर्णि[6] के अनुसार स्थविर का नाम भद्रबाहु है।[7]

---

१ बीओऽवि अ आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ।
एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १८

२ णिसीहं णवमा पुव्वा पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।
आयार नामधेज्जा, वीसतिमा पाहुडच्छेदा॥ —निशीथ भाष्य ६५००

३ तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा
—पंचकल्प चूर्णि, पत्र १ (लिखित)

४ बृहत्कल्प सूत्र, भाग ६, प्रस्तावना पृ० ३

५ (क) वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिय सयल सुयनाणिं सुत्तस्स कारगमिसं (णं)
दसासुकप्पे य ववहारे। —दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा १, पत्र १
(ख) तत्तोच्चिय णिज्जूढं अणुग्गहट्ठाए संपयजतीणं सो सुत्तकार तो खलु स भवति दसकप्पववहारे। —पंचकल्प भाष्य गा० ११

६ डहरीओ उ इमाओ अज्झयणेसु महईओ अंगेसु।
छसु नायादीएसुं, वत्थविभूसावसाणमिव॥
डहरीओ उ इमाओ, निज्जूढाओ अणुग्गहट्ठाए।
थेरेहिं तु दसाओ, जो दसा जाणओ जीवो॥
—दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति ५।६

७ दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि।

उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन भी अंग प्रभव माना जाता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के मतानुसार वह कर्मप्रवाद पूर्व के सत्रहवें प्राभृत से उद्धृत है।[1]

इनके अतिरिक्त आगमेतर साहित्य में विशेषत: कर्म साहित्य का बहुत सा भाग पूर्वोद्धृत माना जाता है।

निर्यूहण कृतियों के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और जो संक्षेप में उसका वर्तमान रूप उपलब्ध है उसके कर्ता वही हैं जिन पर जिनका नाम अंकित या प्रसिद्ध है। जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव; कल्प, व्यवहार, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध के रचयिता भद्रबाहु हैं।

जैन अंग-साहित्य की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर[2] सभी एकमत हैं। सभी अंगों को बारह स्वीकार करते हैं। परन्तु अंगबाह्य आगमों की संख्या के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, उसमें विभिन्न मत हैं। यही कारण है कि आगमों की संख्या कितने ही ८४ मानते हैं, कोई-कोई ४५ मानते हैं और कितने ही ३२ मानते हैं।

नन्दीसूत्र में आगमों की जो सूची दी गई है, वे सभी आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मूल आगमों के साथ कुछ निर्युक्तियों को मिलाकर ४५ आगम मानता है और कोई ८४ मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा बत्तीस को ही प्रमाणभूत मानती है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं।

४५ आगमों के नाम

अंग	उपांग	छह मूल सूत्र
आचार	औपपातिक	आवश्यक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय	दशवैकालिक
स्थान	जीवाभिगम	उत्तराध्ययन

---

१ कम्मप्पवाय पुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं।
सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं॥
—उत्तराध्ययन निर्युक्ति गा० ६९

२ (क) तत्त्वार्थ सूत्र १/२०, श्रुतसागरीय वृत्ति।
(ख) षट्खंडागम (धवला टीका) खण्ड १, पृ० १

समवाय	प्रज्ञापना	नन्दी
भगवती	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति	अनुयोगद्वार
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति	पिण्डनिर्युक्ति-
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति	ओघनिर्युक्ति
अन्तकृत्दशा	निरयावलिया	—
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतंसिका	छह छेदसूत्र
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका	निशीथ महानिशीथ
विपाक	पुष्पचूलिका	बृहत्कल्प व्यवहार
	वृष्णिदशा	दशाश्रुतस्कन्ध पंचकल्प

१० दस पइन्ना

(१) आतुरप्रत्याख्यान
(२) भक्तपरिज्ञा
(३) तन्दुलवैचारिक
(४) चन्द्रवेध्यक
(५) देवेन्द्रस्तव
(६) गणि-विद्या
(७) महाप्रत्याख्यान
(८) चतु:शरण
(९) वीरस्तव
(१०) संस्तारक

११ अंग, १२ उपांग, ६ मूलसूत्र, ६ छेदसूत्र और १० पइन्ना इस प्रकार कुल ४५ आगम हुए।

८४ आगमों के नाम

१ से ४५ तक पूर्वोक्त
(४६) कल्पसूत्र
(४७) यति-जीत-कल्प—सोमप्रभसूरि
(४८) श्रद्धा-जीत-कल्प—धर्मघोषसूरि
(४९) पाक्षिक सूत्र } आवश्यक सूत्र के अंग हैं
(५०) क्षमापना-सूत्र }

(५१) वंदित्तु
(५२) ऋषिभाषित
(५३) अजीव-कल्प
(५४) गच्छाचार
(५५) मरणसमाधि
(५६) सिद्धप्राभृत
(५७) तीर्थोद्गार
(५८) आराधनापताका
(५९) द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति
(६०) ज्योतिष-करण्डक
(६१) अंग-विद्या
(६२) तिथि-प्रकीर्णक
(६३) पिण्ड-विशुद्धि
(६४) सारावली
(६५) पर्यन्ताराधना
(६६) जीव विभक्ति
(६७) कवच-प्रकरण
(६८) योनि-प्राभृत
(६९) अंग-चूलिया
(७०) बंग-चूलिया
(७१) वृद्ध चतुःशरण
(७२) जम्बू-पयन्ना
(७३) आवश्यक-निर्युक्ति
(७४) दशवैकालिक-निर्युक्ति
(७५) उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
(७६) आचारांग-निर्युक्ति
(७७) सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
(७८) सूर्यप्रज्ञप्ति
(७९) बृहत्कल्प-निर्युक्ति
(८०) व्यवहार-निर्युक्ति
(८१) दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति

(८२) ऋषिभाषित-निर्युक्ति
(८३) संसक्त-निर्युक्ति
(८४) विशेषावश्यक भाष्य

बत्तीस आगम

अंग	उपांग
आचार	औपपातिक
सूत्रकृत्	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	सूर्यप्रज्ञप्ति
अन्तकृत्दशा	निरयावलिका
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्प-चूलिका
	वृष्णिदशा

मूलसूत्र	छेदसूत्र
दशवैकालिक	निशीथ
उत्तराध्ययन	व्यवहार
अनुयोगद्वार	बृहत्कल्प
नन्दीसूत्र	दशाश्रुतस्कन्ध

आवश्यक सूत्र[1]

जैन आगमों की भाषा

जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी है,[2] जिसे सामान्यत: प्राकृत

---

१ विशेष चर्चा के लिए देखिए—प्रो० कापडिया का 'ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ जैन्स, प्रकरण २'।

२ पोराणमद्धमागह भासानिययं हवइ सुत्तं । —निशीथचूर्णि

संकलन किया गया। बारहवें दृष्टिवाद के एक मात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ की प्रार्थना से उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देने की स्वीकृति दी। मुनि स्थूलभद्र ने दस पूर्व तक अर्थसहित वाचना ग्रहण की। ग्यारहवें पूर्व की वाचना चल रही थी, तभी स्थूलभद्र मुनि ने सिंह का रूप बनाकर बहिनों को चमत्कार दिखलाया[1] जिसके कारण भद्रबाहु ने आगे वाचना देना बन्द कर दिया। तत्पश्चात् संघ एवं स्थूलभद्र के अत्यधिक अनुनय-विनय करने पर भद्रबाहु ने मूल रूप से अन्तिम चार पूर्वों की वाचना दी, अर्थ की दृष्टि से नहीं। शाब्दिक दृष्टि से स्थूलभद्र चौदहपूर्वी हुए, किन्तु अर्थ की दृष्टि से दसपूर्वी ही रहे।[2]

द्वितीय वाचना—आगम संकलन का द्वितीय प्रयास ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में हुआ। सम्राट् खारवेल जैनधर्म के परम उपासक थे। उनके सुप्रसिद्ध 'हाथी गुफा' अभिलेख से यह सिद्ध हो चुका है कि उन्होंने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनियों का एक संघ बुलाया और मौर्य-काल में जो अंग विस्मृत हो गये थे, उनका पुनः उद्धार कराया था।[3] **'हिमवंत थेरावली'** नामक संस्कृत प्राकृत मिश्रित पट्टावली में भी स्पष्ट उल्लेख है कि महाराजा खारवेल ने प्रवचन का उद्धार कराया था।[4]

तृतीय वाचना—आगमों को संकलित करने का तीसरा प्रयास वीर निर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य में हुआ।

उस समय द्वादशवर्षीय भयंकर दुष्काल से श्रमणों को भिक्षा मिलना कठिनतर हो गया था। श्रमणसंघ की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। विशुद्ध आहार की अन्वेषणा-गवेषणा के लिए युवक मुनि दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक वृद्ध एवं बहुश्रुत मुनि आहार के अभाव से आयु पूर्ण कर गये। क्षुधापरीषह से संत्रस्त मुनि अध्ययन, अध्यापन, धारण और

---

१ तेण चिंतियं भगणीणं इड्ढि दरिसेमि त्ति सीहरूवं विउव्वइ।

—आवश्यक वृत्ति, पृ० ६९८

२ (क) तित्थोगालीय पइण्णय ७४२।
(ख) आवश्यक चूर्णि, पृ० १८७।
(ग) परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९, आचार्य हेमचन्द्र।

३ जर्नल आफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भा० १३, पृ० ३३६।

४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ८२।

प्रत्यावर्तन कैसे करते ? सभी कार्य अवरुद्ध हो गये। शनैः-शनैः श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत नष्ट हुआ। अंग और उपांग साहित्य का भी अर्थ की दृष्टि से बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। दुर्भिक्ष की परिसमाप्ति पर श्रमण संघ मथुरा में स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना अंश स्मरण था उसका अनुसन्धान कर कालिक श्रुत और पूर्वगत श्रुत के कुछ अंश का संकलन हुआ। यह वाचना मथुरा में सम्पन्न होने के कारण 'माथुरी' वाचना के रूप में विश्रुत हुई। उस संकलन श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि आचार्य स्कंदिल ने दी थी अतः उस अनुयोग को 'स्कन्दिली' वाचना भी कहा जाने लगा।[1]

नन्दीसूत्र की चूर्णि और वृत्ति के अनुसार माना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किञ्चित्मात्र भी श्रुतज्ञान तो विनष्ट नहीं हुआ, किन्तु केवल आचार्य स्कन्दिल को छोड़कर शेष अनुयोगधर मुनि स्वर्गवासी हो चुके थे। एतदर्थ आचार्य स्कन्दिल ने पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया, जिससे प्रस्तुत वाचना को माथुरी वाचना कहा गया और सम्पूर्ण अनुयोग स्कन्दिल सम्बन्धी माना गया।[2]

चतुर्थ वाचना—जिस समय उत्तर, पूर्व और मध्य भारत में विचरण करने वाले श्रमणों का सम्मेलन मथुरा में हुआ था, उसी समय दक्षिण और पश्चिम में विचरण करने वाले श्रमणों की एक वाचना (वीर निर्वाण सं० ८२७-८४०) वल्लभी (सौराष्ट्र) में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई। किन्तु वहाँ पर जो श्रमण एकत्रित हुए थे, उन्हें बहुत कुछ श्रुत विस्मृत हो चुका था। जो कुछ उनके स्मरण में था, उसे ही संकलित किया गया। यह वाचना 'वल्लभी वाचना' या 'नागार्जुनीय वाचना' के नाम से अभिहित है।[3]

---

१ आवश्यक चूर्णि

२ (क) नन्दी चूर्णि, पृ० ८

(ख) नन्दी गाथा ३३, मलयगिरि वृत्ति, पृ० ५१

३ (क) काहावली।

(ख) जिन वचनं च दुष्पमाकालवशात् उच्छिन्नप्रायमितिमत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन स्कन्दिलाचार्य प्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्।

—योगशास्त्र, प्र० ३, पृ० २०७

पञ्चम वाचना—वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३ ई० सन् ४५४-४६६) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः श्रमणसंघ वल्लभी में एकत्रित हुआ। देवर्द्धिगणी ११ अंग और १ पूर्व से भी अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। स्मृति की दुर्बलता, परावर्तन की न्यूनता, घृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति इत्यादि अनेक कारणों से श्रुत साहित्य का अधिकांश भाग नष्ट हो गया था। विस्मृत श्रुत को संकलित व संग्रहीत करने का प्रयास किया गया। देवर्द्धिगणी ने अपनी प्रखर प्रतिभा से उसको संकलित कर पुस्तकारूढ़ किया। पहले जो माथुरी और वल्लभी वाचनाएँ हुई थीं, उन दोनों वाचनाओं का समन्वय कर उनमें एकरूपता लाने का प्रयास किया गया।[1] जिन स्थलों पर मतभेद की अधिकता रही, वहाँ माथुरी वाचना को मूल में स्थान देकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया। यही कारण है कि आगमों के व्याख्या ग्रन्थों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस प्रकार का निर्देश मिलता है।

आगमों को पुस्तकारूढ़ करते समय देवर्द्धिगणी ने कुछ मुख्य बातें ध्यान में रखीं। आगमों में जहाँ-जहाँ समान पाठ आये हैं, उनकी वहाँ पुनरावृत्ति न करते हुए उनके लिए विशेष ग्रन्थ या स्थल का निर्देश किया गया है जैसे **'जहा उववाइए' 'जहा पण्णवणाए'**। एक ही आगम में एक बात अनेक बार आने पर 'जाव' शब्द का प्रयोग कर उसका अन्तिम शब्द सूचित कर दिया है जैसे **'णागकुमारा जाव विहरंति' 'तेणं कालेणं जाव परिसा णिग्गया'**। इसके अतिरिक्त भगवान महावीर के पश्चात् की कुछ मुख्य-मुख्य घटनाओं को भी आगमों में स्थान दिया। यह वाचना वल्लभी में होने के कारण 'वल्लभी वाचना' कही गई। इसके पश्चात् आगमों की फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गयी।

आगम-विच्छेद का क्रम

श्वेताम्बर मान्यतानुसार वीर निर्वाण १७० वर्ष के पश्चात् भद्रबाहु स्वर्गस्थ हुए। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व उनके साथ ही नष्ट हो

---

१ वलहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
पुत्थई आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ॥

गये। दिगम्बर मान्यता के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ था।

वीर निर्वाण सं० २१६ में स्थूलभद्र स्वर्गस्थ हुए। वे शाब्दी दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व के ज्ञाता थे। वे चार पूर्व भी उनके साथ ही नष्ट हो गये। आर्य वज्रस्वामी तक दस पूर्वों की परम्परा चली। वे वीर निर्वाण ५५१ (वि० सं० ८१) में स्वर्ग पधारे। उस समय दसवाँ पूर्व नष्ट हो गया। दुर्बलिका पुष्यमित्र ६ पूर्वों के ज्ञाता थे। उनका स्वर्गवास वीर निर्वाण ६०४ (वि० सं० १३४) में हुआ। उनके साथ ही नवाँ पूर्व भी विच्छिन्न हो गया।

इस प्रकार पूर्वों का विच्छेद-क्रम देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक चलता रहा। स्वयं देवर्द्धिगणी एक पूर्व से अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। आगम साहित्य का बहुत-सा भाग लुप्त होने पर भी आगमों का कुछ मौलिक भाग आज भी सुरक्षित है। किन्तु दिगम्बर परम्परा की यह धारणा नहीं है। श्वेताम्बर समाज मानता है कि आगम-संकलन के समय उसके मौलिक रूप में कुछ अन्तर अवश्य ही आया है। उत्तरवर्ती घटनाओं एवं विचारणाओं का उसमें समावेश किया गया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण स्थानांग में सात निह्नवों और नव गणों का उल्लेख है। वर्तमान में प्रश्नव्याकरण का मौलिक विषय-वर्णन भी उपलब्ध नहीं है तथापि अंग साहित्य का अत्यधिक अंश मौलिक है। भाषा की दृष्टि से भी ये आगम प्राचीन सिद्ध हो चुके हैं। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा को भाषा-शास्त्री पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की मानते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि वैदिक वाङ्मय की तरह जैन आगम साहित्य पूर्णरूप से उपलब्ध क्यों नहीं है? वह विच्छिन्न क्यों हो गया? इसका मूल कारण है देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पूर्व आगम साहित्य व्यवस्थित रूप से लिखा नहीं गया। देवर्द्धिगणी के पूर्व जो आगम वाचनाएँ हुई, उनमें आगमों का लेखन हुआ हो, ऐसा स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। वह श्रुतिरूप में ही चलता रहा। प्रतिभासम्पन्न योग्य शिष्य के अभाव में गुरु ने वह ज्ञान शिष्य को नहीं बताया जिसके कारण श्रुत-साहित्य धीरे-धीरे विस्मृत होता गया।

लेखन परम्परा

आगम व आगमेतर साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्रागैति-

हासिक काल में हो चुका था[१]। प्रज्ञापनासूत्र में अठारह लिपियों का उल्लेख मिलता है।[२] विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति और त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र प्रभृति ग्रन्थों से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियाँ सिखलाई थीं[३]। इसी कारण लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पड़ा।[४] भगवती आदि आगमों में मंगलाचरण के रूप में 'नमो बंभीए लिवीए'[५] कहा गया है। भगवान् ऋषभ ने अपने बड़े पुत्र भरत को ७२ कलाएं सिखलाई थीं;[६] जिनमें लेखन कला का प्रथम स्थान है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार चक्रवर्ती भरत ने काकिणी रत्न से अपना नाम ऋषभ-कूट पर्वत पर लिखा था। भगवान ऋषभ ने असि, मषि और कृषि ये तीन प्रकार के व्यापार चलाये।[७] इस तरह लिपि, लेखन-कला और मषि ये तीन शब्द लेखन की परम्परा को कर्मयुग के आदिकाल में ले जाते हैं। नन्दीसूत्र में अक्षरश्रुत के जो तीन प्रकार के बतलाए हैं उनमें प्रथम संज्ञाक्षर है; जिसका अर्थ है अक्षर की आकृति विशेष—अ, आ आदि।[८]

---

१ (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्ति।
(ख) श्री कल्पसूत्र, सू० १९५

२ प्रज्ञापनासूत्र पद १।

३ (क) विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति १३२।
(ख) लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिण करेणं।
—आवश्यक निर्युक्ति गा० २१२
(ग) अष्टादश लिपिर्ब्राह्मी अपसव्येन पाठिना।
—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १।२।९६३
(घ) बंभीए दाहिणहत्थेणं लेहो दाइतो। —आवश्यक चूर्णि पृष्ठ १५६
(ङ) आगम साहित्य में भारतीय समाज : पृ०३०१—३०३
ले० डाक्टर जगदीशचन्द्र जैन

४ ऋषभदेव ने ही संभवतः लिपि-विद्या के लिए लिपि कौशल का उद्भावन किया। ऋषभदेव ने ही संभवतः ब्रह्म विद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।
—हिन्दी विश्वकोष, श्री नगेन्द्रनाथ वसु प्र० भा० पृ० ६४।

५ भगवती सूत्र-मंगलाचरण।

६ द्वासप्तति कला कलाकाण्डं, भरतं सोऽध्यजीगपत्।
ब्रह्म ज्येष्ठाय पुत्राय ब्रूयादिति नयादि व॥
—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १।२।९६०।

७ जम्बूद्वीप० वृत्ति,

८ नन्दीसूत्र ३८।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्राग्-ऐतिहासिक काल में लिखने की सामग्री किस प्रकार की थी। 'पुस्तकरत्न' का वर्णन करते हुए राजप्रश्नीय सूत्र में कम्बिका (कामी), मोंरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र), छंदन (ढक्कन), सांकली, मषि और लेखनी—इन लेखन उपकरणों का वर्णन किया गया है। प्रज्ञापना में 'पोत्थार' शब्द आता है जिसका अर्थ है लिपिकार[१]। इसी आगम में पुस्तक लेखन को आर्यशिल्प कहा है और अर्धमागधी भाषा एवं ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले लेखक को भाषा आर्य में समाविष्ट किया है[२]। स्थानांग में पांच प्रकार की पुस्तकों का उल्लेख है—(१) गण्डी, (२) कच्छवी, (३) मुष्टि, (४) संपुट फलक, (५) सुपाटिका[३]। दशवैकालिक वृत्ति में[४] प्राचीन आचार्यो के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए इन पुस्तकों का विवरण दिया गया है। निशीथ चूर्णि में इनका वर्णन है[५]। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताडपत्र, संपुट का पत्र संचय और कर्म का अर्थ मषि एवं लेखनी किया है एवं पोत्थारा या पोत्यकार शब्द का अर्थ पुस्तक के द्वारा आजीविका चलाने वाला किया है।

आगम-साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध[६] और वैदिक वाङ्मय में भी लेखन कला का वर्णन उपलब्ध होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है। सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने अपनी भारत यात्रा के संस्मरणों में लिखा है कि 'भारतवासी लोग कागज बनाते थे'।[७] ईसा की द्वितीय शताब्दी में लिखने के लिए ताडपत्र और चतुर्थ शताब्दी में भोजपत्र का उपयोग किया

---

१ प्रज्ञापनासूत्र पद १

२ " " "

३ (क) स्थानांगसूत्र, स्थान ५।
 (ख) बृहत्कल्पभाष्य ३, ३८२२।
 (ग) विस्तृत विवेचन हेतु देखिए—
 जैनचित्रकल्पद्रुम—श्री पुण्यविजयजी महाराज द्वारा सम्पादित।
 (घ) आंउटलाइन्स आफ पैलियोग्राफी, जर्नल आफ यूनिवर्सिटी आफ बोम्बे, जिल्द ६, भा० ६, पृ० ८७ एच० आर० कापडिया तथा ओझा, वही, पृ० ४-५६

४ दशवैकालिक, हारिभद्रीयावृत्ति, पत्र २५

५ निशीथचूर्णि उ० १२।

६ राइस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १०८।

७ भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० २।

इतिहासज्ञों तथा शिशिर कुमार मित्र ने अपनी Vision of India नामक पुस्तक में स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'प्राचीन ग्रन्थ गुप्त साम्राज्य में और विशेषकर चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में लिखे गये हैं। रामायण, महाभारत, स्मृति आदि ग्रन्थों की रचना इसी काल में हुई।' इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य का लेखन-काल गुप्त साम्राज्य तक खिंच आता है। सचाई यह है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी भारतीय वाङ्मय के लिपिकरण का महत्त्वपूर्ण समय रहा है।

उक्त अनुशीलन से यह भी स्पष्ट होता है कि जैन आगम साहित्य अपनी प्राचीनता, उपयोगिता और समृद्धता के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। अंग साहित्य में भगवान महावीर की वाणी अपने बहुत कुछ अंशों में ज्यों की त्यों अब भी प्राप्त होती है। इस वाणी को तोड़ा-मरोड़ा नहीं गया है। यह जैन परम्परा की विशेषता रही कि अंगों को लिपि-बद्ध करने वाले श्रमणों ने मूल शब्दों में कुछ भी हेरा-फेरी नहीं की, जैसा कि अन्य परम्पराओं में हुआ है। अंग एवं आगम साहित्य पर टीकाओं, चूर्णियों आदि की रचना हुई किन्तु आगम का मूल रूप ज्यों का त्यों रहा। साथ ही देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की यह उदारता रही कि जहाँ उन्हें पाठान्तर मिले वहाँ दोनों विचारों को ही तटस्थतापूर्वक लिपिबद्ध किया।

आगमों का विस्तृत स्वरूप अगले अध्यायों में प्रस्तुत है। हम सर्वप्रथम अंग साहित्य का परिचय देकर, स्थानकवासी व तेरापंथी परम्परा मान्य अङ्गबाह्य आगम साहित्य का परिचय देंगे और उसके पश्चात् श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मान्य अन्य अंगबाह्य आगमों का परिचय देकर आगम के व्याख्या साहित्य पर चिन्तन करेंगे। उसके पश्चात् दिगम्बर परम्परा मान्य आगम साहित्य का परिचय देकर आगम साहित्य का बौद्ध व वैदिक परम्परा के ग्रन्थों के साथ संक्षेप में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे जिससे प्रबुद्ध पाठकों को आगम साहित्य के महत्त्व का परिज्ञान हो सके।

□

द्वितीय खण्ड

अंग साहित्य : एक पर्यालोचन

- ☐ आचारांग
- ☐ सूत्रकृतांग
- ☐ स्थानांग
- ☐ समवायांग
- ☐ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)
- ☐ ज्ञाताधर्मकथा
- ☐ उपासकदशा
- ☐ अन्तकृत्‌दशा
- ☐ अनुत्तरोपपातिकदशा
- ☐ प्रश्नव्याकरण
- ☐ विपाक
- ☐ दृष्टिवाद

१. आचारांग सूत्र

आचारांग का महत्त्व

आचारांग में आचार का प्रतिपादन किया गया है। अतः उसे सब अंगों का सार माना गया है। निर्युक्तिकार ने स्वयं जिज्ञासा प्रस्तुत की—'अंगों का सार क्या है?' समाधान करते हुए कहा—'अंगों का सार आचार है?'[१] आचारांग में मोक्ष का उपाय बताया गया है अतः उसे सम्पूर्ण प्रवचन का सार कहा है।[२]

आचारांग श्रमण-जीवन का आधार है, अतः प्राचीन काल में इस आगम का अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता था। इसके अध्ययन किये बिना सूत्रकृत आदि आगम साहित्य का अध्ययन नहीं किया जा सकता था।[३] आचारांग के अध्ययन के पश्चात् ही धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग पढ़ने का विधान है।[४] आचारांग के नौ ब्रह्मचर्य अध्ययनों का वाचन किए बिना ही जो अन्य आगमों का अध्ययन करता है उसके लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित का विधान किया गया है।[५] आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन से नवदीक्षित

---

१ अंगाणं किं सारो ? आयारो।

—आचारांग निर्युक्ति, गाथा १६

२ आचारांग निर्युक्ति, गाथा ९

३ अंगं जहा आयारो तं अवाएत्ता सुयगडंगं वाएंति—

—निशीथचूर्णि, भाग ४, पृ० २५२

४ अहवा बंभचेरादि आयारं अवाएत्ता धम्माणुओगं इसिभासियादि वाएति, अहवा सूरपण्णत्तिमाइ गणिताणुओगं वाएति, अहवा दिट्ठिवानं दवियाणुओगं वाएति, अहवा जदा चरणाणुओगो वातितो तदा धम्माणुओगं अवाएत्ता गणियाणुयोगं वाएति, एवं उक्कमो चारणियाए सव्वो वि भासियव्वो।

—निशीथचूर्णि, भाग ४, पृ० २५२

५ जे भिक्खु णव बंभचेराइं अवाएत्ता उत्तम सुयं वाएइ, वाएत्तं वा सातिज्जति—

—निशीथ, १९।१

श्रमण की उपस्थापना की जाती थी, और आचारांग के अध्ययन से ही श्रमण पिण्डकल्पी यानि भिक्षा लाने के योग्य बनता था।[१] आचारांग के अध्ययन से श्रमणधर्म का परिज्ञान होता है अतः आचारधर को प्रथम गणिस्थान कहा गया है।[२] दूसरे शब्दों में कहा जाय तो आचारधर ही आचार्य होने का प्रथम कारण है।

द्वादशांगी में आचारांग का प्रथम स्थान है।[३] निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने लिखा है कि तीर्थङ्कर भगवान सर्वप्रथम आचारांग का और उसके पश्चात् शेष अंगों का प्रवर्तन करते हैं।[४]

आचारांग चूर्णि[५] व वृत्ति में[६] आचारांग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—अनन्त अतीत में जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं उन सबने सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश दिया। वर्तमान काल में जो तीर्थङ्कर महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और अनागत अनन्तकाल में जितने भी तीर्थङ्कर होने वाले हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे, उसके पश्चात् शेष अंगों का। गणधर भी इसी क्रम का अनुसरण करते हुए इसी क्रम से द्वादशांगी को गुम्फित करते हैं।

---

१ व्यवहारभाष्य ३।१७४-१७५

२ आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ।
तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं ॥—आचारांग निर्युक्ति, गा० १०

३ (क) से णं अंगट्ठयाए पढमे। —समवायांग प्रकीर्णक समवाय सूत्र ८९
(ख) स्थापनामधिकृत्य प्रथममंगम्। —नन्दी, मलयगिरि वृत्ति, पत्र २११
(ग) गणधराः पुनः सूत्ररचनां विदधतः आचारादिक्रमेण विदधाति स्थापयन्ति वा। —नन्दी, मलयगिरि वृत्ति, पत्र २४०

४ सव्वेसिमायारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइं अंगाइं एक्कारस अणुपुव्वीए ॥ —आचारांग निर्युक्ति ८

५ सव्व तित्थयरा वि य आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खंति ततो सेसंगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताए चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्तं गुंथंति।
—आचारांग चूर्णि, पृ० ३

६ कदा पुनर्भगवताचारः प्रणीतः इत्यत आह सव्वेसिमित्यादिसर्वेषां तीर्थंकराणां तीर्थप्रवर्तनादावाचारार्थः प्रथमतयाभूद् भवति, भविष्यति च ततः शेषांगार्थं इति गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया ग्रथ्नन्ति इति।
—आचारांग, शीलाङ्काचार्य वृत्ति, पृ० ६

समवायाङ्ग की वृत्ति में आचार्य अभयदेव ने[1] और नन्दीसूत्र की वृत्ति में आचार्य मलयगिरि ने[2] उपर्युक्त मान्यता के समर्थन में अपना अभिमत व्यक्त करने के पश्चात् लिखा है कि आचारांग स्थापना की दृष्टि से प्रथम अंग है और रचना-क्रम की दृष्टि से बारहवाँ अंग है, और दूसरी दृष्टि से रचना-क्रम और स्थापना-क्रम दोनों ही दृष्टियों से आचारांग प्रथम अंग है। ये दोनों धाराएँ अभयदेव व मलयगिरि से पहले ही प्रचलित थीं। अंग पूर्वो से निर्यूढ़ हैं, इस दृष्टि से देखें तो आचारांग स्थापना क्रम की दृष्टि से प्रथम अंग है किन्तु रचनाक्रम की दृष्टि से नहीं। त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र[3], महावीर चरियं[4] आदि से परिज्ञात होता है कि श्रमण भगवान महावीर ने गौतम आदि गणधरों को सर्वप्रथम **'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा'** यह त्रिपदी प्रदान की और उन्होंने इस त्रिपदी से पहले चौदह पूर्वो की रचना की और उसके पश्चात् द्वादशांगी की रचना की। गणधरों ने द्वादशाङ्गी से पहले पूर्वों की रचना की अतः उन्हें पूर्व कहा गया।

प्रश्न है कि जब पूर्वो की रचना अंगों से पहले हुई तो द्वादशांगी की रचना में आचारांग का प्रथम स्थान किस प्रकार है? उत्तर है—पूर्वों की प्रथम रचना होने पर भी आचारांग का द्वादशाङ्गी के क्रम में प्रथम स्थान मानने में बाधा नहीं है चूँकि बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है न कि पूर्व हैं। पूर्व तो दृष्टिवाद के पाँच विभागों में से एक विभाग है[5]। सर्वप्रथम गणधरों ने पूर्वों की रचना की किन्तु बारहवें अंग दृष्टिवाद का अवशेष बहुत बड़े भाग का ग्रथन तो आचारांग आदि के क्रम से बारहवें स्थान पर ही हुआ है। ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नहीं है कि दृष्टिवाद का सर्वप्रथम ग्रथन किया हो। अतः निर्युक्तिकार का प्रस्तुत कथन सत्य प्रतीत होता है कि रचना व स्थापना दोनों ही दृष्टि से आचारांग का द्वादशाङ्गी में प्रथम स्थान है।

---

१ समवायांग वृत्ति—अभयदेव सूरि, पत्र १६६१

२ नन्दी—मलयगिरि वृत्ति, पृ० ४८१

३ त्रिषष्टि० १०।५।१६५

४ (क) महावीर चरियं ८।२५७ गुणचन्द्र
  (ख) दर्शन-रत्न रत्नाकर पत्र ४०३।१

५ परिकर्म-सूत्र पूर्वानुयोग-पूर्वगत-चूलिकाः पंच-
  स्युर्दृष्टिवादभेदाः पूर्वाणि चतुर्दशापि पूर्वगते ॥ —अभिधान चिन्तामणि १६०

रचयिता और उसका समय

यह सत्य तथ्य है कि आचारांग की रचना गणधर सुधर्मा ने की है और वह भी भगवान महावीर के समय में ही। भाषा-शास्त्री व ऐतिहासिक विद्वानों का मन्तव्य है कि आचारांग उपलब्ध आगमों में सबसे प्राचीन है। इसकी रचना शैली अन्य आगमों से पृथक् है। प्रस्तुत आगम की तुलना पाश्चात्य विचारक डा० हर्मन जेकोबी ने ब्राह्मण सूत्रों की शैली के साथ की है। उनका अभिमत है कि 'ब्राह्मण सूत्रों के वाक्य परस्पर सम्बन्धित हैं किन्तु आचारांग के वाक्य परस्पर संबंधित नहीं है।' वे लिखते हैं कि 'आचारांग के वाक्य उस समय के प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। मेरा यह अनुमान गद्य के मध्य आने वाले पद्यों व पदों के सम्बन्ध में पूर्ण सत्य है। क्योंकि उन पद्यों या पदों की सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक के पदों से तुलना होती है।'[1]

डा० जेकोबी का प्रस्तुत मत पूर्णतया आधार-रहित नहीं है। क्योंकि ऐसा भी माना जाता है कि द्वादशांगी पूर्वों से निर्यूढ़ है और दशवैकालिक का निर्यूहण भी पूर्वों से ही हुआ है। अत: यह बहुत सम्भव है कि सभी का निर्यूहण स्थल एक हो।

आचारांग के वाक्य परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं, इस कथन में भी कुछ सचाई हो सकती है क्योंकि जो वर्तमान में आचारांग का रूप उपलब्ध है वह पूर्ण नहीं किन्तु खंडित है।

तृतीय कारण व्याख्या पद्धति का भेद भी है। क्योंकि आगम साहित्य में छिन्नच्छेदनयिक और अच्छिन्नच्छेदनयिक ये दो व्याख्या पद्धतियाँ रही

---

1 The Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction, p. 48—They do not read like a logical discussion, but like a Sermon made up by quotations from some then well-known sacred books. In fact the fragments of Verses and whole Verses which are liberally interpersed in the prose texts go far to prove the correctness of my conjecture: for many of these 'disjecta membra' are very similar to Verses or Padas of Verses occuring in the 'Sutrakritanga', 'Uttaradhyayana' and 'Dasavaikalika' Sutras.

हैं। पहली पद्धति के अनुसार हर एक वाक्य या गाथा अपने आप में पूर्ण होती है। पहले या अन्तिम वाक्य व गाथा से उसकी सम्बन्ध-योजना नहीं होती। किन्तु दूसरी पद्धति में प्रत्येक वाक्य या श्लोक की पूर्व या अन्तिम वाक्य या गाथा के साथ सम्बन्ध-योजना होती है।

आचारांग की व्याख्या यदि छिन्नच्छेदनयिक पद्धति से की जाय तो वाक्यों में विसंवाद ज्ञात होगा। यदि अच्छिन्नच्छेदनयिक पद्धति से व्याख्या की जाय तो उसमें कहीं पर भी विसंवाद ज्ञात नहीं होगा।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना शैली से आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना शैली सर्वथा भिन्न है। इतिहासवेत्ताओं की मान्यता है कि इसकी रचना आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के उत्तरकाल में हुई है। आचारांग निर्युक्ति में द्वितीय श्रुतस्कन्ध (आचारचूला) को स्थविरकृत माना है।[1] चूर्णिकार ने स्थविर का अर्थ गणधर किया है[2] और वृत्तिकार ने चतुर्दशपूर्वविद् किया है।[3] पर स्थविर का नाम नहीं दिया है।

विज्ञों का ऐसा अभिमत है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध का गहन अर्थ स्पष्ट हो जाये, एतदर्थ भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग का अर्थ आचाराग्र में प्रविभक्त किया है। आचारांग निर्युक्ति में पांच चूलाओं के निर्यूहण स्थलों का संकेत किया है[4]। वह चार्ट इस प्रकार है—

---

१ आचारांग निर्युक्ति, गा० २८७

२ आचारांग चूर्णि, पृ० ३२६

३ आचारांग वृत्ति, पत्र २९०

४ विइअस्स य पंचमए अट्ठमगस्स विइयंमि उद्देसे।
माणिओ पिंडो सिज्जा, वत्थं पाउग्गहो चेव॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया वणिज्जई समासेणं।
छट्ठस्स य पंचमए भासज्जायं वियाणाहि॥
सत्तिक्कगाणि सत्तवि, निज्जूढाइं महापरिन्नाओ।
सत्थपरिन्ना भावण, निज्जूढाओ धुयविमुत्ती॥
आयारपकप्पो पुण पच्चक्खाण तइयवत्थुओ।
आयारनामधिज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया॥

—आचारांग निर्युक्ति, गा० २८८-२९१

निर्यूहण-स्थल आचारांग		निर्यूढ-अध्ययन-आचारचूला
अध्ययन	उद्देशक	अध्ययन
२	५	१, २, ५, ६, ७
८	२	१, २, ५, ६, ७
५	४	३
६	५	४
७	१—७	८—१४
१		१५
६	२—४	१६
प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय वस्तु का आचार नामक बीसवां प्राभृत		आचार-प्रकल्प (निशीथ)

आचारांग निर्युक्ति में केवल निर्यूहण स्थल के अध्ययन और उद्देशकों का संकेत किया है। कहीं-कहीं पर चूर्णिकार[1] और वृत्तिकार[2] ने निर्यूहण सूत्रों का भी संकेत किया है।

---

१ चूर्णि के अनुसार आचार-चूला के १, २, ३, ४, ५, ६, और ७ के निर्यूहण सूत्र इस प्रकार हैं—

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति तं जहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं··· —अध्य० २, उ० ५, सूत्र १०४

सव्वामगंधं वा परिण्णाय —अध्य० २, उ० ५, सूत्र १०८

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासणं —अ० २, उ० ५, सूत्र ११२

तं भिक्खुं, उवसंकमित्तु गाहावई बूया—आवसंतो ! समणा अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा (४) वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाणं जीवाइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं आच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु

चेतेमि आवसहं वा समुस्सिणोमि —अ० ८, उ० २१, सूत्र २, पृ० ८०-८१

गामाणुगामं दूइज्ज माणस्स— —अ० ५, उ० ४, सूत्र ६२, पृ० ५६

तद्दिट्ठीए······ —अ० ५, उ० ४, सूत्र ६६, पृ० ६०

····पलीवाहरे पासिय पाणे गच्छेज्जा —अ० ५, उ० ४, सूत्र ६६

से अभिक्कममाणे······ —अ० ५, उ० ४, सूत्र ७०

पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे विभए किट्टे—अ० ६, उ० ५, सूत्र १०१

२ वृत्ति के अनुसार—

सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए आदिस्समाणे कय-विक्कएसु —अ० २, उ० ५, सूत्र १०८

भिक्खु परक्कमेज्जा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टिज्ज वा सुसाणंसि वा···· (यावद् बहिया विहरिज्जा), तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावती बूया—आउसंतो

निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में जिन निर्देशों का सूचन किया गया है उनके आधार से यह कहा जा सकता है कि आचार-चूला आचारांग से उद्धृत नहीं है पर आचारांग के ही संक्षिप्त पाठ का इसमें विस्तार है। आचारांग निर्युक्ति में इस तथ्य की पुष्टि की गई है।[1] आचाराग्र में जो 'अग्र' शब्द व्यवहृत हुआ है वह यहाँ पर उपराकाराग्र के अर्थ में है। आचारांग चूर्णि में उपकाराग्र का अर्थ किया है 'पूर्वोक्त का विस्तार और अनुक्त का प्रतिपादन करने वाला'। आचाराग्र (आचार चूला) में आचारांग में जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है उस अर्थ का इसमें विस्तार है और साथ ही इसमें अप्रतिपादित अर्थ का भी प्रतिपादन किया गया है एतदर्थ उसे आचार का अग्र-स्थान दिया गया है।[2]

आचार चूला में उक्त का प्रतिपादन किया गया है। इसके प्रथम सात अध्ययनों में उक्त का ही विस्तार है। पन्द्रहवें अध्ययन में श्रमण भगवान महावीर का जो जीवन-वृत्त है वह अनुक्त का विस्तार है। यह अध्ययन आचारांग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा से निर्यूढ़ है। पर यह सत्य है कि उसमें महावीर की जीवनी नहीं है किन्तु महाव्रतों की जो भावना है वह पहले अध्ययन की पूरक है।

निर्यूहण के सम्बन्ध में विज्ञों ने ऐसा भी अनुमान किया है कि आचारांग में पिण्डशैय्या प्रभृति से सम्बन्धित जो सूत्र थे वे भले ही संक्षिप्त रहे हों पर

समणा ! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीय पामिच्च— —अ० ८, उ० २, सूत्र २१

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासणं

—अ० २, उ० ५, सूत्र ११२

गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परक्कंतं —अ० ५, उ० ४, सूत्र ६२

आइक्खे विभए किट्टे वेयवी —अ० ६, उ० ५, सूत्र १०१

१ उवयारेण उ पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु।
एक्कस्स म पव्वयस्स य जह अग्गाइं तहेयाइं॥

—आचारांग निर्युक्ति, गा० २८६

२ उपकाराग्रं तु यत् पूर्वोक्तस्य विस्तरतोऽनुक्तस्य च प्रतिपादनादुपकारेवर्तते तद् यथा दशवैकालिकस्य चूडे, अयमेव वा श्रुतस्कन्ध आचारस्येत्यतोऽत्रोपकाराग्रेणाधिकारः। —आचारांग चूर्णि, पृ० २८९

उन सूत्रों का अर्थागम अत्यधिक विस्तृत था। उस अर्थागम को आचार्य भद्र-बाहु ने सूत्रागम का रूप देकर उसको चूला के रूप में स्थापित कर दिया। निशीथ का अपर नाम आचारकल्प है। वह आचार से निर्यूढ़ नहीं है, किन्तु पूर्व साहित्य में जो आचार-वस्तु थी उससे वह निर्यूढ़ है। आचाराग्र तो आचार से ही निर्यूढ़ माना गया है।

प्रथम दो चूलाओं में सात-सात अध्ययन हैं, तीसरी और चौथी चूला में एक-एक अध्ययन है। इसका रहस्य यह है कि प्रथम चूला में सात अध्ययनों में से पाँच अध्ययनों का निर्यूहण स्थल समान है। पाँचवें और छठे अध्ययन का निर्यूहण स्थल पृथक्-पृथक् रहा है तथापि विषय साम्य की दृष्टि से उन्हें एक चूला में रखा गया है। प्रथम चूला के सातों अध्ययन ईर्या, भाषा और एषणा से सम्बन्धित हैं अतः उन्हें एक चूला में वर्गीकरण करके रखा गया है। दूसरी चूला के सातों अध्ययन आचार के एक अध्ययन से निर्यूढ़ हैं अतः उन्हें एक ही चूला में रखा गया है। तीसरी चूला में पन्द्रहवाँ अध्ययन और चौथी चूला में सोलहवाँ अध्ययन भी एक-एक चूला से निर्यूढ़ है अतः उन्हें एक-एक चूला में रखा गया है।

आचारप्रकल्प (निशीथ) के बीस उद्देशक हैं। वह पाँचवीं चूला है।

एक प्रश्न है कि पाँचों चूलाओं के निर्माता एक ही व्यक्ति हैं या पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं क्योंकि आचारांग निर्युक्ति में 'स्थविर' शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है।[1] उसके आधार से आचार-चूला के रचयिता अनेक व्यक्ति होने चाहिए। उत्तर है—स्थविर शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है यह सत्य है, पर वह सम्मान सूचक है अतः उसका रचयिता एक ही होना चाहिए।

आचारांग में पिण्डैषणा प्रभृति के नियम इधर-उधर बिखरे हुए थे। उनका प्रतिपादन अर्थागम के द्वारा होता था। आचरांग चूर्णि से यह स्पष्ट है कि आचार चूला एक विषय के बिखरे हुए अर्थों का संकलन है।[2] जिन विषयों का आचार चूला में निषेध है उन्हीं दोषों का प्रायश्चित विधान निशीथ में किया गया है। अतः यह मानना अधिक तर्कसंगत लगता है कि

---

१ आचारांग निर्युक्ति, गा० २८७

२ पिंडीकृतो पृथक्-पृथक् पिंडस्स पिंडेसणासु कतो, सेज्जत्थो सेज्जासु, एवं सेसाणवि।

—आचारांग चूर्णि पृ० ३२६

आचार सम्बन्धी नियमों का संकलन और उन नियमों के अतिक्रमण करने पर प्रायश्चित--इन दोनों को व्यवस्थित रूप देने वाले छेदसूत्र के रचयिता भद्रबाहु स्वामी होने चाहिए।

निशीथ को श्वेताम्बर साहित्य में कालिक सूत्र माना है। नन्दी के अनुसार वह अनंगप्रविष्ट की कोटि में आता है।[1] चार चूलाओं को आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रूप में मान्यता प्रदान की गई है[2] और वह अंग प्रविष्ट की कोटि में है। गोम्मटसार में निशीथ की परिगणना आरातीय आचार्य कृत चौदह अंगबाह्य सूत्रों में की है।[3]

समवायाङ्ग[4] और नन्दी[5] में आचारांग के पच्चीस अध्ययन बताये हैं। यह संख्या आचारांग के नौ अध्ययनों के साथ चार आचार चूलाओं के सोलह अध्ययन मिलाने से ही सम्पन्न होती है।

सारांश यह है कि नन्दीसूत्र की रचना तक निशीथ की रचना एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में रही और उसके पश्चात् उसे आचारांग की चूला के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। आचारांग निर्युक्ति के पूर्व यह मान्यता स्थिर हो चुकी थी। एतदर्थ ही निर्युक्तिकार ने पद-परिमाण की दृष्टि से आचारांग को बहु-बहुतर माना है।[6] आचारांग वृत्ति में आचार्य शीलाङ्क ने लिखा है कि चार चूलाओं का योग करने पर आचारांग का पद-परिमाण 'बहु' होता है और निशीथ नामक पाँचवीं चूला का योग करने पर उसका पद-परिमाण 'बहुतर' हो जाता है।[7] इस समय निशीथ का समावेश छेदसूत्रों में किया गया है। यह विभाग भी नन्दी की रचना के पश्चात् हुआ है। निशीथ को आज भले ही हम स्वतंत्र ग्रन्थ मानकर छेदसूत्रों के अन्तर्गत

---

१ नन्दीसूत्र ७७

२ नन्दीसूत्र ८०

३ गोम्मटसार ३६६-३६७

४ आयारस्स णं भगवओ सचूलियायस्स पणवीसं अज्झयणा पण्णत्ता।

—समवायांग, समवाय २५, सूत्र ५

५ पणवीसं अज्झयणा। —नन्दीसूत्र ८०

६ हवइ य संपचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं। —आचारांग निर्युक्ति, गा० ११

७ तत्र चतुश्चूलिकात्मक द्वितीयश्रुतस्कन्धप्रक्षेपाद् बहुः निशीथाख्यपञ्चमचूलिका-प्रक्षेपाद् बहुतरः। —आचारांग वृत्ति, पत्र ६

रखें, पर उसकी जो रचना हुई है वह चार चूलाओं की परिकल्पना से पृथक् नहीं है। अतः पाँचों चूलाओं के रचयिता एक ही हैं।

समवायाङ्ग में चूलिका को छोड़कर आचारांग, सूत्रकृताङ्ग और स्थानाङ्ग के सत्तावन अध्ययन बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—सूत्रकृताङ्ग के तेईस अध्ययन, स्थानाङ्ग के दस अध्ययन, आचारांग के नौ अध्ययन, आचार-चूला के पन्द्रह अध्ययन (इसमें चतुर्थ चूला के सोलहवें अध्ययन को छोड़कर शेष तीन चूलाओं के पन्द्रह अध्ययन) इस तरह सत्तावन अध्ययन होते हैं।[१]

अभयदेवसूरि ने वृत्ति में इस बात को स्पष्ट नहीं किया है कि विमुक्ति नामक चतुर्थ चूला का वर्जन किस आधार पर किया है।[२] सूत्र में जो सत्तावन की संख्या आई है उसकी संख्या पूर्ति के लिए विमुक्ति अध्ययन का वर्जन किया है या अन्य किसी कारण से?

विज्ञों ने प्रस्तुत प्रश्न के समाधानार्थ यह कल्पना की है कि आचारांग से सीधा सम्बन्ध प्रथम तीन चूलिकाओं (१५ अध्ययनों) का है। पहली दो चूलिकाओं का सम्बन्ध आचार से है और तीसरी चूलिका (१५ अध्ययन) का सम्बन्ध नौवें अध्ययन में जो महावीर की साधना वर्णित है, उससे है। किन्तु विमुक्ति का सीधा सम्बन्ध न होने से इसमें न लिया हो।

आचारांग चूर्णि में एक नवीन बात आई है। उसमें लिखा है कि स्थूलभद्र की बहिन साध्वी यक्षा महाविदेह क्षेत्र में गई थी। जब वह भगवान सीमंधर स्वामी के दर्शन कर लौटने लगी तब भगवान ने उसे (१) भावना और (२) विमुक्ति नामक ये दो अध्ययन दिये।[३]

---

१ तिण्हं गणिपिडगाणं आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन्नं अज्झयणा पण्णत्ता तं जहा—आयारे, सूयगडे, ठाणे। —समवायांग, समवाय ७७, सूत्र १

२ आचारस्य श्रुतस्कन्धद्वयरूपस्य प्रथमांगस्य चूलिका—सर्वान्तिमध्ययनं विमुक्त्यभिधानमाचारचूलिका तद् वर्जानाम्...

—समवायांग वृत्ति, पत्र ६६

३ सिरिओ पव्वइतो अब्भत्तट्ठेणं कालगतो महाविदेहे य पुच्छिका गता अज्जा दो वि अज्झयणाणि भावणा विमोत्ती य आणिताणि।

—आवश्यक चूर्णि, पृ० १८८

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व[1] में प्रस्तुत साध्वी यक्षा की घटना देते हुए लिखा है कि भगवान सीमंधर ने (१) भावना, (२) विमुक्ति, (३) रतिवाक्या (रतिकल्प) ४ और विविक्तचर्या ये चार अध्ययन प्रदान किये। संघ ने पहले दो अध्ययन आचारांग की तीसरी और चौथी चूलिकाओं के रूप में और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक की चूलिकाओं के रूप में स्थापित किये। आवश्यक चूर्णि में दो अध्ययनों का वर्णन है तो परिशिष्ट पर्व में चार अध्ययनों का। दो का संवर्धन आचार्य हेमचन्द्र' ने कैसे किया? आचारांग निर्युक्ति और दशवैकालिक निर्युक्ति में प्रस्तुत घटना का कोई भी उल्लेख नहीं है फिर आवश्यक चूर्णि में वह कैसे आगई? यह शोधार्थियों के लिए अन्वेषण का विषय है।[2]

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन हैं? इस प्रश्न पर विस्तार से चर्चा करते हुए आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज ने लिखा है[3] कि 'समवायाङ्ग और नन्दीसूत्र में जो आचारांग का परिचय दिया गया है उससे ही स्पष्ट है कि आचारांग अंग की अपेक्षा से प्रथम अंग है, इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं, ८५ उद्देशन काल हैं और १८००० पद हैं। यदि आचारांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध अर्थतः भगवान महावीर द्वारा कथित और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित नहीं होता तो इसे आगमों के मूलपाठ में इस प्रकार आचारांग का अभिन्न अंग कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता था। मूलपाठ से ऐसा कहीं पर भी प्रतीत नहीं होता कि आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचारांग का अभिन्न अंग न होकर

---

१ श्रीसंघायोपदां प्रैपीन्मन्मुखेन प्रसादभाक्।
श्रीमान्सीमन्धर स्वामी चत्वार्यध्ययनानि च॥
भावना च विमुक्तिश्च रतिकल्पमथापरम्।
तथा विचित्रचर्या च तानि चैतानि नामतः॥
अप्येकया वाचनया मया तानि धृतानि च।
उद्गीतानि च संघाय तत्तथाख्यानपूर्वकम्॥
आचारांगस्य चूले द्वे आद्यमध्ययनद्वयम्।
दशवैकालिकस्यान्यदथ संघेन योजितम्॥
—परिशिष्ट पर्व, ९।९७-१००, पृ० ९०

२ आयारो तह आयार-चूला : भूमिका—आचार्य तुलसी, पृ० २०-२७

३ जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृ० ९१-१०६

अन्त में उन्होंने अपना यह स्पष्ट मन्तव्य व्यक्त किया है कि आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध द्वादशाङ्गी का अभिन्न अङ्ग होने से इसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्र के रचयिता गणधर हैं।

आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे उपेक्षणीय नहीं हैं। प्रबुद्ध पाठकों को उन पर चिन्तन करने की यथेष्ट प्रेरणा है।

इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त न कर, मैंने दोनों ही प्रकार के विचार पाठकों के समक्ष रख दिये हैं। अतः मैं पाठक वर्ग से यह निवेदन करना चाहूँगा कि पूर्वाग्रह से मुक्त होकर वे इस विषय पर तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करें जिससे सत्य तथ्य का परिज्ञान हो सके।

यह पूर्णतया सत्य सिद्ध हो चुका है कि आचारांग आगम साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। उसमें वर्णित आचार मूलभूत है और वह महावीर युग के अधिक सन्निकट है। आचारांग में वर्णित आचार का विकास ही उसके पश्चात् रचित आगम ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आचारांग में आचार के साथ ही सम्पूर्ण दार्शनिक तथ्यों का निरूपण भी हुआ है। उसमें श्रद्धा और तर्क दोनों का सुन्दर समन्वय है।

विषय वस्तु

समवायांग[1] और नन्दी सूत्र[2] में आचारांग का जो विवरण दिया गया है, वह इस प्रकार है—

आचार, गोचर, विनय, वैनयिक (विनय का फल), स्थान *(उत्थितासन, निषण्णासन और शयितासन)* गमन, चंक्रमण, भोजन आदि की मात्रा, स्वाध्याय आदि में योग-नियुंजन, भाषासमिति, गुप्ति, शय्या, उपाधि, भक्त-पान, उद्‌गम-उत्पादन, एषणा आदि की शुद्धि, शुद्धाशुद्ध ग्रहण का विवेक, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि।

प्रशमरतिप्रकरण[3] में आचारांग के प्रत्येक अध्ययन का विषय संक्षेप में इस प्रकार दिया है :—

(१) षड् जीवनिकाय की यतना।

---

१ समवायाङ्ग प्रकीर्णक समवाय सूत्र ८९

२ नन्दीसूत्र ८०

३ प्रशमरतिप्रकरण ११४-११७, आचार्य उमास्वाति।

(२) लौकिक सन्तान का गौरव-त्याग ।
(३) शीत उष्ण आदि परीषहों पर विजय ।
(४) अप्रकम्पनीय सम्यक्त्व ।
(५) संसार से उद्वेग ।
(६) कर्मों के क्षीण करने का उपाय ।
(७) वैयावृत्य का प्रयत्न ।
(८) तप की विधि ।
(९) स्त्री-संग का त्याग ।
(१०) विधि से भिक्षा का ग्रहण ।
(११) स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित शय्या ।
(१२) गति-शुद्धि ।
(१३) भाषा-शुद्धि ।
(१४) वस्त्र की एषणा ।
(१५) पात्र की एषणा ।
(१६) अवग्रह-शुद्धि
(१७) स्थान-शुद्धि
(१८) निषद्या-शुद्धि
(१९) व्युत्सर्ग-शुद्धि
(२०) शब्दासक्ति-परित्याग
(२१) रूपासक्ति-परित्याग
(२२) परक्रिया-वर्जन
(२३) अन्योन्यक्रिया-वर्जन
(२४) महाव्रतों की दृढ़ता
(२५) सर्वसंगों से विमुक्ति

पर्यायवाची नाम

आचारांग निर्युक्ति में[1] आचारांग के दस पर्यायवाची नाम दिये हैं ।

(१) आयार—यह आचरणीय का प्रतिपादन करने वाला है एतदर्थ आचार है ।

---

१ आयारो आचालो, आगालो आगरो य आसासो ।
आयरिसो अंगंति य, आईण्णाऽजाइ आमोक्खा ॥ —आचारांग निर्युक्ति, गा० ७

(२) आचाल—यह निविड बंध को आचालित करता है अतः आचाल है।

(३) आगाल—चेतना को सम धरातल में अवस्थित करता है अतः आगाल है।

(४) आगर—यह आत्मिक-शुद्धि के रत्नों को पैदा करने वाला है अतः आगर है।

(५) आसास—यह संत्रस्त चेतना को आश्वासन प्रदान करने में सक्षम है अतः आश्वास है।

(६) आयरिस—इसमें 'इतिकर्तव्यता' देख सकते हैं अतः यह आदर्श है।

(७) अङ्ग—यह अन्तस्तल में अहिंसा आदि भाव जो रहे हुए हैं उनको व्यक्त करता है अतः अंग है।

(८) आईण्ण—प्रस्तुत आगम में आचीर्ण-धर्म का निरूपण किया गया है अतः यह आचीर्ण है।

(९) आजाइ—इससे ज्ञान आदि आचारों की प्रसूति होती है अतः आजाति है।

(१०) आमोक्ख—बंधन-मुक्ति का यह साधन है अतः आमोक्ष है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम ब्रह्मचर्याध्ययन भी है। समवायांग में इसके अध्ययनों को 'नव ब्रह्मचर्य' कहा है।[१] आचारांग निर्युक्ति में इसे 'नव ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक' बताया है।[२] समवायाङ्ग[३] और आचारांग निर्युक्ति[४] में अध्ययनों के जो नाम उपलब्ध होते हैं, उनमें यत्किञ्चित् अन्तर है। नामभेद भी है और क्रमभेद भी है। जैसे—

समवायांग	आचारांग निर्युक्ति
सत्थपरिण्णा	सत्थपरिण्णा
लोगविजय	लोगविजय
सीओसणिज्ज	सीओसणिज्ज

---

१ णव बंभचेर पण्णत्ता —समवायांग प्रकीर्णक ९, सूत्र १

२ णव बंभचेर मइओ —आचारांग निर्युक्ति गा० ११

३ समवायांग, समवाय ९, सूत्र ३

४ आचारांग निर्युक्ति, गाथा ३१-३२

सम्मत	सम्मत
आवंती	लोगसार
धुत	धुय
विमोहायण	महापरिण्णा
उवहाणसुय	विमोक्ख
महपरिण्णा	उवहाणसुय

आचारांग के पाँचवें अध्ययन का नाम 'लोगसार' है। समवायाङ्ग में जो आवन्ती नाम आया है वह आदि पद के कारण से है। अनुयोगद्वार में यह उदाहरण के रूप में दिया है।[1] आचारांग निर्युक्ति में भी आवंती को आदान-पद नाम और लोगसार (लोकसार) को गौण नाम दिया है।[2]

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में आचार्य अकलंक ने आचारांग का समग्र विषय चर्याविधान बताया है[3] और मूलाराधना में अपराजितसूरि ने आचारांग को रत्नत्रयी के आचरण का प्रतिपादक कहा है।[4]

जैन साहित्य में आचार शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। आचारांग की व्याख्या में आचार के पांच प्रकार बताये हैं—(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार, और (५) वीर्याचार। आचारांग में पांच आचारों का निरूपण है।[5] आचार साधना का प्राण है, मुक्ति का मूल है।

---

१ से किं ते आयाण पएणं ? (धम्मो मंगलं, चूलिया) आवंती.......... । तत्र आवंतीत्याचारस्य पंचमाध्ययनं, तत्र ह्यादावेव—'आवन्ती केयावन्ती' त्यालापको विद्यत इत्यादानपदेनैतन्नाम ।

—अनुयोगद्वार सूत्र ३०, वृत्तिपत्र १३०

२ आयाणपएणावंति, गोण्णनामेण लोगसारुत्ति ।

—आचारांग निर्युक्ति, गाथा २३८

३ आचारे चर्याविधानं शुद्ध्यष्टक पंचसमितित्रिगुप्तिविकल्पं कथ्यते ।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।२

४ रत्नत्रयाचरणनिरूपणपरतया प्रथम मंगमाचार शब्देनोच्यते ।

—मूलाराधना, आश्वास २, श्लो १३०—विजेयोदया

५ समवायाङ्ग प्रकीर्णक, समवायाङ्ग सू० ८९

रचना-शैली

सूत्रकृताङ्ग सूत्र की चूर्णि में सूत्र रचना की (१) गद्य, (२) पद्य, (३) कथ्य, और (४) गेय—ये चार शैलियाँ प्राप्त होती हैं।[१]

दशवैकालिक निर्युक्ति में (१) ग्रथित और (२) प्रकीर्णक—इन दो शैलियों का निर्देश है।[२] आचार्य हरिभद्र ने ग्रथित शैली का अर्थ 'रचना शैली' और प्रकीर्णक का अर्थ 'कथा शैली' किया है।[३] निर्युक्ति में ग्रथित शैली के (१) गद्य, (२) पद्य, (३) गेय, और (४) चौर्ण—ये चार प्रकार बताये हैं।[४]

जिसे दशवैकालिक निर्युक्ति में प्रकीर्णक कहा गया है उसे ही सूत्रकृताङ्ग चूर्णि में कथ्य कहा है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध ब्रह्मचर्याध्ययन को गद्य के विभाग में रखा है जबकि दशवैकालिक चूर्णि में ब्रह्मचर्याध्ययन को चौर्ण पद माना है।[५] आचार्य हरिभद्र का भी यही मन्तव्य है।[६] आचारांग की रचना केवल गद्य में ही नहीं है, अतः दशवैकालिक का मत अधिक तर्कसंगत है।

दशवैकालिक निर्युक्ति में चौर्ण-पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—'जो अर्थबहुल, महार्थ, हेतु, निपात और उपसर्ग से गंभीर, बहुपाद, अव्यवच्छिन्न (विराम रहित) गम और नय से विशुद्ध होता है वह चौर्णपद है।[७] प्रस्तुत परिभाषा में 'बहुपाद' शब्द व्यवहृत हुआ है। जिसका तात्पर्य है जिसमें पाद का अभाव होता है वह गद्य है किन्तु चौर्ण वह है जिसमें गद्य के साथ बहुपाद (चरण) भी होते हैं। आचारांग में गद्य के साथ-साथ

---

१ तं चउव्विधं तं जहा—गद्यं, पद्यं, कथ्यं, गेयं। गद्य—चूर्णिग्रन्थः ब्रह्मचर्यादि······ —सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ७

२ नोमाउगंपि दुविहं, गहियं च पइन्नयं च बोद्धव्वं।
गहियं चउप्पयारं, पइन्नगं होइ णेगविहं॥ —दशवै० निर्युक्ति गा० १६६

३ ग्रथितं रचितं बद्धमित्यनर्थान्तरम् अतोऽन्यत्प्रकीर्णकं—प्रकीर्णककथोपयोगिज्ञानपदमित्यर्थः। —दशवै० हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ८७

४ दशवैकालिक निर्युक्ति, गा० १७०

५ इदाणि चुण्णपदं भण्णइ, जहा बंभचेराणि —दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ७८

६ दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति टीका, पत्र ८८

७ अत्थबहुलं महत्थं हेउनिवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं, गमणयसुद्धं च चुण्णपयं॥ —दशवै० निर्युक्ति, गा० १७४

पद्य भी विपुल मात्रा में हैं इसलिए इसकी शैली चौर्ण शैली मानी गई है। समवायाङ्ग[1] और नन्दी[2] में भी आचारांग का परिचय प्रदान करते हुए बताया है कि उसमें संख्येय वेष्टक और संख्येय श्लोक हैं।

आचारांग के आठवें अध्ययन के सातवें उद्देशक तक की रचना शैली चौर्ण है और आठवां उद्देशक तथा नौवां अध्ययन पद्यात्मक है। आचार चूला के पन्द्रह अध्ययन मुख्य रूप से गद्यात्मक हैं, उनमें कहीं-कहीं पर पद या संग्रह गाथाएं भी उपलब्ध होती हैं। सोलहवां अध्ययन पद्यात्मक है।

डा० शुब्रिंग ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के पद्यों की तुलना बौद्ध पिटक ग्रन्थ सुत्तनिपात के साथ की है। उसने आचारांग में व्यवहृत पद्यों के छन्दों पर भी प्रकाश डाला है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध

प्रस्तुत आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है। इसमें शस्त्र शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। तात्पर्य यह है कि 'ज्ञ' परिज्ञा से शस्त्रों की भयंकरता और उनके प्रयोग से होने वाली हिंसा आदि को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से शस्त्रों का त्याग करना चाहिए। साधना पथ पर प्रगति करने वाले साधक को द्रव्य और भाव ये दोनों प्रकार के शस्त्रों का परित्याग करना आवश्यक है।

आचारांग सूत्र का प्रारंभ आत्म-जिज्ञासा से होता है। जैसे वेदान्त-दर्शन का **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** मूल सूत्र है वैसे ही जैनदर्शन का **'अथातो आत्मजिज्ञासा'** मूल सूत्र है। आत्मा है, वह नित्यानित्य है, कर्त्ता है, भोक्ता है, बंध है, उसके हेतु हैं, मोक्ष है, उसके हेतु हैं। इन सब आधारभूत तत्त्वों की इसमें चर्चा की गई है।

प्रथम अध्ययन के सात उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में समुच्चय रूप से जीव हिंसा न करने का उपदेश दिया गया है। शेष छह उद्देशकों में क्रमशः पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, त्रसकाय और वायुकाय के जीवों का विवेचन किया गया है और साधक को यह परिज्ञान कराया है कि इन योनियों में तू एक वार नहीं अपितु अनेक वार उत्पन्न हुआ है। इस

---

१ समवायांग प्रकीर्णक समवाय सूत्र ८६

२ संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा। —नन्दीसूत्र, ८०

विराट् विश्व में जितने भी जीव हैं वे सभी तेरे जातीय भाई हैं, जैसी तुझमें चेतना-शक्ति है वैसी ही चेतना-शक्ति उनमें भी है। उन्हें भी सुख-दुःख का संवेदन होता है, अतः किसी भी प्रकार से उनका वध नहीं करना चाहिए; उन्हें परिताप भी नहीं देना चाहिए और न ताड़न, तर्जन व बंधन में ही डालना चाहिए।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। यह अध्ययन छह उद्देशकों में विभक्त है। इसमें अनेक वार लोक शब्द का प्रयोग हुआ है। पर विजय शब्द का प्रयोग कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता तथापि संपूर्ण अध्ययन में लोकविजय का उपदेश प्रधान रूप से आया है अतः प्रस्तुत अध्ययन का नाम लोकविजय है। लोक दो प्रकार का है—(१) द्रव्यलोक और (२) भावलोक। जिस क्षेत्र में मानव-पशु-पक्षी आदि निवास करते हैं वह द्रव्यलोक है और कषाय को भावलोक कहा है।

प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है—वैराग्य की अभिवृद्धि करना, संयम साधना की भावना को दृढ़ करना, जातिगत मिथ्या अहंकार को दूर करना, भोगों की आसक्ति एवं भोजनादि के निमित्त होने वाले आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करना और ममत्व-भाव को छोड़कर अनासक्त जीवन जीना। कषाय लोक से ही जीव द्रव्यलोक में परिभ्रमण करता है। अतः शास्त्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा—'जो गुण है वही मूलस्थान है और जो मूलस्थान है वही गुण है।' तात्पर्य यह है कि विषय-कषाय ही संसार है और संसार ही विषय-कषाय है। अतः विषय-कषाय पर विजय-वैजयन्ती फहराने वाला साधक ही सच्चा लोक विजेता है।

तृतीय अध्ययन का नाम शीतोष्णनीय है। इसके चार उद्देशक हैं। यहाँ पर शीत और उष्ण का अर्थ अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषह है। स्त्री और सत्कार ये शीत परीषह के अन्तर्गत हैं और शेष २० परीषह उष्ण हैं। साधक-जीवन में कभी अनुकूल परीषह आते हैं और कभी प्रतिकूल। श्रमण दोनों प्रकार के परीषहों को समभावपूर्वक सहन करता है किन्तु साधना के पथ से कभी भी विचलित नहीं होता। साधक को प्रतिपल प्रतिक्षण जाग्रत रहने का उपदेश दिया गया है। भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा—'सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति'। साधक कभी भी भावनिद्रा में नहीं सोता। वह तो द्रव्यनिद्रा लेते हुए भी सदा जाग्रत रहता है। द्वितीय उद्देशक

में प्रसुप्त व्यक्ति के महान् दुःखों का वर्णन है। तृतीय उद्देशक में चित्त-शुद्धि की वृद्धि करने की प्रेरणा दी गई है और चतुर्थ उद्देशक में कषाय परिहार कर संयमोत्कर्ष करना चाहिए, इस पर बल दिया गया है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में अहिंसा धर्म की स्थापना कर सम्यक्त्ववाद का प्ररूपण किया है। द्वितीय उद्देशक में जो हिंसा की स्थापना करते हैं उन्हें अनार्य कहा गया है और अहिंसा धर्म का आराधन करने वाला आर्य है, यह प्रतिपादित किया गया है। तृतीय उद्देशक में तप का निरूपण है। तप से चित्त की शुद्धि और गुणों की अभिवृद्धि होती है और चतुर्थ उद्देशक में सम्यक्त्व की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करने का उपदेश है। जिज्ञासा हो सकती है—साधक को किस पर श्रद्धा रखनी चाहिए ? प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान इस अध्ययन में किया गया है कि अतीत, अनागत और वर्तमान में होने वाले समस्त तीर्थङ्करों का एक ही उपदेश है कि सर्वसत्त्व, सर्वभूत, सर्वजीव और सर्वप्राणों की हिंसा मत करो। उन्हें पीड़ा या संताप एवं परिताप मत दो—यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, ध्रुव है शाश्वत है। इस दृष्टि से सम्यक्त्व का अर्थ है—अहिंसा, दया, सत्य प्रभृति सद्गुणों पर दृढ़ निष्ठा रखना और उनका यथाशक्ति आचरण करने का प्रयास करना।

चारों उद्देशकों का यह क्रम निर्युक्ति एवं वृत्ति में भी निर्दिष्ट है और यही क्रम आज भी आचारांग में उपलब्ध है।

पाँचवें अध्ययन का नाम लोकसार अध्ययन है। इसमें छह उद्देशक हैं। इस अध्ययन में आदि, मध्य और अन्त में 'आवन्ती' शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः इसका अपर नाम 'आवन्ती' अध्ययन भी है। इसमें समग्र लोक के सार-भूत तत्त्व का नाम धर्म बताया है और धर्म का सार ज्ञान है। ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार मोक्ष प्रतिपादित किया गया है।

प्रथम उद्देशक में भव-भ्रमण और कर्मबंधन का मूल कारण प्राणी-हिंसा बताया है। जो किसी प्रयोजन से या बिना प्रयोजन की हिंसा करता है वह विश्व में असीम दुःखों का अनुभव करता है। हिंसादिक का बिना परित्याग किये कोई भी प्राणी संसार-सागर को पार नहीं कर सकता।

द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि इस विराट विश्व में जितने भी प्राणी हैं वे सभी जीना चाहते हैं, सभी अपने जीवन को आनन्दमय व्यतीत

करना चाहते हैं, कोई भी मरना पसन्द नहीं करता। अतः सच्चा श्रमण किसी भी जीव की हिंसा न करे और हिंसाजन्य पाप से सदा अलग-थलग रहे।

तृतीय उद्देशक में साधक को यह उद्बोधन दिया गया है कि सर्वथा अपरिग्रही रहकर वह अपने विकारों पर विजय प्राप्त करे। बाह्य-युद्ध एक प्रकार से अनार्य युद्ध है। उस युद्ध से कर्मबन्धन होता है। किन्तु विकार आदि शत्रुओं को जीतना यह सच्चा युद्ध है और यही आर्य युद्ध है।

चतुर्थ उद्देशक में श्रमण के लिए एकाकी विचरण वर्जनीय बताया है। जो वय व ज्ञान की दृष्टि से अपरिपक्व है या परीषहों को सहन करने में अक्षम है उसे तो एकाकी विचरण करना ही नहीं चाहिए किन्तु सोलह वर्ष की अवस्था से ऊपर का व्यक्ति अवस्था से व्यक्त होता है और नवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु को जानने वाला ज्ञान से व्यक्त होता है। जो मुनि ज्ञान और अवस्था दोनों से ही व्यक्त होता है वह प्रयोजनवश अकेला विहार कर सकता है।

पंचम उद्देशक में आचार्य की तुलना ऐसे निर्मल जलाशय से की गई है जो निर्मल नीर से समस्त जलचर जन्तुओं की रक्षा करता हुआ समभूमि में अवस्थित है। इसी प्रकार आचार्य भी ज्ञान एवं सद्गुणों के नीर से भरे हुए उपशांत मन व इन्द्रियों को वश में रखने वाले प्रबुद्ध, तत्त्वज्ञ होते हैं और श्रुत से 'स्व' और 'पर' का कल्याण करते हैं। जो साधक संशय रहित होकर सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान को सत्य समझकर तदनुसार आचरण करता है वह समाधि को प्राप्त करता है। इसमें बताया गया है कि—'हे साधक ! जिसे तू मारने योग्य समझता है, वह तू ही है। जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है। अतः न स्वयं हनन करो न दूसरों से करवाओ।' स्पष्ट है, किसी भी प्राणी के वध, बंधन व पीड़न आदि का चिंतन करना वस्तुतः वह स्वयं का वध, बन्धन व पीड़न करना है। किसी को कष्ट देने का संकल्प करना भी आत्म-गुणों का हनन करना है और आत्म-गुणों का हनन करना आत्मघात के तुल्य है।

छठे उद्देशक में इस बात पर बल दिया गया है कि सर्वज्ञ के द्वारा प्ररूपित संयमधर्म का पालन कर साधक सर्व कर्मबंधनों को नष्ट कर देता है एवं बुद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

छठे अध्ययन का नाम धूत अध्ययन है। इसके पाँच उद्देशक हैं। धूत का अर्थ है किसी भी वस्तु पर लगे हुए मैल को दूर कर उसे स्वच्छ बनाना। प्रस्तुत अध्ययन में तप-संयम की साधना से आत्मा पर लगे हुए कर्ममल को दूर करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रगट करने की प्रक्रिया बताई है। जैसे सेवाल से आच्छादित जलाशय का कछुआ बाहर की वस्तुओं को व बाहर जाने के मार्ग को निहार नहीं सकता वैसे ही मोहासक्त व्यक्ति सत्य मार्ग को देख नहीं सकता और न उस पथ पर चल ही सकता है। अतः साधक को मोह एवं आसक्ति से सदा-सर्वदा बचना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक में यह बताया गया है कि जो साधक परीषहों से भयभीत होकर साधुत्व एवं संयम साधना में सहायक वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपोंछण, रजोहरणादि धर्मोपकरणों का परित्याग कर देते हैं वे दीर्घकाल तक परिभ्रमण करते हैं किन्तु जो साधक परीषहों को समभावपूर्वक सहन करते हैं और संयम-साधना में तल्लीन रहते हैं वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

तृतीय उद्देशक में साधक को यह उपदेश दिया है कि धर्मोपकरणों के अतिरिक्त जितने भी अन्य उपकरण हैं उन्हें कर्मबंधन का कारण समझे। साधक के अन्तर्मानस में ये विचार कभी भी उद्भूत नहीं होने चाहिए कि मेरे वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो चुके हैं, अब मुझे नए वस्त्र की अन्वेषणा करनी चाहिए या सुई और धागे से इन पुराने वस्त्रों को सीना चाहिए। वह तो यह चिन्तन करता है कि वे महापुरुष, जिन्होंने निर्वस्त्र रहकर और कठिन परीषहों को सहन कर लम्बे समय तक साधना की थी मेरे आदर्श हैं और मैं भी उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलकर अपनी साधना को निखार सकता हूँ। भयंकर उपसर्गों को सहन करते रहने से और तप से साधक की भुजाएँ अत्यन्त कृश हो जायं, मांस व रुधिर स्वल्प मात्रा में भी न रहे; तब भी वह राग-द्वेष न कर समभाव में अवस्थित रहे तभी वह निर्वाण को प्राप्त होता है।

चतुर्थ उद्देशक में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि जो श्रमण ज्ञान व क्रिया दोनों से भ्रष्ट हो जाता है वह संसार में बिना पतवार की नौका की तरह भटकता रहता है। अतः साधक को सदा जाग्रत रहकर ज्ञान और क्रिया द्वारा मुक्तिपथ पर अपने दृढ़ कदम बढ़ाने चाहिए।

पंचम उद्देशक में उपदेष्टा के लक्षणों का विश्लेषण करते हुए कहा है कि उपदेष्टा को कष्टसहिष्णु, वेदविद् अर्थात् आगमज्ञान में निष्णात या

पारंगत होना चाहिए। सर्वभूतानुकंपी वह सम्पूर्ण जीवनिकाय का शरणभूत हो। उसका उपदेश केवल व्यष्टि के लिए ही नहीं समष्टि के लिए होता है; जिसमें जीवनोत्थान के शाश्वत तत्त्व निहित रहते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि उपदेश देने वाले साधक को अन्य की आशातना व अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

जैसे पराक्रमी योद्धा रण-क्षेत्र में सबसे आगे रहकर शत्रुओं के साथ भयंकर युद्ध कर विजय प्राप्त करता है वैसे ही साधक को महान् उपसर्गों को सहन कर मृत्युकाल सन्निकट आने पर पादपोपगमन आदि संथारा कर, आत्मा शरीर से पृथक् न हो जाय तब तक आत्मचिन्तन में स्थिरभाव से रहना चाहिए।

सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा अथवा महापरिज्ञा अध्ययन है। यह अध्ययन वर्तमान में अनुपलब्ध है किन्तु इस पर लिखी हुई निर्युक्ति आज भी उपलब्ध है। इससे यह सहज ही परिज्ञात होता है कि निर्युक्तिकार के सामने यह अध्ययन था। निर्युक्तिकार ने महापरिज्ञा के महा और परिज्ञा इन दो पदों का विश्लेषण करने के साथ परिज्ञा के प्रकारों पर भी प्रकाश डाला है और यह बताया है कि साधक को देवांगना, नरांगना व तिर्यंचांगना—इन तीनों का मन, वचन और काया से त्याग करना चाहिए।[1] यह त्याग ही महापरिज्ञा है। निर्युक्तिकार के शब्दों में प्रस्तुत अध्ययन का विषय है—मोहजन्य परीषह अथवा उपसर्ग। इस पर आचार्य शीलांक ने वृत्ति में लिखा है कि संयमी श्रमण को साधना में विघ्न रूप से उत्पन्न होने वाले मोहजन्य परीषहों अथवा उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। स्त्री-संसर्ग भी एक मोहजन्य परीषह है; अतः उससे दूर रहना चाहिए। आचारांग निर्युक्ति, वृत्ति व चूर्णि से यह स्पष्ट नहीं होता कि महापरिज्ञा अध्ययन में विविध मंत्रों एवं महत्त्वपूर्ण विद्याओं का समावेश था किन्तु पारम्परिक जनश्रुति है कि उसमें अनेक मंत्र व विशिष्ट विद्याएँ थीं। कहीं साधक इनका दुरुपयोग न कर दे, अतः आचार्यों ने इस अध्ययन की वाचना देना बन्द कर दिया। फलस्वरूप यह अध्ययन शनैः-शनैः लुप्त हो गया।

हमने जिसे जनश्रुति कहा है वह केवल कमनीय कल्पना की उड़ान

---

१ आचारांग निर्युक्ति, प्रथम श्रुतस्कन्ध, ६० से ६८ तक

नहीं है किन्तु ऐतिहासिक सत्य-तथ्य है। जैसे, आर्य वज्रस्वामी ने[1] महा-परिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या उपलब्ध की थी। आचारांग चूर्णि में स्पष्ट लिखा है कि बिना अनुमति के महापरिज्ञा अध्ययन नहीं पढ़ा जाता था। इससे स्पष्ट है कि महापरिज्ञा अध्ययन में कुछ विशिष्ट बातें थीं जिनका बोध प्रत्येक सामान्य साधक के लिए वर्जनीय था।

आठवें अध्ययन के दो नाम उपलब्ध होते हैं—(१) विमोक्ष और (२) विमोह। इस अध्ययन के आठ उद्देशक हैं। प्रस्तुत अध्ययन के मध्य में **"इच्चेयं विमोहाययणं"** तथा **"अणुपुव्वेण विमोहाइं"** एवं अन्त में **विमोहन्न-यरंहियं'** प्रभृति पदों में विमोह शब्द का प्रयोग हुआ है। संभव है इसी दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन का नाम विमोह अध्ययन रखा गया हो। विमोक्ष और विमोह इन दोनों शब्दों में अर्थ की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है। विमोक्ष का अर्थ है—सभी प्रकार के संग से पृथक् हो जाना और विमोह का अर्थ है मोह-रहित होना। ये दोनों शब्द इस अध्ययन में समस्त भौतिक संसर्गों के परित्याग के अर्थ में व्यवहृत हुए हैं।

प्रथम उद्देशक में श्रमणों के लिए यह निर्देश है कि अपने से भिन्न आचार व भिन्न धर्म वाले श्रमणों के साथ अशन-पान न करें और न वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछण आदि का आदान-प्रदान ही करें। मुनि के लिए यह कल्प निर्धारित है कि वह सार्धमिक मुनि को ही आहार दे और ले सकता है। सार्धमिक पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचार वाला मुनि भी हो सकता है किन्तु मुनि उसको न तो आहार दे सकता है और न ले सकता है। एतदर्थ ही निशीथ में[2] उसके साथ दो विशेषण सांभोगिक और समनुज्ञ जोड़े गये हैं। कल्प मर्यादा की दृष्टि से जिसके साथ आहारादि का सम्बन्ध होता है वह सांभोगिक कहलाता है और जिसकी समाचारी समान होती है वह समनुज्ञ है। निशीथ में[3] अन्यतीर्थिक, गृहस्थ, पार्श्वस्थ आदि को अशन-वस्त्र-पात्र-कम्बल-पायपोंछनादि देने पर प्रायश्चित का उल्लेख किया है।

द्वितीय उद्देशक में श्रमण को यह आदेश दिया है कि वह अकल्पनीय

---

१ (क) आवश्यक निर्युक्ति—मलयगिरि वृत्ति ७६६, पृ० ३६०
(ख) प्रभावक चरित्र १४८ गाथा

२ निसीहज्झयणं २।४४

३ ,, १५।७६-६७

वस्तु को किसी भी स्थिति में ग्रहण न करे। यदि गृहस्थ अप्रसन्न होकर ताड़न-तर्जन भी करे व कष्ट भी दे तो श्रमण को उसे शांतभाव से सहन करना चाहिए।

तृतीय उद्देशक में एकचर्या, भिक्षुलक्षण आदि का वर्णन करने के बाद यह कहा है यदि किसी श्रमण के शरीर-कंपन को निहार कर किसी गृहस्थ के अन्तर्मानस में यह शंका उद्भूत हो कि यह श्रमण कामोत्तेजना के कारण कांप रहा है तो श्रमण को समीचीन रूप से उसकी शंका का निरसन करना चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक में एक श्रमण के वस्त्र-पात्रादि की मर्यादा का निर्देश किया गया है और यह बताया गया है कि सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित सचेलक व अचेलक अवस्थाओं को समभावपूर्वक सम्यक् प्रकार से जाने और समझे। यदि ऐसी विषम परिस्थिति समुत्पन्न हो जाय जिसमें अनुकूल या प्रतिकूल परीषह उपस्थित हों और वह उनको सहन करने में असमर्थ हो तो प्राणों को न्योछावर करके भी संयम की रक्षा करनी चाहिए।

पाँचवें उद्देशक में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि दो वस्त्र एवं एक पात्रधारी, एक शाटक-धारी या अचेलक साधक समभाव से परीषहों को सहन करे। नानाविध अभिग्रह धारण कर श्रमण सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म को सम्यक् प्रकार से जानकर अपने अभिग्रह का यथार्थरूप से पालन करे और अन्त में समाधिपूर्वक प्राणों का त्याग करे।

छठे उद्देशक में श्रमण को यह बताया गया है कि यदि उसने एक वस्त्र और एक पात्र रखने का अभिग्रह ग्रहण किया है तो शीत आदि परीषह समुत्पन्न होने पर दूसरे वस्त्र, पात्र की आकांक्षा न करे। साधक यह चिन्तन करे कि मैं एकाकी हूँ। मेरा इस विश्व में कोई भी नहीं है और न मैं स्वयं किसी का हूँ। इस अध्ययन में यह भी बताया गया है कि रस का आस्वादन न करते हुए आहार ग्रहण करे और उसे जब यह विश्वास हो जाय कि संयम साधना, तप: आराधना व रोगादि के कारण शरीर अत्यन्त क्षीण व अशक्त हो गया है तो वह निर्दोष घास की याचना कर एकान्त शान्त स्थान में भूमि का परिमार्जन कर समाधिपूर्वक इंगितमरण का वरण करे। इस अनशन में नियत क्षेत्र में संचरण किया जा सकता है इसलिए इसे इत्वरिक कहा गया है। यहाँ पर इत्वरिक का अर्थ अल्पकालीन नहीं है।

सातवें उद्देशक में यह प्रतिपादित किया गया है कि जो प्रतिमाधारी

अचेलक श्रमण संयम-साधना में स्थित है उसके मानस में यह विचार उत्पन्न हो कि मैं तृणस्पर्श, शीत, उष्ण, डांस-मच्छर आदि के परीषहों को सहन करने में तो पूर्ण समर्थ हूँ पर लज्जा को जीतने में असमर्थ हूँ तो उस स्थिति में कटिबंधन को धारण करना कल्पता है।[1]

आठवें उद्देशक में पण्डितमरण का हृदयस्पर्शी वर्णन है। संयम साधना करते हुए जब साधक का शरीर निर्बल हो जाय, स्वाध्याय आदि करने का सामर्थ्य भी न रहे तो उसे बाह्य-आभ्यंतर ग्रन्थियों का परित्याग कर अनशन स्वीकार करना चाहिये। भक्तप्रत्याख्यान, इंगितमरण, पादपोपगमन इन तीन प्रकार के संथारों में क्रमशः साधक को जीवन और मरण दोनों में समान रूप से अनासक्त रहकर न जीने की अभिलाषा करनी चाहिए और न मरने की। सभी प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक वृत्तियों को अवरुद्ध कर केवल आत्मरमण करना चाहिए। अनशन की अवस्था में जिस समय किसी प्रकार का उपसर्ग उपस्थित हो उस समय साधक को समभाव में स्थित रहकर कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए। यदि उस समय चित्ताकर्षक रमणीय भोगों का प्रलोभन भी दिया जाय तो भी उसे विचलित नहीं होना चाहिए।

नवें अध्ययन का नाम उपधानश्रुत है और उसके चार उद्देशक हैं। यह संपूर्ण अध्ययन गाथात्मक है। निर्युक्तिकार ने उपधान शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि तकिया द्रव्य उपधान है जिससे शयन करने में सुविधा प्राप्त होती है और तप भाव उपधान है जिससे चारित्र पालन में सहायता प्राप्त होती है। जैसे शुद्ध जल से मलिन वस्त्र शुद्ध होता है वैसे ही तप से आत्मा निर्मल बनती है। भगवान महावीर एक आदर्श व महान् श्रमण थे। उनका विशुद्ध तपोमय जीवन ही श्रमण जीवन का ज्वलन्त आदर्श है।

प्रथम उद्देशक में श्रमण भगवान महावीर द्वारा दीक्षा से दो वर्ष पूर्व सचित्त का त्याग, दीक्षा के पश्चात् विहार, पर-पात्र व पर-वस्त्र का त्याग और तेरह माह पश्चात् देवदूष्य वस्त्र का परित्याग बताया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि भगवान महावीर ने पूर्व तीर्थंकरों की परम्परा का निर्वाह करने के लिए ही देवदूष्य वस्त्र धारण किया था किन्तु

---

१ आचारांग ८।७।१११ आयारो, पृ० २६४

शीत एवं दंशमशकजन्य परीषहों से बचने के लिए उन्होंने उसका कभी उपयोग नहीं किया।

द्वितीय और तृतीय उद्देशक में यह बताया है कि भगवान महावीर को किन-किन विकट-संकटपूर्ण क्षेत्रों में विहार कर कैसे-कैसे स्थानों पर रहना पड़ा और वहाँ कितने तथा कैसे-कैसे असह्य एवं घोर परीषह उन्हें सहन करने पड़े।

चतुर्थ उद्देशक में भगवान महावीर की उग्र तपश्चर्या का वर्णन करते हुए यह बताया है कि वे भिक्षा में किस प्रकार का रूक्ष और नीरस भोजन ग्रहण करते थे। भगवान ने किस प्रकार निराहार और निर्जल रहकर साधना की, इसका शब्द-चित्र भी उपस्थित किया गया है। अनार्य देशों में परिभ्रमण करते समय किस प्रकार के भीषण उपसर्ग सहन करने पड़े, इसका भी हृदयस्पर्शी चित्र अंकित किया गया है। पर भगवान कभी भी अपने पथ से विचलित नहीं हुए। वे सदा साधना के पथ पर बढ़ते ही रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं और उनके ५१ उद्देशक हैं। महापरिज्ञा और उसके सात उद्देशक विलुप्त हो जाने से वर्तमान में प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठ अध्ययन और ४४ उद्देशक हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध पाँच चूलिकाओं में विभक्त है। इनमें से चार चूलिकाएँ तो आचारांग में हैं किन्तु पाँचवीं चूलिका अत्यधिक विस्तृत होने से आचारांग से पृथक् कर दी गई; जो वर्तमान में निशीथसूत्र के नाम से उपलब्ध है। नंदीसूत्र में निशीथ का नाम मिलता है किन्तु स्थानांग, समवायांग एवं आचारांग निर्युक्ति में इसका नाम आचारकल्प या आचारप्रकल्प मिलता है।

आचारकल्प की चार चूलिकाओं में से प्रथम चूलिका के सात अध्ययन और पच्चीस उद्देशक हैं। प्रथम पिंडैषणा नामक अध्ययन में निर्दोष आहार-पानी किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए, भिक्षा के समय श्रमण को किस प्रकार चलना, बोलना व आहार प्राप्त करना चाहिए आदि का वर्णन है। पिण्ड का अर्थ आहार है।

प्रस्तुत अध्ययन में अपवाद मार्ग का भी उल्लेख हुआ है। जैसे—दुर्भिक्ष की स्थिति है, मुनि किसी गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए गया। गृहपति ने

मुनि को आहारदान दिया। उस समय अन्य अनेक भिक्षुओं को जो अन्यतीर्थी हैं, वहां पर उपस्थित थे उन्हें कहा—तुम यह सब आहार साथ बैठकर खा लेना या सबको बांट देना। यह नियम है कि जैन श्रमण अन्य सम्प्रदाय के साधुओं को आहार नहीं देता और न उनके साथ बैठकर ही खाता है। किन्तु प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध में ऐसे अपवाद का भी उल्लेख हुआ है। यदि सभी भिक्षु चाहें तो साथ बैठकर खा लें और सभी यह चाहते हों कि अपना विभाग उन्हें दे दिया जाय तो वह उनका विभाग उन्हें दे देता है।[१] पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अपवाद मार्ग है, उत्सर्ग मार्ग नहीं।

दूसरे शय्यैषणा नामक अध्ययन में सदोष-निर्दोष शय्या के सम्बन्ध में अर्थात् आवास के सम्बन्ध में चिंतन किया गया है।

तीसरे इर्य्यैषणा अध्ययन में चलने की विधि का प्रतिपादन किया गया है और अपवाद में नदी पार करते समय नाव में बैठने की विधि बताई गई है। पानी में चलते समय या नौका से नदी को पार करते समय पूर्ण सावधानी रखने का संकेत किया गया है। यदि सन्निकट स्थल मार्ग हो तो जलमार्ग से गमन करने या निषेध है।

चौथे भाषैषणा अध्ययन में वक्ता के लिए सोलह वचनों की जानकारी आवश्यक बताई गई है। भाषा के विविध प्रकारों में से किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए, किसके साथ किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए, भाषा प्रयोग में किन-किन बातों का विशेष ध्यान रखना अपेक्षित है? इन सभी पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

पांचवें वस्त्रैषणा अध्ययन में श्रमण किस प्रकार वस्त्र ग्रहण व धारण करे? जो श्रमण युवक हो, शक्ति सम्पन्न हो, स्वस्थ हो उसे एक वस्त्र धारण करना चाहिए। श्रमणी को चार संघातियाँ रखनी चाहिए। जिनमें से एक दो हाथ चौड़ी हो, २ तीन हाथ चौड़ी हों और १ चार हाथ चौड़ी हो। श्रमण किस प्रकार के वस्त्र ग्रहण करे, इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए कहा है—**जंगिय**—ऊँट आदि के ऊन से बना हो। **भंगिय**—द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की लार से बना हो। **साणिय**—सण (सन) की छाल से बना

---

१ सं० आचार्य आत्माराम जी महाराज : आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, उ० ५, सूत्र २६, पृ० ८३०-८३१।

२. सूत्रकृतांग सूत्र

नाम-बोध

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का दूसरा अंग है। समवायांग, नन्दी और अनुयोगद्वार में इस आगम का नाम 'सूयगडो' उपलब्ध होता है।[१]

निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी ने तीन गुणनिष्पन्न नाम प्रस्तुत आगम के बताये हैं।[२]

१—सूतगड—सूतकृत
२—सुत्तकड—सूत्रकृत
३—सूयगड—सूचाकृत

प्रस्तुत आगम श्रमण भगवान महावीर से सूत—उत्पन्न है और यह ग्रन्थ रूप में गणधर द्वारा कृत है इसलिए इसका नाम सूतकृत है।

सूत्र के द्वारा इसमें तत्त्वबोध किया जाता है, एतदर्थ इसका नाम सूत्रकृत है।

इसमें 'स्व' और 'पर' समय की सूचना की गई है इसलिए इसका नाम सूचाकृत है।

जितने भी अंग हैं उनके अर्थ रूप के प्ररूपक भगवान महावीर हैं और सूत्र रूप के रचयिता गणधर हैं। फिर यह जिज्ञासा सहज ही उद्भूत हो सकती है कि प्रस्तुत आगम को ही सूत्रकृत क्यों कहा है ? इसी तरह द्वितीय नाम भी सभी अंगों के लिए व्यवहृत हो सकता है। उत्तर है—प्रस्तुत आगम के नाम का अर्थ की दृष्टि से तीसरा नाम आधाररूप है। क्योंकि प्रस्तुत

---

१ (क) समवायांग प्रकीर्णक समवाय ८८
(ख) नन्दी सूत्र ८०
(ग) अनुयोगद्वार सूत्र ५०

२ सूयगडं सुत्तकडं सूयगडं चेव गोण्णाइं —सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा २

आगम में स्व-समय और पर-समय की तुलनात्मक सूत्रता के अर्थ में आचार की स्थापना की गई है, एतदर्थ इसका सम्बन्ध सूचना से है। समवायांग और नन्दी में स्पष्ट निर्देश है 'सूयगडेणं ससमया सूइज्जंति परसमया सूइज्जंति ससमयपरसमया सूइज्जंति।[1]

जो सूचक होता है वह सूत्र कहलाता है। इस आगम में सूचनात्मक तत्त्व की प्रमुखता है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है।

कषाय पाहुड में आचार्य वीरसेन ने लिखा है कि सूत्र में अन्य दार्शनिकों का वर्णन है।[2] इस आगम की रचना का मूल आधार यही है। अतः इसका नाम सूत्रकृत रक्खा गया है। सूत्रकृत का अन्य व्युत्पत्ति कृत अर्थ की अपेक्षा प्रस्तुत अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। सुत्तगड और बौद्धों का सुत्तनिपात ये दोनों नामसाम्य की अपेक्षा अधिक सन्निकट हैं।

विषय-वस्तु

समवायांग में सूत्रकृतांग का परिचय देते हुए लिखा है कि इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष आदि तत्त्वों का विश्लेषण है एवं नवदीक्षित श्रमणों की आचरणीय हित-शिक्षाओं का उपदेश है। १८० क्रियावादी मतों, ८४ अक्रियावादी मतों, ६७ अज्ञानवादी मतों एवं ३२ विनयवादी मतों की चर्चा की गई है। इस प्रकार कुल ३६३ मतों का निरूपण किया गया है।

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं। ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशनकाल, ३६ हजार पद हैं।

नन्दीसूत्र में कहा है कि सूत्रकृतांग में लोकालोक, जीव, अजीव, स्वसमय और परसमय का निर्देशन किया गया है और क्रियावादी अक्रियावादी प्रभृति ३६३ पाखण्डों (मतों) पर चिन्तन किया गया है।

दिगम्बर साहित्य अङ्गपण्णत्ती, जयधवला, धवला व राजवार्तिक प्रभृति में जो सूत्रकृताङ्ग का परिचय दिया गया है वह बहुत अंशों में श्वेताम्बर साहित्य से मिलता-जुलता है। दिगम्बर परम्परा के प्रतिक्रमण

---

१ (क) समवाओ, पइण्णग समवाओ, सू० ९०
(ख) नंदी सूत्र ८२

२ कषाय पाहुड, भा० १, पृ० १३४

ग्रन्थत्रयी नामक ग्रन्थ में तेवीसाए 'सुद्यडज्झाणेसु' पद प्राप्त होता है। प्रस्तुत पद की प्रभाचन्द कृत वृत्ति में तेईस अध्ययनों के नाम दिये हैं।[1] वे आवश्यक वृत्ति के नामों के साथ मिलते-जुलते हैं।[2]

वर्गीकरण

सूत्रकृतांग को चूर्णिकार ने चरणकरणानुयोग की कोटि में रखा है[3] तो आचार्य शीलांक ने उसे द्रव्यानुयोग में। उनका यह मन्तव्य है कि आचारांग में मुख्य रूप से चरणकरणानुयोग का वर्णन है और सूत्रकृतांग में द्रव्यानुयोग का वर्णन है।[4]

समवायाङ्ग और नन्दीसूत्र में द्वादशाङ्गी का जो परिचय दिया गया है वहाँ पर 'एवं चरणकरणपरूवता' यह पाठ उपलब्ध होता है। आचार्य अभयदेव ने चरण का अर्थ श्रमण धर्म और 'करण' का अर्थ पिण्ड विशुद्धि समिति आदि किया है।[5]

---

१ समए वेदालिज्जे एत्तो उवसग्ग इत्थिपरिणामे।
णरयंतर वीरथुदी कुसीलपरिभासए वीरिए॥
धम्मो य अग्ग मग्गे समोवसरणं तिकाल गंथहिदे।
आदा तदित्थगाथा पुण्डरीको किरियाठाणे य॥
आहारय परिणामे पच्चक्खाण अणगार गुणकित्ति।
सुद अत्थं णालंदे सुद्यडज्झाणाणि तेवीसं॥
—प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी की वृत्ति

२ समए वेयालीयं उवसग्गपरिण्ण थीपरिण्णा य।
निरयविभत्ती वीरत्थुओ य कुसीलाणं परिहासा॥
वीरिय धम्म समाही मग्ग समोसरणं अहतहं गंथो।
जमईअं तह गाहा सोलसमं होइ अज्झयणं॥
पुण्डरीय किरियट्ठा णं आहारपरिण्ण पच्चक्खाण किरिया य।
अणगार अद्द नालंद सोलसाइं तेवीसं॥
—आवश्यक सूत्र, पृ० ६५१-६५८

३ इह चरणाणुओगे ण अधिकारो —सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ५

४ तत्राचारांगे चरणकरणप्रधान्येन व्याख्यातम् अधुना अवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताख्यं द्वितीयमंगं व्याख्यातुमारभ्यते। —सूत्रकृतांग वृत्ति, पत्र १

५ चरणम्—व्रतश्रमणधर्म संयमाद्यनेकविधम्।
करणम्—पिण्डविशुद्धिसमित्याद्यनेकविधम्। —समवायांग वृत्ति, पत्र १०२

चूर्णिकार ने कालिकश्रुत को चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत गिना है और दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत माना है।[1]

द्वादशाङ्गी में मुख्य रूप से द्रव्यानुयोग का वर्णन दृष्टिवाद में हुआ है। अन्य एकादश अंगों में द्रव्यानुयोग का वर्णन गौण रूप से हुआ है। एतदर्थ ही मुख्यता को लक्ष्य में रखकर चूर्णिकार ने सूत्रकृताङ्ग को चरणकरणानुयोग माना है। वृत्तिकार अभयदेव ने मुख्य रूप से इसमें द्रव्यानुयोग का वर्णन होने से इसे द्रव्यानुयोग माना है। इस प्रकार चूर्णिकार और वृत्तिकार ने जो वर्गीकरण किया है वह सापेक्ष है। दृष्टिवाद में भी गौण रूप से चरणकरणानुयोग आदि अनुयोगों का प्रतिपादन हुआ है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध

प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन समय है। उसमें पर-समय का परिचय प्रदान कर, उसका निरसन किया गया है। यहाँ पर परिग्रह को वन्ध और हिंसा को वैरवृत्ति का कारण बताते हुए पर-वादियों का परिचय दिया है। इसमें भूतवाद, आत्माद्वैतवाद, एकात्मवाद, देहात्मवाद, अकारकवाद (सांख्यवाद), आत्मसृष्टिवाद, पंचस्कन्धवाद, क्रियावाद, कर्त्तृत्ववाद, त्रैराशिकवाद आदि का परिचय प्रदान कर इन सबका निरसन किया है।

द्वितीय अध्ययन वैतालिक में पारिवारिक मोह से निवृत्ति, परीपहजय, कपायजय आदि का उपदेश दिया गया है और सूर्यास्त के पश्चात् साधक को विहार करने का निषेध किया है तथा काम, मोह से निवृत्त होकर आत्मभाव में रमण करने का उपदेश प्रदान किया है।

तीसरे उपसर्ग अध्ययन में अनुकूल व प्रतिकूल परीपह का वर्णन कर प्रतिकूल परीपह की अपेक्षा अनुकूल परीपह अधिक भयावह है—यह बताया गया है। साथ ही उस युग की विभिन्न मान्यताओं का परिचय देकर कहा है कि कितने ही साधक जल से, कितने ही आहार ग्रहण करने से, कितने ही आहार न करने से मुक्ति मानते हैं। आसिल द्विपायन आदि ऋषि पानी ग्रहण करने व वनस्पति का आहार करने से सिद्धि मानते हैं। अध्ययन के अन्त में ग्लान-सेवा व उपसर्ग सहन करने पर बल दिया है।

---

१ कालियसुयं चरणकरणाणुओगो, इसिभासिओत्तरज्झयणाणि धम्माणुओगो, सूरपण्णत्तादि गणिताणुओगो, दिट्ठिवाओ दव्वाणुजोगो त्ति।

—सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ५

स्त्री-परिज्ञा नामक चतुर्थ अध्ययन में स्त्री सम्बन्धी परीषहों को सहन करने का उपदेश प्रदान किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में स्त्रियों की जो निन्दा की गई है, वह एकांगी है। वस्तुतः श्रमण के पथभ्रष्ट होने का मूल कारण उसकी स्वयं की वासना है। स्त्री जिस प्रकार पुरुष की वासना को उत्तेजित करने में निमित्त बन सकती है वैसे ही पुरुष भी स्त्री की वासना को उत्तेजित करने में निमित्त बन सकता है। अतः श्रमण और श्रमणियों को सतत सावधान रहना चाहिए।

पञ्चम अध्ययन का नाम नरकविभक्ति है। इसके दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में २७ गाथाएँ हैं और द्वितीय उद्देशक में २५ गाथाएँ हैं। नरक में जीव को किस प्रकार के भयङ्कर कष्ट भोगने पड़ते हैं, यह बताया गया है। जो हिंसक हैं, असत्यभाषी हैं, चोर हैं, लुटेरे हैं, महापरिग्रही हैं, असदाचारी हैं,—उन्हें इस प्रकार के नरकावासों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। अतः साधकों को उन दोषों से बचना चाहिए।

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में नरकों का वर्णन है। योगसूत्र के व्यास भाष्य में सात महानरकों का वर्णन है।[1] भागवत में २८ नरक बताये गये हैं।[2] बौद्धग्रन्थ सुत्तनिपात के 'कोकालिय' नामक सुत्त में

---

१ महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र, अवीचि। इन नरकों में जीवों को अपने कृत कर्मों का कटु फल प्राप्त होता है और यहाँ पर जीवों की आयु भी लम्बी होती है। देखिए—योगदर्शन, व्यास भाष्य : विभूतिपाद २६

नरक में दीर्घकाल तक कर्म के फल को भोगने के पश्चात् जीव का वहाँ से छुटकारा होता है। ये नरक हमारी भूमि और पाताल लोक से नीचे हैं।

भाष्य की टीका में नरकों के अतिरिक्त कुम्भीपाकादि का भी वर्णन है। वाचस्पति ने कुम्भीपाकादि की संख्या अनेक बताई हैं और भाष्यवार्तिककार ने अनन्त लिखी है।

२ उनमें प्रथम २१ नरकों के नाम ये हैं—(१) तामिस्र (२) अंधतामिस्र, (३) रौरव, (४) महारौरव, (५) कुम्भीपाक, (६) कालसूत्र, (७) असिपत्रवन, (८) सूकरमुख, (९) अंधकूप (१०) कृमिभोजन, (११) संदंश, (१२) तप्तसूर्मि, (१३) वज्रकण्टक, (१४) शाल्मली, (१५) वैतरणी, (१६) पूयोद, (१७) प्राणरोध, (१८) विशसन, (१९) लालाभक्ष, (२०) सारमेयादन, (२१) अवीचि, तथा अयःपान। —श्रीमद्भागवत (छायानुवाद), पृ० १६४, पञ्चमस्कन्ध २६-५-३६

इन नरकों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों के अनुसार अन्य सात नरक भी हैं—(२२) क्षारकर्दम, (२३) रक्षोगणभोजन, (२४) शूलप्रोत, (२५) दंदशूक, (२६) अवटनिरोधन, (२७) पर्यावर्तन, (२८) सूचीमुख।

नरकों का वर्णन है। यह वर्णन प्रस्तुत अध्ययन के वर्णन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। अभिधर्मकोष में आठ नरकों के नाम प्राप्त होते हैं।[1] वर्णन के साथ ही शब्दावली भी बहुत कुछ समान है।

वीरस्तुति नामक षष्ठ अध्ययन में श्रमण भगवान महावीर की विविध उपमाएँ देकर स्तुति की गई है। यह महावीर की सबसे प्राचीन स्तुति है। इसमें भगवान महावीर के गुणों का हृदयग्राही वर्णन है। इसमें महावीर को हाथियों में ऐरावण, मृगों में सिंह, नदियों में गङ्गा और पक्षियों में गरुड़ की उपमा देते हुए लोक में सर्वोत्तम बताया गया है।

सप्तम अध्ययन कुशील विषयक है। इस अध्ययन में ३० गाथाएँ हैं। कुशील का अर्थ अनुपयुक्त व अनुचित व्यवहार वाला है। जो साधक असंयमी हैं, जिनका आचार विशुद्ध नहीं है उनका परिचय प्रस्तुत अध्ययन में दिया गया है। चूर्णिकार ने गौव्रतिक-सम्प्रदाय, रण्डदेवता-सम्प्रदाय (चण्डीदेवता-सम्प्रदाय), वारिभद्रक-सम्प्रदाय, अग्निहोमवादी व जल शौचवादी सम्प्रदायों को गिनाया है। वृत्तिकार ने भी इनकी मान्यताओं पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत अध्ययन में तीन प्रकार के कुशीलों की भी चर्चा की गई है—(१) अनाहार संपज्जण—आहार में मधुरता पैदा करने वाले नमक आदि के त्याग से मोक्ष मानने वाले, (२) सीओदग सेवण—शीतल जल के सेवन से मोक्ष मानने वाले, (३) हुएण—होम से मोक्ष मानने वाले। शास्त्रकार ने अन्य दृष्टान्त देकर इन मतों का खण्डन किया है और बताया है कि राग, द्वेष, काम, क्रोध और लोभ का अन्त करने वाला ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

अष्टम अध्ययन वीर्य से सम्बन्धित है। निर्युक्तिकार ने वीर्य का अर्थ सामर्थ्य, पराक्रम, बल व शक्ति किया है। वीर्य अनेक प्रकार का कहा है। सूत्रकार ने अकर्मवीर्य—पंडितवीर्य, और कर्मवीर्य—बालवीर्य ये दो प्रकार बताये हैं। यहाँ पर कर्म शब्द प्रमाद एवं अशील का सूचक है और अकर्म शब्द अप्रमाद और संयम का निर्देशक है। जो लोग प्राणियों के विनाश के

---

१ जातक में ८ नरक बताये हैं—(१) संजीव, (२) कालसुत्त, (३) संघात, (४) जाल-रोरुव, (५) धूम, (६) रोरुव, (७) तपन, (८) प्रतापन अवीचि (५३०)। मज्झिम-निकाय में नारकों के विविध कष्टों का वर्णन है।

—देखिए—बालपंडित सुत्तंत १२९

लिए शस्त्रविद्या का अध्ययन करते हैं और प्राणियों की हिंसा के लिए मंत्रादिक का अभ्यास करते हैं, यह कर्मवीर्य है। अकर्मवीर्य में संयम की प्रधानता होती है। संयम साधना में ज्यों-ज्यों विकास होता है त्यों-त्यों अक्षय सुख की उपलब्धि होती है।

नवम अध्ययन का नाम धर्म है। निर्युक्तिकार ने कुलधर्म, नगर धर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म, गणधर्म, संघधर्म, पाखंडधर्म, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म, गृहस्थधर्म, पदार्थधर्म आदि विविध रूप से धर्म शब्द का प्रयोग किया है, पर मुख्य रूप से धर्म के दो प्रकार हैं—लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म। प्रस्तुत अध्ययन में लोकोत्तर धर्म का निरूपण है। श्रमणधर्म के दूषणरूप कुछ तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं :—

१—असत्य वचन

२—बहिद्धा अर्थात् परिग्रह एवं अब्रह्मचर्य

३—अदत्तादान अर्थात् चौर्य

४—वक्रता अर्थात् माया-कपट-परिकुंचन-पलिउंचण

५—लोभ-भजन-भयण

६—क्रोध-स्थंडिल-थंडिल

७—मान-उच्छ्रयण-उस्सयण

इनके अतिरिक्त धावन, रंजन, वमन, विरेचन, स्नान, दंतप्रक्षालन प्रभृति दूषित प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए आहार सम्बन्धी दूषण बताये हैं जिनका भिक्षु आचरण न करे।

दशम अध्ययन का नाम समाधि है। समाधि का अर्थ तुष्टि संतोष-प्रमोद और आनंद है। भद्रबाहु ने समाधि के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के रूप में चार प्रकार बतलाये हैं। जिन सद्गुणों से जीवन में समाधि भाव अठखेलियाँ करे वह भावसमाधि है। प्रस्तुत अध्ययन में भावसमाधि पर बल दिया गया है। किसी भी वस्तु का संचय न करना, समस्त प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, किसी अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना और पाप कार्य से उसी प्रकार डरते रहना जैसे मृग सिंह से डरता है।

एकादश अध्ययन का नाम मार्ग है। यहाँ पर साधक को समाधि के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तपोमार्ग का आचरण करना चाहिए, यह उपदेश दिया गया है।

द्वादशवें अध्ययन का नाम समवसरण है। यहाँ पर देवादिकृत समवसरण विवक्षित नहीं है। निर्युक्तिकार ने समवसरण का अर्थ सम्मेलन, मिलन व एकत्र होना किया है। चूर्णिकार व वृत्तिकार भी इस कथन का समर्थन करते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी और क्रियावादी इन चार समवसरणों का वर्णन किया है। इसमें एकान्त क्रियावाद व एकान्त ज्ञानवाद से मुक्ति नहीं मानी है, किन्तु ज्ञान-क्रिया के समन्वय से मुक्ति मानी है। निर्युक्तिकार ने क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२ कुल ३६३ भेद बताये हैं। ये भेद किन कारणों से हुए हैं इस पर निर्युक्तिकार ने कोई प्रकाश नहीं डाला है।

त्रयोदशवें अध्ययन का नाम यथातथ्य है। इसमें बताया है कि क्रोध के दुष्परिणाम जानकर शिष्य को पापभीरु, लज्जावान्, श्रद्धालु, अमायी व आज्ञापालक होना चाहिए। मदरहित साधना करने वाला साधक ही सच्चा पण्डित, सच्चा विज्ञ और मोक्षगामी है।

चतुर्दशवें अध्ययन का नाम ग्रन्थ है। निर्युक्तिकार की दृष्टि से ग्रन्थ का सामान्य अर्थ परिग्रह है। वह बाह्य व आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार का है। बाह्य ग्रन्थ के क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, ज्ञातिजन, वाहन, शयन, आसन, दासी-दास विविध सामग्री ये दश प्रकार हैं। बाह्य ग्रन्थों में आसक्ति रखना परिग्रह है। आभ्यन्तर परिग्रह के क्रोध, मान, माया, लोभ, स्नेह, द्वेष, मिथ्यात्व, कामाचार, संयम में अरुचि, असंयम में रुचि, विकारी हास्य, शोक, भय, घृणा ये चौदह प्रकार है। जिन्हें दोनों प्रकार के ग्रन्थों में रुचि नहीं है और जो संयम-मार्ग की आराधना करते हैं, वे साधक हैं। साधक को प्रथम गुरुजन का सहवास आवश्यक है। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, आज्ञापालन और अप्रमाद साधना के प्रमुख अङ्ग हैं। साधक को इन सद्गुणों का आचरण करना चाहिए।

पञ्चदशवें अध्ययन का नाम आदान या आदानीय है। निर्युक्तिकार की दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन की गाथाओं में जो पद प्रथम गाथा के अन्त में आता है, वही दूसरी गाथा के आदि में आता है।

वृत्तिकार का अभिमत है कि कुछ लोग प्रस्तुत अध्ययन को संकलिका नाम भी देते हैं। इसके प्रथम पद्य का अन्तिम वचन एवं

द्वितीय पद्य का आदि वचन शृङ्खला के समान जुड़े हुए हैं अतः इसका नाम संकलिका अथवा शृङ्खला है। इस अध्ययन में यमक अलंकार का प्रयोग हुआ है अतः इसका नाम 'यमकीय' भी है—ऐसा वृत्तिकार का कथन है।

प्रस्तुत अध्ययन में विवेक की दुर्लभता, संयम के श्रेष्ठ परिणाम, संयम मार्ग की जीवन पद्धति आदि का निरूपण है।

षोडशवें अध्ययन का नाम गाथा है। गाथा का अर्थ नियुक्तिकार ने किया है—जिसका मधुरता से गान किया जा सके, वह गाथा है। जिसमें अर्थ की बहुलता हो, वह गाथा है या छन्द द्वारा जिसकी योजना की गई हो वह गाथा है। इसमें साधु के माहण, श्रमण, भिक्खु और निर्ग्रन्थ ये चार नाम देकर उसकी व्याख्या की गई है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। भद्रबाहु ने नियुक्ति में इन सात अध्ययनों को महाध्ययन कहा है। वृत्तिकार की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो बातें संक्षेप में कही गई हैं, उन्हीं बातों का विस्तार इन अध्ययनों में होने से इन्हें महा अध्ययन कहा गया है।

इसका प्रथम अध्ययन पुंडरीक है। पुंडरीक का अर्थ है सौ पंखुड़ियों वाला श्रेष्ठ श्वेत कमल। जैसे एक विशाल पुष्करणी है उसमें चारों ओर सुन्दर कमल के फूल खिल रहे हैं। उन कमलों के मध्य में एक पुंडरीक कमल खिल रहा है। वहाँ पर पूर्व दिशा से एक व्यक्ति आया। उसने पुण्डरीक को देखकर कहा—मैं कुशल, पंडित, मेधावी और मार्गविद् हूँ अतः प्रस्तुत उत्तम कमल को तोड़कर प्राप्त कर सकूँगा। वह पुष्करणी में उतरा और कीचड़ में फंस गया। न वह पुनः किनारे पर आ सका और न वह पुण्डरीक को पा सका। इसी प्रकार पश्चिम, उत्तर व दक्षिण दिशा से तीन व्यक्ति और आए तथा पुण्डरीक को प्राप्त करने की इच्छा से कीचड़ में फँस गये। उस समय एक निस्पृह संयमी श्रमण वहाँ पर आया। वह चारों व्यक्तियों को कीचड़ में फँसा हुआ देखकर चिन्तन करने लगा—ये लोग अकुशल और अमेधावी है। कहीं इस प्रकार कमल प्राप्त किया जा सकता है? वह श्रमण पुष्करणी के किनारे खड़े रहकर कहने लगा 'हे कमल! मेरे पास चला आ' और वह कमल उसके हाथ में आ गया।

प्रस्तुत रूपक का सार यह है, 'संसार पुष्करणी के समान है। उसमें कर्मरूपी पानी और विषय-भोग रूपी कीचड़ भरा हुआ है। अनेक जनपद

चारों ओर खिलते हुए कमलों के सदृश हैं। मध्य में जो पुण्डरीक कमल खिल रहा था वह राजा के सदृश है। पुष्करणी में प्रवेश करने वाले चारों पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी, पंचभूतवादी,[1] ईश्वरकारणवादी और नियतिवादी हैं। कुशल श्रमण धर्म रूप है, किनारा धर्मतीर्थ रूप है और श्रमण द्वारा कथित शब्द धर्मकथा सदृश है और पुण्डरीक कमल का उठना निर्वाण के समान है। जो साधक अनासक्त, निस्पृह व अहिंसादि महाव्रतों को जीवन में मूर्त्तरूप देने वाले हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

द्वितीय अध्ययन का नाम क्रियास्थान है। क्रियास्थान का अर्थ है प्रवृत्ति का निमित्त। प्रवृत्तियों के अनेक कारण होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में उन प्रवृत्तिनिमित्त क्रियास्थानों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। क्रियास्थान—धर्मक्रियास्थान और अधर्मक्रियास्थान रूप से दो प्रकार का है। अधर्मक्रियास्थान के अर्थदण्ड, अनर्थदण्ड, हिंसादण्ड, अकस्मात्दण्ड, दृष्टिविपर्यासदण्ड, मृषा-प्रत्ययदण्ड, अदत्तादान-प्रत्ययदण्ड, अध्यात्म-प्रत्ययदण्ड, मान-प्रत्ययदण्ड, मित्रदोष-प्रत्ययदण्ड, माया-प्रत्ययदण्ड, लोभ-प्रत्ययदण्ड, ये बारह प्रकार हैं। और धर्मक्रिया-स्थान में धर्महेतुप्रवृत्ति बताई गई है।

हिंसादि प्रवृत्ति जो किसी प्रयोजन हेतु की जाती है वह अर्थदण्ड है। इसमें स्वयं की जाति, स्वजन-परिजन आदि के निमित्त त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का समावेश होता है।

विना किसी प्रयोजन के केवल स्वभाव के कारण या मनोरंजन की दृष्टि से की जाने वाली हिंसा अनर्थदण्ड है। अमुक व्यक्ति ने या प्राणी ने मेरे सम्बन्धी को मारा है या मारेगा ऐसा सोचकर जो मानव उन्हें मारने की प्रवृत्ति करता है वह हिंसादण्ड का भागी होता है।

मृग आदि को मारने की दृष्टि से बाणादि अस्त्र छोड़ा गया—अकस्मात् वह उसे न लगकर अन्य पक्षी आदि को लग गया जिससे उसका वध हो गया यह अकस्मात्दण्ड है।

---

१ तज्जीवतच्छरीरवाद एवं पंचभूतवाद दोनों में अन्तर यह है कि प्रथम के मत से शरीर और जीव एक ही है जबकि दूसरे के मत से जीव की उत्पत्ति पाँच भूतों के सम्मिश्रण से होती है। वे पाँच भूत के अतिरिक्त छठा जीव भी मानते हैं। वृत्तिकार ने इस वादी को सांख्य लिखा है।

दृष्टि के विपर्यय के कारण मित्र को शत्रु समझकर उसे मार देने का नाम दृष्टिविपर्यास है।

स्वयं के लिए या स्वयं के परिजनों के लिए असत्य बोलना, बुलवाना और बोलने वाले का समर्थन करना मृषाप्रत्ययदण्ड है।

इसी प्रकार तस्कर कर्म करना, करवाना और करने वाले का समर्थन करना अदत्तादानप्रत्ययदण्ड है।

निरन्तर चिन्ता में मग्न रहना, अप्रसन्न, भयभीत व संकल्प-विकल्प में डूबे रहना, अध्यात्मप्रत्ययदण्ड है।

जाति, कुल, बल, रूप, ज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, प्रज्ञा, प्रभृति के मद से अपने को महान् व दूसरों को हीन समझना मानप्रत्ययदण्ड है।

अपने मित्रों को या सन्निकट में रहने वाले परिजनों को किंचित् अपराध पर भारी दण्ड देना यह मित्रदोषप्रत्ययदण्ड है।

मायायुक्त अनर्थकारी प्रवृत्ति करना माया-प्रत्ययदण्ड है।

लोभ के वशीभूत होकर हिंसक प्रवृत्ति में उलझने वाले लोभप्रत्ययदण्ड के भागी होते हैं।

जो शनैः-शनैः विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, जितेन्द्रिय, अपरिग्रही, समिति-गुप्तिधारक हैं वह धर्महेतुक प्रवृत्ति क्रियास्थान है। यह क्रियास्थान आचरणीय है। शेष जो क्रियास्थान हैं वे हिंसापूर्ण होने से अनाचरणीय—त्याज्य हैं।

द्वितीय अध्ययन का नाम आहार परिज्ञा है। इस अध्ययन में आहार की विस्तृत चर्चा है। इसमें मानव के आहार के सम्बन्ध में कहा है कि उसका आहार ओदन, कुल्माष, त्रस एवं स्थावर प्राणी है। परन्तु देव व नारक के आहार की चर्चा नहीं है। निर्युक्ति और वृत्ति में ओज आहार, रोम आहार और प्रक्षेप आहार ये आहार के तीन प्रकार बताये हैं। तैजस व कार्मण शरीर द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है उसे ओज आहार कहा है। अन्य आचार्यों के अभिमतानुसार जब तक इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास एवं द्रव्यमन का निर्माण न हुआ हो तब तक केवल शरीर पिण्ड द्वारा जिस आहार को ग्रहण करते हैं वह ओज आहार है। रोम रूप ग्रहीत आहार रोम आहार है। देवों में और नारकों में रोम व ओज आहार होता है कवल (प्रक्षिप्त) आहार नहीं होता।

जिन आहार पुद्गलों को शरीर में प्रक्षिप्त किया जाता है वह प्रक्षेप आहार है। इसे किन्हीं ग्रन्थों में कवल आहार भी कहा है।

वनस्पतियाँ—पृथ्वीयोनिक, वृक्षयोनिक, ऐसे मुख्य दो प्रकार की हैं। और कितनी वनस्पतियाँ उदकयोनिक भी है। श्रमणों को संयमपूर्वक आहार ग्रहण करने के लिए प्रेरणा दी गई है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रत्याख्यानक्रिया है। प्रत्याख्यान का अर्थ है—मूलगुण व उत्तरगुणों के आचरण में बाधक प्रवृत्तियों का त्याग करना। प्रस्तुत अध्ययन में प्रत्याख्यानक्रिया पापरहित होने से आत्मशुद्धि में महान् सहायक है। जो आत्मा षट्काय के जीवों के वध करने का परित्याग नहीं करता है वह उनके साथ मित्रवत् व्यवहार नहीं कर सकता। उसकी भावना सर्वदा सावद्यानुष्ठान रूप रहती है। जैसे एक हत्यारे के अन्तर्मानस में यह विचार उद्बुद्ध हुआ कि मुझे अमुक व्यक्ति की हत्या करनी है, पर अभी कुछ समय तक मैं आराम करूँ। जब समय मिलेगा तब उसका काम तमाम कर दूँगा। उस हत्यारे के मन में सोते-बैठते, चलते-फिरते हत्या की भावना ही रहती है व प्रतिक्षण कर्मबंधन ही करता है। उसी प्रकार जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया है, वह षट्जीवनिकाय के प्रति हिंसक भावना रखने के कारण निरन्तर कर्मबन्धन करता रहता है। अतः साधक को मर्यादित जीवन बनाने के लिए प्रत्याख्यान रूप क्रिया की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है।

पाँचवें अध्ययन के आचारश्रुत व अनगारश्रुत ये दो नाम उपलब्ध होते हैं। निर्युक्ति में भी ये दो नाम मिलते हैं। आचार का सम्यक् पालन करने के लिए साधक को बहुश्रुत होना आवश्यक है। बिना बहुश्रुत हुए साधक आचार और अनाचार का पृथक्करण नहीं कर सकता। लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष आदि नहीं है यह मान्यता अनाचरणीय है। अन्त में श्रमण को अमुक-अमुक प्रकार की भाषा न बोलने का भी सूचन है।

छठा अध्ययन आर्द्रककुमार का है। आर्द्रककुमार आर्द्रकपुर के राजकुमार थे जो अनार्य देश में था।[१] एक बार उनके पिता ने राजा श्रेणिक के

---

१ डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने आर्द्रककुमार को ईरान के ऐतिहासिक सम्राट कुरुष (ई० पू० ५५८-५३०) का पुत्र माना है—देखिए, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ६७-६८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९६१।

लिये बहुमूल्य उपहार भेजे। उस समय आर्द्रककुमार ने भी अभयकुमार के लिये उपहार भेजे। पुनः राजगृह से भी अभयकुमार की ओर से श्रमण परम्परा के कुछ धार्मिक उपकरण भेजे गये। उन्हें देखते-देखते आर्द्रक को पूर्वजन्म की स्मृति हो आई और वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रद्धालु बनकर दीक्षित भी हो गया। वहाँ से भगवान महावीर के दर्शन के लिये राजगृह की ओर विहार किया। उन्हें मार्ग में विभिन्न मतों के अनुयायी मिले। उन्होंने आर्द्रककुमार से धर्म-चर्चाएं कीं, आर्द्रककुमार मुनि ने सभी मतों का खण्डन कर भगवान महावीर के मत का समर्थन किया। वह विचार-चर्चा का प्रसंग इस प्रकार है।

सर्वप्रथम आर्द्रककुमार मुनि की गोशालक से भेंट हो गई। गोशालक ने परिचय प्राप्त कर कहा—आर्द्रककुमार! तुम महावीर के पास जा रहे हो, यह आश्चर्य है। महावीर तो अस्थिर विचार वाले हैं, कभी कुछ कहते हैं, तो कभी कुछ। पहले वे अकेले रहते थे, अब भिक्षुसंघ से घिरे रहते हैं। पहले वे मौन रखते थे, अब उपदेश की धुन सवार हो गई है। पहले वे तपश्चरण करते थे अब प्रतिदिन भोजन। पहले वे रूखा-सूखा भोजन करते थे अब सरस भोजन।

इस प्रकार तुम्हारे महावीर का जीवन विरोधाभासों में परिव्याप्त है, अतः मैंने तो उनका सहवास त्याग दिया।

आर्द्रकमुनि—महावीर के जीवन में कोई विसंगति नहीं है। आपने महावीर के जीवन-रहस्य का सही ढंग से निरीक्षण नहीं किया। भगवान महावीर का एकान्तभाव त्रिकालवर्ती है। वे राग-द्वेष से अतीत हैं अतः सहस्रों के समुदाय में भी एकान्त साधना कर रहे हैं।

भगवान पहले सत्य की साधना कर रहे थे, तब उनकी वाणी मौन थी, अब उन्हें सत्य प्रत्यक्ष हो चुका है, वही सत्य वाणी द्वारा प्रगट हो रहा है।

भगवान साधना काल में अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रयाण कर रहे थे। उस समय कोई उनका शिष्य कैसे बनता? अब वे पूर्णता में स्थित हैं, अतः अपूर्ण साधक पूर्णता का अनुगमन कर रहे हैं। इसमें विसंगति कहाँ है?

गोशालक ने आर्द्रककुमार के समाधान पर प्रावरण डालते हुए कहा—तुम्हारे धर्मगुरु महावीर अतिभीरु हैं क्योंकि जिन अतिथि-गृहों और आराम-गृहों में बड़े-बड़े उद्‌भट विद्वान परिव्राजक ठहरते हैं वहाँ महावीर नहीं ठहरते, सोचते हैं कोई प्रतिभासम्पन्न भिक्षु मुझ से कुछ पूछ न बैठे।

आर्द्रकमुनि—तुमको मेरे धर्माचार्य के प्रवल प्रभाव का पता नहीं है। वे निष्प्रयोजन कोई काम नहीं करते। वे वहीं ठहरते हैं जहाँ प्रयोजन की निष्पत्ति हो। वे वहीं प्रत्युत्तर देते हैं जहाँ प्रयोजन सिद्ध होता हो। इसका हेतु भीरुता नहीं वरन् प्रवृत्ति की सार्थकता है।

गोशालक – जैसे लाभार्थी वणिक् क्रय-विक्रय की वस्तु लेकर महाजनों से सम्पर्क सूत्र बढ़ाता है वैसे ही तुम्हारे महावीर भी लाभार्थी वणिक् हैं।

आर्द्रकमुनि—महावीर को वणिक् की उपमा देना सर्वथा असंगत है। वे नवीन कर्मों का संवर करते हैं और पुराने कर्म-समूह का क्षय करते हैं, वणिक्-व्यक्तियों की तरह वे हिंसादि पापकृत्यों से चतुर्गति भ्रमण का लाभ भी नहीं करते। उनका लाभ आदि-अंत से रहित है। उनकी तुलना वणिक् के साथ करना अज्ञानता का परिचायक है।

आर्द्रकमुनि के तर्कपूर्ण प्रश्नोत्तरों को सुनकर गोशालक निरुत्तर हो चला गया। आर्द्रकमुनि आगे बढ़े तो बौद्ध-भिक्षुओं से निम्न वार्तालाप हुआ।

बौद्धभिक्षु—आर्द्रक! तुमने वणिक् के दृष्टान्त से बाह्यप्रवृत्ति का खंडन करके बहुत ही अच्छा किया। हमारा भी यही सिद्धान्त है कि बाह्य-प्रवृत्ति बंध-मोक्ष का प्रधान कारण नहीं, अपितु अन्तरंग व्यापार ही उसके मुख्य अंग हैं। हमारी दृष्टि से कोई पुरुष खली-पिण्ड को भी पुरुष मानकर पकाये या तुम्बे को बालक मानकर पकाये तो वह, पुरुष और बालक के वध का ही पाप करता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति पुरुष या बालक को खली या तुम्बा समझकर भेदित करता है, या पकाता है तो वह पुरुष व बालक के वध का पाप उपार्जित नहीं करता। हमारे मतानुसार वह पक्व मांस पवित्र है और बुद्धों के आहार-योग्य है।

हमारी दृष्टि से जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार स्नातक[1] (बोधिसत्त्व) भिक्षुओं को भोजन कराता है, वह देवगति में आरोप्य[2] नामक सर्वोत्तम देव होता है।

आर्द्रकमुनि—प्राण-भूत की हिंसा करना और उसमें पाप का अभाव

---

१ सूत्र० वृत्ति श्रु० २ अ० ६ गा० २६ शीलांकाचार्य, प्र० श्री गोडी जी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढी, बम्बई।

२ दीघनिकाय महानिदानसुत्त में बुद्ध ने, काममव, रूपमव, अरूपमव ये तीन प्रकार के भव बताए हैं। अरूपभव का अर्थ निराकार लोक है।

कहना, संयमी साधक के लिये अयोग्य है। जो इस प्रकार का उपदेश देते हैं या सुनते हैं वे दोनों ही अज्ञान व अकल्याण को प्राप्त करने वाले हैं। जिन्हें स्थावर और जंगम प्राणियों के स्वरूप का ज्ञान है, जो अप्रमत्त होकर संयम व अहिंसा का परिपालन करना चाहते हैं, क्या वे इस प्रकार की बात कह सकते हैं ? मन से तो बालक को बालक समझना और ऊपर से उसे तुम्बा कहना, क्या यह संयमी पुरुष के योग्य है? खूब हृष्ट-पुष्ट भेड़ को मारकर, उसे अच्छी तरह से काटकर, उसके मांस में नमकादि डालकर या तेलादि में तलकर तुम्हारे लिये तैयार करते हैं, उस मांस को तुम खाते हो और ऊपर से कहते हो—हमें पाप नहीं लगता। यह कथन तुम्हारे क्रूर स्वभाव व रस-लम्पटता का द्योतक है। यह स्पष्ट है कि कोई अनजान में भी मांसादि का सेवन करता है तो वह पापार्जन ही करता है।

प्राणिमात्र के प्रति जिनके अन्तर्मानस में दया की भावनाएँ अंगड़ाइयाँ ले रही हैं, जो सावद्य कार्यों का त्याग करते हैं, ऐसे भगवान महावीर के भिक्षु, दोष की आशंका से उद्दिष्ट-भोजन ग्रहण नहीं करते हैं, जिससे स्थावर और जंगम प्राणियों को कष्ट हो। संयमी पुरुष का धर्म-पालन कितना सूक्ष्म है।

रक्तरंजित हाथ वाला व्यक्ति, जो प्रतिदिन दो हजार स्नातक भिक्षुओं को भोजन खिलाता है, वह पूर्ण असंयमी है। खूनी व्यक्ति इस लोक में भी तिरस्कृत होता है और परलोक में भी श्रेष्ठ गति प्राप्त नहीं करता।

जिस वचन से पापोत्तेजना होती हो वह वचन कभी नहीं बोलना चाहिये।

आर्द्रकमुनि के अकाट्य समाधानों के आगे बौद्धभिक्षु निरुत्तर हो गये, तो वेदवादी ब्राह्मण आगे बढ़े।

वेदवादी—जो अनुदिन दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को भोजन खिलाता है, वह पुण्य की राशि एकत्र कर देव-गति में उत्पन्न होता है—ऐसा हमारा वेदवाक्य है।

आर्द्रकमुनि—मार्जार की तरह घर-घर भटकने वाले, दो हजार स्नातकों को जो खिलाता है, वह मांसाहारी पक्षियों से परिपूर्ण, तीव्र वेदनामय नरक में जाता है। दयाधर्म का परित्याग कर, हिंसा प्रधान धर्म को स्वीकार करने वाला, शीलरहित ब्राह्मण को जो खिलाता है, वह अंधकार

युक्त नरक में भटकता है। चाहे सम्राट् ही क्यों न हो, वह स्वर्ग में नहीं जा सकता।

आर्द्रकमुनि के कठोर व स्पष्ट प्रत्युत्तर को सुनकर वेदवादी ब्राह्मण बोल नहीं सके। तब आत्माद्वैतवादी ने आर्द्रकमुनि से कहा—

आत्माद्वैतवादी[1]—आर्द्रकमुनि ! आपका और हमारा धर्म समान है। वह भूत में भी था और भविष्य में भी रहेगा। आपके और हमारे धर्म में आचार-प्रधान शील तथा ज्ञान को महत्त्व दिया है। पुनर्जन्म की मान्यता में भी किसी प्रकार का भेद नहीं है, किन्तु हम एक अव्यक्त, लोकव्यापी, सनातन, अक्षय और अव्यय आत्मा को मानते हैं। न उसका कभी क्षय होता है और न ह्रास ही होता है जल में पड़े अनेक प्रतिबिम्बों में एक चन्द्र की भांति सब भूतगण में निवास करने वाला वह आत्मा एक ही है।

आर्द्रकमुनि—यदि ऐसा ही है, तो फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दास तथा कीड़े, पंखी, सर्प, मनुष्य आदि में भेद ही नहीं रहेगा और वे पृथक्-पृथक् सुख-दुःख भोगते हुए इस विश्व में भी क्यों भटकेंगे ?

परिपूर्ण कैवल्य से लोक को समझे विना, जो दूसरों को धर्मोपदेश करते हैं वे अपना और दूसरों का अहित ही करते हैं। परिपूर्ण कैवल्य से लोक-स्वरूप को समझकर तथा पूर्णज्ञान से समाधि-युक्त बनकर जो धर्मोपदेश करते हैं, वे स्वयं का भी हित करते हैं और अन्य का भी।

हे आयुष्मान् ! यह तुम्हारा बुद्धिविपर्यास है जिसके कारण तिरस्कार योग्य ज्ञान वाले आत्माद्वैतवादियों को और सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन-चारित्र युक्त जिनेश्वर देव को एक कोटि में रख रहे हो। यह सर्वथा अनुचित है।

आत्माद्वैतवादियों को परास्त कर आर्द्रकमुनि आगे बढ़ने लगे, तो हस्ती-तापसों से भेंट हो गई।

हस्तीतापस—हम वर्ष में मात्र एक ही हाथी को बाण से मारते हैं और उससे अपनी आजीविका चलाते हैं, ऐसा करने में हमारा प्रयोजन अन्य अनेक जीवों की रक्षा करना है।

---

१ टीकाकार आचार्य शीलांक ने (२।६।४६) में इसे एक दण्डी कहा है। डा० हर्मन जेकोबी ने अपने अंग्रेजी अनुवाद (S.B.E., Vol. XIV, P. 417 H) में इसे वेदान्ती कहा। टीकाकार ने भी अगली गाथा में यही अर्थ स्वीकृत किया है।

आर्द्रकमुनि—वर्ष भर में एक ही प्राणी की हिंसा करने वाले भी साधु अहिंसक नहीं हो सकते, क्योंकि वे प्राणिवध से सर्वथा मुक्त नहीं हुए हैं। हिंसा करते हुए भी उन्हें अहिंसक माना जाय तो फिर गृहस्थों को भी अहिंसक मानना होगा, क्योंकि वे भी अपने कार्यक्षेत्र के बाहर के जीवों की हिंसा नहीं करते। साधु कहलाते हुए भी जो वर्ष में एक भी जीव की हिंसा करते हैं, या उस हिंसा का समर्थन करते हैं, वे अनार्य हैं। वे अपना हित नहीं कर सकते और न केवलज्ञान ही पा सकते हैं।

तथारूप स्वकल्पित धारणाओं का अनुसरण करने की अपेक्षा जिस मानव ने ज्ञानी की आज्ञानुसार मोक्ष-मार्ग में मन, वचन, काया से अपने आपको स्थित किया है तथा जिसने दोषों से अपनी आत्मा का संरक्षण किया है और जिसने संसार समुद्र को तैरने के साधन प्राप्त किये हैं, वही मानव दूसरों को धर्मोपदेश दे।

इसके पश्चात् हस्ती-तापसों को निरुत्तर करके आर्द्रकमुनि भगवान महावीर के पास गये। भगवान को विधिपूर्वक नमस्कार करके स्व-प्रतिबोधित पाँचसौ तस्करों व तापसादि को दीक्षा देकर उन्हीं के सुपुर्द किया।[1]

सातवें अध्ययन का नाम नालंदीय है। नालंदा राजगृह नगर का ही एक विभाग था। वहाँ पर प्रायः धनकुबेर लोग रहते थे। लेप नामक गाथापति ने भवन निर्माण से बची हुई सामग्री से 'सेसदविया' नामक उदकशाला का निर्माण कराया था। उस उदकशाला के विशाल कोणस्थ वनखंड के एक भाग में गणधर गौतम के साथ पार्श्वापत्य पेढालपुत्र का मधुर संवाद हुआ और पेढालपुत्र गणधर गौतम से प्रतिबोध पाकर भगवान महावीर के पास चातुर्याम धर्म को छोड़कर पंच महाव्रत रूप धर्म को स्वीकार करता है।

---

१ आर्द्रकमुनि के समक्ष गोशालक आदि विरोधी पक्षों ने भगवान महावीर के जीवन एवं सिद्धान्त पर जो आक्षेपपूर्ण प्रहार किये हैं—उनसे पता चलता है कि भगवान की विद्यमानता में ही उनके प्रति कितनी भ्रान्तियाँ फैलाई गई थीं और विरोधी कितने आक्षेप उन पर करते थे। आर्द्रकमुनि ने सभी का तर्कसंगत समाधान करके विरोधों का परिहार किया।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकृतांग सूत्र में दार्शनिक चर्चाएँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हुई हैं, साथ ही आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जीवन में ढालने एवं अन्य मतों का परित्याग कर शुद्ध श्रमणाचार का पालन करने की महत्त्वपूर्ण प्रेरणा दी गई है। साधना के महामार्ग पर बढ़ते समय अनेक विघ्न, उपसर्ग, अनुकूल या प्रतिकूल परीषह उपस्थित हों तब भी साधक अपने मार्ग से विचलित न हो—यह इस आगम से ध्वनित होता है।

उस युग की जो दार्शनिक दृष्टियाँ थीं उनकी जानकारी भी प्रस्तुत आगम से होती है। अतः ऐतिहासिक, दार्शनिक व धार्मिक सभी दृष्टियों से यह आगम अपनी अनूठी विशेषता रखता है।

□

३. स्थानांग सूत्र

नाम-बोध

स्थानांग का द्वादशांगी में तीसरा स्थान है। यह शब्द स्थान और अंग इन दो शब्दों के मेल से निर्मित हुआ है। 'स्थान' शब्द अनेकार्थी है। उपदेशमाला में स्थान का अर्थ 'मान' अर्थात् परिमाण दिया है। प्रस्तुत आगम में तत्त्वों के एक से लेकर दश तक की परिमाण-संख्या का उल्लेख है अतः इसे स्थान कहा गया है। स्थान शब्द का दूसरा अर्थ 'उपयुक्त' भी होता है। इसमें तत्त्वों का क्रम से उपयुक्त चुनाव किया गया है। अतः इसे स्थान कहा गया है। स्थान शब्द का तीसरा अर्थ 'विश्रान्ति स्थल' भी है और अंग का सामान्य अर्थ विभाग है। इसमें संख्याक्रम से जीव, पुद्गल आदि की स्थापना की गई है अतः इसका नाम 'स्थानांग' या 'ठाणांग' है।

शैली

स्थानांग व समवायांग इन दोनों आगमों में विषय को प्रधानता न देकर संख्या को प्रधानता दी गई है। जीव, पुद्गल आदि विषयों पर विस्तार से विश्लेषण न कर संख्या की दृष्टि से संकलन किया गया है। यह एक प्रकार से कोश की शैली में ग्रथित है जो स्मरण रखने की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त है। यह शैली जैनपरंपरा में ही नहीं अपितु वैदिक एवं बौद्ध परंपरा में भी प्राप्त होती है। महाभारत के वनपर्व, अध्याय १३४ में भी प्रस्तुत शैली में ही विचार संग्रहीत किये गये हैं और बौद्धग्रंथ अंगुत्तरनिकाय पुग्गलपञ्ञत्ति, महाव्युत्पत्ति एवं धर्म-संग्रह में भी यही शैली दृष्टिगोचर होती है।

महत्त्व

जैनागमों में तीन प्रकार के स्थविर बताये हैं। उनमें श्रुत स्थविर के लिए 'ठाणसमवायधरे' यह विशेषण बताया है। इससे ठाणांग और समवायांग का कितना महत्त्व है, यह सहज ही स्पष्ट होता है।

विषय-वस्तु

समवायांग व नन्दीसूत्र में ठाणांग का परिचय देते हुए लिखा है कि इसमें स्वसमय, परसमय, स्व-पर उभय समय, जीव-अजीव-जीवाजीव, लोक, अलोक की स्थापना की गई है। पदार्थ का द्रव्य-क्षेत्र-काल और पर्याय की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। एक स्थान, दो स्थान, यावत् दश स्थान से दशविध वक्तव्यता की स्थापना की गई है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की प्ररूपणा भी की गई है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, इक्कीस उद्देशनकाल, इक्कीस समुद्देशनकाल, ५२ हजार पद, संख्यात अक्षर, अनंत गम, अनंत पर्याय तथा वर्णन की दृष्टि से असंख्यात त्रस और अनंत स्थावर का निरूपण है। वर्तमान में प्रस्तुत सूत्र का पाठ ३७७० श्लोक परिमाण है।

हम पहले ही बता चुके हैं कि संख्या क्रम की दृष्टि से द्रव्य, गुण, क्रिया आदि का प्रस्तुत आगम में निरूपण है। प्रथम प्रकरण में एक, दूसरे में दो, तीसरे में तीन इस प्रकार अनुक्रम से अंतिम प्रकरण में दशविध वस्तुओं का वर्णन है और उसी संख्या के आधार पर प्रकरणों का नामनिर्देश किया गया है। जिन प्रकरणों में सामग्री का प्राचुर्य हो गया उस प्रकरण के उपविभाग किये गये हैं। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ इन तीन प्रकरणों के चार-चार उपविभाग किये गये हैं। पाँचवें प्रकरण के तीन उपविभाग किये गये हैं। शेष स्थानों के उपविभाग नहीं किये गये हैं।

क्या यह आगम अर्वाचीन है ?

प्रस्तुत आगम में श्रमण भगवान महावीर के पश्चात् दूसरी से छठी शताब्दी तक की अनेक घटनाएँ आई हैं। जिससे विद्वानों को यह शंका हो गई है कि प्रस्तुत आगम अर्वाचीन है। वे शंकाएँ इस प्रकार हैं—

(१) नवें स्थान में गोदासगण, उत्तरवलिस्सहगण, उद्देहगण, चारण-गण, उडुवातितगण, विस्सवातितगण, कामड्ढितगण, माणवगण और कोडितगण—इन गणों की उत्पत्ति का उल्लेख कल्पसूत्र में हुआ है। ये सभी गण महावीर निर्वाण के पश्चात् २०० से ५०० वर्ष तक की अवधि में उत्पन्न हुए थे।

(२) सातवें स्थान में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त, और गोष्ठामाहिल इन सात निह्नवों का वर्णन है। इनमें

से प्रथम दो के अतिरिक्त शेष पाँच निह्नव भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के मध्य में हुए हैं।

उत्तर में निवेदन है; जैन दृष्टि से भगवान महावीर सर्वज्ञ थे, अतः वे पश्चात् होने वाली घटनाओं का सूचन करें इसमें कोई आश्चर्य नही है। जैसे—नवम् स्थान में आगामी उत्सर्पिणी काल के भावी तीर्थंकर महापद्म का चरित्र दिया गया है। और भी अनेक स्थलों पर भविष्य में होने वाली घटनाओं का उल्लेख है।

दूसरी बात यह है कि पहले आगम श्रुति-परम्परा से चले आ रहे थे, उन पाठों का संकलन और आकलन आचार्य स्कन्दिल और देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के समय लिपिबद्ध किये गये थे। उस समय वे घटनाएँ, जिनका उल्लेख प्रस्तुत आगम में है, वे भविष्य में होने वाली घटनाएँ भूतकाल में हो चुकी थीं। अतः जन-मन में भ्रान्ति उत्पन्न न हो जाय इस दृष्टि से आचार्यों ने भविष्यकाल के स्थान पर भूतकाल की क्रिया दी हो या उन आचार्यों ने उस समय तक की घटित घटनाएँ इसमें संकलित कर दी हों। इस प्रकार की दो-चार घटनाएँ भूतकाल की क्रिया में लिख देने मात्र से प्रस्तुत आगम गणधरकृत नहीं है, ऐसा कथन उचित प्रतीत नहीं होता।

दश स्थान

प्रथम स्थान में आत्मा, अनात्मा, बन्ध और मोक्ष आदि को सामान्य दृष्टि से एक-एक बताया है। गुण, धर्म एवं स्वभाव की समानता के कारण अनेक भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक कहा है।

द्वितीय स्थान में जीवादि पदार्थों के दो प्रकार गिनाये गये हैं। जैसे—आत्मा के सिद्ध और संसारी। धर्म के सागार और अनगार, श्रुत और चारित्र बंध के राग और द्वेष ये दो प्रकार, वीतराग के उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय ये दो प्रकार। काल के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी, राशि के जीव राशि और अजीव राशि ये दो प्रकार बताये हैं।

तीसरे स्थान में पूर्व की अपेक्षा स्थूलदृष्टि से चिंतन किया गया है। जैसे—दृष्टि तीन—(१) सम्यग्दृष्टि, (२) मिथ्यादृष्टि, (३) मिश्रदृष्टि। वेद तीन—(१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुंसक वेद। लोक तीन—(१) ऊर्ध्वलोक, (२) अधोलोक, (३) मध्यलोक। आहार तीन—सचित्त, अचित्त और मिश्र; आदि प्रकार बताये गये हैं।

चतुर्थ स्थान में अनेक चौभंगियों का उल्लेख है। आचार्य श्रावक आदि का चित्रण उपमा से बताया है। जैसे (१) खजूर—बाहर से मृदु अंदर से कठोर, (२) बादाम—बाहर से कठोर अन्दर से कोमल, (३) सुपारी—अन्दर और बाहर दोनों ओर से कठोर (४) द्राक्षा—बाहर और अन्दर दोनों तरफ मृदु। चार प्रकार के पुरुष हैं :—(१) रूपवान किन्तु गुणहीन (२) गुणवान किन्तु रूपहीन (३) रूप और गुण दोनों से हीन (४) रूप और गुण दोनों से संपन्न। चार प्रकार के कुंभ है—(१) अमृत का कुंभ मुख पर विष (२) विषकुंभ मुख पर अमृत (३) विषकुंभ और विष का ढक्कन (४) अमृतकुंभ और अमृत का ढक्कन।

पंचम स्थान में पाँच बातों पर प्रकाश डाला है। जैसे जीव के पाँच-प्रकार—एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। विषय पाँच—शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श। इन्द्रियाँ पाँच—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्श। अजीव के पाँच प्रकार—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

छठे स्थान में जीवादि पदार्थो की छः संख्या का वर्णन है। जैसे—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस। लेश्या छह—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल।

सातवें स्थान में सात प्रकारों का वर्णन है। जीव के सात प्रकार—सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय। भय सात—इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, आकस्मिक भय, अपयश भय, आजीविका भय, मरण भय, आदि।

आठवें स्थान में आत्मा के आठ प्रकार—द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य। आठ मद—जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, श्रुत, ऐश्वर्य। अष्ट समिति—इर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणासमिति, परिस्थापनासमिति, मनसमिति, वचनसमिति, कायसमिति, आदि।

नवें स्थान में नौ की संख्या का वर्णन है। जैसे—नवतत्त्व, चक्रवर्ती की नवनिधियाँ, पुण्य के नव प्रकार, आदि।

दसवें स्थान में दश की संख्या का वर्णन है। जैसे—धर्म के दश प्रकार—क्षमा, निर्लोभता, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य। दश प्रकार के सुख—शरीर की स्वस्थता, दीर्घायु, आढ्यता, शब्द एवं रूप

का कामसुख, इष्ट गंध-रस और स्पर्शरूप-भोग-सुख, संतोष, आवश्यकता की पूर्ति, सुखयोग, निष्क्रमण, निराबाधसुख मोक्ष। दश प्रकार की क्रोध की उत्पत्ति के कारण, दश आश्चर्य, आदि।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत आगम में स्व-समय, पर-समय व स्व-पर समय दोनों की स्थापना की गई है। संग्रहनय की दृष्टि से जहाँ जीव में एकता का प्रतिपादन किया गया है वहाँ व्यवहारनय की दृष्टि से उसकी भिन्नता बताई गई है। संग्रहनय के अनुसार चैतन्य गुण की अपेक्षा जीव एक है। व्यवहारनय की दृष्टि से हर एक जीव विभेदात्मक होता है। जैसे—ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से उसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। चार गति में परिभ्रमण करने की दृष्टि से चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। पारिणामिक आदि पाँच भावों की दृष्टि से उसे पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं। संसार में संक्रमण के समय पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊर्ध्व अधो इन छः दिशाओं में गमन करने की दृष्टि से छः भागों में विभक्त कर सकते हैं। स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्तिनास्ति, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् अस्तिअवक्तव्य, स्याद् नास्ति-अवक्तव्य, स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इस प्रकार सप्तभंगी की दृष्टि से वह सात भागों में विभक्त किया जा सकता है। आठ कर्मों की दृष्टि से उसे आठ भागों में विभक्त कर सकते हैं। नव पदार्थों में परिणमन करने की अपेक्षा से उसे नौ भागों में विभक्त किया जा सकता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की दृष्टि से वह दश भागों में विभक्त किया जा सकता है।[1]

इस तरह स्थानांग में पुद्गल आदि की एकत्व तथा दो से दश तक की पर्यायों का वर्णन है। पर्यायों की अपेक्षा से एक तत्त्व अनंत भागों में विभक्त हो सकता है और द्रव्य की अपेक्षा से अनंत भाग एक तत्त्व में समा सकते हैं। अभेद और भेद की यह व्याख्या प्रस्तुत आगम में देखी जा सकती है।

□

---

१ कषायपाहुड भाग १, पृ० १२३

४. समवायांग

नाम-बोध

समवायांग का द्वादशांगी में चतुर्थ स्थान है। समवायांग वृत्ति में लिखा है कि इसमें जीव, अजीव आदि पदार्थों का परिच्छेद या समवतार है अत: प्रस्तुत आगम का नाम समवाय या समवाओ है।[1] दिगंबर ग्रन्थ गोम्मटसार के अभिमतानुसार इसमें जीव आदि पदार्थों का सादृश्य-सामान्य से निर्णय लिया गया है अतः इसका नाम समवाय है।[2]

विषय-वस्तु

नंदीसूत्र में समवायांग की विषय-सूची इस प्रकार प्राप्त होती है :—

(१) जीव, अजीव, लोक, अलोक एवं स्व-समय, पर-समय का समवतार।

(२) एक से लेकर सौ तक की संख्या का विकास।

(३) द्वादशांग गणिपिटक का परिचय।[3]

---

१ समिति-सम्यक् अवेत्याधिक्येन अयनमयः—परिच्छेदो जीवाजीवादि विविधपदार्थ-सार्थस्य यस्मिन्नसौ समवायः, समवयन्ति वा—समवसरन्ति सम्मिलन्ति नानाविधा आत्मादयो भावा अभिधेयतया यस्मिन्नसौ समवाय इति।

—समवायांग वृत्ति, पत्र १

२ "सं-संग्रहेण सादृश्यसामान्येन अवेयंते ज्ञायन्ते जीवादिपदार्था द्रव्यकालभावनामाश्रित्य अस्मिन्निति समवायांगम्।

—गोम्मटसार जीवकांड, जीव प्रबोधिनी टीका, गा० ३५६

३ से किं तं समवाए ? समवाए णं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति, जीवाजीवा समासिज्जंति। ससमए समासिज्जइ, परसमए समासिज्जइ, ससमय-परसमए समासिज्जइ। लोए समासिज्जइ, अलोए समासिज्जइ, लोयालोए समासिज्जइ। समवाए णं एगाइयाणं एगुत्तरियाणं ठाणसयं-निवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ। दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जइ।

—नन्दी, सूत्र, ८३

समवायांग में[1] जो समवाय की विषय-सूची दी गई है वह इस प्रकार है :—

(१) जीव, अजीव, लोक, अलोक, स्व-समय और पर-समय का समवतार।

(२) एक से सौ संख्या तक का विकास।

(३) द्वादशांगी गणिपिटक का वर्णन।

(४) आहार (५) उच्छ्वास (६) लेश्या (७) आवास
(८) उपपात (९) च्यवन (१०) अवगाह (११) वेदना
(१२) विधान (१३) उपयोग (१४) योग (१५) इन्द्रिय
(१६) कषाय (१७) योनि (१८) कुलकर (१९) तीर्थंकर
(२०) गणधर (२१) चक्रवर्ती (२२) बलदेव-वासुदेव।

दोनों विषय-सूचियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि नन्दी की सूची संक्षिप्त है और समवायांग की विस्तृत है। संक्षिप्त और विस्तृत सूची की तरह आगम भी संक्षिप्त और विस्तृत हो जाता है। नन्दी और समवायांग में सौ तक एकोत्तरिका वृद्धि होती है, ऐसा स्पष्ट निर्देश है। किन्तु उनमें अनेकोत्तरिका वृद्धि का उल्लेख नहीं हुआ है। नंदी चूर्णि, नंदी हारिभद्रीया वृत्ति, नंदी मलयगिरि वृत्ति, इन तीनों में भी अनेकोत्तरिका वृद्धि का कोई निर्देश नहीं है। समवायांग की वृत्ति में आचार्य अभयदेव ने अनेकोत्तरिका वृद्धि का उल्लेख किया है। उनके अभिमतानुसार सौ तक एकोत्तरिका वृद्धि होती है और उसके बाद अनेकोत्तरिका वृद्धि होती है।[2] ऐसा ज्ञात होता है कि समवायांग के विवरण के आधार पर वृत्तिकार ने यह उल्लेख नहीं किया है किन्तु जो समवायांग में पाठ मिलता है उसके आधार से उन्होंने यह वर्णन किया है।

प्रथम प्रश्न है कि नन्दीसूत्र में जो समवायांग का परिचय दिया गया है क्या उस परिचय से वर्तमान में उपलब्ध समवायांग भिन्न है?

द्वितीय प्रश्न है कि जो वर्तमान में समवायांग है क्या वह देवर्धिगणी

---

१ समवायांग प्रकीर्णक समवाय सूत्र ९२।

२ च शब्दस्य चान्यत्र सम्बन्धादेकोत्तरिका अनेकोत्तरिका च, तत्र शतं यावदेकोत्तरिका परतोऽनेकोत्तरिकेति। —समवायांग वृत्ति, पत्र १०५

क्षमाश्रमण की वाचना का है ? यदि है तो समवायांग के दोनों विवरणों में अन्तर का कारण क्या है ?

उत्तर में निवेदन है कि नन्दी में समवायांग का जो विवरण है उसमें अन्तिम वर्णन द्वादशांगी का है। किन्तु वर्तमान में जो समवायांग है उसमें द्वादशांगी से आगे अनेक विषय प्रतिपादित किये गये हैं अत: नन्दीगत समवायांग के विवरण से यह आकार की दृष्टि से भिन्न है।

द्वितीय प्रश्न का निश्चित रूप से उत्तर देना कठिन है; तथापि यह कहा जा सकता है कि आगमों की वाचनाएँ अनेक हुई हैं। आचार्य अभयदेव ने समवायांग की बृहद् वाचना का उल्लेख अपनी वृत्ति में किया है। इससे यह अनुमान सहज ही किया सकता है कि नन्दी में जो समवाय का परिचय दिया है वह लघु वाचना की दृष्टि से दिया गया हो।

समवायांग के परिवर्धित आकार के सम्बन्ध में विज्ञों ने दो अनुमान किये हैं। वे अनुमान कहाँ तक सत्य हैं यह निश्चित रुप से नहीं कहा जा सकता।

(१) वर्तमान में उपलब्ध समवायाङ्ग देवर्धिगणी की वाचना से पृथक् है।

· (२) या द्वादशांगी के बाद के अंश देवर्धिगणी के संकलन के पश्चात् इसमें मिलाये गये हैं।

यदि प्रस्तुत समवायांग पृथक् वाचना का होता तो इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ अनुश्रुति अवश्य ही मिलनी चाहिए थी। जैसे—ज्योतिष्करंड ग्रन्थ माथुरी वाचना का है पर समवायांग के सम्बन्ध में ऐसी कोई अनुश्रुति नहीं है। अत: प्रथम अनुमान ठीक नहीं है। दूसरे अनुमान के सम्बन्ध में निवेदन है कि भगवतीसूत्र में कुलकर और तीर्थंकर आदि के पूर्ण विवरण के लिए समवायांग के अन्तिम भाग को देखने का सूचन किया गया है।[1] इसी तरह स्थानांगसूत्र में भी बलदेव-वासुदेव के पूर्ण विवरण के लिए समवायांग के अन्तिम भाग को अवलोकनार्थ सूचन किया गया है।[2] इससे स्पष्ट है कि समवायांग में जो परिशिष्ट भाग हैं वे देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के समय में ही जोड़े गये हैं।

---

१ भगवतीसूत्र, श० ५, उ० ५।

२ स्थानांग, ६।१६-२०।

यह एक अन्वेपण का विपय है कि देवर्धिगणी क्षमाश्रमण ने, जो आगमों के संकलनकर्त्ता हैं, समवायांग और नन्दी में समवायांग का विवरण दो प्रकार से क्यों दिया है ?

पूर्व पृष्ठों में हमने विभिन्न वाचनाओं के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। अनेक वाचनाएँ होने से अनेक वाचनान्तर भी प्राप्त होते हैं। संभव है कि ये वाचनान्तर व्याख्यांश अथवा परिशिष्ट मिलाने से हुए हों। विज्ञों ने ऐसी कल्पना की है कि समवायांग में द्वादशांगी का उत्तरवर्ती जो भाग है, वह उसका परिशिष्ट है। परिशिष्ट का विवरण नन्दी की सूची में नहीं दिया गया है और समवायांग की सूची विस्तृत हो गई है। समवायांग के परिशिष्ट भाग में ११ पदों का जो संक्षेप है वह किस दृष्टि से इसमें संलग्न किया गया है यह भी सुधी पाठकों के लिए चिन्तनीय प्रश्न है।[3]

समवायांग का वर्तमान में उपलब्ध पाठ १६६७ श्लोक परिमाण है। इसमें संख्या क्रम से पृथ्वी, आकाश, पाताल तीनों लोकों के जीवादि समस्त तत्त्वों का द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की दृष्टि से एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक परिचय दिया गया है। इसमें आध्यात्मिक तत्त्वों, तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती और वासुदेवों से सम्बन्धित वर्णन के साथ भूगोल-खगोल आदि की सामग्री संकलित की गई है। स्थानांग के समान समवायांग में भी संख्या के क्रम से वर्णन है। कहीं कहीं पर उस शैली को छोड़कर भेदाभेद का वर्णन भी किया है।

समवायांग में द्रव्य की दृष्टि से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि का निरूपण किया गया है। क्षेत्र की दृष्टि से लोक, अलोक, सिद्ध-शिला आदि पर प्रकाश डाला गया है। काल की दृष्टि से समय, आवलिका, मुहूर्त आदि से लेकर पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्गलपरावर्तन एवं चार गति के जीवों की स्थिति आदि पर चिंतन किया है। भाव की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि जीव के भावों का वर्णन है और वर्ण गंध, रस, स्पर्श आदि अजीव भावों का वर्णन भी किया गया है।

समवायांग के प्रथम समवाय में जीव, अजीव आदि तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए, आत्मा, लोक, धर्म, अधर्म आदि को संग्रहनय की दृष्टि से एक-एक बताया गया है। उसके बाद एक लाख योजन की लंबाई चौड़ाई

---

३ अंगसुत्ताणि, भा० १, भूमिका, पृ० ४०-४४।

वाले जंबूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि विमान, एक सागर की स्थिति वाले नारक, देव आदि का विवरण दिया गया है।

दूसरे समवाय में दो प्रकार के दंड—अर्थदण्ड, अनर्थदण्ड, दो प्रकार के बन्ध—रागबन्ध, द्वेपबन्ध। इस प्रकार दो-दो वस्तुओं का उल्लेख है।

तीसरे समवाय में तीन दण्ड—मन, वचन और काया, तीन शल्य, तीन गौरव, तीन प्रकार की विराधना आदि का वर्णन है।

चौथे समवाय में चार कपाय, चार ध्यान, चार विकथा, चार संज्ञा, चार बन्ध, चार पल्योपम व चार सागरोपम आयु वाले नारक और देवताओं का उल्लेख है।

पाँचवें समवाय में पाँच क्रिया, पाँच महाव्रत, पाँच कामगुण, पाँच आस्रव, पांच संवर, पांच समिति, पाँच अस्तिकाय आदि का निरूपण है।

छठे समवाय में छह लेश्या, षट्जीवनिकाय, छह वाह्यतप, छह आभ्यंतर तप आदि का उल्लेख है। प्रस्तुत समवाय के अन्त में यह बताया है कि स्वयंभू, स्वयंभूषण, घोप, सुघोप आदि २० देवों के विमानों की उत्कृष्ट स्थिति छह सागरोपम की है। ये देव छह महीने के पश्चात् बाह्य व आभ्यंतर श्वासोच्छ्वास लेते हैं। इन्हें छह हजार वर्ष व्यतीत होने पर आहार की इच्छा जागृत होती है।

सातवें समवाय में सात प्रकार के भयस्थान, सात समुद्घात आदि का वर्णन है। भगवान महावीर का शरीर सात रत्नि (मूंढ हाथ) प्रमाण ऊंचा था, आदि।

आठवें समवाय में आठ मद स्थान, आठ प्रवचनमाता, आठ समय में केवली समुद्घात, भगवान पार्श्व के आठ गण और आठ गणधरों का उल्लेख है।

नवें समवाय में नव ब्रह्मचर्य गुप्ति, आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययनों का नाम निर्देश किया गया है। भगवान पार्श्वनाथ के शरीर की ऊँचाई नव रत्नि (मूंढ हाथ) प्रमाण थी, आदि।

दसवें समवाय में ज्ञान वृद्धि के लिए अनुकूल मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाआपाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा, मूला, आश्लेपा, हस्त और चित्रा—इन १० नक्षत्रों का उल्लेख किया गया है, आदि।

ग्यारहवें समवाय में ग्यारह उपासक पडिमाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का वर्णन है।

बारहवें समवाय में बारह भिक्षु प्रतिमाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों का उल्लेख है।

तेरहवें समवाय में नष्ट हुए प्राणायुपूर्व की तेरह वस्तु और तेरह प्रकार के चिकित्सा-स्थानों का विश्लेषण है।

चौदहवें समवाय में १४ भूतग्राम, १४ पूर्व, भगवान महावीर के १४ हजार श्रमण आदि का वर्णन है।

पंद्रहवें समवाय में विलुप्त हुए विद्यानुप्रवाद पूर्व की पंद्रह वस्तुओं एवं अन्य विषयों का विश्लेषण है।

सोलहवें समवाय में आत्मप्रवादपूर्व की सोलह वस्तुओं का वर्णन है।

सत्रहवें समवाय में सत्रह प्रकार के मरण व संयम का वर्णन है।

अठारहवें समवाय में श्रमणों के अठारह स्थानों का उल्लेख है।

उन्नीसवें समवाय में उन्नीस तीर्थंकरों का गृहवास में रहकर दीक्षित होना बताया है।

बीसवें समवाय में प्रत्याख्यान पूर्व की २० वस्तुओं पर प्रकाश डाला है।

इक्कीसवें समवाय में २१ प्रकार के दोषों का उल्लेख है।

बाइसवें समवाय में दृष्टिवाद के बाईस सूत्र, छिन्नछेदनय वाले २२ सूत्र, आजीविक की दृष्टि से अच्छिन्नछेदनय वाले २२ सूत्र, त्रैराशिक की दृष्टि से २२ सूत्र, चतुर्नयक स्व-समय की दृष्टि वाले २२ सूत्र बताये गये हैं।

तेईसवें समवाय में भगवान अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर पूर्वभव में ११ अंगधर, मांडलिक राजा थे।

चौवीसवें समवाय में २४ तीर्थंकरों को देवाधिदेव कहा गया है।

पच्चीसवें समवाय में पांच महाव्रतों की २५ भावनाओं आदि पर प्रकाश डाला गया है।

छब्बीसवें समवाय में अभव्य जीव की मोहनीय कर्म की २६ प्रकृतियां सत्ता में मानी गयी हैं।

सत्ताईसवें समवाय में साधु के २७ गुणों का वर्णन किया गया है।

अट्ठाईसवें समवाय में मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियां और मतिज्ञान के २८ भेदों पर प्रकाश डाला है।

उन्तीसवें समवाय में २६ पापश्रुत बताये हैं और आपाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पोप, फाल्गुन और वैशाख इन छह महीनों के २६ दिन होते हैं यह बताया गया है।

तीसवें समवाय में महामोह बन्ध के ३० कारण आदि बताये गये हैं।

इकत्तीसवें समवाय मे सिद्धों के ३१ गुणों का वर्णन है।

बत्तीसवें समवाय में ३२ योग संग्रह और ३२ इन्द्र आदि बताये हैं।

तेतीसवें समवाय में ३३ प्रकार की आशातना, चौतीसवें समवाय में ३४ अतिशय, पैंतीसवें समवाय में तीर्थंकर की वाणी के ३५ अतिशय बताये हैं।

छत्तीसवें समवाय में उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन, सेंतीसवें समवाय में कुंथुनाथ के ३७ गण, गणधर; अड़तीसवें समवाय में भगवान पार्श्व की ३८ हजार श्रमणियाँ, उन्तालीसवें समवाय में भगवान नमिनाथ के ३६ सौ अवधिज्ञानी, चालीसवें समवाय में भगवान अरिष्टनेमि की चालीस हजार श्रमणियाँ थीं, आदि बताये हैं।

इकतालीसवें समवाय में भगवात नमिनाथ की ४१ हजार श्रमणियां। बयालीसवें समवाय में नाम-कर्म के ४२ भेद और भगवान महावीर ४२ वर्ष से कुछ अधिक श्रमण पर्याय पालकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। तेतालीसवें समवाय में कर्म विपाक के ४३ अध्ययन, चवालीसवें समवाय में ऋपि-भापित के ४४ अध्ययन। पैंतालीसवें समवाय में मानवक्षेत्र, सीमंतक नरकवास, उडु विमान और सिद्धशिला इन चारों को ४५ लाख योजन विस्तार वाला बताया है।

छियालीसवें समवाय में ब्राह्मीलिपि के ४६ मातृकाक्षर, सेंतालीसवें समवाय में स्थविर अग्निभूति के ४७ वर्ष तक गृहवास में रहने का वर्णन है। अड़तालीसवें समवाय में भगवान धर्मनाथ के ४८ गण, ४८ गणधर का, उनचासवें समवाय में तेइन्द्रिय जीवों की ४६ अहोरात्र की स्थिति, पचासवें समवाय में भगवान मुनिसुव्रत की ५० हजार श्रमणियाँ थीं, आदि का वर्णन किया गया है।

इक्यावनवें समवाय में ६ ब्रह्मचर्य अध्ययन के ५१ उद्देशनकाल और बावनवें समवाय में मोहनीयकर्म के ५२ नाम बताये हैं। त्रेपनवें समवाय में भगवान महावीर के ५३ साधुओं के एक वर्ष की दीक्षा के पश्चात् अनुत्तर विमान में जाने का वर्णन है। चौवनवें समवाय में भरत और ऐरवत क्षेत्रों

में क्रमशः ५४-५४ उत्तम पुरुष हुए हैं और भगवान अरिष्टनेमि ५४ रात्रि तक छद्मस्थ रहे। भगवान अनंतनाथ के ५४ गणधर थे। पचपनवें समवाय में भगवती मल्लि ५५ हजार वर्ष आयु पूर्ण कर सिद्ध हुई। छप्पनवें समवाय में भगवान विमल के ५६ गण व ५६ गणधर थे। सत्तावनवें समवाय में मल्लि भगवती के ५७०० मनःपर्यवज्ञानी थे। अठावनवें समवाय में ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय इन पांच कर्मों की ५८ उत्तर प्रकृतियाँ वताई हैं। उनसठवें समवाय में चन्द्रसंवत्सर की एक ऋतु ५९ अहोरात्रि की होती है। साठवें समवाय में सूर्य का ६० मुहूर्त तक एक मंडल में रहने का उल्लेख है।

इकसठवें समवाय में एक युग के ६१ ऋतुमास वताये हैं। वासठवें समवाय में भगवान वासुपूज्य के ६२ गण और ६२ गणधर वताये हैं। त्रेसठवें समवाय में भगवान ऋषभदेव के ६३ लाख पूर्व तक राज्य सिंहासन पर रहने के पश्चात् दीक्षा लेने का वर्णन है। चौसठवें समवाय में चक्रवर्ती के बहुमूल्य ६४ हारों का उल्लेख है। पेंसठवें समवाय में गणधर मौर्यपुत्र ने ६५ वर्ष तक गृहवास में रहकर दीक्षा ग्रहण की। छयासठवें समवाय में भगवान श्रेयांस के ६६ गण और ६६ गणधर थे और मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर वताई है। सड़सठवें समवाय में एक युग में नक्षत्रमास की गणना से ६७ मास वताये हैं। ६८वें समवाय में धातकीखंड द्वीप में चक्रवर्ती की ६८ विजय, ६८ राजधानियाँ और उत्कृष्ट ६८ अरिहंत होते हैं तथा भगवान विमल के ६८ हजार श्रमण थे। उनहत्तरवें समवाय में मानवलोक में मेरु के अतिरिक्त ६९ वर्ष और ६७ वर्षधर पर्वत हैं। सत्तरवें समवाय में एक मास २० रात्रि व्यतीत होने पर और ७० रात्रि अवशेष रहने पर भगवान महावीर ने वर्षावास किया, इसका वर्णन है। परंपरा से वर्षावास का अर्थ संवत्सरी करते हैं।

इकहत्तरवें समवाय में भगवान अजित और चक्रवर्ती सगर ७१ लाख पूर्व तक गृहवास में रहे और फिर दीक्षित हुए। वहत्तरवें समवाय में भगवान महावीर की और उनके गणधर अचलभ्राता की ७२ वर्ष की आयु वताई है और ७२ कलाओं का भी उल्लेख है। तिहत्तरवें समवाय में विजय नामक वलदेव ७३ लाख पूर्व की आयु पूर्ण करके सिद्ध हुए। चौहत्तरवें समवाय में गणधर अग्निभूति ७४ वर्ष का आयु भोगकर सिद्ध हुए। पिचहत्तरवें समवाय में भगवान सुविधि के ७५ सौ केवली थे, भगवान शीतल

७५ लाख पूर्व और भगवान शान्ति ७५ हजार वर्ष गृहवास में रहे। छिहत्तरवें समवाय में विद्युत्कुमार आदि भवनपति देवों के ७६-७६ भवन वताये हैं। सतहत्तरवें समवाय में सम्राट् भरत ७७ लाख पूर्व तक कुमारावस्था में रहे और ७७ राजाओं के साथ उन्होंने संयम-मार्ग ग्रहण किया। अठहत्तरवें समवाय में गणधर अकंपित ७८ वर्ष की आयु में सिद्ध हुए। उनासीवें समवाय में छठी नरक के मध्यभाग से छठे घनोदधि के नीचे के चरमान्त तक ७६ हजार योजन विस्तार है। अस्सीवें समवाय में त्रिपृष्ठ वासुदेव ८० लाख वर्ष तक सम्राट पद पर रहे।

इक्यासीवें समवाय में भगवान कुन्थु के ८१ सौ मनःपर्यवज्ञानी थे। वयासीवें समवाय में ८२ रात्रियाँ व्यतीत होने पर श्रमण महावीर का जीव गर्भान्तर में साहरण किया गया। तिरासीवें समवाय में भगवान शीतल के ८३ गण और ८३ गणधर थे। चौरासीवें समवाय में भगवान ऋषभदेव की ८४ लाख पूर्व की आयु, भगवान श्रेयांस की ८४ लाख वर्ष की आयु थी। ऋषभदेव के ८४ गण, ८४ गणधर और ८४ हजार श्रमण थे। पिचासीवें समवाय में आचारांग के ८५ उद्देशनकाल वताये हैं। छियासीवें समवाय में भगवान सुविधि के ८६ गण, ८६ गणधर वताये हैं और भगवान सुपार्श्व के ८६ सौ वादी थे। सत्तासीवें समवाय में ज्ञानावरणीय और अन्तराय कर्म को छोड़कर शेष छह कर्मों की ८७ उत्तर प्रकृतियाँ वतलाई हैं। अठासीवें समवाय में प्रत्येक सूर्य और चन्द्र के ८८-८८ महाग्रह बताये हैं। नवासीवें समवाय में तृतीय आरे के ८६ पक्ष अवशेष रहने पर भगवान ऋषभ मोक्ष पधारे और भगवान शान्ति के ८६ हजार श्रमणियाँ थीं। नव्वेवें समवाय में भगवान अजित और भगवान शान्ति इन दोनों तीर्थंकरों के ६०-६० गण और ६०-६० गणधर थे।

इक्यानवेवें समवाय में भगवान कुन्थु के ६१ हजार अवधिज्ञानी श्रमण थे। ६२वें समवाय में गणधर इन्द्रभूति ६२ वर्ष की आयु पूर्ण कर मुक्त हुए। ६३वें समवाय में भगवान चन्द्रप्रभ के ६३ गण और ६३ गणधर थे और भगवान शान्ति के ६३ सौ चतुर्दश पूर्वधर थे। ६४वें समवाय में भगवान अजित के ६४ सौ अवधिज्ञानी श्रमण थे। ६५वें समवाय में भगवान श्री पार्श्व के ६५ गण और ६५ गणधर थे और भगवान कुन्थु का ६५ हजार वर्ष का आयु था। ६६वें समवाय में प्रत्येक चक्रवर्ती के ६६ क्रोड गाँव होते हैं। ६७वें समवाय में आठ कर्मों की ६७ उत्तर प्रकृतियाँ हैं। ६८वें समवाय

में रेवती से ज्येष्ठा पर्यन्त के १९ नक्षत्रों के ९८ तारे हैं। ९९वें समवाय में मेरु पर्वत भूमि से ९९ हजार योजन ऊँचा है। १००वें समवाय में भगवान पार्श्व की और गणधर सुधर्मा की आयु १०० वर्ष थी।

सौ समवायों की संख्या के बाद क्रमशः १५०-२००-२५०-३००-३५०-४००-४५०-५०० यावत् १०००, ११०० से २००० से १०००० से १ लाख से ८ लाख और करोड़ की संख्या वाली विभिन्न वस्तुओं का उनकी संख्या के अनुसार पृथक्-पृथक् समवायों में संकलनात्मक विवरण दिया है।

कोटि समवाय में भगवान महावीर के तीर्थंकर भव से पहले छठे पोट्टिल के भव में एक करोड़ वर्ष का श्रामण्य पर्याय बताया है। उसके पश्चात् कोटाकोटि समवाय में भगवान ऋषभ से भगवान महावीर के बीच का अन्तर एक कोटाकोटि सागर बताया है। उसके बाद द्वादशांगी का गणिपिटक के नाम से परिचय दिया है। तत्पश्चात् समवसरण का वर्णन, जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र की उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के कुलकरों का वर्णन है और वर्तमान अवसर्पिणी के कुलकर और उनकी पत्नियों का वर्णन है। तदनन्तर वर्तमान अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थंकरों का संक्षेप में महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। तीर्थंकरों के अतिरिक्त उनके माता-पिता, तीर्थंकरों के पूर्वभवों के नाम, उनकी शिविकाएँ, जन्मस्थलियाँ, देवदूष्य, दीक्षा, दीक्षा साथी, दीक्षातप, प्रथम भिक्षा प्रदान करने वाला, प्रथम भिक्षा व भिक्षा में मिला हुआ पदार्थ, उनके चैत्यवृक्ष व उनकी ऊँचाई, उनके प्रथम शिष्य व शिष्याएँ—इन सब बातों के संबंध में विवरण दिया गया है। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव का परिचय भी दिया है। प्रतिवासुदेवों के नाम दिये हैं, किन्तु उन्हें महापुरुषों में परिगणित नहीं किया है।

तत्पश्चात् जंबूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र के तीर्थंकर, भरत क्षेत्र में होने वाले आगामी उत्सर्पिणी काल के कुलकर, ऐरवत के दस कुलकर एवं भरत व ऐरवत के आगामी उत्सर्पिणी काल में होने वाले २४ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव-वासुदेव के संबंध में जानकारी दी गई है और प्रतिवासुदेव के नाम निर्दिष्ट किये हैं। सूत्र के अन्त में प्रस्तुत सूत्र की संक्षिप्त विषय सूची भी दी गई है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि समवायांग में जिज्ञासु साधकों के लिए व अन्वेषणकर्ताओं के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकलन किया गया है।

वस्तु विज्ञान, जैनसिद्धान्त व जैन इतिहास की दृष्टि से यह आगम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक चिन्तक समवायांग में आये हुए गणधर गौतम की ९२ वर्ष की आयु व गणधर सुधर्मा की १०० वर्ष की आयु को पढ़कर यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि समवायांग की रचना सुधर्मा के मोक्ष जाने के पश्चात् हुई है। उनके तर्क के समाधान में हम यह नम्र निवेदन करना चाहेंगे कि इन गणधरों की स्थिति के सम्बन्ध में कहीं भ्रम न हो जाय अतः देवर्धिगणी क्षमाश्रमण ने संकलन करते समय इसमें जोड़ा है। शेष समवाय तो गणधर-कृत ही है जैसा कि स्थानांग के परिचय में हमने स्पष्ट किया है।

□

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र)

नामकरण

द्वादशांगी में व्याख्याप्रज्ञप्ति का पाँचवाँ स्थान है। प्रश्नोत्तर शैली में लिखा होने से प्रस्तुत आगम का नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। समवायांग[1] और नन्दी[2] में लिखा है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में ३६ हजार प्रश्नों का व्याकरण है। दिगम्बर ग्रन्थ तत्त्वार्थवार्तिक,[3] षट्खंडागम[4] और कषायपाहुड[5] में लिखा है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में ६० हजार प्रश्नों का व्याकरण (कथन) है। इसका प्राकृत नाम 'वियाहपण्णति' है। प्रतिलिपिकारों ने विवाहपण्णति और वियाहपण्णति दिया है किन्तु वृत्तिकार आचार्य अभयदेव ने वियाहपण्णति का अर्थ करते हुए लिखा है कि गौतमादि शिष्यों को उनके प्रश्नों के उत्तर में भगवान महावीर ने अत्युत्तम विधि से जो विविध विषयों का विवेचन किया है वह सुधर्मास्वामी द्वारा अपने शिष्य जम्बू को प्ररूपित किया गया 'जिसमें विशद विवेचन किया गया हो वह व्याख्या-प्रज्ञप्ति है।'[6]

---

१ समवायांग, सूत्र ९३।
२ नन्दी सूत्र ८५।
३ तत्त्वार्थवार्तिक १।२०।
४ षट्खंडागम, खण्ड १, पृ० १०१।
५ कषायपाहुड, प्रथम खण्ड, पृ० १२५।
६ (क) "वि-विविधा, आ-अभिविधिना, ख्या-ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादीन् विनेयान् प्रति प्रश्नित पदार्थ प्रतिपादनानि व्याख्याः ताः प्रज्ञाप्यन्ते, भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।"
(ख) वियाह-प्रज्ञप्ति—अर्थात् जिसमें विविध प्रवाहों की प्रज्ञापना की गई है—वह वियाहपण्णत्ति है।
(ग) इसी प्रकार 'विवाहपण्णत्ति' शब्द की व्याख्या में लिखा है—'वि-बाधा-प्रज्ञप्ति' अर्थात् जिसमें निर्बाध रूप से अथवा प्रमाण से अबाधित निरूपण किया गया है वह विवाहपण्णत्ति है।

विषय-वस्तु

अन्य आगमों की अपेक्षा प्रस्तुत आगम अधिक विशाल है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी इसमें विविधता है। विश्व-विद्या की ऐसी कोई भी अभिधा नहीं है जिसकी प्रस्तुत आगम में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में चर्चा न की गई हो। इस आगम के प्रति जनमानस में अत्यधिक श्रद्धा रही है जिसके फलस्वरूप व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व भगवती यह विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षों से तो भगवती यह विशेषण न रहकर स्वतंत्र नाम हो गया है। वर्तमान में व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा भगवती नाम अधिक प्रचलित है।[१]

समवायांग में[२] बताया गया है कि अनेक देवताओं, राजाओं व राजर्षियों ने भगवान से नाना प्रकार के प्रश्न पूछे। भगवान ने उन सभी प्रश्नों का विस्तार से उत्तर दिया। इसमें स्वसमय-परसमय, जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि की व्याख्या की गई है। आचार्य अकलंक[३] के अभिमतानुसार प्रस्तुत आगम में 'जीव है या नहीं' इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का निरूपण किया गया है। आचार्य वीरसेन[४] का कथन है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रश्नोत्तरों के साथ ही साथ ९६ हजार छिन्नछेदनयों[५] से ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन है।

प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध, १०१ अध्ययन, १० हजार उद्देशन-काल, १० हजार समुद्देशनकाल, ३६ हजार प्रश्न और उनके उत्तर, २८८००० पद और संख्यात अक्षर हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन परिधि में अनंत गम, अनंत पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते हैं।

---

१ महायान बौद्धों में प्रज्ञापारमिता जो ग्रन्थ है उसका अत्यधिक महत्व है अतः अष्ट प्राहसिका प्रज्ञापारमिता का अपर नाम भगवती मिलता है।
—देखिये—शिक्षा समुच्चय, पृ० १०४-११२

२ समवायांग सूत्र ९३।

३ तत्त्वार्थ वार्तिक १।२०।

४ कषायपाहुड, भा० १, पृ० १२५।

५ वह व्याख्या पद्धति, जिसमें प्रत्येक श्लोक और सूत्र की स्वतंत्र व्याख्या की जाती है और दूसरे श्लोकों और सूत्रों से निरपेक्ष व्याख्या भी की जाती है। वह व्याख्या पद्धति छिन्नछेदनय के नाम से पहिचानी जाती है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन, शतक के नाम से विश्रुत हैं। वर्तमान में इसके १३८ शतक और १९२५ उद्देशक प्राप्त होते हैं। प्रथम ३२ शतक पूर्ण स्वतन्त्र हैं। ३३ से ३९ तक के सात शतक १२-१२ शतकों के समवाय हैं। ४०वाँ शतक २१ शतकों का समवाय है। ४१वाँ शतक स्वतंत्र है। कुल मिलाकर १३८ शतक होते हैं। इनमें ४१ मुख्य तथा शेष अवान्तर शतक हैं।

शतकों का परिचय

प्रथम शतक में चलन आदि दश उद्देशक हैं। प्रारम्भ में नमस्कार मंत्र, ब्राह्मी लिपि व श्रुत को नमस्कार करके मंगलाचरण किया है। प्रश्नोत्थान में भगवान महावीर और गौतम का संक्षेप में परिचय प्रदान किया गया है। उसके बाद चलित आदि नौ प्रश्न, २४ दंडक के आहार, स्थिति, श्वासोच्छ्‌वास, काल का विचार, आत्मारंभ आदि संवृत्त और असंवृत्त अनगार और असंयत के देवगति का कारण बताया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवान ने जीवों के छह निकाय बताये हैं। उनमें त्रस निकाय के जीव तो प्रत्यक्ष हैं। अब विज्ञान द्वारा वनस्पतिकाय में जीव प्रत्यक्ष माना जाने लगा है। किन्तु पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु इन चार निकायों में विज्ञान द्वारा जीव स्वीकृत नहीं हुए हैं। भगवान महावीर ने पृथ्वी आदि जीवों का केवल अस्तित्व ही नहीं माना है किन्तु इनका जीवनमान, आहार, श्वास, चैतन्य-विकास, संज्ञाएँ आदि विषयों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। पृथ्वीकाय के जीवों का कम से कम जीवनकाल अंतर्मुहूर्त का है और उत्कृष्ट जीवनकाल २२ हजार वर्ष का। ये जीव निश्चित क्रम से श्वास नहीं लेते। कभी एक समय में और कभी अधिक समय में इनका श्वासोच्छ्‌वास होता है। उनमें आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है। ये प्रतिपल, प्रतिक्षण आहार ग्रहण करते हैं। उनमें चैतन्य को प्रगट करने वाली स्पर्श इन्द्रिय स्पष्ट है किन्तु अन्य इन्द्रियाँ नहीं।[1]

जिस प्रकार मानव श्वास लेते समय प्राणवायु का ग्रहण करता है, वैसे ही पृथ्वीकाय के जीव श्वास लेते समय वायु के साथ ही पृथ्वी, पानी, अग्नि और वनस्पति के पुद्गल भी ग्रहण करते हैं।[2]

---

१ भगवती १।१।३२

२ भगवती ८।३४।२५३-२५४

पृथ्वी के समान पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के जीव श्वास लेते हैं, निश्वास छोड़ते हैं और आहारादि ग्रहण करते हैं। आधुनिक विज्ञान ने वनस्पतिकाय के जीवों पर तलस्पर्शी अनुशीलन व परिशीलन कर उनके रहस्यों को प्रगट किया है किन्तु पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के जीवों पर पर्याप्त शोध नहीं हुई है। वनस्पति क्रोध और प्रेम भी प्रदर्शित करती है। स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार से वह पुलकित हो जाती है और घृणा-पूर्ण दुर्व्यवहार से वह मुरझा जाती है। विज्ञान के प्रस्तुत परीक्षण का भगवान महावीर के इस सिद्धान्त से समर्थन होता है। उन्होंने वनस्पति में दश संज्ञाएं मानी हैं; आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा, लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा। इन संज्ञाओं का अस्तित्व रहने से वनस्पति आदि वही व्यवहार अस्पष्ट रूप से करती हैं जो मानव स्पष्टरूप से करता है।

इस प्रकार ऐसे सैकड़ों विषय प्रस्तुत आगम में प्रतिपादित हैं, जिन्हें सामान्य बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। कुछ विषय तो आधुनिक विज्ञान में भी नूतन शोधों द्वारा ग्राह्य हो चुके हैं और अन्य विषय आधुनिक शोध की प्रतीक्षा में हैं।

इस शतक में आगे स्वकृत दुःख का वेदन, उपपात के असंयत आदि १३ बोल, कांक्षा मोहनीय आदि २४ दण्डकों के आवास, स्थिति आदि स्थान, सूर्यलोक, अलोक, क्रिया, महावीर और रोहक के प्रश्नोत्तर, लोक स्थिति में मशक का रूपक, जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में सछिद्र नौका का रूपक जीवादि का गुरुत्व-लघुत्व विचार, सामायिक आदि पदों के अर्थ, उपपात, विरह प्रभृति अनेक बातों का वर्णन है।

द्वितीय शतक में श्वासोच्छ्वास का विचार, स्कन्धक परिव्राजक के लोक एवं मरण सम्बन्धी प्रश्न और भगवान महावीर के द्वारा उसका समाधान व भगवान के पास उसका प्रव्रजित होना, तुंगिया के श्रावकों द्वारा पार्श्वापत्यों से प्रश्नोत्तर, समुद्घात, सात पृथ्वियाँ, इन्द्रियों का विचार, उदक गर्भ विचार, तिर्यक्-मानुषी गर्भ, एक जीव के पिता-पुत्र का उत्कृष्ट परिमाण आदि का वर्णन है।

तृतीय शतक में तामली तापस की उत्कृष्ट तपःसाधना का वर्णन है। चमरेन्द्र के पूर्वभव में वह पूर्ण नामक तापस था। उसका सौधर्म देवलोक में

जाना और श्रमण भगवान महावीर की शरण में आकर अपने प्राणों को बचाना आदि का वर्णन है। क्रिया, विचार, अनगार वैक्रिय, लोकपाल और उनके कार्यों का उल्लेख है।

चतुर्थ शतक में ईशान लोकपाल, नैरयिक उपपात, लेश्या, पद आदि का निरूपण है।

पांचवें शतक में नारदपुत्र और निर्ग्रन्थी पुत्र का संवाद आदि है।

छठे शतक में वेदना का वर्णन है। नरक में महावेदना होने पर भी अल्पनिर्जरा होती है और कितने ही स्थानों में अल्पवेदना होने पर महानिर्जरा होती है। निर्जरा के लिए कर्दमराग और खंजनराग के वस्त्र का उदाहरण दिया गया है। सूखे घास व अग्नि और तप्त तवे पर जलबिंदु जैसे क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है वैसे ही श्रमण के कर्म संयम साधना के तप रूप अग्नि से नष्ट हो जाते हैं। अल्पवेदन और महानिर्जरा के उदाहरण सहित चौभंगी प्रस्तुत की गई है। मुहूर्त के श्वासोच्छ्वास और कालमान का आवलिका से उत्सर्पिणी अवसर्पिणी तक वर्णन है।

सातवें शतक में आहारक, अनाहारक, कर्म की गति, प्रत्याख्यान के भेद और स्वरूप, साता-असाता के बन्ध के कारण, महाशिला कंटक और रथमूसल संग्राम का वर्णन, वरुणनाग का अभिग्रह और दिव्य देवगति आदि का वर्णन है।

आठवें शतक में पुद्गल, आशीविष, ज्ञानलब्धि, श्रमणोपासक के ४६ भांगे, श्रावक और आजीविक उपासक के साथ तुलना, तीन प्रकार के दान, आचार्य आदि के प्रत्यनीक और बन्ध आदि का वर्णन है।

नवें शतक में असोच्चा केवली, गांगेय अणगार के भांगे, ऋषभदत्त और देवानन्दा ब्राह्मणी और जमालि के बोध आदि का वर्णन है।

दसवें शतक में दिशा संवृत अधिकार, उत्तर, अन्तरद्वीप आदि का वर्णन है।

ग्यारहवें शतक में शिवराज ऋषि का उल्लेख है जो हस्तिनापुर के निवासी थे। उन्होंने दिशा-प्रोक्षक तापसों की दीक्षा ग्रहण की थी और आगे चलकर वे महावीर के शिष्य बने। सुदर्शन श्रेष्ठी ने काल के सम्बन्ध में जिज्ञासाएं प्रस्तुत कीं और भगवान ने उत्तर दिया। महाबल का और आलंभिका के इसीभद्र पुत्र का वर्णन है। और परिव्राजक श्रमण भगवान महा-

वीर के पास श्रमण वनकर मोक्ष प्राप्त करते हैं; इस पर प्रकाश डाला गया है।

वारहवें शतक में श्रावस्ती के शंख एवं पोक्खली श्रावकों के सामूहिक रूप से खा-पीकर पाक्षिक पौषध करने का उल्लेख है। श्रमणोपासिका जयन्ती भगवान महावीर से प्रश्न करती है—'भन्ते! जीव शीघ्र ही गुरुत्व को कैसे प्राप्त होता है?' महावीर ने फरमाया—'जयन्ती! प्राणातिपात आदि १८ दोषों का सेवन करने से जीव गुरुत्व को प्राप्त होता है और उसकी निवृत्ति से जीव लघुत्व को प्राप्त होता है।'

जयन्ती—भगवन्! मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता जीव को स्वभाव से प्राप्त होती है या परिणाम से?

महावीर—मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता जीव में स्वभाव से होती है, परिणाम से नहीं।

जयन्ती—भन्ते! जीव सोता हुआ अच्छा है या जागता हुआ?

महावीर—कितने ही जीवों का सोना अच्छा है, और कितने ही जीवों का जागना अच्छा है। जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्म में आसक्त हैं उनका सोना अच्छा है और जो जीव धार्मिक हैं उनका जागना अच्छा है, क्योंकि धार्मिक जागकर धर्म की प्रवृत्ति करता है और अधार्मिक जागकर स्वयं व दूसरे जीवों के लिए ऐसी प्रवृत्ति करता है जिससे कर्मबन्धन होता है आदि।

राजा उदयन भगवान महावीर के कौशांबी पधारने पर अत्यन्त आल्हाद के साथ दर्शनार्थ जाता है। इस शतक में सात पृथ्वियां, पुद्गल-परावर्तन पर विचार, रूपी-अरूपी पर चिन्तन, लोक व आठ प्रकार की आत्मा का वर्णन है।

तेरहवें शतक में सात पृथ्वियों में नारक जीवों की उत्पत्ति, भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों का वर्णन, नारक का आहार, राजा उदयन की दीक्षा का विचार और अपने पुत्र अभीचिकुमार के हितार्थ केशी का राज्याभिषेक, अभीचिकुमार का मनोमालिन्य और सम्राट कूणिक के पास उसका गमन, अभीचिकुमार का श्रावक धर्म ग्रहण व विना आलोचना किए मरण जिससे असुर योनि में उत्पत्ति आदि का वर्णन है। प्रस्तुत शतक में भाषा, मन, काय और मरण पर चिन्तन किया गया है और कर्म प्रकृति, श्रमण की विक्रिया और समुद्घात पर प्रकाश डाला है।

चौदहवें शतक में भावितात्मा अणगार देवलोक में उत्पन्न होते हैं। नैरयिकों की गति, आयुबन्ध, गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति न होने पर उदासी, भगवान का आश्वासन, अंबड परिव्राजक का वर्णन है और इसी शतक में केवली के ज्ञान का निरूपण भी किया गया है।

पन्द्रहवें शतक में गोशालक का विस्तार से परिचय दिया गया है। गोशालक भगवान महावीर के द्वितीय वर्षावास में आता है और छह वर्ष तक भगवान के साथ एक ग्राम से दूसरे ग्राम विचरण करता है। तिल के पौधे को देखकर वह भगवान से जिज्ञासा प्रस्तुत करता है और भगवान के उत्तर को सुनकर वह नियतिवाद की ओर आकर्षित होता है। भगवान से वह तेजोलेश्या की प्राप्ति का उपाय आदि पूछता है। उसके अन्तिम जीवन का भी वर्णन यहाँ दिया गया है।

सोलहवें शतक में अधिकरण, जरा, शोक, अवग्रह, शक्रेन्द्र की भाषा, कर्म-क्रिया विचार, निर्जरा के कारण, गंगदेव, स्वप्न विचार, उपयोग, लोक, वलि इन्द्र, अवधिज्ञान, द्वीपकुमार आदि का वर्णन है।

सत्रहवें शतक में राजा उदायी के हाथी का वर्णन है। वह मरकर कहाँ जायगा इसका भी उल्लेख किया गया है। क्रियाओं पर चिन्तन करते हुए बताया है कि किन जीवों को कितनी क्रियाएँ लगती हैं। औदयिक, क्षायोपशमिक आदि भावों का वर्णन है। धर्मी, अधर्मी और धर्माधर्मी का वर्णन करते हुए कहा है कि जिसने पूर्ण प्राणातिपात आदि पापकर्म का प्रत्याख्यान किया है वह धर्मी है, जिसने पापकर्म का प्रत्याख्यान नहीं किया है वह अधर्मी है और जिसने कुछ त्याग किया है, कुछ नहीं किया है वह धर्माधर्मी है। इसी प्रकार जीव के पंडित, वाल और वालपंडित भेद किये हैं। शैलेशी प्राप्त अनगार की निष्कंपता, चलने के (कम्पन के) प्रकार, संवेग आदि धर्म का अन्तिम फल मोक्ष बताया है। आत्मा की स्पृष्ट क्रिया के सम्बन्ध में कहा है कि आत्मा कर्म द्वारा स्पृष्ट की जाती है। दुःख और सुख आत्मकृत हैं, परकृत है या उभयकृत है—इसका समाधान करते हुए भगवान ने कहा—दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं और न उभयकृत है। ईशानेन्द्र की सुधर्मसभा का वर्णन किया गया है और नरकस्थ पृथ्वीकायिक, ऊर्ध्वलोक पृथ्वीकायिक, अप्काय, वायुकाय आदि जीवों के मरण समुद्घात का वर्णन है। इसी प्रकार नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युतकुमार, वायुकुमार और अग्निकुमार जाति के देवों का वर्णन है।

अठारहवें शतक में जीव प्रथम है या अप्रथम, इस पर विचार करते हुए २४ दण्डक और सिद्ध जीवों के सम्बन्ध में कहा गया है। पश्चात् शैलेशी आदि प्रथम हैं या अप्रथम, योग-उपयोग आदि के प्रथम-अप्रथम और चरम व अचरम के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। शक्रेन्द्र का पूर्वभव बताते हुए कार्तिक श्रेष्ठि का प्रसंग दिया गया है। वह तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय हुए, उन्होंने भगवान मुनिसुव्रत के उपदेश को श्रवण कर वैराग्य भावना से उत्प्रेरित होकर एक हजार आठ श्रेष्ठियों के साथ दीक्षा ग्रहण की और उग्र तप कर अन्त में एक मास की संलेखना से आयु पूर्ण कर शक्रेन्द्र हुए हैं।

माकंदीपुत्र स्थविरों से प्रश्न करते हैं कि क्या पृथ्वीकाय के जीव मनुष्य होकर मुक्त होंगे? भगवान ने कहा है कि वे मुक्त हो भी सकते हैं। द्रव्य और भाव बन्ध पर चिन्तन किया गया है, और पापकर्म के भेद पर भी प्रकाश डाला है। प्राणातिपात, प्रवृत्ति-निवृत्ति और जीव, भोग, कृतादि युग्म-चतुष्क, देव की सुन्दरता-असुन्दरता, महाकर्म-अल्पकर्म, विकुर्वणा सरल या वक्र, निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से गीले गुड़ में कितने वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं, भ्रमर में कितने वर्ण-गंधादि होते हैं? परमाणु और स्कन्ध में कितने वर्णादि होते हैं आदि प्रश्नों का समाधान किया गया है। केवली भगवान यक्ष से आवेष्टित होते हैं या नहीं? उत्तर में बताया है—नहीं होते। उपधि के कर्म, शरीर और बाह्य भंडमात्रोपकरण ये तीन प्रकार बताये हैं। इसी प्रकार परिग्रह के भी तीन प्रकार बताये हैं। मन, वचन और काया के योग को किसी पदार्थ में स्थिर करना प्रणिधान है, वह २४ दंडकों में पाया जाता है। इस पर विचार किया है। मद्दुक श्रावक, जो बहुत ही प्रतिभासम्पन्न था, जिसके अकाट्य तर्कों ने अन्य तीर्थिकों को निरुत्तर कर दिया था, उसका उल्लेख है। वैक्रिय से बनाये हुए हजारों शरीर में एक ही आत्मा होती है। देवासुर संग्राम, साधु के पाँव से यदि कुर्कुट मर जाय तो कितनी क्रियाएं लगती हैं। अन्य तीर्थिकों से गौतम का संवाद और भगवान महावीर के द्वारा गौतम की प्रशंसा। गौतम के द्वारा भगवान से यह प्रश्न कि परमाणु पुद्गल को छद्मस्थ जानता है या नहीं? भव्य द्रव्य नैरयिक के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर, भावितात्मा अनगार की वैक्रियक शक्ति, वायु से परमाणु स्पृष्ट है या नहीं, मशक वायु से स्पृष्ट है या नहीं आदि की चर्चा की गई है। सोमिल ब्राह्मण भगवान के पास आता है, वह यात्रा, यापनीय, अव्याबाध, प्रासुक विहार, 'सरिसव' भक्ष्य या अभक्ष्य,

'मास' भक्ष्य या अभक्ष्य, 'कुलत्थ' भक्ष्य या अभक्ष्य, इस प्रकार के अनेक प्रश्न करता है। भगवान से समाधान पाकर वह श्रावकधर्म ग्रहण करता है।

उन्नीसवें शतक में लेश्या, गर्भ, पृथ्वीकाय के जीव, अप्कायादि के साधारण शरीर, स्थावर जीवों की अवगाहना, सूक्ष्मता, बादरता, विशालता बताते हुए चक्रवर्ती की दासी का दृष्टान्त देकर यह प्रतिपादन किया है कि वह २१ बार कठोर शिला पर मजबूत पत्थर से पृथ्वीकाय के पिंड को पीसती है तो कुछ जीवों का पत्थर से स्पर्श होता है, कुछ का नहीं होता, कुछ मरते हैं, कुछ नहीं मरते, इतना सूक्ष्म शरीर होता है पृथ्वीकाय के जीवों का। इसके आगे नैरयिक के महाआस्रव आदि चतुष्क व चरम, परम नैरयिक के कर्म और क्रिया आदि, द्वीप-समुद्र, देव, आवास, जीव, निवृत्ति, आदि करण के भेद, देवों का आहार आदि पर चिन्तन किया गया है।

बीसवें शतक में विकलेन्द्रिय के एवं पंचेन्द्रिय के शरीर, लोक और अलोकाकाश, पंचास्तिकाय के अभिवचन (पर्यायवाची) आत्मपरिणत धर्म, पाप वृद्ध्यादि, इन्द्रिय, उपचय, परमाणु, स्कन्ध के वर्ण आदि का वर्णन है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से परमाणुओं का वर्णन किया गया है और आगे जीव उत्पत्ति के पूर्व आहार ग्रहण करता है या पश्चात् करता है। बंध के तीन प्रकार बताये हैं, जीव के प्रयोगबन्ध, अनन्तरबन्ध और परम्परबन्ध और उसका विस्तार से निरूपण किया है। उसके पश्चात् कर्मभूमि, अकर्मभूमि में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर पाँच भरत, पाँच ऐरवत में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों काल हैं किन्तु पाँच महाविदेह क्षेत्रों में अवस्थित काल बताया है। वहाँ पर हमेशा तीर्थंकर होते हैं जो चतुर्याम-धर्म का उपदेश देते हैं। भरत में २४ तीर्थंकर होते हैं, उनमें प्रथम आठ और अन्तिम आठ के अन्तरकाल में कालिकश्रुत का विच्छेद नहीं होता किन्तु मध्य के सात तीर्थंकरों के अन्तरकाल में कालिकश्रुत का विच्छेद हुआ और दृष्टिवाद का विच्छेद तो सभी जिनान्तरों में हुआ है। गौतम ने भगवान से पूछा कि आपका पूर्वगत श्रुत और तीर्थ कितने काल तक रहेगा? भगवान ने पूर्वगत श्रुत एक हजार वर्ष और तीर्थ २१ हजार वर्ष तक रहने का बताया। तीर्थ और तीर्थंकर के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया। विद्याचारण और जंघाचारण मुनियों की तीव्रगति का विस्तार से निरूपण किया गया है। सोपक्रम,

निरुपक्रम आयुष्य के प्रकारों पर प्रकाश डाला है। नरक आदि स्थानों में एक समय में कितने जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध भंगों की दृष्टि से वर्णन किया गया है।

इक्कीसवें शतक में शालि, व्रीहि, गेहूँ, यव इन धान्यों के मूल में जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल और पत्र के सम्बन्ध में भी प्रश्न किये गये हैं और अन्य वनस्पतियों के सम्बन्ध में भी।

बाईसवें शतक में ताल, तमाल, आदि वृक्षों के सम्बन्ध में एक बीज वाले, बहुत बीज वाले, गुच्छ, गुल्म, वल्लि आदि के सम्बन्ध में निरूपण है।

तेईसवें शतक में बटाटा (आलू) आदि वनस्पति के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।

चौबीसवें शतक में २४ दंडकों के उपपात, परिमाण, संहनन, ऊँचाई, संस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान-अज्ञान, योग, उपयोग, संज्ञा, कषाय, इन्द्रिय, समुद्घात, वेदना, वेद, आयुष्य, अध्यवसाय, अनुबन्ध और काय-संवेध इन बीस द्वारों का विवेचन किया गया है।

पच्चीसवें शतक में लेश्या और योग का अल्पबहुत्व की दृष्टि से विचार किया गया है। उसके पश्चात् द्रव्य के जीव और अजीव दो भेदों का वर्णन है। उसके बाद संस्थान, गणिपिटक, अल्पबहुत्व, युग्म और पर्याय, कालपर्यव, दो प्रकार के निगोद, पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का और पाँच प्रकार के संयम का ३६-३६ द्वारों से वर्णन किया है। दश प्रतिसेवना, दश आलोचना के दोष, दश आलोचना योग्य व्यक्ति, दश समाचारी, दश प्रायश्चित और बारह प्रकार के तप के भेदों का विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् समुच्चय भव्य, अभव्य, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि आदि नारक जीवों की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

छब्बीसवें शतक में जीव के लेश्या बन्ध आदि का विचार किया है। अनन्तरोपपन्न, परम्परोपपन्न, अनन्तरावगाढ़ परम्परावगाढ़, अनन्तराहारक, परम्पराहारक, अनन्तरपर्याप्त, परम्परपर्याप्त, चरम और अचरम आदि का २४ दंडक के जीवों में बन्ध कहा गया है।

सत्ताईसवें शतक में जीवों के पापकर्म के बन्ध पर चिन्तन किया गया है।

अट्ठाईसवें शतक में भूतकाल के बन्धादि का वर्णन किया गया है।

उन्तीसवें शतक में पापकर्मों के वेदन का विवरण किया गया है।

तीसवें शतक में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी इन चार समवसरणों का वर्णन है। संसार के सभी जीव चार समवसरण वाले हैं। लेश्या यावत् उपयोग वाले व २४ दंडक के जीव समवसरण व उनके आयु का बंध, भव्य और अभव्य का वर्णन है।

इकत्तीसवें शतक में चार युग्म से नरक के उपपात का विवरण है।

बत्तीसवें शतक में चार प्रकार के क्षुद्र युग्म, नैरयिकों का उद्वर्तन तथा उत्पत्ति, उद्वर्तनों की संख्या, मण्डकप्लुति से उद्वर्तन लेश्या और यावत् शुक्लपक्ष तक चिंतन किया गया है।

तेतीसवें शतक में बारह अवान्तर शतक है जिन्हें बारह एकेन्द्रिय शतक के नाम से कहा गया है। प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ११-११ और अन्तिम चार के ९-९ उद्देशक की गणना से इस तेतीसवें शतक में कुल १२४ उद्देशक हैं। पहले एकेन्द्रिय शतक के पहले उद्देशक में एकेन्द्रिय के पृथ्वी, अप्, तेजस, वायु और वनस्पति ये पांच भेद और उनके उपभेद बताते हुए उनके कर्मप्रकृतियों के बन्धन, वेदन और शेष दश उद्देशकों में क्रमशः अनन्तरोपपन्न एकेन्द्रिय, परम्परोपपन्न एकेन्द्रिय, अनन्तरावगाढ़ व परम्परावगाढ़ पंचकाय, अनंतर पर्याप्त पञ्चकाय, परम्पर पर्याप्त पञ्चकाय, अनन्तराहारक और परम्पराहारक पंचकाय, चरम और अचरम पंचकाय आदि का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। द्वितीय एकेन्द्रिय (अवान्तर) शतक में कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी, कापोतलेश्यी, भवसिद्धिक, कृष्णलेश्यायुक्त भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, नीललेश्या, कापोतलेश्या के साथ अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी और कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय अभव्य का विवेचन किया गया है।

चौंतीसवें शतक में बारह अवान्तर शतक हैं और प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ११-११ उद्देशक और अन्तिम चार अवान्तर शतकों के ९-९ उद्देशकों की परिगणना से प्रस्तुत शतक में कुल १२४ उद्देशक हैं। प्रथम एकेन्द्रिय शतक समुच्चय में अनन्तरोपपन्न से अचरम तक ११ उद्देशक हैं। कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी, कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय, भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक, नीललेश्यायुक्त, कृष्णलेश्या और कापोतलेश्या

युक्त मन का विवेचन है। नवें अवान्तर शतक में अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दसवें अवान्तर शतक में कृष्णलेश्यी, ग्यारहवें में नीललेश्यी, बारहवें में कापोतलेश्यायुक्त अभवसिद्धिक का वर्णन है।

पैंतीसवें शतक में प्रथम एकेन्द्रिय महायुग्म शतक से लेकर दूसरा, तीसरा यावत् बारह एकेन्द्रिय महायुग्म शतक तक बारह अवान्तर शतक हैं। उनमें प्रथम के आठ अवान्तर शतकों में ११-११ उद्देशक हैं और अन्त के चार अवान्तर शतकों के ९-९ उद्देशक हैं। इस तरह प्रस्तुत शतक के कुल १२४ उद्देशक हैं। प्रथम एकेन्द्रिय महायुग्म अवान्तर शतक के प्रथम उद्देशक में महायुग्म के १६ भेद, उनके हेतु, कृतयुग्म, राशिरूप, एकेन्द्रिय का उपपात, एक समय के उपपात, जीवों की संख्या, कृतयुग्म-कृतयुग्म राशिरूप एकेन्द्रियों के आठ कर्मो के बन्ध, वेदन, साता-असातावेदन, लेश्याएँ, शरीर के वर्ण, अनुबन्धकाल, सभी जीवों के इस राशि में उपपात आदि २० स्थानों का निरूपण किया है। द्वितीय उद्देशक में प्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रियों के उपपात व अनुबंध का निरूपण है। अप्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उपपात का चरम समय अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण के एकेन्द्रियों का उपपात प्रथम समय, अप्रथमसमय, प्रथम चरम समय, प्रथम अचरम समय, चरम-अचरम समय, अचरम-चरम समय, कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उपपात का वर्णन है। इसी तरह द्वितीय से लेकर बारहवें अवान्तर शतक में क्रमशः कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी, कापोतलेश्यी, भवसिद्धिक, कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक, नीललेश्यी भवसिद्धिक, कापोतलेश्यी भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक कृष्ण-नील-कापोतलेश्यी अभवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का पहले अवान्तर शतक के सदृश वर्णन किया गया है।

छत्तीसवें शतक में बारह अवान्तर शतक और उनके १२४ उद्देशक हैं। इन बारह अवान्तर शतकों में बेइन्द्रिय महायुग्म के उपपात आदि का वर्णन है। एतदर्थ इन शतकों का नाम बेइन्द्रिय महायुग्म रक्खा गया है। उनमें से प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ११-११ उद्देशक हैं और शेष ४ के ९-९ उद्देशक हैं। इन सब अवान्तर शतकों के उद्देशकों में पैंतीसवें शतक के एकेन्द्रिय महायुग्म अवान्तर शतकों के उद्देशकों के सदृश ही बेइन्द्रियों के उत्पाद, अनुबन्ध और लेश्याओं के क्रमशः कृतयुग्म-कृतयुग्म बेइन्द्रियों का वर्णन है।

सैंतीसवें शतक में बारह अवान्तर शतक और १२४ उद्देशक हैं। प्रस्तुत शतक में कृतयुग्म-कृतयुग्म तेइंद्रिय जीवों के उपपाद आदि का ३५वें शतक के सदृश वर्णन है।

अड़तीसवें शतक में १२ अवान्तर शतक और १२४ उद्देशक हैं। प्रस्तुत शतक में ३४ वें शतक के सदृश कृतयुग्म-कृतयुग्म चतुरिन्द्रियों के उपपातादि का वर्णन है।

उनचालीसवें शतक में १२ अवान्तर शतक और १२४ उद्देशक हैं। प्रस्तुत शतक में भी ३४वें शतक के सदृश असंज्ञी पंचेन्द्रियों के उपपात आदि का वर्णन है।

चालीसवें शतक में २१ अवान्तर शतक हैं और प्रत्येक शतक के ११-११ उद्देशक हैं। इस प्रकार कुल २३१ उद्देशक हैं। प्रस्तुत शतक में संज्ञी पंचेन्द्रिय महायुग्मों के उपपात आदि का वर्णन ३४वें शतक के सदृश ही है।

इकतालीसवें शतक में ११६ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में राशियुग्म के ४ भेद हैं। उन भेदों के हेतु, कृतयुग्म, राशि प्रमाण २४ दंडकों के जीवों के उपपात, सान्तर-निरन्तर उपपात, कृतयुग्म के साथ अन्य राशियों के सम्वन्ध का निषेध, जीवों के उपपात की पद्धति, हेतु, आत्मा का असंयम आदि का वर्णन करने के बाद सलेश्य और सक्रिय आत्मा असंयमी और क्रियारहित की सिद्धि प्रभृति विषयों पर विश्लेषण किया है।

द्वितीय उद्देशक में त्र्योज (जिस राशि में चार का भाग देने पर तीन शेष रहे वह त्र्योज कहलाती है) राशिप्रमाण २४ दंडक के जीवों का उपपात, तृतीय उद्देशक में द्वापर और चतुर्थ उद्देशक में कल्योज राशिप्रमाण २४ दंडकों के जीवों के उपपात के संबंध में निरूपण किया गया है। पाँचवें उद्देशक में कृष्णलेश्या वाले कृतयुग्मप्रमाण, छठे में कृष्णलेश्या वाले त्र्योज राशि प्रमाण, सातवें में कृष्णलेश्या वाले द्वापरयुग्म प्रमाण और आठवें में कृष्णलेश्या वाले कल्योज प्रमाण इस तरह २४ दंडकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है। नवें से बारहवें उद्देशक तक नीललेश्या वाले, तेरहवें से सोलहवें उद्देशक तक कापोतलेश्या वाले, सत्रहवें से वीसवें उद्देशक तक में तेजोलेश्या वाले, इक्कीसवें से चौवीसवें उद्देशक तक में पद्मलेश्या वाले और पच्चीसवें से अट्ठाईसवें उद्देशक तक में शुक्ललेश्या वाले चार राशियुग्म

प्रमाण २४ दंडकों के जीवों के उपपात का वर्णन है। उनतीसवें से छप्पनवें उद्देशक में चार राशियुग्म प्रमाण भवसिद्धिक, सतावन से चौरासी तक के उद्देशकों में चार राशियुग्म प्रमाण अभवसिद्धिक, पच्यासीवें से एकसौ बारहवें उद्देशक तक चार राशियुग्म प्रमाण सम्यग्दृष्टि भवसिद्धिक, एकसौ तेरहवें से एकसौ चालीसवें तक चार राशियुग्म प्रमाण मिथ्यादृष्टि भवसिद्धिक कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या वाले २४ दंडक के जीवों के उपपात का वर्णन है। १४१ से १६८ तक के उद्देशकों में चार राशियुग्म प्रमाण कृष्णपक्षी और १६९ से १९६ तक के उद्देशकों में चार राशियुग्म प्रमाण शुक्लपक्षी २४ दंडकों के जीवों के उपपात का वर्णन है।

प्रस्तुत आगम का महत्त्व

इस प्रकार भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र में श्रमण भगवान महावीर के स्वयं के जीवन का; उनके शिष्य, भक्त, गृहस्थ, उपासक, अन्य तीर्थिक और उनकी मान्यताओं का सविस्तृत परिचय प्राप्त होता है। आगम साहित्य में गोशालक के सम्बन्ध में जितनी प्रामाणिक और विस्तृत जानकारी प्रस्तुत आगम में है उतनी जानकारी अन्य आगमों में नहीं है। पुरुषादानीय भगवान पार्श्व के अनुयायियों और उनके चातुर्याम धर्म के संबंध में प्रस्तुत आगम में यत्र-तत्र परिचय प्राप्त होता है और वे भगवान महावीर के ज्ञान से प्रभावित होकर चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार करते हैं। साथ ही इस आगम में महाराजा कूणिक और महाराजा चेटक के बीच जो महाशिलाकंटक और रथमूशल संग्राम हुए थे उन महयुद्धों का मार्मिक वर्णन विस्तार से आया है। उन दोनों महायुद्धों में क्रमशः ८४ लाख और ९६ लाख वीर योद्धा दोनों पक्षों के मारे गये थे। इक्कीस से लेकर तेईसवें शतक तक वनस्पतियों का जो वर्गीकरण है वह बहुत ही अद्भुत है। जैन सिद्धान्त, इतिहास-भूगोल, समाज और संस्कृति, राजनीति आदि पर जो विश्लेपण हुआ है और वह अनुपम है। ३६ हजार प्रश्नोत्तरों में आध्यात्मिक तत्त्व की छटा दर्शनीय है।

ऐतिहासिक दृष्टि से आजीविक संघ के आचार्य मंखली गोशाल, जमालि, शिव राजर्षि, स्कन्दक संन्यासी आदि प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। तत्त्वचर्चा की दृष्टि से जयन्ती, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अनगार, सोमिल ब्राह्मण, भगवान पार्श्व के शिष्य कालासवेसीपुत्त, तुंगिया नगरी के

किन्तु संग्रहणी पद में जो उद्देशकों की संख्या १९२५ बताई गई है उसका आधार अन्वेषणा करने पर भी प्राप्त नहीं होता। प्रस्तुत आगम के मूलपाठ में इसके शतकों और अवान्तर शतकों के उद्देशकों की संख्या दी गई है। उसमें ४०वें शतक के २१ अवान्तर शतकों में से अन्तिम १६ से २१ अवान्तर शतकों के उद्देशकों की संख्या स्पष्ट रूप से नहीं दी गई है किन्तु जैसे इस शतक के पहले से १५वें अवान्तर शतक तक के प्रत्येक की उद्देशक संख्या ११ बताई है, उसी तरह शेष अवान्तर शतकों में से प्रत्येक की उद्देशक संख्या ११-११ मान लें तो व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुल उद्देशकों की संख्या १८८३ होती है। कितनी ही प्रतियों में 'उद्देसगाण' इतना ही पाठ प्राप्त होता है। संख्या का निर्देश नहीं किया गया है। इसके बाद एक गाथा है जिसमें व्याख्या-प्रज्ञप्ति की पद संख्या ८४ लाख बताई है। आचार्य अभयदेव ने इस गाथा की 'विशिष्ट संप्रदायगम्यानि' यह कह कर व्याख्या की है। इसके बाद की गाथा में संघ की समुद्र के साथ तुलना की है और गौतम प्रभृति गणधरों को व भगवती प्रभृति द्वादशांगी रूप गणिपिटक को नमस्कार किया है। और भी मंगलाचरण हैं। आचार्य अभयदेव का मन्तव्य है कि जितने भी नमस्कार-परक उल्लेख हैं वे सभी लिपिकार और प्रतिलिपिकार द्वारा किये गये हैं।

प्रस्तुत आगम में कितनी ही बातें पुनः-पुनः आई हैं इसका मूल कारण स्थान भेद, प्रश्नकर्त्ता के भेद और कालभेद हैं।

उपसंहार

प्रस्तुत अंग 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' प्रश्नोत्तर शैली में है। प्रश्नकार हैं गणधर गौतम और उत्तर देने वाले हैं स्वयं तीर्थंकर भगवान महावीर।

गौतम अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ प्रस्तुत करते हैं और श्रमण भगवान महावीर उन सब का समाधान। इस कारण इस अंग में सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है। दर्शन सम्बन्धी, आचार सम्बन्धी, लोक-परलोक, आदि का शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसकी इसमें चर्चा न हुई हो। इसी कारण इसे ज्ञान का महासागर कहा जाता है।

इस अंग की एक अन्य विशेषता भी है सूत्र के प्रारंभ में मंगल। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी अंग अथवा अंगबाह्य ग्रन्थ में मंगल का कोई विशेष पाठ उपलब्ध नहीं होता। अन्त में शांतिकर श्रुत देवता का भी

स्मरण किया गया है। साथ ही कुंभधर, ब्रह्मशान्ति यक्ष, वैरोट्या विद्यादेवी तथा अंतहुंडी देवी का उल्लेख किया गया है।

महामंत्र नवकार प्रथम वार इसी अंग में लिपिबद्ध हुआ है।

प्रश्नोत्तर शैली शास्त्र-रचना की प्राचीनतम शैली है। इसके दर्शन वैदिक परंपरानुमोदित उपनिषद् ग्रन्थों में भी होते हैं।

वास्तव में, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) गौतम के प्रश्नों के उत्तरों के रूप में ही भगवान द्वारा दिये गये उत्तरों का लिपिबद्ध रूप है।

□

६. ज्ञाताधर्मकथा

नाम बोध

द्वादशांगी में ज्ञाताधर्मकथा का छठा स्थान है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञात-उदाहरण और दूसरे श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाएँ हैं। एतदर्थ प्रस्तुत आगम का मूल नाम 'णायाणिय धम्मकहाओ' है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने टीका में यही अर्थ किया है। तत्त्वार्थभाष्यकार ने ज्ञातधर्मकथा सूत्र का प्रयोग किया है। भाष्यकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि उदाहरणों के द्वारा जिसमें धर्म का कथन किया है वह आगम ज्ञातधर्मकथा है।[१]

प्रस्तुत आगम का नाम जयधवला में णाहधम्मकहा—'नाथधर्मकथा' प्राप्त होता है। नाथ का अर्थ स्वामी है। नाथधर्मकथा का तात्पर्य है कि नाथ-तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित धर्मकथा। संस्कृत ग्रन्थों में प्रस्तुत आगम का नाम ज्ञातृधर्मकथा मिलता है। आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में ज्ञातृधर्मकथा यह नाम दिया है।[२] आचार्य मलयगिरि[३] व आचार्य अभयदेव ने[४] उदाहरण प्रधान धर्मकथा को ज्ञाताधर्मकथा कहा है। उनकी दृष्टि में प्रथम अध्ययन में ज्ञात है और दूसरे अध्ययन में धर्मकथाएँ हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने कोश में 'ज्ञातप्रधान धर्मकथाएँ' ऐसा अर्थ

---

१ ज्ञाताः दृष्टान्ताः तानुपादाय धर्मो यत्र कथ्यते ज्ञातधर्मकथाः। —तत्त्वार्थभाष्य

२ तत्त्वार्थवार्तिक १।२०, पृष्ठ ७२

३ ज्ञातानि-उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथाः अथवा ज्ञातानि-ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे, धर्मकथा द्वितीयश्रुतस्कन्धे, यासु ग्रन्थपद्धतिषु (ता) ज्ञाताधर्मकथाः। नंदीवृत्ति, पत्र २३०,३१

४ ज्ञातानि-उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा, दीर्घत्वं संज्ञात्वाद् अथवा प्रथमश्रुतस्कन्धो ज्ञाताभिधायकत्वात् ज्ञातानि, द्वितीयस्तु तथैव धर्मकथाः।
—समवायांग, पत्र १०८

किया है। पं० बेचरदास जी दोशी,[१] डॉ० जगदीशचन्द्र जैन,[२] डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री[३] का मानना है कि ज्ञातपुत्र महावीर की धर्मकथाओं का प्ररूपण होने से भी इस अंग को उक्त नाम से कहा गया है।

श्वेताम्बर साहित्य में भगवान महावीर के वंश का नाम ज्ञात बताया गया है और दिगम्बर साहित्य में नाथ लिखा है।[४] अतः कुछ मूर्धन्य मनीषियों ने प्रस्तुत आगम के नाम के साथ महावीर का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। उनके अभिमतानुसार ज्ञातृधर्मकथा या नाथधर्मकथा से तात्पर्य है 'भगवान महावीर की धर्मकथा'।[५] पाश्चात्य विचारक वेबर का मन्तव्य है कि जिस ग्रन्थ में ज्ञातृवंशीय महावीर के लिए कथाएँ हों वह 'णायाधम्मकहा' है।[६] पर समवायांग[७] व नन्दीसूत्र[८] में जिन अंगों का परिचय दिया गया है उसके आधार से 'ज्ञातृवंशीय महावीर की धर्मकथा' यह अर्थ संगत नहीं बैठता। वहाँ स्पष्ट निरूपण है कि ज्ञाताधर्मकथा में ज्ञातों (उदाहरण-भूत व्यक्तियों) के नगर, उद्यान आदि का निरूपण किया गया है। इस आगम के प्रथम अध्ययन का नाम उक्खित्तणाए—'उत्क्षिप्तज्ञात' है। यहाँ ज्ञात का अर्थ उदाहरण ही सटीक प्रतीत होता है।

इसमें उदाहरण प्रधान धर्मकथाएँ उट्टंकित हैं। इसमें उन वीर-धीर साधकों का वर्णन है जो महान् उपसर्ग उपस्थित होने पर भी साधना के महामार्ग से च्युत नहीं हुए। इस आगम में परिमित वाचनाएँ, अनुयोगद्वार, वेढा, छन्द, श्लोक, निरुक्तियाँ, संग्रहणियाँ व प्रतिपत्तियाँ संख्यात संख्यात हैं। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १९ अध्ययन हैं और दूसरे श्रुतस्कन्ध में १० वर्ग हैं। दोनों श्रुतस्कन्धों के २९ उद्देशनकाल हैं, २९ समुद्देशन काल हैं, ५७६००० पद हैं, संख्यात अक्षर हैं, अनन्त गम, अनंत पर्याय,

---

१ भगवान महावीर नी धर्मकथाओ, टिप्पण पृ० १८०।

२ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ७४।

३ प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १७२।

४ भगवान महावीर—एक अनुशीलन, पृ० २३८ से २५८।

५ जैन साहित्य का इतिहास—पूर्वपीठिका, पृ० ६६०।

६ Stories from the Dharma of Naya (स्टोरीज़ फ्रॉम दी धर्म ऑफ नाया) इं, एं, जि० १९, पृ० ६६।

७ समवायांग प्रकीर्णक, समवाय सूत्र, ९४।

८ नन्दीसूत्र ८५।

परिमित त्रस, अनन्त स्थावर आदि का वर्णन है। इसका वर्तमान में पद परिमाण ५५०० श्लोक प्रमाण हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध

प्रथम श्रुतस्कन्ध में ऐतिहासिक और कल्पित दोनों प्रकार की कथाएं हैं। मेघकुमार आदि का चरित्र ऐतिहासिक है और तुंबा आदि की कथाएं रूपक शैली में हैं। इन रूपक कथाओं का उद्देश्य भी भव्य जीवों को प्रतिबोध देना है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में १० वर्ग हैं, उनमें से प्रत्येक धर्मकथा में ५००-५०० आख्यायिकाएँ हैं और एक-एक आख्यायिका में ५००-५०० उप-आख्यायिकाएं हैं और एक-एक उपाख्यायिका में ५००-५०० आख्यायिकाएँ और उपाख्यायिकाएँ हैं। इस प्रकार ३½ करोड़ उदाहरणस्वरूप कथाएँ हैं। पर वे सारी कथाएं वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार का वर्णन है। वह श्रमण भगवान महावीर के उपदेश को श्रवण कर संयम मार्ग स्वीकार करता है, पर शय्या परीषह से खिन्न होकर संयम से विचलित होने लगता है। किन्तु भगवान महावीर उसे पूर्व भव सुनाकर संयम में स्थिर करते हैं। वह श्रमणों की सेवा के लिए सर्वस्व समर्पित कर देता है।

दूसरे अध्ययन में धन्ना सार्थवाह और विजय चोर का उदाहरण है। धन्ना सार्थवाह कारागृह में अपने पुत्र के हत्यारे विजय चोर को भोजन देते हैं क्योंकि उसकी बिना सहायता के वे शौचादि कार्य नहीं कर सकते थे। वैसे ही साधक को आहारादि देकर शरीर का संयम के लिए निर्वाह करना चाहिए।

तीसरे अध्ययन में मयूर के अण्डों के माध्यम से यह सत्य तथ्य प्रगट किया है कि श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति किस प्रकार इच्छित फल को प्राप्त करता है और संशयशील व्यक्ति फल से वंचित रहता है।

चतुर्थ अध्ययन में दो कछुओं के उदाहरण से इस बात पर प्रकाश डाला है कि इन्द्रियों को वश में रखने वाले साधक को साधना से कोई विचलित नहीं कर सकता और जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं है वे प्रथम कूर्म की भाँति पाप रूपी श्रृगाल से ग्रसित हो जाते हैं।

पाँचवें अध्ययन में थावच्चापुत्र का वर्णन है। वासुदेव श्रीकृष्ण उसकी

दीक्षा का समुचित प्रवन्ध करते हैं। थावच्चापुत्र शैलक राजर्षि को ५०० साथियों के साथ दीक्षा प्रदान करते हैं, और शुकदेव परिव्राजक को विचार-चर्चा के पश्चात् १००० परिव्राजकों के साथ दीक्षा प्रदान करते हैं। शैलक राजर्षि अस्वस्थ होने पर औषधोपचार के पश्चात् पुनः प्रमाद से ग्रसित हो जाते हैं तव विनयमूर्ति पंथक उनका प्रमाद परिहार करते हैं।

छठे अध्ययन में तूम्बे के उदाहरण से इस वात पर प्रकाश डाला गया है कि मिट्टी के लेप से भारी बना हुआ तूम्वा जल में डूब जाता है और लेप हटने से तैरने लगता है। वैसे ही कर्मो के लेप से आत्मा भारी वनकर संसार सागर में डूवता है और कर्मो के लेप से मुक्त होकर संसार सागर से तिरता है।

सातवें अध्ययन में धन्ना सार्थवाह की चार पुत्रवधुओं का उदाहरण है। श्रेष्ठि अपनी चारों पुत्रवधुओं को ५-५ शाली के दाने देता है। प्रथम पुत्रवधू ने वे फेंक दिये। दूसरी ने प्रसाद समझकर खा लिये। तीसरी ने उन्हें संभालकर रक्खा और चौथी ने खेती करवा कर वे हजारों गुने अधिक वढ़ा दिये। वैसे ही गुरु पाँच महाव्रत रूप शाली के दाने शिष्यों को प्रदान करता है। एक उसे भंग कर देता है। दूसरा उसे खानपान और विलास में गँवा देता है। तीसरा उसे सुरक्षित रखता है और चौथा उसे साधना के द्वारा विकसित करता है।[1]

आठवें अध्ययन में तीर्थंकर मल्ली भगवती का वर्णन है। उनका जन्म, वालक्रीड़ा, विवाह के लिए छह राजाओं का आगमन, स्वर्ण पुतली-के माध्यम से राजाओं को प्रतिवोध देकर उनके साथ मल्ली भगवती की दीक्षा और दीक्षा के दिन ही घाती कर्मो को नष्ट कर केवलज्ञान, तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर वनना, विहारक्षेत्र, संहनन, संस्थान, निर्वाण, आदि का पूर्ण विवरण है।

---

१ प्रोफेसर टायमन ने अपनी जर्मन पुस्तक 'बुद्ध और महावीर' में बाइविल की मेथ्यू और ल्यूक की कथा के साथ तुलना की है। वहा शाली के पांच दानों के स्थान पर टेलेन्ट शब्द है। टेलेन्ट उस युग में चलने वाला सिक्का था। एक व्यक्ति परदेश जाते समय अपने दो पुत्रों को दस-दस टेलेन्ट दे गया था। एक ने व्यापार द्वारा वे कई गुनी करदीं और दूसरे ने सुरक्षित जमीन में रखदीं। लौटने पर पिता पहले पुत्र से प्रसन्न हुआ।

मल्ली भगवती ने गृहस्थाश्रम में उस युग की प्रसिद्ध परिव्राजिका चोखा को शुचिमूलक धर्म की सदोषता प्रतिपादित कर विनयमूलक धर्म की शिक्षा देते हुए कहा—'जैसे रक्तरंजित वस्त्र को रक्त से धोने पर स्वच्छ नहीं बनाया जा सकता वैसे ही हिंसादि से आत्मा शुद्ध नहीं बन सकती।'

मुख्य उदाहरणों के साथ कुछ अवान्तर कथाएँ भी प्राप्त होती हैं। परिव्राजिका चोखा जितशत्रु राजा के पास जाती है। राजा जितशत्रु पूछता है तुम बहुत घूमती हो क्या तुमने मेरे जैसा अंतःपुर कहीं देखा है? चोखा ने मुसकराते हुए कहा—'तुम कूपमंडूक जैसे हो।' 'कूपमंडूक कौन है?' यह जिज्ञासा जितशत्रु ने प्रस्तुत की। चोखा ने कहा—'कूएं में एक मेंढक था वह वहीं पर जन्मा, वहीं पर बढ़ा, उसने अन्य कोई तालाब या जलाशय नहीं देखा था। वह अपने कूप को ही सब कुछ मानता था। एक दिन एक समुद्री मेंढक उस कूप में आया। कूपमंडूक ने उससे प्रश्न किया—तुम कौन हो, कहाँ से आये हो? उसने कहा कि मैं समुद्र का मेंढक हूँ और वहीं से आया हूँ। कूपमंडूक ने पुनः प्रश्न किया—समुद्र इतना बड़ा है? उस मेंढक ने कहा—वह तो बहुत ही बड़ा है। कूपमंडूक ने अपने पैर से रेखा खींचते हुए कहा—क्या समुद्र इतना बड़ा है? समुद्री मेंढक ने मुस्कराते हुए कहा—इससे बहुत बड़ा है। कूपमंडूक ने कूएँ के पूर्वी तट से पश्चिमी तक फुदक कर कहा—क्या समुद्र इतना बड़ा है? समुद्री मंडूक ने कहा—इससे भी बहुत बड़ा है। और कूपमंडूक ने अपने कूए के अतिरिक्त किसी जलाशय आदि को देखा न था अतः वह उसकी बात पर विश्वास न कर सका।

प्रस्तुत अध्ययन में अरणक श्रावक, और छह राजाओं का परिचय भी दिया गया है।

नवें अध्ययन में माकंदी पुत्र जिनपाल और जिनरक्षित का वर्णन है। जो अनेक बार विदेश यात्रा करते हैं। जब वे बारहवीं बार प्रस्थित होने लगे तब उनके माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया पर आज्ञा की अवहेलना करके जाने पर भयंकर तूफान से उनकी नौका टूट गई और वे रत्नद्वीप में रत्नादेवी के चंगुल में फँस गए। शैलक यक्ष ने उनका उद्धार करने का वचन दिया पर जिनरक्षित ने वासना से चलचित्त होकर अपने प्राण गंवाये और जिनपाल विचलित न होने से अपने स्थान पर सुरक्षित

पहुँच गया। इसी प्रकार साधक भी जो अपनी साधना से विचलित नहीं होता है वह लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[1]

दसवें अध्ययन में चन्द्र के उदाहरण से यह प्रतिपादित किया है कि जैसे कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का चन्द्र क्रमशः हानिवृद्धि को प्राप्त होते हैं वैसे ही चन्द्र के सदृश कर्मो की अधिकता से आत्मा की ज्योति मंद होती है और कर्मो की न्यूनता से ज्योति जगमगाने लगती है।

ग्यारहवें अध्ययन में समुद्र के किनारे होने वाले दावद्रव नामक वृक्ष का उदाहरण देकर आराधक और विराधक का निरूपण किया है।

बारहवें अध्ययन में कलुषित जल को शुद्ध बनाने की पद्धति पर प्रकाश डाला है। संसार का कोई भी पदार्थ एकान्तरूप से शुभ या अशुभ नहीं है। संसार का प्रत्येक पदार्थ शुभ से अशुभ रूप में और अशुभ से शुभ रूप में परिवर्तित होता है। अतः एक पर राग और दूसरे पर द्वेष नहीं करना चाहिए।

तेरहवें अध्ययन में दर्दुर का उदाहरण है। उसमें बताया गया है कि नन्द मणिकार राजगृह का निवासी श्रावक था। सत्संग के अभाव में व्रत-नियम की साधना करते हुए भी वह विचलित हो गया। उसने चार शालाओं के साथ एक वापिका का निर्माण करवाया। वापी के प्रति अत्यधिक ममत्व होने से आर्तध्यान में मरकर उसी वावड़ी में दर्दुर वना। भगवान महावीर के आगमन की वात सुनकर वह वन्दन को निकला। किन्तु मार्ग में घोड़े की टाप से भयंकर रूप से घायल हो गया। वहीं पर समाधि-पूर्वक अनशन कर प्राण परित्याग किये और स्वर्ग का अधिकारी वना। आसक्ति कितनी भयावह होती है यह इस कथा से प्रतिपादित किया गया है।

चौदहवें अध्ययन में तेतलीपुत्र का वर्णन है। मानव जिस समय सुख के सागर पर तैरता है उस समय उसे धर्म नहीं सुहाता पर जब वह दुःख की दावाग्नि में झुलसता है उस समय उसे धर्म क्रिया करने की सूझती है। प्रस्तुत अध्ययन में तेतलीप्रधान का जीवन जब तक सुखमय था तव तक उसने धर्मक्रिया की ओर आंख उठा करके भी नहीं देखा किन्तु पोट्टिलदेव ने जो पूर्वभव में पोट्टिला नामक उसकी धर्मपत्नी थी और जिसने संयम साधना करके देवगति प्राप्त की थी उसने वचनवद्ध होने के

---

१ मिलाइये वलाहस्सजातक (१९६) के साथ। प्रस्तुत कथा दिव्यावदान में भी है

कारण आकर तेतलीपुत्र को अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया, पर वह जब न माना तब उसने राजा कनकध्वज के अन्तर्मानस के विचार परिवर्तित कर दिये और प्रजा के भी; अपमान के तीव्रदंश से वह उत्पीड़ित हो गया। उसने अपने स्थान पर आकर गले में फाँसी डालकर मरना चाहा पर मर न सका। गरदन में बड़ी शिला बाँधकर मरने का प्रयास किया, जल में कूदकर मरना चाहा और सूखी घास के ढेर में आग लगाकर जलना चाहा पर जल न सका। इस प्रकार अनेक प्रयास करने पर भी जब वह न मर सका तो देव ने प्रतिबोध देकर उसे संयम मार्ग में प्रतिष्ठित किया। उग्र साधना कर कर्मों को नष्ट कर उसने केवलज्ञान प्राप्त किया।

पंद्रहवें अध्ययन में नन्दीफल का उदाहरण है। नन्दीफल ऐसा विषैला फल था जो देखने में सुन्दर, खाने में मधुर और सूंघने में सुवासित था पर उसके खाने के बाद व्यक्ति सदा के लिए आँख मूंद लेता था—मर जाता था। उसकी छाया भी जहरीली थी। धन्ना सार्थवाह ने अपने साथ के सभी व्यक्तियों को सूचित किया कि वे ध्यान रक्खें, नन्दीवृक्ष से दूर रहें, पर उसके कथन की उपेक्षा कर जिन्होंने उसके फलों का उपभोग किया वे सदा के लिए जीवन से हाथ धो बैठे। भगवान महावीर ने कहा—'धन्य सार्थवाह के समान तीर्थंकर हैं जो विषय-भोग रूपी नंदीफल से बचने का सन्देश देते हैं। पर उनकी आज्ञा की अवहेलना कर जो विषय-भोग को ग्रहण करते हैं वे जन्म-मरण को प्राप्त करते हैं। वे अपने लक्ष्य मुक्तिस्थल को प्राप्त नहीं कर पाते।'

सोलहवें अध्ययन का नाम अमरकंका है। इस अध्ययन में पांडव-पत्नी द्रौपदी को पद्मनाभ अपहरण कर हस्तिशीर्ष नगर से अमरकंका ले जाता है। श्रीकृष्ण पांडवों सहित वहाँ पहुँचते हैं और पद्मनाभ को पराजित कर द्रौपदी को पुनः लाते हैं। श्रीकृष्ण पांडवों के हास्य-व्यंग से अप्रसन्न हो जाते हैं और कुन्ती की प्रार्थना से समुद्र तट पर नवीन मथुरा बसाकर पांडवों को वहाँ पर रहने की अनुमति देते हैं। पांडवों की दीक्षा और मुक्तिलाभ एवं प्रस्तुत अध्ययन में द्रौपदी के पूर्वभव का भी उल्लेख है। उसने एक बार नागश्री के भव में धर्मरुचि अनगार को कड़वे तूंबे का आहारदान दिया था जिसके फलस्वरूप उसको अनेक भवों में जन्म ग्रहण करना पड़ा। इसमें कच्छुल्ल नारद की करतूतों का भी परिचय दिया गया है।

सत्रहवें अध्ययन में समुद्री अश्वों का उदाहरण है जो शब्द रूप आदि विषयों के लुभावने आकर्षण से आकर्षित होकर पराधीनता के पंक में निमग्न होते हैं। जो विषयों से विरक्त रहते हैं वे स्वतंत्रता के स्वर्ग का अनुभव करते हैं।

अठारहवें अध्ययन में सुसुमा का वर्णन है जो धन्ना सार्थवाह की पुत्री थी। उसकी देखभाल के लिए चिलात नियुक्त किया गया था, पर वह अपनी काली करतूतों से बच्चों को परेशान करता। अतः उसे घर से निकाल दिया और वह अनेक दुर्व्यसनों का शिकार हो गया, साथ ही तस्कर अधिपति भी। एक दिन उसने सुसुमा का अपहरण किया। धन्ना सार्थवाह अपने पुत्रों के साथ, भीषण अटवियों में उसका पीछा करते हुए आगे बढ़ रहे थे। तब चिलात द्वारा मारी हुई सुसुमा की मृतदेह उन्हें मिली। वे उस समय क्षुधा-पिपासा से इतने पीड़ित थे कि प्राणों का रक्षण करना एक समस्या हो गई थी। अतः सुसुमा के मृतदेह का भक्षण कर अपने जीवन को बचाया। सुसुमा के शरीर का भक्षण करते समय धन्ना के मन में किञ्चित् मात्र भी राग नहीं था, केवल प्राणरक्षा का ही प्रश्न था। इसी प्रकार साधक को राग रहित होकर आहार करना चाहिए। आहार द्वारा शरीर रक्षा का लक्ष्य 'आत्म-साधना' ही है।[1]

उन्नीसवें अध्ययन में पुण्डरीक और कुण्डरीक का उदाहरण है। इसमें पुण्डरीक और कुण्डरीक की कथा है। जब राजा महापद्म श्रमण बने तब उनके ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीक राज्य का संचालन करने लगे और कुण्डरीक युवराज बने। जब पुनः महापद्म मुनि वहाँ आये तो कुण्डरीक ने श्रमणधर्म स्वीकार किया। कुछ समय के पश्चात् जब कुण्डरीक मुनि पुनः वहाँ पर आये उस समय वे दाहज्वर से ग्रसित थे। राजा पुण्डरीक ने उनका औषधोपचार करवाया और स्वस्थ होने पर उन्हें श्रमण मर्यादा का स्मरण दिलाकर विहार के लिए उत्प्रेरित किया। किन्तु मुनि कुण्डरीक के अन्तर्मानस में भोग के प्रति तीव्र आकर्षण पैदा हो चुका था। वे पुनः कुछ समय के पश्चात् लौटकर उसी नगरी में आ गये। पुण्डरीक के समझाने पर भी जब वे न समझे तब अपने वस्त्र आभूषण आदि कुण्डरीक को देकर कुण्डरीक का

---

१ संयुक्त निकाय (२ पृ० ९७) में भी मृत कन्या के मांस को भक्षण कर जीवित रहने का वर्णन है।

श्रमणवेप स्वयं ने ग्रहण कर लिया और उत्कृष्ट संयम की आराधना कर सर्वार्थसिद्धि में ३३ सागर की स्थिति वाले देव बने। कुंण्डरीक तीव्र भोगों में आसक्त होकर तीन दिन में ही मरकर सातवें नरक के मेहमान हो गये और वहाँ ३३ सागर की स्थिति प्राप्त कर अपार वेदना का अनुभव किया। इस प्रकार जो श्रमण चिरकाल पर्यन्त संयम पालन कर पथभ्रष्ट हो जाता है वह कुण्डरीक की तरह दुःख पाता है और जो अन्तिम क्षणों तक संयम का पालन करता है वह पुण्डरीक के समान स्वल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में दृष्टान्तों के माध्यम से अहिंसा, अस्वाद, श्रद्धा, इन्द्रियजय आदि आध्यात्मिक तत्त्वों का बहुत ही सरल शैली में निरूपण किया गया है। कथावस्तु के साथ वर्णन की अपनी विशेपता है, भापा की दृष्टि से कहीं-कहीं पर कादम्बरी जैसे गद्य काव्यों की सहज स्मृति हो आती है। इन कथाओं का विश्व के विभिन्न कथाग्रन्थों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर बहुत से नये तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चमरेन्द्र, बलीन्द्र, धरणेन्द्र, पिशाचेन्द्र, महाकालेन्द्र, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र की अग्रमहिपियों के रूप में उत्पन्न होने वाली साध्वियों की कथाएँ दी गयी हैं। दश वर्गों में २०६ अध्ययन हैं। इनमें वर्णित अधिकांश कुमारियाँ भगवान पार्श्व के शासन में दीक्षित होकर उत्तर गुणों की विराधना करने के कारण देवियों के रूप में उत्पन्न हुईं। उन साधिकाओं के देवियों के रूप में उत्पन्न होने पर भी जो नाम उनका मानवभव में था, उन्हीं नामों से उनका परिचय दिया गया है।

उपसंहार

इसमें भगवान पार्श्वकालीन जन जीवन, विभिन्न मत-मतान्तर, प्रचलित रीति-रिवाज, नौकासम्बन्धी साधन सामग्री, कारागृह पद्धति, राज्यव्यवस्था, सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का सजीव चित्रण हुआ है।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका विशेप महत्व है—विशेपकर सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से तत्कालीन सामाजिक दशाओं के वर्णन से उस समय की परिस्थितियों का ज्ञान आज के साधक को हो जाता है। इस प्रकार यह अंग इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। ◻

७. उपासकदशांग

नामकरण

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का सातवाँ अंग है। इसमें भगवान महावीर युग के दश उपासकों का पवित्र चरित्र है। अतः इसका नाम 'उवासगदसाओ' है। उपासक शब्द जैन गृहस्थ के लिए व्यवहृत होता है। दशा शब्द दश संख्या का वाचक एवं अवस्था का सूचक है। उपासकदशा में दश उपासकों की कथाएँ हैं। अत: दश का संख्यावाचक अर्थ उपयुक्त है। साथ ही उपासकों की अवस्था का भी वर्णन है अत: इस अर्थ की दृष्टि से भी दशा शब्द यथार्थ है। श्रमण परंपरा में श्रमणों की उपासना करने वाले गृहस्थों को श्रमणोपासक या उपासक कहा है। भगवान महावीर के लाखों उपासक थे। किन्तु इस आगम में उनके मुख्य दश उपासकों का ही वर्णन किया गया है।

विषय-वस्तु

स्थानांग में उपासकदशांग में आये हुए दश श्रावकों के नाम इस प्रकार बताये हैं। आनंद, कामदेव, चूलणीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नंदिनीपिता, सालतियापिया—सालेपिकापिता। उपासकदसांग में दसवाँ नाम सालीहिपिया आया है। कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में लंतियापिया, लत्तियपिया, लतिणीपिया, लेतियापिया आदि नाम भी उपलब्ध होते हैं। इसी तरह नंदिनीपिता के स्थान पर ललितांकपिया और सालेइणीपिया नाम प्राप्त होते हैं। समवायांग और नंदीसूत्र में अध्ययनों की संख्या का निर्देश किया गया है किन्तु नामों का निर्देश नहीं किया है।

प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशन काल कहे हैं। इसमें संख्यात हजार पद, संख्यात अक्षर, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ, संख्यात प्रतिपत्तियाँ और संख्यात श्लोक बताये हैं। वर्तमान में इस आगम का परिमाण ८१२ श्लोक है। उपासक दशा में वर्णित उपासक विभिन्न जाति के और विभिन्न व्यवसाय करने वाले थे। श्रावकों की जीवनचर्या का वर्णन इस प्रकार है।

आनन्द श्रावक

एक बार भगवान महावीर वाणिज्यग्राम पधारे। राजा जितशत्रु व हजारों की संख्या में जनता दर्शनार्थ व उपदेश श्रवणार्थ उपस्थित हुई। नगर में अद्‌भुत चहल-पहल थी। आनन्द गृहपति ने महावीर के शुभागमन का संवाद सुना। वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और सुसज्जित होकर भगवान के समवसरण में पहुँचा। उपदेश श्रवणकर उसने भगवान से निवेदन किया—भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धाशील हूँ। उसमें मेरी श्रद्धा व रुचि है। जैसा आपने कहा वह पूर्ण सत्य है। आपके पास बहुत से राजा, युवराज, सेनापति, नगर रक्षक, मांडलिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठि, सार्थवाह मुंडित होकर आगार धर्म से अनगार धर्म को ग्रहण करते है। मैं श्रमण जीवन की कठोरचर्या को पालन करने में असमर्थ हूँ अतः गृहस्थधर्म के द्वादश व्रत ग्रहण करना चाहता हूँ। महावीर ने कहा—'जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो।'

बारह व्रत

आनन्द श्रावक ने द्वादश व्रतों को ग्रहण किया। व्रतों का निरूपण इस प्रकार है—द्वादश व्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं। प्रस्तुत आगम में गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों का संयुक्त नाम शिक्षाव्रत है। पहले पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ छोटे व्रत हैं। श्रमण हिंसादि का पूर्ण परित्याग करता है इसलिए उसके व्रत महाव्रत कहलाते हैं। किन्तु श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप से करता है, अतः उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। जिन दोषों से व्रत टूटने की संभावना बनी रहती है उनका भी इसमें निरूपण किया है। श्रावक को उन्हें जानना चाहिए। उन संभावित दोषों को 'अतिचार' कहा है।

व्रत के अतिक्रमण की चार कोटियाँ बताई गई हैं। अतिक्रम—व्रत को उल्लंघन करने का मन में ज्ञात व अज्ञात रूप से विचार आना। व्यतिक्रम—उल्लंघन करने के लिए प्रवृत्ति करना। अतिचार—व्रत का अंशरूप से उल्लंघन करना। अनाचार—व्रत का पूर्णरूप से टूट जाना।

अनजान में जो दोष लग जाता है वह अतिचार है और जान-बूझकर व्रत भंग करना अनाचार है।

(१) स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत

श्रावक के अहिंसा व्रत का नाम स्थूल प्राणातिपातविरमण है।

श्रमण की सर्वहिंसा की विरति की तुलना में श्रावक की अहिंसा देशव्रत है। वह हिंसा का पूर्णत्यागी नहीं होता, केवल त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होता है। उसकी यह विरति तीन योग व दो करण पूर्वक होती है। वह निरपराध प्राणियों को मन, वचन व काया से न स्वयं मारता है और न दूसरों से मरवाता है। परिस्थिति विशेष में स्थूल हिंसा का समर्थन कर सकता है। श्रावक ऐसी कोई भी प्रवृत्ति कर सकता है जिसमें स्थूल हिंसा की संभावना न हो। ऐसी प्रवृत्ति दूसरों से भी करवा सकता है। ऐसा करने से उसका व्रत भंग नहीं होता। वह जो भी कार्य करता है व करवाता है उसमें वह पूर्ण सावधानी रखता है कि किसी को कष्ट न हो, किसी की हिंसा न हो, किसी के प्रति अन्याय न हो, विवेकपूर्वक पूर्ण सावधानी रखने पर भी किसी की हिंसा हो जाय तो श्रावक के अहिंसा व्रत का भंग नहीं होता। कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान न रखना, न्याय-अन्याय का विवेक न रखना, स्पष्ट रूप से हिंसा को प्रोत्साहन देना है। अहिंसा की सुरक्षा के लिए विचारों की निर्मलता, यथार्थता एवं दृष्टि की विराटता अपेक्षित है। श्रावक द्वारा किसी जीव की हिंसा होती है तो भी वह उसके प्रति अनुकंपित होता है किन्तु व्रत की सुरक्षा के लिए हंसते व मुस्कराते हुए प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी सदा तत्पर रहता है। हिंसा व अन्याय के सामने वह झुकता नहीं अपितु वीरता के साथ उसका प्रतिकार करता है। निर्भयता अहिंसा के लिए आवश्यक है। हिंसा, अन्याय एवं अनाचार को कायर व्यक्ति प्रोत्साहन देता है। सावधानी रखने के बावजूद भी प्रमादवश या अज्ञानवश दोप लगने की संभावना रहती है। ऐसे दोपों को अतिचार कहा गया है। स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के मुख्य पाँच अतिचार हैं—

(१) **बन्ध**—किसी त्रस प्राणी को कष्टदायी बन्धन में बांधना, उसे अपने इष्ट स्थान को जाने से रोकना या अपने अधीनस्थ व्यक्ति को निर्दिष्ट समय से अधिक रोककर उससे अधिक कार्य लेना आदि भी बन्ध के अन्तर्गत है। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार का है।

(२) **वध**—किसी भी त्रस प्राणी को मारना वध है। अपने आश्रित व्यक्तियों को या अन्य किसी भी प्राणियों को लकड़ी, चाबुक, पत्थर आदि से मारना, उन पर अनावश्यक आर्थिक भार डालना, किसी की लाचारी का अनुचित लाभ उठाना, अनैतिक ढंग से शोपण कर उससे लाभ उठाना

आदि वध है। जिस कार्य विशेष से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से त्रस प्राणियों की हिंसा होती है, वह वध है।

(३) छविच्छेद—किसी भी प्राणी के अंगोपांग काटना। छविच्छेद के समान वृत्तिच्छेद भी अनुचित है। किसी की आजीविका का सम्पूर्ण छेद करना, उचित पारिश्रमिक से कम देना, आदि भी छविच्छेद के समान दोषयुक्त है।

(४) अतिभार—बैल, ऊँट, घोड़ा आदि पशुओं पर या अनुचर एवं कर्मचारियों पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना अतिभार है। किसी की शक्ति से अधिक कार्य करवाना भी अतिभार ही है।

(५) भक्तपान विच्छेद—समय पर भोजन पानी न देना, नौकर को समय पर वेतन न देना, जिससे उसे कष्ट पहुँचे आदि।

श्रावकों को इन अतिचारों से सदा बचना चाहिए।

(२) स्थूल मृषावादविरमण व्रत

श्रावक श्रमण के समान पूर्णरूप से सत्य व्रत का पालन नहीं कर पाता अतः वह स्थूल मृषावाद का त्याग करता है। यह त्याग भी दो करण व तीन योग से होता है। स्थूल झूठ वह है—जिससे समाज में अप्रतिष्ठा हो। स्नेही साथियों में अपनी अप्रामाणिकता प्रगट हो। लोगों से अप्रतीति हो और राजदंड का भागी होना पड़े। इस प्रकार के झूठ से मानव का सर्वतोमुखी पतन होता है। अनेक कारणों से मानव स्थूल झूठ का प्रयोग करता है, जैसे अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह हेतु पूर्वपक्ष के समक्ष मिथ्या प्रशंसा करना-करवाना। पशु-पक्षियों के क्रय-विक्रय के लिए मिथ्या बात कहना। भूमि के सम्बन्ध में झूठ का प्रयोग करना या करवाना। नौकरी आदि के लिए असत्य का प्रयोग करना। किसी की धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के लिए झूठ बोलना। झूठी गवाही देना और दिलवाना। झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा सिद्ध करने का प्रयास करना। श्रावक इस प्रकार मिथ्या बोलने व बुलवाने का त्याग करता है।

स्थूल मृषावादविरमण व्रत के मुख्य रूप से पाँच अतिचार हैं—

(१) सहसाभ्याख्यान—बिना विचारे किसी पर झूठा आरोप लगाना, किसी के प्रति गलत धारणा पैदा करना, सज्जन को दुर्जन, गुणी को अवगुणी, ज्ञानी को अज्ञानी, ब्रह्मचारी को व्यभिचारी कहना आदि।

(२) **रहस्याभ्याख्यान**—किसी की गुह्य बात किसी के सामने प्रकट कर उसके साथ विश्वासघात करना आदि।

(३) **स्वदारमंत्रभेद**—पति-पत्नी का एक दूसरे की गुप्त बातों को किसी अन्य के सामने प्रकट करना—स्वदार या स्वपति-मंत्रभेद है। इससे कुटुम्ब में वैमनस्य पैदा होता है और बाहर बदनामी भी होती है।

(४) **मिथ्योपदेश**—सच्चा-झूठा समझाकर किसी को कुमार्ग पर लगाना आदि।

(५) **कूटलेखक्रिया**—मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि।

तत्त्वार्थसूत्र में 'सहसाभ्याख्यान' के स्थान पर 'न्यासापहार' आया है जिसका अर्थ है किसी की धरोहर रखकर इन्कार हो जाना है। श्रावक को इन सभी अतिचारों से बचकर सम्यक् प्रकार से सत्य का पालन करना चाहिए।

(३) स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत

श्रावक का तृतीय व्रत स्थूल अदत्तादानविरमण है। श्रमण के लिए बिना अनुमति के दन्त शोधनार्थ तृण आदि ग्रहण करना भी वर्ज्य माना गया है। श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है। स्थूल चोरी के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—किसी दूसरे के घर में सेन्ध लगाना, किसी की जेब काटना, किसी के घर का ताला तोड़ना या दूसरी चाबी लगाकर खोलना, या बिना पूछे किसी दूसरे की गाँठ खोलकर वस्तु निकाल लेना, किसी का गढ़ा हुआ धन निकाल लेना,.डाका डालना, ठगना। कोई वस्तु प्राप्त हुई हो तो उसके मालिक का पता न लगाना, पता लगने पर भी वस्तु मालिक को न लौटाना, चौर्यबुद्धि से किसी की वस्तु उठा लेना और उसे अपने पास रख लेना। श्रावक चोरी का त्याग भी पूर्व व्रतों की तरह दो करण और तीन योग से करता है। प्रस्तुत व्रत के पाँच अतिचार हैं।

(१) **स्तेनाहृत**—जानकारी के अभाव में अथवा यह समझ कर कि चोरी करने व कराने में तो पाप है, पर चोर के द्वारा लाई गई, चोरी की वस्तु खरीदने या घर में रखने में क्या हर्ज है? किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अतिचार है। इसमें लोभ के कारण औचित्य-अनौचित्य का खयाल नहीं रहता है। इससे चोरी को प्रोत्साहन मिलता है।

(२) **तस्कर प्रयोग**—आदमी को वेतन अथवा धन देकर चोरी, डकैती, ठगी आदि करवाना।

(३) **विरुद्ध राज्यातिक्रम**—भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कुछ प्रतिबन्ध लगाते हैं, उन पर कर आदि की व्यवस्था करते हैं, राज्य के उन नियमों का उल्लंघन करना, अवैधानिक व्यापार करना, निषिद्ध वस्तुएँ एक स्थल से दूसरे स्थल पर पहुँचाना, राज्य-हित के विरुद्ध गुप्त कार्य करना, ये सब विरुद्ध राज्यातिक्रम हैं।

(४) **कूटतुला-कूटमान**—नाप-तोल व लेन-देन में बेईमानी करना। इससे विश्वासघात होता है। किसी के अज्ञान का इस प्रकार अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए।

(५) **तत्प्रतिरूपक व्यवहार**—वस्तु में मिलावट करना, अच्छी वस्तु बताकर बुरी वस्तु देना।

इन व्रतों का व्यापार व व्यवहार में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

(४) स्वदारसंतोष व्रत

इस व्रत में श्रावक पराई स्त्री के साथ सहवास का त्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ भी सहवास की मर्यादा करता है। यह व्रत दो करण व तीन योग पूर्वक भी हो सकता है पर एक करण एक योग आवश्यक माना है। इस व्रत में परदारा, वेश्या और कुमारिका का त्याग स्वतः ही हो जाता है। इसके मुख्य पाँच अतिचार हैं—

(१) **इत्वरिक परिगृहीतागमन**—ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना जो कुछ समय के लिए रखी गई हो।

(२) **अपरिगृहीतागमन**—वेश्या आदि के साथ सहवास करना।

(३) **अनंगक्रीडा**—अप्राकृतिक मैथुन का सेवन करना।

(४) **परविवाहकरण**—कन्यादान को पुण्य समझकर रागादि या स्वार्थवश दूसरे के लड़के-लड़कियों का बेमेल विवाह करा देना।

(५) **कामभोगतीव्राभिलाष**—विषय-भोग व कामक्रीड़ा में तीव्र आसक्ति का होना।

इन अतिचारों से सदाचार अथवा ब्रह्मचर्य व्रत दूषित होता है अतः श्रावक को इनसे बचना चाहिए।

(५) स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत

मानव की इच्छा आकाश के समान अनंत है। इसी इच्छा की मर्यादा करना—इच्छा परिमाण अथवा परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है। इस व्रत का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है। इस विश्व में स्वर्ण, चाँदी, हीरे, पन्ने, माणिक्य, मोती, भूमि, अन्न, वस्त्रादि जितने भी पदार्थ हैं वे परिमित हैं अतः संग्रह करने पर विषमता की विभीषिका भड़क उठती है। यह व्रत उन विभीषिकाओं को शान्त करता है। इससे जीवन में शान्ति का सागर लहराने लगता है। वह समस्त परिग्रह नौ विभागों में विभक्त किया गया है—

(१) क्षेत्र—उपजाऊ भूमि की मर्यादा।

(२) वास्तु—मकान, दुकान, गोदाम आदि।

(३) हिरण्य—चाँदी के बर्तन, आभूषण व अन्य उपकरण।

(४) सुवर्ण—सोना, सोने के बर्तन, आभूषण व अन्य उपकरण आदि।

(५) धन—रुपये, पैसे, सिक्के, नोट आदि।

(६) धान्य—अन्न, गेहूँ, चावल, उड़द, मूंग, तिल, अलसी, मटर आदि।

(७) द्विपद—दो पाँव वाले प्राणी, जैसे—स्त्री, पुरुष, तोता, मैना, कबूतर, मयूर आदि।

(८) चतुष्पद—चार पैर वाले प्राणी, जैसे—गाय, बैल, भैंस, हाथी, घोड़ा, भेड़, बकरी आदि।

(९) कुप्य या गोप्य—सोने-चाँदी की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं का समावेश कुप्य में होता है। गाड़ी, मोटर, साइकिल, ताँगा, रथ, ट्रक आदि वाहन व फर्नीचर आदि। गोप्य धन का अर्थ है—हीरे, माणिक, मोती आदि रखना।

परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं :—

(१) क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रम।
(२) हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम।
(३) द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रम।
(४) धन-धान्य परिमाणातिक्रम।
(५) कुप्य-गोप्य परिमाणातिक्रम।

अणुव्रतों के विकास के लिए गुणव्रत का विधान किया गया है। दिशा-परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत और अनर्थदंडविरमण व्रत। इन्हें गुणव्रत इसीलिए कहा है कि ये अणुव्रत रूपी मूलगुणों की रक्षा व विकास करते हैं।

(६) दिशा-परिमाण व्रत

इस व्रत में दिशाओं में प्रवृत्ति को सीमित किया जाता है। श्रावक यह प्रतिज्ञा करता है कि चारों दिशाओं में तथा ऊपर व नीचे निश्चित सीमा से आगे बढ़कर मैं किंचित् मात्र भी स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूँगा। वर्तमान युग में इस व्रत का माहात्म्य अधिक है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी-अपनी राजनैतिक एवं आर्थिक सीमाएँ निश्चित कर ले तो बहुत से संघर्ष स्वतः मिट जायँगे। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—

(१) ऊर्ध्वदिशा में मर्यादा का अतिक्रमण।

(२) अधोदिशा में मर्यादा का अतिक्रमण।

(३) तिरछी दिशा—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशा—में मर्यादा का अतिक्रमण।

(४) क्षेत्रवृद्धि—असावधानी या भूल से मर्यादा के क्षेत्र को बढ़ा लेना। एक दिशा के परिमाण का भाग दूसरी दिशा के परिमाण में मिला देना।

(५) विस्मृति—मर्यादा का स्मरण न रखना।

(७) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत

जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है उसे उपभोग और पुनः पुनः काम में आने वाली वस्तु को परिभोग कहते हैं। इस व्रत में उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा की जाती है। यह व्रत अहिंसा और संतोष की रक्षा के लिए है। इससे जीवन में सादगी और सरलता का संचार होता है। महारंभ, महापरिग्रह और महातृष्णा से श्रावक मुक्त होता है। आगम साहित्य में उपभोग-परिभोग सम्बन्धी २६ वस्तुओं के नाम बताये हैं। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—

(१) सचित्ताहार—जिस सचित्त वस्तु का त्याग किया है उसका प्रमादपूर्वक आहार करना।

(२) सचित्त प्रतिबद्धाहार—जिस सचित्त वस्तु का त्याग किया है

उसके साथ अचित्त वस्तु संलग्न हो वह सचित्तप्रतिबद्ध कहलाती है। उसका आहार करना, जैसे—वृक्ष में लगा हुआ गोंद, पिंडखजूर, गुठली सहित आम आदि खाना।

(३) **अपक्वाहार**—सचित्त वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके—कच्चे शाक, बिना पके फल आदि का सेवन करना।

(४) **दुष्पक्वाहार**—जो वस्तु अर्धपक्व हो, उसका आहार करना।

(५) **तुच्छौषधिभक्षण**—जो वस्तु कम खाई जाय और अधिक मात्रा में फेंकी जाय ऐसी वस्तु का सेवन करना जैसे सीताफल आदि।

उपभोग-परिभोग के लिए वस्तुओं की प्राप्ति करनी पड़ती है और उसके लिए पापकर्म भी करना पड़ता है। जिस व्यवसाय में महारंभ होता है ऐसे कार्य श्रावक के लिए निषिद्ध हैं, उन्हें कर्मादान की संज्ञा दी गई है। उनकी संख्या पन्द्रह है। वे इस प्रकार हैं—

(१) **अंगारकर्म**—अग्नि संबंधी व्यापार—जैसे कोयले बनाने, ईंटें पकाने आदि का धन्धा करना।

(२) **वनकर्म**—वनस्पति संबंधी व्यापार—जैसे वृक्ष काटने, घास, काटने आदि का धन्धा करना।

(३) **शकटकर्म**—वाहन सम्बन्धी व्यापार—गाड़ी, मोटर, तांगा, रिक्शा आदि बनाना।

(४) **भाटकर्म**—वाहन आदि किराये पर देकर आजीविका चलाना।

(५) **स्फोटकर्म**—भूमि फोड़ने का व्यापार—जैसे खानें खुदवाना, नहरें बनवाना, मकान बनाने का व्यवसाय करना।

(६) **दन्तवाणिज्य**—हाथी दांत आदि का व्यापार।

(७) **लाक्षा वाणिज्य**—लाख आदि का व्यापार।

(८) **रस वाणिज्य**—मदिरा आदि का व्यापार।

(९) **केश वाणिज्य**—बालों व बालवाले प्राणियों का व्यापार।

(१०) **विष वाणिज्य**—जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार।

(११) **यन्त्र पीड़न कर्म**—मशीन चलाने आदि का व्यापार।

(१२) **निर्लाञ्छन कर्म**—प्राणियों के अवयवों के छेदने, काटने आदि का व्यवसाय।

(१३) **दावाग्निदान कर्म**—वन, जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य।

(१४) **सरद्रहतडागशोषणता कर्म**—सरोवर, झील, तालाब आदि को सुखाने का कार्य करना।

(१५) **असतीजन पोषणता कर्म**—कुलटा स्त्रियों के पोषण, हिंसक प्राणियों का पालन, समाजविरोधी तत्त्वों का संरक्षण आदि।

इन १५ कर्मादान[१] तथा इनसे मिलते-जुलते अन्य प्रकार के कार्यो का भी निषेध किया गया है क्योंकि इन कार्यों से महान् हिंसा होती है। श्रावक तो ऐसे कार्य करता है जिनमें कम से कम हिंसा हो, और ऐसा व्यवसाय करता है जिससे समाज या व्यक्ति का शोषण न हो।

(८) अनर्थदंडविरमण व्रत

स्वयं के लिए या अपने पारिवारिक व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य सावद्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त शेष समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्ड विरमणव्रत है। श्रावक को व्यर्थ की बातें करना, शेखी मारना, निष्प्रयोजन प्रवृत्ति करना जिससे कुछ भी लाभ न हो और दूसरों को कष्ट पहुँचे ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। अनर्थदंड—निष्प्रयोजन हिंसा के चार रूप हैं—(१) अपध्यानाचरित, (२) प्रमादाचरित, (३) हिंस्र प्रदान और (४) पापकर्मोपदेश। इस व्रत के मुख्य पाँच अतिचार हैं—

---

१ इन वस्तुओं का आजीविक मतानुयायियों के लिए भी त्याग का विधान था। देखिए—

(क) इनसायक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द १, पृ० २५६-६८ —होएर्नल।

(ख) 'द आजीविकाज' 'प्री-बुद्धिस्ट इण्डियन फिलासफी', पृ० २६७-३१८ डॉ० बी० एम० बरुआ।

(ग) हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्ज, पृ० ३७—डॉ० बी० सी० लाहा।

(घ) हिस्ट्री एण्ड डोक्ट्रिन्स ऑफ द आजीविकाज—ए० एल० बाशम।

(ङ) लाइफ इन एंशियण्ट इंडिया ऐज डेपिक्टेड इन जैन कैनन्स, पृ० २०७-११ —जगदीशचन्द्र जैन।

(च) सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ में 'मंखलिपुत्र गोशाल और ज्ञातपुत्र महावीर' —जगदीशचन्द्र जैन।

(छ) महात्मा गांधी ने अहिंसक समाज की जो कल्पना की थी वह भी इन कर्मादानों के त्याग से मिलती-जुलती थी।

(१) **कन्दर्प**—विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना या वैसी चेष्टाएँ करना।

(२) **कौत्कुच्य**—भांडों के समान हाथ-पैर मटकाना, नाक, मुंह और आंख आदि से विकृत चेष्टाएँ करना।

(३) **मौखर्य**—वाचाल बनना, बढ़ा-चढ़ाकर बातें करना और अपनी शेखी बघारना।

(४) **संयुक्ताधिकरण**—बिना आवश्यकता के हिंसक हथियारों एवं घातक साधनों को संग्रह करके रखना।

(५) **उपभोगपरिभोगातिरेक**—मकान, कपड़े, फर्नीचर आदि उपभोग और परिभोग की सामग्री का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना।

शिक्षा का अर्थ—अभ्यास है। जैसे विद्यार्थी पुनः-पुनः अभ्यास करता है वैसे ही श्रावक को पुनः-पुनः जिन व्रतों का अभ्यास करना चाहिये उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक ही बार ग्रहण किये जाते हैं किन्तु शिक्षाव्रत बार-बार। ये कुछ समय के लिए होते हैं। सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

(९) सामायिक व्रत

'सम' और 'आय' शब्द से समाय शब्द बनता है अर्थात् समता का लाभ। जिस क्रिया विशेष से समभाव की प्राप्ति होती है वह सामायिक है। सामायिक में सावद्य-योग का त्याग होता है और निरवद्य योग—पापरहित प्रवृत्ति—का आचरण होता है। समभाव का आचरण करने से संपूर्ण जीवन समतामय हो जाता है। इस व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) **मनोदुष्प्रणिधान**—मन में बुरे विचार आना।

(२) **वचनदुष्प्रणिधान**—वचन का दुरुपयोग, कठोर व असत्य भाषण।

(३) **कायदुष्प्रणिधान**—शरीर से सावद्य प्रवृत्ति करना।

(४) **स्मृत्यकरण**—सामायिक की स्मृति न रखना, ठीक समय पर न करना।

(५) **अनवस्थितता**—सामायिक को अस्थिरता से या शीघ्रता से करना, निश्चित विधि के अनुसार न करना।

(१०) देशावकाशिक व्रत

छठे व्रत में जीवन भर के लिए दिशाओं की मर्यादा की थी। उस परिमाण में कुछ घंटों के लिए या कुछ दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना अर्थात् उसको संक्षिप्त करना देशावकाशिक व्रत है। देशावकाशिक व्रत में देश और अवकाश ये दो शब्द हैं जिनका अर्थ है स्थान विशेष। क्षेत्र-मर्यादा को संकुचित करने के साथ ही उपलक्षण से उपभोग-परिभोग रूप अन्य मर्यादाओं को भी सीमित करना इस व्रत में गर्भित है। साधक निश्चित काल के लिए जो मर्यादा करता है उसके बाहर किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता। दैनिक जीवन को वह इस व्रत से अधिकाधिक मर्यादित करता है। श्रावक के लिए सचित्त द्रव्य, विगय, उपानह आदि १४ नियमों का भी विधान हैं। इस व्रत के पांच अतिचार हैं—

(१) आनयनप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मँगाना।

(२) प्रेष्यप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी वस्तु को भेजना।

(३) शब्दानुपात—जिस क्षेत्र-भाग में स्वयं न जाने का नियम ग्रहण किया हो वहाँ पर शब्द संकेत से अपना कार्य करना।

(४) रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र के बाहर कोई वस्तु, संकेत आदि भेजकर अथवा अपना चेहरा दिखाकर उसी के सहारे काम करना।

(५) पुद्गलप्रक्षेप—मर्यादित क्षेत्र से बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना।

(११) पौषधोपवास व्रत

पौषध को अन्यत्र 'उपवास' शब्द से भी कहा गया है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान में रहना। धर्मस्थान में निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास है। दूसरा अर्थ है पोषना—तृप्त करना। जैसे भोजन से शरीर को तृप्त करते हैं वैसे ही इस व्रत से शरीर को भूखा रखकर आत्मा को तृप्त किया जाता है। आत्मचिंतन—मनोमंथन कर आत्म-भाव में रमण करना पौषधव्रत है। आठ पहर तक उपासक श्रमणवत् साधना करता है। आहार परित्याग के साथ ही वह शारीरिक शृङ्गार, अब्रह्मचर्य, व्यापार व हिंसक क्रिया का भी त्याग करता है। पौषध व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या संस्तारक—पौषध योग्य स्थान आदि का भली प्रकार निरीक्षण न करना।

(२) **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक**—पौषध योग्य शैया आदि का सम्यक् प्रमार्जन न करना।

(३) **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रस्रवण भूमि**—मल-मूत्र त्यागने के स्थान का निरीक्षण न करना।

(४) **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि**—मल-मूत्र की भूमि को साफ किये विना उपयोग करना।

(५) **पौषधोपवास-सम्यगननुपालनता**—पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न करना।

प्रथम चार अतिचारों में अनिरीक्षण-निरीक्षण अथवा अप्रमार्जन या दुष्प्रमार्जन के कारण हिंसा दोष की संभावना रहती है।

(१२) अतिथिसंविभाग व्रत

अतिथि के लिए अपने निमित्त वनाई हुई, अपने अधिकार की वस्तु का समुचित विभाग करना अतिथि संविभाग है। जिसके आने-जाने की कोई तिथि निश्चित न हो वह अतिथि है। आध्यात्मिक साधना हेतु जो श्रमण वने हैं उन्हें न्यायोपार्जित निर्दोष वस्तुओं का भक्ति-भावना से दान देना अतिथि संविभाग है। जैसे निर्ग्रन्थ अतिथि को दान देना श्रमणोपासक का कर्त्तव्य है वैसे ही दीन-दुखियों को यथोचित सहकार देना भी श्रावक का कर्त्तव्य है।

अतिथि संविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं—

(१) **सचित्तनिक्षेप**—अचित्त आहार आदि को सचित्त वस्तु में डालकर रखना।

(२) **सचित्तपिधान**—सचित्त वस्तु से ढककर रखना।

(३) **कालातिक्रम**—समय पर दान न देना, असमय में दान के लिए कहना।

(४) **परव्यपदेश**—दान न देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई वता देना, अथवा पराई वस्तु देकर अपनी वस्तु वता देना।

(५) **मात्सर्य**—ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान देना।

जैन सहित्य में अनुकम्पादान और सुपात्रदान ये दान के दो रूप वताये गये हैं। अनुकम्पा सम्यक्त्व का लक्षण है। कष्ट से पीड़ित प्राणी को देखकर उसके प्रति करुणा व सहानुभूति प्रकट करना और यथाशक्ति उसके दुःख को

दूर करने का प्रयास करना अनुकम्पादान है और साधु-साध्वी को देना सुपात्र दान है। गृहस्थ का द्वार जनसेवा के लिए सदा खुला रहता है। वह सन्त की भी सेवा करता है और अन्य अतिथि की भी। गृहस्थ के द्वार से यदि कोई हताश व निराश लौटता है तो समर्थ गृहस्थ के लिए पाप है। प्रस्तुत व्रत में इस पाप से बचने के लिए निर्देश किया है।

आनंद श्रमणोपासक ने पूर्वोक्त व्रतों को ग्रहण करने के पश्चात् एक अभिग्रह ग्रहण किया कि आज से मैं इतर तीर्थिकों को, उनके देवताओं को, उनके स्वीकृत देव-चैत्यों को नमस्कार नहीं करूंगा। उनके द्वारा वार्ता का आरम्भ न होने पर उनसे वार्तालाप करना, पुनः-पुनः वार्तालाप करना, गुरु-बुद्धि से उन्हें आहारादि देना मुझे नहीं कल्पता। प्रस्तुत अभिग्रह में उसने छह अपवाद रक्खे।

आनन्द की प्रेरणा से उसकी धर्मपत्नी शिवानन्दा ने भी भगवान के समक्ष यही द्वादश व्रत ग्रहण किये। वह श्रावक धर्म ग्रहण करने के चौदह वर्ष पश्चात् अपने ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी घोषित कर पौषधशाला में जाकर सम्पूर्ण समय धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत करता है। यह प्रतिज्ञा विशेष, व्रत विशेष, तप विशेष प्रतिमा के नाम से पहचाना जाता है। वे प्रतिमाएँ ग्यारह हैं।

ग्यारह प्रतिमाएं

(१) दर्शन प्रतिमा—किसी भी प्रकार का राज्याभियोग आदि आगार न रखकर शुद्ध निरतिचार, विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करना। यह प्रतिमा व्रत रहित दार्शनिक श्रावक की होती है इसमें मिथ्यात्वरूप कदाग्रह का त्याग मुख्यरूप से किया जाता है। इस प्रतिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

(२) व्रत प्रतिमा—व्रती श्रावक सम्यक्त्व लाभ के पश्चात् व्रतों की साधना करता है। पांच अणुव्रत आदि व्रतों को सम्यक् प्रकार से निभाता है किन्तु सामायिक का वह सम्यक् रूप से पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

(३) सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा में प्रातः व संध्या समय श्रावक सामायिक व्रत की साधना निरतिचार रूप से करता है पर पर्व-दिनों में पौषधव्रत का सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा तीन मास की होती है।

(४) **पौषध प्रतिमा**—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्व दिनों में आहार, शरीर-संस्कार, अब्रह्मचर्य और व्यापार का त्याग—इस तरह चतुर्विध त्याग रूप प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का पालन करना, पौषध प्रतिमा है। यह प्रतिमा चार माह की होती है।

(५) **नियम प्रतिमा**—उपर्युक्त सभी व्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा में निम्न नियम विशेषरूप से पालन करने होते हैं—वह स्नान नहीं करता। रात्रि में चारों प्रकार के आहार का परित्याग करता है। दिन में भी वह प्रकाश में ही भोजन करता है। धोती की लांग नहीं देता। दिन में पूर्ण ब्रह्मचारी रहता है, रात्रि में भी मैथुन की मर्यादा करता है। पौषध होने पर रात्रि-मैथुन का त्याग और रात्रि में कायोत्सर्ग करना होता है। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन और अधिक से अधिक पांच मास तक की होती है।

(६) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की काल मर्यादा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट छह मास की होती है।

(७) **सचित्तत्याग प्रतिमा**—सचित्त आहार का पूर्ण रूप से त्याग करना। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट सात मास की होती है।

(८) **आरम्भत्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा में साधक स्वयं आरम्भ नहीं करता। वह छह काय के जीवों की दया पालता है। इसकी काल मर्यादा जघन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास की होती है।

(९) **प्रेष्यत्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा में अन्य के द्वारा आरम्भ कराने का भी त्याग होता है। वह स्वयं आरम्भ नहीं करता, न दूसरों से करवाता है किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नहीं होता। इस प्रतिमा का जघन्यकाल एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट काल नौ मास है।

(१०) **उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमा**—प्रस्तुत प्रतिमा में उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग होता है अर्थात् अपने निमित्त से बनाया गया भोजन भी ग्रहण नहीं किया जाता। उस्तरे से सर्वथा शिरोमुण्डन करना होता है, या शिखामात्र रखनी होती है। किसी गृहस्थ सम्बन्धी विषयों के पूछे जाने पर यदि वह जानना है तो जानता हूँ और यदि नहीं जानता है तो नहीं जानता हूँ—इतना मात्र कहे किन्तु उसके लिए अधिक वाग्व्यापार न करे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट दस मास की होती है।

संलेखना आत्महत्या नहीं

आनंद श्रवक ने अपश्चिम—मारणान्तिक संलेखना की। संलेखना का अर्थ है मृत्यु के समय अपने भूतकाल के समस्त कृत्यों की सम्यक् आलोचना कर शरीर और कपाय आदि को कृश करने हेतु की जाने वाली अन्तिम तपस्या। संलेखनायुक्त होने वाली मृत्यु को समाधिमरण या पंडितमरण कहा गया है। यह मृत्यु प्रसन्नतापूर्वक व विवेकयुक्त होती है। संलेखना या संथारा आत्मघात नहीं है। आत्मघात क्रोधादि कपाय से प्रेरित होता है, जबकि संलेखना में कपाय का अभाव होता है। आत्महत्या मानव तब करता है जब किसी कामना की पूर्ति न हो, तीव्र वेदना या मार्मिक आघात हो। किन्तु संलेखना में यह बात नहीं है। इस व्रत के पांच अतिचार हैं—

(१) **इहलोकाशंसा प्रयोग**—धन, परिवार आदि इस लोक संबंधी किसी वस्तु की आकांक्षा करना।

(२) **परलोकाशंसा प्रयोग**—स्वर्ग सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात की आकांक्षा करना।

(३) **जीविताशंसा प्रयोग**—जीवित रहने की आकांक्षा करना।

(४) **मरणाशंसा प्रयोग**—कष्टों से घबराकर शीघ्र मरने की आकांक्षा करना।

(५) **कामभोगाशंसा प्रयोग**—अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में कामभोगों की आकांक्षा करना।

इस प्रकार आनन्द श्रमणोपासक समाधिपूर्वक आनंद से देह त्यागकर प्रथम स्वर्ग के अधिकारी बने।

कामदेव आदि अन्य श्रावक

दूसरे अध्ययन में कामदेव श्रावक का वर्णन है। अपार समृद्धि के बीच भी वह बड़ा त्याग व तप प्रधान जीवन जीता था। उसने भी श्रावक धर्म स्वीकार किया था और अन्तिम समय में निवृत्त होकर पौपधशाला में अपना पवित्र जीवन बिताने लगा था।

एक बार वह पौपध करके धर्मजागरण कर रहा था कि मध्यरात्रि में एक मायावी देव भयानक पिशाच का रूप धारण कर हाथ में नंगी तलवार लेकर आया और बोला—कामदेव ! तू मोक्ष की मृगतृष्णा में अपने जीवन को बर्बाद कर रहा है। मेरे कहने से धर्म को छोड़, भोग-उपभोग का आनंद लूट।

यदि मेरी बात स्वीकार नहीं करेगा तो मैं इसी तलवार से तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा।

कामदेव स्थिर रहा। दैत्य ने उस पर क्रूर प्रहार किये, फिर भी वह धर्म-चिन्तन में लीन रहा। दैत्य ने हाथी एवं सर्प बनकर उसे भयंकर वेदनाएँ दीं पर वह विचलित न हुआ। भगवान महावीर ने श्रमण-श्रमणियों को बताया कि तुम्हें भी इसी प्रकार संयम धर्म में दृढ़ रहना चाहिए। जीवन के अन्तिम समय में उसने समता व शांति के साथ ६० दिन का अनशन कर देह-त्याग किया और प्रथम स्वर्ग प्राप्त किया।

तीसरे अध्ययन में चुलहीपिता और चौथे अध्ययन में सुरादेव का तथा पाँचवें अध्ययन में चुलणीशतक का वर्णन है। इन तीनों श्रावकों ने भी व्रत ग्रहण किये और अन्त में पांच वर्ष तक पडिमाधारी (प्रतिमाधारी) के रूप में विरक्त जीवन की साधना करते हुए समाधि-मरण प्राप्त कर प्रथम स्वर्ग में देव बने।

छठे अध्ययन में तत्त्वज्ञानी कुंडकोलिक श्रावक का वर्णन है। उसने भगवान महावीर से श्रावक धर्म ग्रहण किया। एक बार मध्याह्न में वह अशोकवाटिका में बैठा हुआ धर्मचिन्तन कर रहा था। उस समय एक देव आया। उस देव ने कहा—'श्रमण महावीर द्वारा कथित धर्म उपयुक्त नहीं है क्योंकि उसमें उत्थान और पराक्रम पर बल दिया गया है। जबकि सब कुछ तो नियति के आधार पर ही चलता है। गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति युक्तियुक्त है जिसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह नियति है। अतः महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति को छोड़कर गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार करो।' कुंडकोलिक ने प्रतिवाद किया—'जो तुम्हें यह दिव्य ऋद्धि आदि प्राप्त हुई है क्या वह बिना पुरुषार्थ के हुई है?' देव—'हाँ।' कुंडकोलिक—'जितने भी पुरुषार्थहीन हैं वे आपके कथनानुसार देव बनने चाहिए पर ऐसा क्यों नहीं हुआ?' देव के पास इस तर्क का कोई उत्तर नहीं था। महावीर ने अपने श्रमण समुदाय के समक्ष प्रस्तुत आदर्श तार्किक श्रावक की प्रशंसा की।

इसका शेष जीवन भी अन्य श्रावकों की तरह धर्म आराधना में बीता और अंत में समाधिमरण प्राप्त किया।

सातवें अध्ययन में कुम्भकार सकडालपुत्र का वर्णन है। वह पहले

आजीविक आचार्य गोशालक का अनुयायी था। देव से प्रेरणा प्राप्त कर वह महावीर को वन्दन करने गया। महावीर की धर्मदेशना सुन कर उसे श्रद्धा जागृत हुई। उसकी प्रार्थना को सन्मान देकर भगवान उसकी कुंभशाला में पधारे। भगवान ने पूछा—'ये घड़े कैसे बनते हैं?' उसने घटनिर्माण की सारी प्रक्रिया बताई। महावीर ने कहा—'यदि कोई दुर्मति पुरुष धूप में सूखते हुए तेरे घड़ों को पत्थर से फोड़ने लगे, तेरी पत्नी के साथ छेड़छाड़—कुचेष्टा करने लगे तो तेरे मतानुसार ये सब कुछ नियतिकृत है। ऐसा करने में उस मनुष्य का कोई अपराध नहीं है। यदि तू उसे अपराध का दंड देता है तो फिर नियतिवाद का मानना कहाँ तक उचित है?' भगवान के हृदयग्राही, तर्कयुक्त कथन से वह प्रभावित होकर महावीर का अनुयायी हुआ। गोशालक ने जब उसके मत-परिवर्तन की बात जानी तब वह वहाँ आया। उसने विविध उपमाओं से महावीर की स्तुति कर उसको अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया किन्तु सफल न हो सका। मायावी देव ने भी उसकी परीक्षा ली। जीवन के अन्तिम क्षणों में उसने समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण किया और स्वर्ग को प्राप्त हुआ।

आठवें अध्ययन में महाशतक श्रावक का वर्णन है। उसके पास अपार वैभव और तेरह पत्नियाँ थीं। भगवान महावीर से श्रावकधर्म स्वीकार किया। उसकी पत्नी रेवती अत्यन्त भोग-पिपासु, मांसलोलुपी और ईर्ष्यालु थी। उसने अपनी बारह सौतों (सपत्नियों) को शस्त्र एवं विष प्रयोग करके मार डाला था। मद्य-मांस के सेवन से उसकी वासनाएँ प्रबल हो गई थीं। एक बार महाशतक पौषधशाला में ध्यानस्थ थे। उस समय मद्य के नशे में चूर होकर वह बड़ी निर्लज्जता के साथ कामयाचना करने लगी। महाशतक को ध्यान में स्थिर देखकर उसे क्रोध आया और दुष्ट वचन बोलने लगी। पत्नी के इस निर्लज्ज और दुष्ट व्यवहार से महाशतक के मन में क्षोभ पैदा हुआ। उन्होंने कहा—'मैं अपने ज्ञानबल से कहता हूँ कि आज से सातवें दिन तेरी मृत्यु है। तू अलस रोग से पीड़ित होकर अत्यन्त वेदना और दुर्ध्यान के साथ मृत्यु को प्राप्त होकर प्रथम नरक में उत्पन्न होगी।' पति के मुँह से यह बात सुन भय और उद्वेग से वह व्याकुल हो उठी। सातवें दिन अत्यन्त पीड़ा और शोक के साथ उसने प्राण त्याग दिये। भगवान महावीर ने गौतम गणधर को भेजकर सूचित किया कि तुमने बड़े ही कर्कश वचनों के साथ पत्नी की तर्जना की और उसके हृदय

को चोट पहुँचाई, अतः तुम अपनी भूल का प्रायश्चित करो। उसने प्रायश्चित किया और अन्त में संलेखना-संथारा के साथ समाधि-मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग प्राप्त किया।

नवें अध्ययन में नन्दिनीपिता और दसवें अध्ययन में सालिहीपिता नामक दो श्रावकों का वर्णन है जो पडिमाधारी जीवन व्यतीत कर अन्त समय में अनशन कर प्रथम स्वर्ग में महर्धिक देव बने।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी श्रावक व्रतों को ग्रहण करते हैं। व्रतों की यह सूची धार्मिक व नैतिक जीवन की प्रशस्त आचार-संहिता है। इसकी आज भी उतनी ही उपयोगिता है जितनी पच्चीस सौ वर्ष पहले थी। मानव स्वभाव की दुर्बलता जब तक बनी रहेगी तब तक इसकी उपयोगिता समाप्त नहीं हो सकती।

श्रमण के आचारधर्म का निरूपण अनेक आगमों में है, किन्तु गृहस्थ का आचारधर्म मुख्य रूप से प्रस्तुत आगम में ही मिलता है। भगवान महावीर उपासकों की साधना पर इतना ध्यान रखते थे, उन्हें समय-समय पर प्रोत्साहित करते थे और विचलित होने पर सावचेत भी करते थे।

जयधवला में लिखा है कि प्रस्तुत आगम उपासकों के ११ प्रकार के धर्म का वर्णन करता है। वे अंग ये हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषधोपवास, सचित्तविरति, रात्रिभोजनविरति, ब्रह्मचर्य, आरंभविरति, परिग्रह-विरति, अनुमतिविरति और उद्दिष्टविरति।[1]

आनंद आदि श्रमणोपासकों ने ११ प्रतिमाओं का आराधन किया था जिसके सम्बन्ध में हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। व्रत और प्रतिमा ये दोनों साधना की पद्धतियाँ थीं, व्रतों के साथ में भी आराधना की जाती थी और स्वतंत्र भी। जयधवला में केवल प्रतिमाओं का उल्लेख है, तो समवायांग और नन्दी में व्रत और प्रतिमा का दोनों का उल्लेख है।

उपसंहार

विद्यमान अन्य अंग-सूत्रों में श्रमण-श्रमणियों का आचार-निरूपण ही दिखाई देता है किन्तु प्रस्तुत अंग की विशेषता है 'श्रावकधर्म' का

---

१ (क) कषायपाहुड, भा० १, पृ० १२९-१३०
(ख) अंगसुत्ताणि, भा० ३

निरूपण। इस अंग में भगवान महावीरकालीन दश श्रावकों का ही वर्णन हुआ है। इनमें भी गाथापति आनंद का विशद रूप में। आनन्द को अवधिज्ञान भी प्राप्त हुआ। सर्वव्रती गौतम का देशव्रती आनन्द से 'खमापना' कराना श्रमणधर्म में निहित सत्यनिष्ठा और आर्जव भाव का प्रतीक है।

वस्तुत: तीर्थ के चार स्तंभ हैं—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। एक दृष्टि से श्रावक-श्राविका ही श्रमण-श्रमणियों की विद्यमानता के आधार हैं। श्रावकों के अभाव में श्रमणों का टिकना अति कठिन है। श्रावक-धर्म की भित्ति जितनी अधिक दृढ़ होगी—सत्यनिष्ठा, शील, सदाचार और न्याय-नीति पर टिकी होगी; श्रमणधर्म की नींव भी उतनी ही प्रतिष्ठित होगी।

इस विचार के अनुसार उपासकदशा का महत्व गृहस्थ-श्रावक के लिए अत्यधिक है और इस अंग-सूत्र में गृही-धर्म का जीवनस्पर्शी वर्णन हुआ है।

□

८. अन्तकृद्दशासूत्र

नामकरण

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का आठवाँ अंग है। इसमें जन्म, मरण की परम्परा का अन्त करने वाले व्यक्तियों का वर्णन है और इसके दश अध्ययन हैं। अतः इसका नाम अन्तकृद्दशा है। समवायांग में इस आगम के दश अध्ययन और सात वर्ग कहे हैं।[१] नन्दीसूत्र में आठ वर्गों का उल्लेख है किन्तु दश अध्ययनों का उल्लेख नहीं है।[२] आचार्य अभयदेव ने समवायांग वृत्ति में दोनों आगमों के कथन में सामंजस्य बिठाने का प्रयास करते हुए लिखा है कि प्रथम वर्ग में दश अध्ययन हैं। इस दृष्टि से समवायांग सूत्र में दश अध्ययन और अन्य वर्गों की दृष्टि से सात वर्ग कहे हैं। नन्दीसूत्र में अध्ययनों का उल्लेख नहीं किया है, केवल आठ वर्ग बतलाये हैं।[३] परन्तु इस सामंजस्य का अन्त तक निर्वाह किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि समवायांग में अन्तकृद्दशा के शिक्षाकाल (उद्देशनकाल) दश कहे गये हैं जबकि नन्दीसूत्र में उनकी संख्या आठ बताई गई है। समवायांग की वृत्ति में आचार्य अभयदेव ने लिखा है कि उद्देशनकालों के अन्तर का अभिप्राय हमें ज्ञात नहीं है।[४]

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने नंदीचूर्णि में[५] और आचार्य हरि-

---

१ दस अज्झयणा सत्त वग्गा। —समवायांग प्रकीर्णक, समवाय सूत्र ९६

२ अट्ठ वग्गा —नंदीसूत्र ८८

३ दस अज्झयण त्ति प्रथमवर्गापेक्षयैव घटन्ते, नन्द्यां तथैव व्याख्याततत्वात् यच्चेह पठ्यते 'सत्त वग्ग' त्ति तत् प्रथमवर्गादन्यवर्गापेक्षया, यतोऽप्यष्ट वर्गाः, नन्द्यामपि तथा पठितत्वात्। —समवायांगवृत्ति, पत्र ११२

४ ततो भणितं—अट्ठ उद्देसणकाला इत्यादि, इह च दश उद्देशनकाला अधीयन्ते इति नास्याभिप्रायमवगच्छामः।

—समवायांगवृत्ति, पत्र ११२

५ पढमवग्गे दस अज्झयण त्ति तस्सक्खतो अंतगडदस त्ति।

—नंदीसूत्र चूर्णिसहित, पृ० ६८

भद्र ने नंदीवृत्ति में[1] लिखा है कि प्रथम वर्ग के दश अध्ययन होने से प्रस्तुत आगम का नाम अंतगडदसाओ है। चूर्णि में दशा का अर्थ अवस्था भी किया है।[2] समवायांग में दश अध्ययनों का निर्देश है किन्तु उनके नाम का निर्देश नहीं है। ठाणांग में दश अध्ययनों के नाम बताये हैं। जैसे नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमालि, भगाली, किंकष, चिल्वक्क और फाल अंबडपुत्र।[3]

तत्त्वार्थसूत्र के राजवार्तिक में एवं अंगपण्णत्ती में कुछ पाठभेद के साथ दश नाम प्राप्त होते हैं। जैसे नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, यमलोक, वलीक, कंबल, पाल और अंबष्ठपुत्र[4]। उसमें लिखा है कि प्रस्तुत आगम में प्रत्येक तीर्थंकरों के समय में होने वाले दश-दश अन्तकृत् केवलियों का वर्णन है[5]।

जयधवला में भी इस बात का समर्थन किया है[6]। नंदीसूत्र में न तो दश अध्ययनों का उल्लेख है और न उनके नामों का ही निर्देश है। समवायांग और तत्त्वार्थवार्तिक में जिन नामों का निर्देश हुआ है वह वर्तमान अन्तकृद्दशांग में नहीं है। नंदीसूत्र में वर्तमान में उपलब्ध प्रस्तुत आगम के स्वरूप का वर्णन है। इस समय अन्तकृत्दशांग में आठ वर्ग हैं और प्रथम वर्ग के दश अध्ययन हैं। किन्तु इनके नाम स्थानांग, राजवार्तिक व अंगपण्णत्ती से पृथक् हैं। जैसे गौतम, समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कांपिल्य,

---

१ प्रथमवर्गे दशाध्ययनानि इति तत्संख्यया अन्तकृद्दशा इति।
—नंदीसूत्र वृत्तिसहित, पृ० ८३

२ दस त्ति—अवत्था। —नंदीसूत्र, चूर्णिसहित, पृ० ६८

३ ठाणं, १०।११३

४ तत्त्वार्थवार्तिक, १।२०, पृ० ७३।

५ (क) ·······इत्येते दश वर्धमान तीर्थंकर तीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्व-न्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्न कर्म क्षया-दन्तकृतः दश अस्यां वर्ण्यन्ते इति अन्तकृद्दशा।
—तत्त्वार्थवार्तिक १।२०, पृ० ७३

(ख) अंगपण्णत्ती, ५१

६ अंतयडदसा णाम अंगं चउव्विहोवसग्गे दारुणे सहिऊण पाडिहेरं लद्धुण णिव्वाणं गदे सुदंसणादि दस-दस साहू तित्थं पडिवण्णेदि।
—कसायपाहुड, भा० १, पृ० १३०

अक्षोभ, प्रसेनजित और विष्णु। स्थानांगवृत्ति में आचार्य अभयदेव ने इसे वाचनान्तर लिखा है।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि वह समवायांग में वर्णित वाचना से पृथक् है। अन्तगड शब्द के संस्कृत रूप दो प्राप्त होते हैं—(१) अन्तकृत, (२) अन्तःकृत्। अर्थ की दृष्टि से दोनों में अन्तर नहीं है किन्तु गड का कृत रूप अधिक उपयुक्त है।

विषय-वस्तु

प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध, आठ वर्ग, ६० अध्ययन, ८ उद्देशन-काल, ८ समुद्देशनकाल और परिमित वाचनाएँ हैं। इसमें अनुयोगद्वार, वेढा, श्लोक, निर्युक्तियाँ, संग्रहणियाँ एवं प्रतिपत्तियाँ संख्यात-संख्यात हैं। इसमें पद संख्यात और अक्षर संख्यात हजार बताये गये हैं। वर्तमान में प्रस्तुत अंग ६०० श्लोक परिमाण हैं। इसके आठों वर्ग क्रमशः १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३, और १० अध्ययनों में विभक्त हैं। प्रथम दो वर्गों में गौतम आदि वृष्णि कुल के १८ राजकुमारों की साधना का वर्णन किया गया है। उनमें से दश की दीक्षा पर्याय १२-१२ वर्ष की और अवशेष आठ की १६-१६ वर्ष की बताई गई है। ये सभी राजकुमार श्रमण बनकर गुणरत्न संवत्सर जैसे उग्र तप की आराधना करते हैं और सभी एक मास की संलेखना कर मुक्ति को वरण करते हैं।

तृतीय वर्ग के १३ और चतुर्थ वर्ग के १० अध्ययनों में वासुदेव श्रीकृष्ण, बलदेव और समुद्रविजय के पुत्रों का उल्लेख है। ये सभी अर्हत् अरिष्टनेमि के पावन प्रवचन को श्रवण कर श्रमण बनते हैं और उग्र तप कर कर्मों को नष्ट कर सिद्ध होते हैं। इनमें श्रीकृष्ण का लघुभ्राता गजसुकुमाल तो एक ही दिन की साधना कर एक अन्तर्मुहूर्त में ही कर्मों को नष्ट कर मुक्त हुआ था। गजसुकुमाल का व्यक्तित्व बड़ा ही अद्‌भुत है। आज भी भूले-भटके साधकों के लिए उसकी जीवन गाथा प्रकाशस्तम्भ के समान प्रेरणादायी है।

पंचम वर्ग में श्रीकृष्ण ने द्वारिका विनाश के सम्बन्ध में अर्हत् अरिष्ट-नेमि से जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान ने मदिरा, अग्नि और द्वीपायन ऋषि के क्रोध के कारण द्वारिका का विनाश बताया और कहा कि जिस समय द्वारिका भस्म होगी उस समय तुम माता-पिता और स्वजनों से रहित होकर

---

१ ततो वाचनान्तरापेक्षाणीमानीति सम्भावयामः।

—स्थानांगवृत्ति, पत्र ४८३

वलदेव के साथ एकाकी दक्षिण दिशा के किनारे पाण्डु-मथुरा जाने के लिए निकलोगे। उस समय कौशाम्बी नगरी के कानन में न्यग्रोध नामक वृक्ष के नीचे पृथ्वीशिला पट पर पीतवस्त्र से अपने शरीर को आच्छादित कर तुम शयन करोगे। उस समय जराकुमार वहाँ आएगा और मृग के भ्रम से तीक्ष्ण वाण छोड़ेगा। वह बाण तुम्हारे पैर में लगेगा। उससे विद्ध होकर काल कर तुम तृतीय पृथ्वी में उत्पन्न होओगे। कृष्ण के चिन्तित होने पर भगवान ने पुनः कहा कि तृतीय पृथ्वी से निकलकर जम्बूद्वीप के शतद्वार नामक नगर में बारहवें अमम नामक तीर्थंकर वनोगे। यह सुन श्रीकृष्ण बहुत ही प्रसन्न हुए। श्रीकृष्ण की रानी पद्मावती, गौरी, गांधारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्ववंती, सत्यभामा और रुक्मिणी ने दीक्षा ग्रहण की। और श्रीकृष्ण के पुत्र शांवकुमार की पत्नी मूलश्री व मूलदत्ता ने भी दीक्षा ग्रहण कर उत्कृष्ट साधना कर शिव पद प्राप्त किया।

छठे वर्ग में श्रमण भगवान महावीर के शासन में हुए सोलह साधकों का वर्णन है। उसमें गाथापति, माली, राजा और बालक सभी हैं।

अर्जुन मालाकार जो राजगृह में रहता था, उसकी पत्नी बंधुमती थी। नगर के बाहर सुन्दर बगीचा था, जहाँ मोग्गरपाणि यक्ष का आयतन था। अर्जुन उसका उपासक था। एक बार वह अपनी भार्या के साथ बगीचे में पुष्प चुन रहा था कि नगर के स्वच्छन्दविहारी छह व्यक्तियों की टोली वहाँ पर आई और अर्जुन को बाँध बन्धुमती के साथ दुष्कृत्य करने लगी। यह दृश्य देखकर अर्जुन को अत्यधिक वेदना हुई और यक्ष पर क्रोध भी। उसी क्षण यक्ष अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट हो गया, वह प्रतिदिन छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या करने लगा। सुदर्शन शेठ के सत्संग से वह यक्ष के कष्ट से मुक्त हो गया और भगवान महावीर के चरणों में दीक्षा ग्रहण कर एक अभिनव आदर्श उपस्थित किया।

इस वर्ग में मुनि अतिमुक्त कुमार का भी वर्णन है। जो अपने बाल-साथियों के साथ खेल रहा था। गणधर गौतम के अद्भुत रूप को निहारकर उसने पूछा, 'भदन्त! आप कौन हैं और क्यों इस प्रकार घर-घर घूम रहे हैं?' गौतम ने कहा कि हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं और भिक्षा के लिए परिभ्रमण कर रहे हैं। तब वह गौतम की अंगुली पकड़कर अपनी माँ के पास लाया और अत्यन्त भाव-प्रवणता से भिक्षा प्रदान की। फिर वह गौतम के साथ

भगवान महावीर के दर्शन के लिए पहुँचा और उपदेश सुनकर दीक्षा ली। दीक्षा लेने के पूर्व माता-पिता ने उसकी परीक्षा भी ली। दीक्षा लेते समय उसकी उम्र छः वर्ष की थी।[1] भगवतीसूत्र में जलप्रवाह में नाव तिराने का भी प्रसंग है। उसने गुणमंवत्सर तप कर अन्त में विपुलगिरि पर संलेखना कर अजर-अमर पद प्राप्त किया।

सातवें और आठवें वर्ग के तेईस अध्ययनों में नन्दा, नन्दमती एवं काली, सुकाली आदि राजा श्रेणिक की तेईस रानियों के उग्र साधनामय जीवन का वर्णन है। जिनका सम्पूर्ण जीवन राजमहलों में बीता था और मखमल के मुलायम गलीचों पर चलने से भी जिनके सुकोमल पैर छिल जाते थे वे राजरानियाँ जब भगवान महावीर के शासन में संयमी बनीं तब मुक्तावली, रत्नावली, कनकावली, लघुसिंहनिक्रीडित, महासिंहनिक्रीडित, लघुसर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, भद्रोत्तर एवं आयंबिल वर्धमान जैसे उग्र तपों का आचरण करती हैं। जिस वर्णन को पढ़कर पाठक के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार उग्र तप की साधना से कर्मों को नष्ट करके वे मुक्त होती हैं।

उपसंहार

यह सम्पूर्ण आगम भौतिकता पर आध्यात्मिक विजय का संदेश प्रदान करता है। सर्वत्र तप की उत्कृष्ट साधना दिखलाई देती है। भगवान महावीर ने उपवास और ध्यान दोनों को महत्त्व दिया था। एक को बाह्य तप और दूसरे को आन्तरिक तप कहा। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य तप के साथ उनका आन्तरिक तप—ध्यानादि भी चलता था। यद्यपि ध्यान का उल्लेख नगण्य रूप से हुआ है पर बाह्य तप के साथ ध्यान अनिवार्य है।

□

---

१ षड्वर्ष जातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात् आह—छव्वरिसो पव्वइयो निग्गंथं रोइऊण पावयणं ति एतदेवाश्चर्यम् अन्यथा वर्षाष्टकादाराम्न दीक्षा स्यात्।

—दानशेखर की टीका, पत्र ७३-१

९. अनुत्तरोपपातिकदशा

नामकरण

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का नवाँ अंग है। इसमें ऐसे साधकों का वर्णन है जिन्होंने अनुत्तर विमानों में जन्म लिया और फिर मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसमें दश अध्ययन हैं अतः इसका नाम अनुत्तरोपपातिकदशा है। नन्दीसूत्र में केवल तीन वर्गों का उल्लेख प्राप्त होता है।[१] स्थानांग में केवल दश अध्ययनों का वर्णन है।[२] तत्त्वार्थराजवार्तिक के अभिमतानुसार प्रस्तुत आगम में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले १०-१० अनुत्तरोपपातिक श्रमणों का वर्णन है।[3] कषायपाहुड में भी इसी का समर्थन हुआ है[४]। समवायांग में दश अध्ययन और तीन वर्ग दोनों का सूचन किया गया है[५] किन्तु उसमें दश अध्ययनों के नामों का निर्देश नहीं है। स्थानांग के अनुसार उनके नाम इस प्रकार हैं—ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, स्वस्थान, शालिभद्र, आनन्द, तेतलि, दशार्णभद्र और अतिमुक्त।[६]

तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार उनके नाम इस प्रकार हैं[७]—

---

१ तिण्णि वग्गा···· —नन्दीसूत्र ८६

२ ठाणं १०।११४

३ इत्येते दश वर्धमान तीर्थंकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिकः दशास्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरोपपादिकदशा।
—तत्त्वार्थवार्तिक १।२०, पृ० ७३

४ अणुत्तरोववादियदसा णाम अंगं चउव्विहोवसग्गे दारुणेसहियूण चउवीसण्हं तित्थयराणं तित्थेसु अणुत्तरविमाणं गदे दस दस मुणिवसहे वण्णेदि।
—कसायपाहुड, भा० १, पृ० १३०

५ ············दस अज्झयणा तिण्णि वग्गा·······।
समवाओ, पइण्णग समवाओ, ६७।

६ ठाणं १०।११४

७ तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२०, पृ० ७३।

ऋपिदास, वान्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण, चिलातपुत्र।

अंगपण्णत्ती में उनके नाम इस प्रकार हैं[1]—ऋपिदास, शालिभद्र, सुनक्षत्र, अभय, धन्य, वारिषेण, नन्दन, नन्द, चिलातपुत्र, कार्तिक। धवला में कार्तिक के स्थान पर कार्तिकेय और नन्द के स्थान पर आनन्द ये नाम प्राप्त होते हैं।[2]

वर्तमान में अनुत्तरोपपातिकदशा का जो स्वरूप उपलब्ध है वह स्थानांग व समवायांग की वाचना से पृथक् है। आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में इसे वाचनान्तर कहा है।[3]

अनुत्तरोपपातिकदशा में एक श्रुतस्कन्ध, तीन वर्ग, तीन उद्देशन काल, तीन समुद्देशनकाल, परिमित वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात विशेप प्रकार का वेढा नामक छन्द, संख्यात श्लोक नामक छन्द, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात प्रतिपत्तियाँ, संख्यात हजार पद हैं।

वर्तमान में प्रस्तुत आगम ३ वर्गो में विभक्त हैं जिनमें क्रमशः १०, १३, और १० अध्ययन हैं। इस प्रकार ३३ अध्ययनों में ३३ महान् आत्माओं का संक्षेप में वर्णन किया गया है। जिनमें २३ राजकुमार तो सम्राट श्रेणिक के पुत्र हैं।

विषय-वस्तु

प्रथम वर्ग में जालि, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन, वारिसेन, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, विहल्ल, वेहायस और अभयकुमार इन दश राजकुमारों का, उनका जन्म, नगर, माता-पिता आदि का परिचय दिया गया है। वे भगवान महावीर के पास संयम स्वीकार कर और उत्कृष्ट तप की आराधना कर अनुत्तरविमान में देव हुए और वहाँ से च्युत होकर मानव शरीर धारण कर मुक्त होंगे।

---

१ …………उजुदासो सालिभद्दक्खो।
सुणक्खत्तो अभयो वि य धण्णो वरवारिसेणणंदणया।
णंदो चिलायपुत्तो कत्तइयो जह तह अण्णे। —अंगपण्णत्ती ५५

२ पट्खंडागम, १।१।२

३ तदेवमिहापि वाचनान्तरापेक्षयाऽध्ययनविभाग उक्तो न पुनरुपलभ्यमान वाचनापेक्षयेति। —स्थानांगवृत्ति, पत्र ४८३

द्वितीय वर्ग में दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुष्पसेन इन १३ राजकुमारों के जीवन पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। ये अपनी तपः साधना से अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर मानव जन्म प्राप्त करेंगे और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होंगे।

तृतीय वर्ग में धन्यकुमार, सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पृष्टिमात्रिक, पेढालपुत्र, पोट्टिल्ल और वेहल्ल इन दश कुमारों के भोगमय व त्यागमय जीवन का सुन्दर चित्र चित्रित किया गया है। इसमें धन्यकुमार का वर्णन इस प्रकार से उट्टंकित है।

धन्यकुमार का उग्र तप

धन्यकुमार काकंदी की भद्रा सार्थवाही के पुत्र थे। उनके पास वभव अठखेलियाँ कर रहा था और सांसारिक सुखों की कमी नहीं थी। एक दिन श्रमण भगवान महावीर के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए पावन प्रवचनों को सुनकर वे संयम के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग पर एक वीर सेनानी की भाँति बढ़ते हैं। उन्होंने जिस तपोमय जीवन का प्रारम्भ किया वह अद्भुत था। उनके समान तप जैन साहित्य में तो क्या किसी भी भारतीय साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। कविकुलगुरु कालिदास ने कुमारसंभव में पार्वती के उग्र तप का वर्णन किया है, पर यह साधिकार कहा जा सकता है कि वह धन्य मुनि के तप के समान नहीं था। उन्होंने अनगार बनते ही जीवन भर के लिए छठ-छठ तप से पारणा करने की प्रतिज्ञा की। पारणे में वे आचाम्ल व्रत करते थे और रूक्ष भोजन। कोई गृहस्थ बाहर फेंकने के लिए प्रस्तुत होता उस अन्न को इक्कीस वार पानी से धोकर ग्रहण करते और उसी पानी का उपयोग भी करते। तप से उनका शरीर केवल अस्थि-पंजर हो गया।[1]

एक वार भगवान महावीर से सम्राट श्रेणिक ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! चौदह हजार श्रमणों में कौन अनगार महादुष्कर कारक और महानिर्जरा कारक है? भगवान ने कहा—धन्य अनगार महादुष्कर कारक

---

१ मज्झिमनिकाय के महासिंहनादसुत्त में तथागत बुद्ध ने अपने पूर्व जीवन में इसी प्रकार के उग्र तप का वर्णन किया है।

देखिए—बोधिराजकुमारसुत्त दीघनिकाय कस्सपसिंहनादसुत्त

और महानिर्जरा कारक[1] है। धन्य अनगार नव मास की स्वल्पावधि में उत्कृष्ट साधना कर अन्त में संलेखनापूर्वक एक मास तक अनशन कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए।

उपसंहार

इस प्रकार 'अनुत्तरोपपातिकदशा' में भगवान महावीरकालीन उग्र तपस्वियों का वर्णन हुआ है। ये सभी तपस्वी तपस्या करके अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए।

इन तपस्वियों के जीवन-प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है। इससे महावीरकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ा है।

इस दृष्टि से भी यह अंग महत्त्वपूर्ण है।

□

---

१ एवं खलु सेणिया ! इमासिं इंदभूइ-पामोक्खाणं चोदसण्हं समणसाहस्सीणं धण्णे अणगारे महादुक्करकारए चेव महाणिज्जरयराए चेव।

—अनुत्तरोपपातिक, वर्ग ३, अ० १, सूत्र ३३

१०. प्रश्नव्याकरणसूत्र

नामकरण

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का दसवाँ अंग है। समवायांग[१], नन्दी[२] और अनुयोगद्वार[3] में प्रश्नव्याकरण के लिए **'पण्हावागरणाइं'** के रूप में बहुवचन का प्रयोग मिलता है जिसका संस्कृत रूप **'प्रश्नव्याकरणानि'** है। किन्तु इस समय जो प्रश्नव्याकरणसूत्र प्राप्त है उसमें **'पण्हावागरणे'** के रूप में एकवचन का प्रयोग हुआ है। तत्त्वार्थ स्वोपज्ञभाष्य,[४] धवला[५] व राजवार्तिक[६] आदि ग्रन्थों में **पण्णवागरणं** या प्रश्नव्याकरण एक वचनान्त रूप ही मिलता है। स्थानांग में **'पण्हावागरणदसा'**—प्रश्नव्याकरणदशा मिलता है। किन्तु यह नाम अधिक प्रचलित नहीं हो सका।

विषय-वस्तु

प्रश्नव्याकरण का अर्थ प्रश्नों का व्याकरण अर्थात् निर्वचन, उत्तर एवं निर्णय[७] है। यहाँ पर प्रश्न शब्द का जो उपयोग हुआ है वह सामान्य प्रश्न के अर्थ में नहीं है। प्राचीन युग में विलुप्त प्रश्नव्याकरण जिसमें दर्पणप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, खड्गप्रश्न, आदि से सम्बन्धित विषय चर्चा थी जिसका सूचन नंदी आदि आगमों में उपलब्ध है। तदनुसार प्रश्न शब्द, मंत्रविद्या, निमित्तविद्या प्रभृति विषय विशेष से

---

१ समवायांग प्रकीर्णसमवाय, सूत्र ९८

२ नन्दी, सूत्र ९०

३ अनुयोगद्वार, सूत्र ५०

४ तत्त्वार्थभाष्य १।२०

५ पण्णवायरणं णाम अंगं —कसायपाहुड भा० १, पृ० १३४

६ प्रश्नव्याकरणं —तत्त्वार्थवार्तिक १।२०

७ (क) पण्हो त्ति पुच्छा, पडिवयणं वागरणं प्रत्युत्तरमित्यर्थः —नन्दीचूर्णि

(ख) प्रश्नः प्रतीतस्तन्निर्वचनं व्याकरणं, बहुत्वाद् बहुवचनम्

—आचार्य हरिभद्र—नन्दीवृत्ति

सम्बन्धित है। नंदी,[1] समवायांग,[2] नंदीचूर्णि,[3] नंदी मलयगिरिवृत्ति,[4] समवायांगवृत्ति[5] एवं स्थानांगवृत्ति[6] के अनुसार विचित्र विद्यातिशय अर्थात् चामत्कारिक प्रश्नों का व्याकरण जिस सूत्र में वर्णित है वह प्रश्न-व्याकरण है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान में जो प्रश्न-व्याकरणसूत्र उपलब्ध है उसमें इस प्रकार की कोई भी चर्चा नहीं है। अतः यहाँ प्रश्नव्याकरण का सामान्य अर्थ जिज्ञासाएं हैं।[7] जिस सूत्र में अहिंसा-हिंसा, सत्य और असत्य आदि धर्म-अधर्म रूप विषयों की चर्चा है वह प्रश्नव्याकरण है। जो प्राचीन प्रश्नव्याकरणसूत्र था वह एक विराट्काय आगम था। नंदीचूर्णि[8] व समवायांगवृत्ति[9] के अनुसार इसमें ९२१६००० पद थे। धवला[10] में उसके पदों की संख्या ९३१६००० मानी गई है। वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरणकी श्लोक संख्या १२५६ के लगभग है।[11] समवायांग[12] व नन्दी[13] में ४५ अध्ययन बताये हैं। साथ ही उसमें अनेक संख्यक श्लोकों और निर्युक्तियों आदि का भी उल्लेख

---

१ नन्दी, श्रुतज्ञान प्रकरण, सूत्र १३

२ समवायांग प्रकीर्णक १४५

३ णागा सुवण्णा अण्णे य भवणवासिणो ते विज्जामंतागरिसित्ता आगता साधुणा सह संवदंति-जल्पं करेंति। —नन्दीचूर्णि

४ या पुनर्विद्या मंत्रा वा विधिना जप्यमानाः पृष्टा एव शुभाशुभं कथयन्ति······ —नन्दीसूत्र मलयगिरिवृत्ति

५ अण्ये विद्यातिशया स्तम्भ-स्तोभ-वशीकरण-विद्वेषीकरणोच्चाटनादयः। —समवायांगवृत्ति

६ प्रश्नविद्या यकाभिः क्षौमकादिषु देवतावतारः क्रियते। —स्थानांग, अभयदेवीयावृत्ति, १० स्थान

७ प्रश्नः प्रतीतः तद्विषयं निर्वचनं व्याकरणम् —नन्दीसूत्र-मलयगिरि

८ पदग्गं दोणउतिलक्खा सोलस य सहस्सा। —नन्दीचूर्णि

९ द्विनवतिर्लक्षणाणि षोडश च सहस्राणि। —समवायांगवृत्ति

१० पण्हवायरणं णाम अंगं तेणउदिलक्ख-सोलस सहस्सपदेहि। —धवला, भाग १, पृ० १०४

११ (क) प्रश्नव्याकरणसूत्र—सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, प्रस्ता०, पृ० १४
(ख) जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृ० १५८ में १३०० श्लोक लिखा है।

१२ पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला। —समवायांगसूत्र १४५

१३ पणयालीसं अज्झयणा। —नन्दीसूत्र ९६

किया है।[1] किन्तु स्थानांग से उसकी संगति नहीं बैठती है। स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षोमकप्रश्न, कोमलप्रश्न, अद्दागप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न ये दश अध्ययन हैं।[2] समवायांग में स्पष्ट रूप से अध्ययनों का उल्लेख नहीं है पर उसके 'पण्हावागरणदसासु' इस आलापक के वर्णन से यह सहज ही निष्कर्ष निकल सकता है कि समवायांग में प्रस्तुत आगम के दश अध्ययनों की परम्परा स्वीकृत है।

वर्तमान में जो प्रश्नव्याकरण है उसमें स्थानांग में वर्णित दश अध्ययनों में से एक भी अध्ययन नहीं है। नन्दी आदि आगमों में जहाँ प्रश्नव्याकरण की चर्चा की गई है वहाँ पर अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न आदि का तो वर्णन है पर स्थानांग में बताये हुए उपमा, संख्या, ऋषिभाषित आदि का वर्णन नहीं है।[3] समवायांग में प्रत्येकबुद्धभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित का अतिसंक्षेप में उल्लेख अवश्य हुआ है किन्तु वह विषय के रूप में उल्लेख है; स्वतंत्र अध्ययन के रूप में नहीं है।[4] इसमें उद्देसण काल ४५ बतलाये गये हैं तथापि अध्ययनों की संख्या का स्पष्ट निर्णय नहीं किया जा सकता। गंभीर विषय वाले अध्ययनों की शिक्षा अनेक दिनों तक भी हो सकती है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक के अनुसार प्रस्तुत आगम में अनेक आक्षेपों और विक्षेपों के द्वारा हेतु और नय से आश्रित प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।[5] जयधवला के

---

१ संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ। —नन्दीसूत्र

२ पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं, महावीरभासियाइं, खोमगपसिणाइं, कोमलपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं। —समवायांग, सूत्र १४५

३ प्रश्नव्याकरणदशा इहोक्तरूपा न दृश्यमाना तु पञ्चास्रव पञ्चसंवरात्मिका। —स्थानांग-अभयदेवीया वृत्ति, १० स्थान

४ स-समय पर-समयपण्णवय पत्तेयबुद्ध विविहत्थभासाभासियाणं अइसयगुण उवसमणाणप्पगार आयरियभासियाणं, वित्थरेणं वीरमहेसीहिं विविहवित्थरभासियाणं। —समवायांग सूत्र १४५

५ आक्षेप विक्षेपैर्हेतुनयाश्रितानां प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्। तस्मिँल्लौकिक वैदिकानामर्थानां निर्णयः। —तत्त्वार्थवार्तिक १।२० पृ० ७३-७४

अभिमतानुसार प्रस्तुत आगम में आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं तथा प्रश्न के आधार पर नष्ट, मुष्टि, चिंता, लाभ, अलाभ, सुख-दुःख, जीवन और मरण का वर्णन है।[१] उक्त ग्रन्थों में प्रश्नव्याकरण का जो विपय वर्णित किया गया है वह आज के प्रश्न-व्याकरण में उपलब्ध नहीं है। प्राचीन प्रश्नव्याकरण कव लुप्त हुआ इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि आचार्य देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के समय वह विद्यमान था। यदि उनके समक्ष विद्यमान न होता तो वे उसका उल्लेख कैसे करते ? नंदी सूत्र की चूर्णि में सर्वप्रथम आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण के विपय से सम्वन्धित पाँच संवर आदि का उल्लेख किया है।[२] पर मूलनन्दी में उसका उल्लेख नहीं है।

नवीन प्रश्नव्याकरण

प्राचीन प्रश्नव्याकरण में ज्योतिप, मन्त्र, तन्त्र, विद्यातिशय आदि विपयों का परिवर्तन करके नवीन विपयों का संकलन इसलिए किया गया है कि वर्तमान समय का कोई अनधिकारी व्यक्ति सूत्र में प्रतिपादित चामत्कारिक विद्याओं का दुरुपयोग न करे। अतः उत्तरकाल के गीतार्थ स्थविर भगवंतों ने इस प्रकार की सभी विद्याएँ प्रश्नव्याकरणसूत्र में से निकाल दीं और उसके स्थान पर केवल आस्रव और संवर का समावेश कर दिया। प्रस्तुत कथन का समर्थन आचार्य अभयदेव[३] और आचार्य ज्ञानविमल ने[४] भी किया है।

---

१ पण्हवायरणं णाम अंगं अक्खेवणी-विक्खेवणी-संवेयणी-णिव्वेयणीणामाओ चउव्विहं कहाओ पण्हादो णट्ठ-मुट्ठि-चिता-लाहालाह-सुखदुक्ख-जीवियमरणाणि च वण्णेदि। —कसायपाहुड, भाग १, पृ० १३१, १३२

२ पण्हावागरणे अंगे पंचसंवरादिका व्याख्येया, परप्पवादिणो य अंगुट्ठ-वाहु-पसिणादियाणं पसिणाणं अट्ठुतरं सतं। —नन्दीचूर्णि

३ प्रश्नानां—विद्याविशेपाणां यानि व्याकरणानि तेपां प्रतिपादनपरा दशादशाध्ययन प्रतिवद्धाः ग्रन्थपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशाः अयं च व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्व-कालेऽभूत्। इदानीं त्वास्रवपञ्चक संवरपञ्चकव्याकृतेरेवेहोपलभ्यते,, अतिशयानां पूर्वाचार्यैरैदंयुगीनानामपुष्टालम्वन प्रतिपेवि पुरुपापेक्षयोत्तारितत्वादिति।

—प्रश्नव्याकरणवृत्ति, प्रारम्भ

४ प्रश्नाः अंगुष्ठादि प्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते अस्मिन्निति प्रश्न-व्याकरणम् एतादृशं अंगं पूर्वकालेऽभूत्। इदानी तु आस्रव-संवरपञ्चकव्याकृतिरेव

प्राचीन प्रश्नव्याकरण की रचना क्यों की ?

यह प्रश्न सहज ही उद्भूत हो सकता है कि वीतराग तीर्थंकर प्रभु ने ऐसे विषय का निरूपण ही क्यों किया जिसे बाद में निकालना पड़ा ? उत्तर में निवेदन है कि—उत्सर्ग मार्ग में इस प्रकार की विद्याओं का उपयोग निषिद्ध माना है पर आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु और भावुक भव्य जीवों के अन्तर्मानस में त्याग-वैराग्य की भावना पैदा करने के लिए, उनके अन्तर्मानस में यह विश्वास पैदा करने के लिए कि अतीतकाल में तीर्थंकर हुए हैं, उन्होंने इस प्रकार के अलौकिक प्रश्नों का प्रतिपादन किया है। यदि तीर्थंकर न होते तो इस प्रकार के प्रश्नों का प्रादुर्भाव भी नहीं हो सकता था। अतः अपवाद रूप में आचार्य इन विद्याओं का उपयोग करते थे। सम्भव यही है—काल प्रभाव से परिस्थिति परिवर्तित होने से विशिष्ट ज्ञानसंपन्न श्रुतधर आचार्यों ने इन विद्याओं के दुरुपयोग की आशंका होने से उन्होंने उन विद्याओं को प्रस्तुत अंग में से निकाला हो। विशेष शोधार्थियों को इस सम्बन्ध में अन्वेषण करना चाहिए।

प्रश्नव्याकरण के दश अध्ययन[1] और एक श्रुतस्कन्ध हैं। इस कथन का समर्थन प्रश्नव्याकरण के उपसंहार वचन से एवं नन्दी[2] और समवायांग[3] से होता है। किन्तु अभयदेवसूरि ने प्रश्नव्याकरण की वृत्ति में लिखा है कि प्रश्नव्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध हैं—आस्रवद्वार और संवरद्वार। प्रत्येक श्रुतस्कन्ध के पांच-पांच अध्ययन हैं।[4] वे आगे यह भी लिखते हैं कि दो श्रुतस्कन्ध की नहीं अपितु एक श्रुतस्कन्ध की मान्यता ही रूढ़ है।[5] हमारी दृष्टि से दो श्रुतस्कन्ध की मान्यता तर्कसंगत है क्योंकि आस्रव और संवर ये दो भिन्न-भिन्न विषय हैं।

लभ्यते। पूर्वाचार्यैरैदंयुगीनपुरुषाणां तथाविधहीनहीनतर पाण्डित्य बल-बुद्धि-वीर्यापेक्षया पुष्टालम्बनमुद्दिश्य प्रश्नादिविद्यास्थाने पञ्चास्रव-संवररूपं समुत्तारितम्।

—प्रश्नव्याकरणटीका, प्रारंभ

१ पण्हावागरणे णं एगो सुयक्खंधो दस अज्झयणा। —प्रश्नव्याकरण उपसंहार

२ नंदी-सू० ६३

३ समवायांग प्रकीर्णक सूत्र।

४ ...दो सुयक्खंधा पण्णत्ता—आसवदारा य संवरदारा य। पढमस्सणं सुयक्खंधस्स....पंच अज्झयणा...। दोच्चस्सणं सुयक्खंधस्स पंच अज्झयणा।

५ "याचेयं द्विश्रुतस्कन्धतोक्ताऽस्य सा न रूढा, एक श्रुतस्कन्धताया एव रूढत्वात्।"

प्रस्तुत आगम का महत्त्व

प्रश्नव्याकरणसूत्र का आगम साहित्य में एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रश्नों का समाधान है। तन के नहीं किन्तु मन के प्रश्नों का समाधान है। तन के रोगों से भी मन के रोग अधिक भयंकर होते हैं। तन के रोग एक जन्म में ही पीड़ा देते हैं किन्तु मन के रोग जन्म-जन्मान्तरों तक उसके पीछे लगे रहते हैं। उन रोगों की सही चिकित्सा का वर्णन प्रस्तुत आगम में है। प्रथम खण्ड में उन रोगों के नाम बताये हैं—हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह। और उन रोगों की चिकित्सा दूसरे खण्ड में बताई है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

पञ्च आस्रवद्वार

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अधर्म द्वार के प्रथम अध्ययन में हिंसा का वर्णन किया गया है। हिंसा पापरूप, अनार्य कर्म और नरकगति में ले जाने वाली है। असंयमी, अविरत मन, वाणी और कार्य को अशुभयोग में प्रवृत्ति करने वाले जीव पशु-पक्षियों की हिंसा करते हैं। त्रस जीवों की हिंसा के विविध कारणों में से मुख्य कारण हैं—अस्थि, मांस, चर्म और प्राणियों के अंगोपांग आदि, जिनका उपयोग मानव अपने शरीर की शोभा को बढ़ाने के लिए या अपने भव्य भवन को सजाने के लिए करता है। पृथ्वीकाय की हिंसा कृषि, कूप, बावड़ी, चैत्य, स्मारक, स्तूप, भवन, मंदिर, मूर्ति प्रभृति वस्तुओं के लिए की जाती है। कषाय के वशीभूत होकर मंदबुद्धि वाले धर्म, अर्थ और काम की दृष्टि से सप्रयोजन या निष्प्रयोजन हिंसा करते हैं। हिंसा चाहे स्थानक, चैत्य, मन्दिर, मठ, यज्ञादि कार्यों के लिए की जाय वह हिंसा-हिंसा ही है। धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा कभी भी अहिंसा नहीं हो सकती। वह तो अर्थ और काम के निमित्त की जाने वाली हिंसा की तरह अधर्म ही है। प्राणवध आदि हिंसा के ३० नाम बताये हैं।

द्वितीय अध्ययन में असत्य को भयंकर अविश्वासकारक बताते हुए उसके ३० नाम बताये हैं। धार्मिक दृष्टि से ही असत्य त्याज्य है ऐसी बात नहीं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भी असत्य को महापाप गिना है। असत्य बोलने वालों का संसार में कोई विश्वास नहीं करता। वह मोक्षरूपी कल्पवृक्ष को काटनेवाली कुल्हाड़ी है। जिन वचनों को बोलने से जन-जन के अन्तर्मानस में पीड़ा पहुँचती है वह असत्य है। कषायवश प्राणियों को

पीड़ा देने वाले असद्—अप्रशस्त वचन बोलना भी असत्य है। असत्यवादी इस लोक में भी अविश्वास का पात्र बनता है और परलोक में भी उसे नरक, तिर्यंच गति की असह्य वेदना भोगनी पड़ती है। मृषावादियों में जुआरी, गिरवी रखने वाले वणिक, हीनाधिक तौलने वाले, नकली मुद्रा बनाने वाले, स्वर्णकार, वस्त्रकार, चुगलखोर, दलाल, लोभी, स्वार्थी आदि के नाम गिनाये गये हैं। साथ ही नास्तिकों, एकान्तवादियों और कुदर्शन-वादियों को भी मृषाभाषी कहा है।

तृतीय अध्ययन में तस्कर कृत्य को चिन्ता और भय की जननी बताया गया है। किसी की वस्तु को स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना अदत्तादान है। चोरी केवल दूसरे के अर्थ या पदार्थों की ही नहीं होती अपितु अधिकार, उपयोग या भावों की भी होती है। विश्व में जितने भी पापकृत्य हैं उनमें भय रहा हुआ है। प्रारम्भ में जब मानव पापकृत्य करता है तब उसे एक प्रकार से अव्यक्त भय प्रतीत होता है किन्तु धीरे-धीरे अभ्यस्त होने से उसे भय की प्रतीति भले ही न हो, पर भय रहता ही है। आज विश्व में अशान्ति के काले-कजरारे बादल उमड़-घुमड़कर मंडरा रहे हैं, सबल निर्बल के अधिकार छीनना व झपटना चाहता है; इसके मूल में स्तेयवृत्ति ही कार्य कर रही है। उसी वृत्ति से मानव का चरित्र दिन-प्रतिदिन गिर रहा है। भगवान महावीर ने कहा कि अत्यधिक लालसा वाले, पर-धन और पर-भूमि पर आसक्त, पर-राष्ट्र पर अधिकार करने की लालसा से आक्रमण करने वाले, अश्वचोर, पशुचोर, दासचोर आदि के सभी उपक्रम तस्कर परिधि में गर्भित हैं। तस्कर के उपक्रमों पर भी विस्तार से विवेचन करते हुए उन्हें परद्रव्यहारी, अनुकंपारहित एवं निर्लज्ज कहा है। चोर को न तो इस लोक में शांति मिलती है और न परलोक में ही।

चतुर्थ अध्ययन में मैथुन—कुशील को जरा-मरण, राग, द्वेष, शोक व मोह का विवर्धक कहा है। मैथुन अधर्म का मूल, जीवन में महान् दोषों की अभिवृद्धि करने वाला, आत्मा के पतन का जनक और मोक्षमार्ग में विघ्न-रूप है। इसके अब्रह्म आदि ३० नाम प्रतिपादित किये गये हैं। प्यास लगने पर जैसे केरोसिन पीने पर प्यास शांत नहीं होती, वह और अधिक भड़कती है यही स्थिति भोग भोगने पर होती है। लाखों-करोड़ों वर्षों तक भोग भोगने पर भी देवगण तृप्त नहीं होते। मैथुनासक्त प्राणी महान् अनर्थ भी कर देते हैं। सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कंचना, सुभद्रा, अहिल्या,

सुवर्णगुलिका, किन्नरी, सुरूपा, विद्युन्मति और रोहिणी के लिए कितने भयंकर संग्राम हुए हैं, इस पर शास्त्रकार ने प्रकाश डाला है। मैथुन के दारुण दुःखों का विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार ने इन्द्रियों और मन पर संयम रखने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है।

पंचम अध्ययन में परिग्रह का उल्लेख है। संचय, उपचय, निधान, पिंड, महेच्छा, उपकरण, संरक्षण, संस्तव, आसक्ति ये सभी परिग्रह के पर्यायवाची हैं। इसमें वृक्ष के रूपक के माध्यम से परिग्रह का वर्णन किया गया है। इसमें यह बताया है कि चार जाति के देव, देवी एवं कर्मभूमि के चक्रवर्ती सम्राट से लेकर एक भिखारी में भी परिग्रह वृत्ति होती है। परिग्रह वृत्ति के कारण ही मानव सैकड़ों प्रकार की शिल्पादि कलाओं का अध्ययन करता है, पुरुषों की ७२ व स्त्रियों की ६४ कलाओं का अध्ययन करता है। परिग्रह के हेतु ही हिंसा, झूठ, अदत्तहरण आदि दुष्कर्म तथा क्षुधा-पिपासा और अपमान आदि के विविध कष्टों को सहन करता है। परिग्रह का बंधन सबसे बडा बंधन है। परिग्रही व्यक्ति इस जीवन में भी दुःखी होता है और परलोक में भी। अतः शास्त्रकार ने कहा—'संपूर्ण दुःखों को दूर करने वाली यह जिनवाणी रूपी औषध सभी को निःशुल्क दी जा रही है, पर इसका सेवन न कर असह्य कष्टों को भोग रहे हैं। यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।'

दूसरे श्रुतस्कन्ध में पाँच धर्मद्वारों—संवर द्वारों—का वर्णन किया गया है। वे ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

पञ्च संवरद्वार

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में अहिंसा का विश्लेषण है। अहिंसा के निर्वाण, निर्वृत्ति, समाधि, शक्ति, कीर्ति, कांति, दया, विमुक्ति, अभय आदि ६० नाम बताये गये हैं। हिंसा का लक्षण है—प्रमाद व कषायवश किसी भी प्राणी के प्राणों को मन, वचन व काया से बाधा पहुँचाना। इसलिए अहिंसा का लक्षण होगा 'उन्हें बाधा न पहुँचाना'। केवल बाधा पहुँचाना ही नहीं अपितु उसके लिए किसी भी तरह की अनुमति देना भी हिंसा है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में प्राणी को कष्ट न देना अहिंसा है। अहिंसा और हिंसा की आधारभूमि मुख्य रूप से भावना है। मन में हिंसा है तो बाहर में अहिंसा होने पर भी हिंसा ही है। यदि मन में पवित्र भावनाएँ अंगड़ाइयाँ ले रही हैं, विवेक प्रबुद्ध है तो बाहर में हिंसा प्रतीत होते हुए भी अहिंसा है।

अन्तर्मानस में द्वेष, घृणा व अपकार की भावना का अभाव हो और प्रेम, करुणा व कल्याण भावना का सागर उछल रहा हो, तो शिक्षा के लिए उचित ताड़ना देना, रोग निवारण के लिए कटु औषध देना, जीवन को सुधारने के लिए प्रायश्चित देना हिंसा नहीं है। मन में दूषित भावना हो या संकल्पपूर्वक अपने निमित्त से किसी दूसरे के मन में दूषित भावना पैदा की हो तो हिंसा है।

अहिंसक साधक के मन-वाणी व जीवन के कण-कण में अहिंसा का स्वर झंकृत होता है। उसके चित्त में अहिंसा की निर्मल स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है। उसके भाषण में दया का मधुर रस बरसता है और उसकी प्रत्येक शारीरिक प्रवृत्ति में अहिंसा की सुमधुर झंकार झंकृत होती है। वह अहिंसा भगवती की ब्रह्म के समान उपासना करता है। जैसे पक्षियों के लिए अनंत आकाश और नौका के लिए समुद्र आधार है वैसे ही समस्त जीवों के लिए अहिंसा आधार है। वह क्षेमंकरी है। तीर्थंकरों द्वारा सुदृष्ट है और विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा, अनुपालित व उपदिष्ट है। अहिंसा के रक्षणार्थ आहार-शुद्धि आवश्यक है। षट्काय के जीवों की रक्षा के निमित्त शुद्ध आहार की गवेषणा का इसमें उपदेश दिया गया है। श्रमण को किस प्रकार आहार की गवेषणा करनी चाहिए इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जो आहार कृत-कारित न हो, क्रयदोष से रहित हो, उद्गम, उत्पात व एषणा दोष से दूषित न हो किन्तु नवकोटि शुद्ध हो वह आहार श्रमण के लिए ग्राह्य है। मंत्र-मूल-भैषज्य स्वप्नफल और ज्योतिष आदि बताकर लिया गया आहार अग्राह्य है। अहिंसा के इस व्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएँ बताई गई हैं।

प्रथम भावना में त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा हेतु देखकर चलना, इसे ईर्यासमिति कहते हैं। दूसरी भावना मनःसमिति की है; जिसमें अशुभ व अधार्मिक विचार नहीं करना व तीसरी भावना वाक्समिति की है, जिसमें सावद्य भाषा का प्रयोग न करना प्रतिपादन किया गया है। चौथी भावना एषणासमिति की है जिसमें भिक्षैषणा के निमित्त श्रमण को यह निर्देश किया गया है कि वह अनेक घरों से स्वल्प-स्वल्प भिक्षा ग्रहण करे, गुरु के समक्ष उसकी आलोचना करे और अप्रमत्त होकर शुभयोगों का चिन्तन करे। उसके पश्चात् सभी श्रमणों को निमंत्रित कर मूर्च्छारहित होकर केवल साधना हेतु प्राणधारण करने की दृष्टि से आहार ग्रहण करे। पाँचवी आदाननिक्षेपणसमिति में पीठ, फलग और शय्या-संस्तारक, वस्त्र-

पात्र-कंबल, दंड, रजोहरण, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका[1] और पैर पोंछने का कपड़ा आदि उपकरणों को राग-द्वेष रहित भावना से यतनापूर्वक ग्रहण करे। जो साधक इस प्रकार नियमों का पालन करता हुआ जीवन यापन करता है वह आराधक है।

द्वितीय अध्ययन में सत्य का विश्लेषण किया गया है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान और भाषण सत्य है। सत्य, अहिंसा का ही विराट रूप है। सत्य का व्यवहार केवल वाणी से ही नहीं होता अपितु उसका मूल उद्गम-स्थान मन है। जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, जैसा अनुमान किया हो वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना सत्य है। सत्य कोमल व मधुर होना चाहिए। जिस वाणी से प्राणियों का हित न हो, जिससे मन में कष्ट हो वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है अतः सत्य 'शिवं-सुन्दरं' होना चाहिए। भगवान महावीर ने सत्य को भगवान कहा है। सत्यवादी न समुद्र में डूबता है, न अग्नि में जलता है, विकट से विकट परिस्थिति में भी वह सुरक्षित रहता है। वह देव-दानव और मानव द्वारा वंदनीय है। सत्यवादी श्रमणों के लिए भाषा सम्बन्धी ज्ञान आवश्यक है। जिससे वह नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य जैसे भेदों की वास्तविकता को जान सके जो व्यवहार की दृष्टि से सत्य माना जाता है। सत्य धर्म के रक्षणार्थ पांच भावनाएँ प्रतिपादित की हैं।

प्रथम भावना अनुचिन्त्यसमिति रूप है। सद्गुरु से मृषावाद विरमण-सत्यवचनप्रवृत्तिरूप संवर के प्रयोजन को सुनकर, उसके रहस्य को जानकर संशययुक्त व शीघ्र-शीघ्र न बोले, कटुवचन न बोले, चंचलता से न बोले, चिन्तन-पुरस्सर बोले। दूसरी भावना क्रोधनिग्रह शांतिरूप है। क्रोध न करे, चूंकि क्रोधी मानव रौद्ररूप परिणामों के वशीभूत होकर मिथ्या बोलता है, वह एक दूसरे की चुगली खाता है और वैर-विरोध पैदा कर देता है। वह सत्य-शील-सदाचार का नाश करता है। क्रोधी मानव सर्वत्र तिरस्कार का पात्र होता है। अतः क्रोध करना उचित नहीं है। क्षमाभाव की सुरसरिता में निमग्न रहने वाला साधक सदा आनंद का अनुभव करता है। तीसरी भावना लोभविजयरूप निर्लोभभावना

---

१ पंचमं आदाननिक्खेवणसमिईपीढफलग सिज्जा संथारगवत्थपत्त-कंबल दंडगरय-हरणचोलपट्टगमुहपोत्तिग पायपुंछणादी। —श्री प्रश्नव्याकरण २।१।२३

है। क्रोध की भाँति लोभ भी सत्य का शत्रु है। क्रोध द्वेषात्मक वृत्ति है तो लोभ रागात्मक है। जिस प्रकार सहस्ररश्मि सूर्य पर बादल छा जाने से उसका प्रकाश मंद हो जाता है और कभी-कभी काली घटा के आने से अंधकार भी हो जाता है वैसे ही बुद्धि रूपी सूर्य पर क्रोध और लोभ की घटाएँ छा जाने पर विवेक का प्रकाश लुप्त हो जाता है और मन में अविवेक का अंधकार व्याप्त हो जाता है। बिल्ली जैसे दूध पीने के लालच में सामने पड़ी हुई लकड़ी को नहीं देखती वैसे ही लोभ के कारण आने वाली विपत्तियों को मानव नहीं देखता। वह अनेक विपत्तियाँ सहन करता है। सत्य का साधक सतत यह चिन्तन करता है कि अशन, वसन और भवन, जिस पर मैं लुब्ध हो रहा हूँ, जिनकी ममता में मैं पागल हो रहा हूँ, जिनके लोभ का ज्वार ज्वर की तरह मुझे पीड़ित कर रहा है, यह सब संपत्ति तो विपत्ति है। सच्ची संपत्ति तो आत्म-शांति है। इस भावना से साधक लोभ पर विजय प्राप्त कर अपूर्व उल्लास, निस्पृहता का अनुभव करता है। चतुर्थ भावना भयवर्जनरूप—धैर्ययुक्त अभय भावना है। लोभ एक तरह से मीठे ठग के सदृश है। वह साधक के जीवन-रस को चुपके-चुपके चूसता है किन्तु भय कड़ुवा ठग है। भय से मन आतंकित, दुर्बल और व्याकुल हो जाता है। भय जीवन को अंधकार में ढकेलने वाला है और मनोबल को गिराने वाला है। भयभीत मानव कभी सत्य नहीं बोल सकता, अतः साधक सदा भय से दूर रहता है। वह चिन्तन करता है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र जैसी अमूल्य निधि मेरे पास है, विवेक-विचार-संतोष व समत्व जैसे परम स्नेही मित्र मेरे सहायक हैं फिर मुझे किस बात का डर है? इस प्रकार के चिन्तन-मनन से मन में निर्भयता के संस्कार दृढ़ होते हैं और वह धैर्ययुक्त अभय भावना से आत्मा को भावित करता है। पाँचवीं भावना हास्यमुक्तिवचनसंयमरूप है। हास्य सत्य का शत्रु है। सत्यवक्ता एक-एक वचन चिन्तन की गहराई में डूबकर प्रयोग करता है जिसमें विवेक की चमक होती है। किन्तु हंसी-मजाक में बोलने वाला शब्दों का विवेकयुक्त चुनाव नहीं करता। वह तो ऐसी बात कहना चाहता है जिससे सुनने वाले हँस पड़ें। वह झूठ भी बोलता है, अतिशयोक्ति भी करता है, विदूषक या भांड के समान कुचेष्टा कर विविध प्रकार की आवाजें भी निकालता है। ये सब आचरण त्याज्य हैं क्योंकि जिसका मजाक किया जाता है उसके हृदय में चोट पहुँचती है। अतः साधक सतत सावधान रहकर ऐसे संस्कार जागृत करे जिससे उसकी वाणी

में हास्य और असत्य वचनों का समावेश न हो। उसकी वाणी सदा संयत और गंभीर रहे।

तीसरे अध्ययन में अचौर्य पर प्रकाश डाला है। अचौर्य अहिंसा और सत्य का ही रूप है। जैसे छिपकर या बलात्कारपूर्वक किसी व्यक्ति की वस्तु या धन का हरण करना चोरी है वैसे ही अन्यायपूर्वक किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का अधिकार हरण करना भी चोरी है। वह साधक मन, वचन व कर्म से न किसी की चोरी करता है, न करवाता है, और न करने का अनुमोदन करता है। अहिंसा और सत्य का अचौर्य के साथ गहरा संबंध है। अहिंसा से मन में करुणा की भावना पुष्ट होती है। सत्य से साहस व अभयनिष्ठा जागृत होती है। अचौर्य से मन की असीम आकांक्षा और वितृष्णा पर अंकुश रहता है। हिंसा में क्रूरता मुख्यरूप से रहती है जबकि चोरी में तृष्णा की मुख्यता होती है। किसी भी सुन्दर वस्तु को देखकर तस्कर के मन में इच्छा होती है कि मैं इसे कैसे प्राप्त करूँ? उसके मन में चंचलता आती है और येन-केन-प्रकारेण उस वस्तु को प्राप्त करता है। इस सूत्र में चोरी की दो परिभापाएँ प्राप्त होती हैं—(१) अर्थहरण चोरी और (२) अधिकार हरण चोरी।

इस व्रत की पाँच भावनाएँ हैं। प्रथम निमित्तवाससमितिभावना—जो स्थान प्रासुक हो, किसी को पीड़ाकारी न हो, जहाँ पर स्त्रियों का आवागमन न हो, जहाँ पर रहने से साधु के आचार में कोई स्खलना होने की संभावना न हो और किसी प्रकार का आरंभ-समारंभ न करना पड़े ऐसे स्थान में आवास करना चाहिए। श्रमण चिन्तन करे कि मैं अनगार हूँ; जैसे साँप चूहों के बनाये हुए बिल में रहता है उसी प्रकार मुझे परकृत-दूसरों के निमित्त बने हुए निर्दोष मकानों में ही रहना चाहिए। सर्दी, गर्मी और वर्षा में असुविधा होने पर वह सोचे कि ये क्षणिक हैं, मुझे हमेशा के लिए यहाँ नहीं रहना है। मेरा जीवन तो सरिता की भाँति गतिशील है। आज यहाँ तो कल वहाँ, मुझे अपने व्रतों की रक्षा करनी है। इस प्रकार के चिन्तन से वह अपनी भावना को सुदृढ़ बनाता है।

दूसरी भावना अनुज्ञातसंस्तारकग्रहणरूप अवग्रह समिति है। आवास की चिन्ता से मुक्त होने पर श्रमण के सामने दूसरी चिन्ता बिछौने या संस्तारक की है। श्रमण बिना दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता।

यदि शय्यासंस्तारक अनुकूल न मिले तब भी वह खिन्न न हो। वह यही सोचे कि पृथ्वी ही सुन्दर सेज है, वह पुष्पशय्या के समान है और अपनी भुजा ही मुलायम तकिया है। इस प्रकार वह मन में समाधि रखता है।

तीसरी भावना शय्यासंस्तारकपरिकर्मवर्जनारूप शय्यासमिति है। यह उपर्युक्त दोनों भावनाओं का सम्मिलित रूप है। श्रमण जिस मकान में रहे वह यदि हवादार न हो, टूटा-फूटा हो, मच्छर आदि हों, तो अपनी सुख-सुविधा के लिए उसकी मरम्मत करवाने की न सोचे। बिछौने के सम्बन्ध में भी यही बात है। जहाँ हिंसा है वहाँ चोरी भी है क्योंकि जिन जीवों के प्राण लिए जा रहे हैं उनकी अनुमति तो प्राप्त की ही नहीं है। पर-प्राणहरण पर-धनहरण से भी बड़ी चोरी है। इस प्रकार मन को समतायोग में रमा कर शय्यापरिकर्म की वर्जना करता हुआ अपने चारित्र को निर्मल रखे।

चतुर्थ भावना अनुज्ञातभक्तादि भोजनलक्षणा साधारणपिंडपात-लाभ समिति है। आवास, शय्या के पश्चात् भोजन आता है। इस भावना में जो भी आहार प्राप्त हो उसे अकेला भोगने की इच्छा न करे और न उसे छिपाकर रख ले। यह संघ व आचार्य की चोरी है। इससे संघ और सार्धर्मिकों के अधिकार का हनन होता है। संघ में अविश्वास और अप्रीति बढ़ती है। जो अकेला खाता है वह अपने चारित्र को दूषित करता है। संविभाग नहीं करने वाले को मुक्ति नहीं मिलती। असंविभागी श्रमण पाप-श्रमण है। अतः श्रमण को सदा संविभाग—समान वितरण की वृत्ति व संस्कार जागृत करने के लिए उक्त भावना का चिन्तन करते रहना चाहिए।

पाँचवीं भावना सार्धर्मिकों में विनयकरणभावना समिति है। सार्धर्मिक का अर्थ समान धर्म व समान आचार वाला है। प्रत्येक श्रमण का धर्म, नियम, मर्यादा व आचार समान होता है। अतः वे परस्पर सार्धर्मिक कहलाते हैं। सार्धर्मिक के प्रति सम्मान की भावना रखने का माध्यम विनय है। विनय से सबके हृदय प्रेमसूत्र में बंध जाते हैं। इस भावना में मानसिक वातावरण ऐसा बनाना चाहिए जिसमें सेवा, सहयोग, स्नेह और विनय के फूल सदा खिलते रहें, महकते रहें।

चतुर्थ अध्ययन में ब्रह्मचर्य का विश्लेषण है। ब्रह्मचर्य अपने आप में एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति है। आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, जिससे

मानव समाज पूर्ण सुख और शांति प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा का वर्णन करते हुए भगवान ने 'उत्तमं बंभं भगवंतं' कहा है। मुनियों में तीर्थंकर श्रेष्ठ हैं ऐसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य है। यह व्रतों का मुकुट-मणि है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—सभी इन्द्रिय और सम्पूर्ण विकारों पर अधिकार पा लेना। ब्रह्मचर्य से तेज, घृति, साहस और विद्या की प्राप्ति होती है।

इस व्रत की पाँच भावनाएँ हैं। प्रथम भावना है—असंसक्तवास-वसतिभावना। जहाँ-जहाँ और जिन-जिन कारणों से ब्रह्मचर्य में दूषण और स्खलनाएं होने की संभावनाएँ हों उन कारणों, स्थानों और प्रसंगों का वर्जन करते रहना भावनाओं का मुख्य लक्ष्य है। वातावरण से मन प्रभा-वित होता है अतः मन को ब्रह्मचर्य में स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि चंचलता उत्पन्न करने वाली बातें, मोहपूर्ण कामोत्तेजक वातावरण जहाँ हो वहाँ साधक को नहीं रहना चाहिए। इस भावना में स्त्रीसंसर्गयुक्त आवास का वर्जन है।

दूसरी भावना स्त्रीकथाविरति है। साधु अपने चिन्तन को स्त्रीकथा से विरत रखकर धर्मकथा की ओर मोड़ता है। तीसरी भावना स्त्रीरूपनिरी-क्षणविरति है। स्त्री के रूप को कामुक दृष्टि से देखना, उस पर आसक्त होना, पुनः-पुनः देखते रहने का प्रयत्न करना और सौन्दर्य की प्रशंसा करना यह राग का कारण और चारित्र को दूषित करने वाला है। जैसे सूर्य के सामने देखने से आँखें चुंधिया जाती हैं वैसे ही स्त्री का सौन्दर्य कामुक दृष्टि से देखने पर मन की आँखें भी चुंधिया जाती हैं। मन में ब्रह्मचर्य के संस्कार सुदृढ़ बनाना आवश्यक है। स्त्री का सौन्दर्य और उसके अंग-प्रत्यंग आदि की ओर दृष्टि न डाले। चतुर्थ भावना है—पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ितविरति। श्रमण ने अपने गृहस्थ जीवन में अपनी पत्नी, प्रेयसी या अन्य किसी स्त्री के साथ कामक्रीड़ा की हो, मधुर प्रेमालाप किया हो, उसके शरीर के विविध अंगों का स्पर्श किया हो, यदि वह उनको स्मरण करे तो उसकी याद ताजी हो जायगी और विकार उत्पन्न हो जायेंगे। अतः पूर्व-जीवन में भोगे हुए काम-भोगों का साँप, जो कि स्मृतियों में मूर्च्छित होकर छिपा पड़ा है वह, विचारों की स्मृति से गर्मी पाकर पुनः चैतन्य और गतिशील न हो, इसलिए ऐसे संस्कार बनाये जाएँ जिससे स्मृति उस ओर न मुड़े। पाँचवीं भावना प्रणीत-आहारविरति समिति है। ब्रह्मचर्य की साधना में बाह्य शुद्ध वातावरण

जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है आहारसंयम। आहार का मन पर बहुत गहरा और शीघ्र प्रभाव पड़ता है। अत: श्रमण को भोजन सादा व शुद्ध करना चाहिए। प्रणीत-आहार के पीछे दो दृष्टियां हैं--घी, मसाले आदि गरिष्ठ भोजन व अधिक भोजन करना। ये दोनों बातें ब्रह्मचर्य के लिए घातक हैं। प्रणीत-आहार से शरीर में रस, रक्त आदि उत्तेजित होते हैं और विकार बढ़ते हैं। गरिष्ठ भोजन से आलस्य आता है, प्रमाद बढ़ता है, मन में राक्षसी वृत्तियां जागृत होती हैं। अतः साधक सोचे कि शरीर को मात्र सहारा देने के लिए भोजन करना है, पुष्ट बनाने के लिए नहीं। इस भावना से भोजन के प्रति आसक्ति नहीं होती है। संयम की वृत्ति सुदृढ़ होती है।

पांचवें अध्ययन में अपरिग्रह का निरूपण है। धन, सम्पत्ति, भोगसामग्री आदि किसी भी प्रकार की वस्तुओं का ममत्वमूलक संग्रह करना परिग्रह है। परिग्रह में दो शब्द हैं। परि+ग्रह, परि का अर्थ है संपूर्णरूप से, ग्रह का अर्थ है ग्रहण करना। किसी भी वस्तु को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना या मूर्च्छा ममताबुद्धि के साथ ग्रहण करना परिग्रह है। जैनदर्शन का अभिमत है कि अपरिग्रह का अर्थ वस्तु का अभाव नहीं; अपितु ममता—मूर्छा का अभाव है। किसी भी वस्तु में चाहे वह छोटी हो या बड़ी हो, जड़ या चेतन हो, बाह्य या अभ्यन्तर हो, उसमें आसक्ति रखना, उसमें बँध जाना, उसके पीछे पड़ कर अपना विवेक खो बैठना—परिग्रह है। पूर्ण अपरिग्रही साधक को दाँत, शृङ्ग, काँच, पत्थर एवं चर्म आदि के पात्र एवं सचित्त फल-फूल, कंदमूल आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। अपरिग्रही साधक भोजन के लिए भी हिंसा नहीं करता। वह शरीर-रक्षा व धर्मसाधना के लिए जो वस्त्र-पात्र ग्रहण करता है वह निर्ममत्व भाव से ही ग्रहण करता है व धारण करता है। इस व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

प्रथम भावना श्रोत्रेन्द्रियसंवररूप शब्द भावना है। कोई स्तुति करे या निन्दा करे, मधुर बोले या कटु बोले तो भी साधक मन को इस प्रकार की शिक्षा दे जिससे कि वह शब्द-विषयों के प्रति आकृष्ट या विकृष्ट न हो।

दूसरी भावना चक्षुरिन्द्रियसंवररूप निस्पृह भावना है। साधक के सामने चाहे सुन्दर या असुन्दर कोई भी वस्तु आवे वह स्थितप्रज्ञ की भाँति उसे देखे, न मन में रागद्वेष करे और न वाणी से निंदा-स्तुति ही। किन्तु तटस्थ रहकर चक्षुरिन्द्रिय संयम का अभ्यास करे।

तीसरी घ्राणेन्द्रियसंवर भावना है। घ्राण का अर्थ नाक है। नाक का स्वभाव है गन्ध का ज्ञान कराना। जो गन्ध मन को मधुर, मोहक और प्यारी लगती है, वह सुगन्ध है। जो अप्रिय और असुहावनी लगती है, वह दुर्गंध है। सुगन्ध-दुर्गन्धमय वस्तु सामने आने पर भी मन को रागद्वेष से पीड़ित न होने दे और ऐसी शिक्षा दे कि जिससे वह समभाव की स्थिति में रह सके।

चतुर्थ रसनेन्द्रियसंवर भावना है। रसनेन्द्रिय के दो कार्य हैं— चखना और बोलना। यह बोलकर भी सुख-दुःख देती है और खाकर भी। जैसे गाड़ी चलाने के लिए पहियों में तैल आदि लगाना पड़ता है जिससे कि गाड़ी ठीक चलती रहे, जैसे घाव को ठीक करने के लिए मरहम लगाना पड़ता है, वैसे ही शरीर को ठीक चलाने के लिए आहार की आवश्यकता है। अत: जो भी नीरस या सरस भोजन मिले उसे अस्वादभाव से ग्रहण करे। इसी प्रकार विवेकयुक्त वचन बोले।

पाँचवीं स्पर्शनेन्द्रियसंवर भावना है। प्रति दिन शरीर को ठण्डे, गरम, हलके, भारी, खुरदरे, कोमल स्पर्श का अनुभव होता है। इस भावना में साधक मन को इस प्रकार की शिक्षा देता है कि ये शीत, उष्ण, कोमल जो भी स्पर्श हैं वे शरीर के हैं। साधक उनमें तटस्थ व समाधिस्थ रहने का अभ्यास करे। मन को हर प्रकार के स्पर्श में सम रखे।

इस प्रकार पाँच संवर द्वारों में २५ चारित्र भावनाएँ बताई हैं। इन भावनाओं के चिन्तन-मनन और जीवन में पुनः-पुनः प्रयोग करने से साधक को त्यागमय, तपोमय व अनासक्त जीवन जीने की शिक्षा प्राप्त होती है और संयम के महामार्ग पर सम्यक् रीति से प्रयाण करने में सफलता प्राप्त होती है।

उपसंहार

आस्रव और संवर का निरूपण आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र में जिस विस्तार से विश्लेपण किया गया है वह अद्भुत और अनूठा है। वैसा वर्णन किसी भी अन्य आगम साहित्य में उपलब्ध नहीं है। प्रस्तुत आगम की यह अपनी विशेपता है।

□

११. विपाकसूत्र

नामकरण

प्रस्तुत सूत्र द्वादशांगी का ग्यारहवाँ अंग है। इस आगम में सुकृत और दुष्कृत कर्मों के विपाक का वर्णन किया गया है, अतः इसका नाम विपाकसूत्र है[१]। ठाणांगसूत्र में इसका नाम कम्मविवागदसा मिलता है।[२] प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध हैं, २० अध्ययन हैं, २० उद्देशनकाल, २० समुद्देशनकाल, संख्यात पद, संख्यात अक्षर, परिमित वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढा नामक छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं। वर्तमान में यह १२१६ श्लोक परिमाण है।

विषय-वस्तु

कर्मसिद्धान्त जैनदर्शन का एक मुख्य सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त का प्रस्तुत आगम में दार्शनिक विश्लेषण नहीं किन्तु उदाहरणों के द्वारा सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। प्रथम विभाग में दुष्कर्म करने वाले व्यक्तियों के जीवन-प्रसंगों का वर्णन है। इन प्रसंगों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि कुछ व्यक्ति प्रत्येक युग में होते हैं, जो अपनी क्रूर व हिंसक मनोवृत्ति के कारण भयंकर से भयंकर अपराध करते हैं और अपने दुष्कर्म के कारण उन्हें यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। द्वितीय विभाग में सुकृत्य करने वाले व्यक्तियों के जीवन-प्रसंग हैं। जिस प्रकार क्रूर कृत्य करने वाले व्यक्ति प्रत्येक युग में मिलते है वैसे ही सुकृत्य करने वाले व्यक्ति भी हर युग में मिलते हैं। अच्छाई और बुराई किसी युग-विशेष की देन नहीं है। अच्छे और बुरे व्यक्ति हर युग में मिल सकते हैं। स्थानांगसूत्र में कर्मविपाक के

---

१ (क) समवायांग प्रकीर्णक समवाय सूत्र ९६
(ख) नन्दी सूत्र ९१
(ग) तत्वार्थवार्तिक १।२०
(घ) कसायपाहुड, भाग १, पृ० १३२

२ ठाणांग १०।११०

मृगापुत्र, गोत्रास, अंड शकट, माहन, नंदीषेण, शौरिक, उदुम्बर, सहसोद्दाह, आमरक और कुमार लिच्छवी ये दश अध्ययन बताये हैं।[1]

ये नाम किसी दूसरी वाचना के प्रतीत होते हैं। वर्तमान में उपलब्ध दुःखविपाक में दश अध्ययनों के ये नाम मिलते हैं—मृगापुत्र, उज्झितक, अभग्नसेन (अभग्गसेन), शकटकुमार, बृहस्पतिदत्त, नंदीवर्धन, उदुंबरदत्त, शौर्यदत्त, देवदत्ता, अंजुश्री। पं० बेचरदास दोशी ने स्थानांग में आये हुए नामों के साथ वर्तमान में उपलब्ध नामों का समन्वय किया है। वह इस प्रकार है।

गोत्रास उज्झितक के अन्य भव का नाम है। अण्ड नाम अभग्नसेन ने पूर्वभव में जो अण्डे का व्यापार किया था उसका सूचक होना चाहिए। ब्राह्मण (माहन) नाम का सम्बन्ध बृहस्पतिदत्त पुरोहित से हो सकता है। नन्दीषेण का नाम नन्दीवर्धन के नाम पर प्रयुक्त हुआ है। सहसोद्दाह आमरक का सम्बन्ध राजा की माता को तप्तशलाका से मारने वाली देवदत्ता के साथ मिलता है। कुमार लिच्छवी के स्थान पर अंजुश्री नाम आया है, अंजु का जीव अपने अन्तिम भव में किसी सेठ के यहाँ पर पुत्ररूप में उत्पन्न होगा। इस कारण से सम्भव है कुमार-लिच्छवी नाम दिया गया हो। लिच्छवी का सम्बन्ध लिच्छवी वंश विशेष से है।[2]

सुखविपाक आगम में दश अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं—सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदासकुमार (वैश्रमणकुमार), धनपति, महाबलकुमार, भद्रनन्दीकुमार, महाचन्द्रकुमार और वरदत्तकुमार। नन्दी और स्थानाङ्ग में सुख विपाक के अध्ययनों के नाम नहीं गिनाए हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध : दुःखविपाक

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र का वर्णन है। वह मृगावती का पुत्र था। यह जन्म से अंधा, बहरा, लूला, लंगड़ा, गूंगा और वात, पित्त, कफादि रोगों से पीड़ित था। उसे कोई न देख ले अतः रानी मृगावती ने उसका पालन-पोषण तहखाने (भोंयरे) में किया। उस नगरी

---

१ ठाणांग १०।१११

२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० १, पृ० २६३, प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

में एक जन्मांध भिखारी था। गणधर गौतम ने उस भिखारी को देखकर, भगवान महावीर से प्रश्न किया, 'भगवन् क्या किसी स्त्री के कोई बच्चा जन्म से ही अंधा होता है ?' भगवान ने मृगापुत्र की बात बताते हुए कहा— वह अंधा ही नहीं, बहरा, लूला और लंगड़ा भी है। उसके हाथ-पैर उपांगादि आकारमात्र हैं, प्रगट नहीं हैं। भगवान की आज्ञा से गौतम उसे देखने के लिए पहुँचे। उसके शरीर में से मृत साँप की सी दुर्गंध आ रही थी। वह आहार ग्रहण करता जो रक्त और मवाद बनकर बाहर निकलता और वह पुनः उसे खा जाता था। उसे देखते ही गौतम को नारकीय दृश्य स्मरण हो आये। भगवान ने उसके पूर्वभव का वर्णन करते हुए कहा कि उस जीव ने पूर्वभव में अत्यधिक पापकृत्य किये जिसके फलस्वरूप उसे उस जन्म में भी सोलह महारोग हुए और वहाँ से वह मरकर प्रथम नरक में पैदा हुआ। नरक से निकल कर यह मृगापुत्र हुआ है और यहाँ पर पूर्वकृत पाप का फल भोग रहा है। इसके बाद भी अनेक जन्मों तक इसे पाप का फल भोगना पड़ेगा।

द्वितीय अध्ययन में गोमांस भक्षण एवं मद्यपान तथा विषयासक्ति के दुःखद फलों को बताते हुए उज्झितकुमार का परिचय दिया है। उज्झित वाणिज्यग्राम के विजयमित्र सार्थवाह का पुत्र था। गौतम गणधर वाणिज्यग्राम में भिक्षा हेतु पधारे। वहाँ उन्होंने अत्यधिक कोलाहल सुना। उन्हें ज्ञात हुआ कि राजपुरुष किसी को बाँधकर मारते-पीटते हुए ले जा रहे हैं। गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि इसको इतना कष्ट क्यों दिया जा रहा है ? भगवान महावीर ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा कि हस्तिनापुर में भीम नाम का एक कूटग्राह अर्थात् पशुओं का तस्कर रहता था। उसकी पत्नी का नाम उत्पला था। जब वह गर्भवती हुई तब उसे गाय, बैल आदि के मांस खाने की इच्छा जागृत हुई। उसने उसकी पूर्ति की। गायों को त्रास देने के कारण उस पुत्र का नाम गोत्रास रखा। वही गोत्रास जीवनभर गो-मांस आदि का उपयोग करता रहा। वहाँ से मरकर वाणिज्यग्राम में विजयमित्र के यहाँ उज्झित नाम का पुत्र हुआ। जब यह बड़ा हुआ तो इसके माता-पिता का देहान्त हो गया। नगर रक्षक ने उसे घर से निकाल दिया और वह कुसंगति में पड़ने से द्यूतगृह, वेश्यागृह, मद्यगृह आदि में परिभ्रमण करने लगा। उसी नगर में जो कामध्वजा वेश्या रहती है उसमें यह आसक्त हो गया। वह

वेश्या राजा को भी प्रिय है अतः राजा ने आवेश में आकर अपने अनुचरों से इसे पकड़वाया और इसकी खूब मरम्मत की। अन्त में इसे शूली पर चढ़ाया जायगा। यह मरकर पापकर्म के कारण नरकादि गतियों में परिभ्रमण करेगा। यह विषयासक्ति का कटु विपाक है।

तृतीय अध्ययन में अभग्नसेन का प्रसंग है। इसमें वह मद्यपान एवं अंडों का विक्रय कर प्राणियों को पीड़ित करता था। उसका जीवनवृत्त इस प्रकार है। पुरिमताल शालाटवी चोरपल्ली में विजय नाम का एक तस्कर अधिपति रहता था। उसकी पत्नी का नाम खंदसिरी था। उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम अभग्नसेन रक्खा गया। वह अभग्नसेन पूर्व भव में निर्णय नामक अंडों का बहुत बड़ा व्यापारी था। वह कबूतर, मुर्गी, मोरनी, आदि के अंडों को स्वयं एकत्रित करता, दूसरों से करवाता, फिर उन अंडों को आग पर तलता, भूनता और उन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाता और स्वयं भी उन अंडों का आहार करता। उस पाप के फलस्वरूप वह तृतीय नरक में उत्पन्न हुआ और वहां से निकलकर यह अभग्गसेन या अभग्नसेन तस्कर हुआ है। इसने प्रजा को अनेक यातनाएं दी हैं। उनके तन, धन, जन का अपहरण किया है। राजा ने अभग्नसेन को पकड़ने के अनेक प्रयास किये पर वह सफल न हो सका। अंत में एक महान् उत्सव में उसे राजा ने आमंत्रित किया और उसे पकड़कर अनेक प्रकार की यातनाएँ देते हुए उसे शूली पर चढ़ाया गया। भगवान ने गौतम की जिज्ञासा पर उसके पाप की यह दारुण कथा बताई।

चतुर्थ अध्ययन में शकट का जीवन प्रसंग है। शकट साहंजणी ग्राम के सुभद्र नामक सार्थवाह का पुत्र था। गणधर गौतम ने देखा कि राजपथ पर अनेक व्यक्तियों से घिरा हुआ एक व्यक्ति खड़ा है और उसके पीछे एक महिला खड़ी थी। उन दोनों की नाक कटी हुई थी और वे बन्धनों में जकड़े हुए थे। वे उच्च स्वर से पुकार रहे थे कि हम अपने पाप का फल भोग रहे हैं। गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि ये कौन हैं और इन्होंने ऐसा कौनसा पापकृत्य किया है जिसका ये फल भोग रहे हैं? भगवान ने कहा—छगलपुर नगर में छन्निक नामक कसाई था। वह अनेक पशुओं के मांस को बेचता था, जिसके फलस्वरूप वह चतुर्थ नरक में गया और वहाँ से निकलकर वैश्य सुभद्र की पत्नी भद्रा की कुक्षि से पैदा हुआ तथा सप्त व्यसनों का सेवन करने लगा। सुदर्शना नामक वेश्या से वह प्रेम

ने भगवान महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि सुबाहु ने ऐसा कौनसा दानादि सत्कृत्य किया जिसके कारण यह ऋद्धि इसे प्राप्त हुई ? भगवान ने कहा—पूर्वभव में इसने सुदत्त अणगार को एक मास की तपस्या के पारणे में अत्यन्त उदार भावना से दान दिया जिसके कारण यह ऋद्धि इसे प्राप्त हुई है। इसके कुछ वर्षों के बाद सुबाहुकुमार ने महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर देव बने। पश्चात् मनुष्यभव धारण करके मुक्त बनेंगे।

इसी प्रकार दूसरे अध्ययन में भद्रनन्दी, तीसरे अध्ययन में सुजात कुमार, चौथे अध्ययन में सुवासवकुमार, पाँचवें अध्ययन में जिनदास, छठे अध्ययन में धनपति (वैश्रमणकुमार), सातवें में महाबल, आठवें में भद्रनन्दी-कुमार, नवें में महाचंद्रकुमार और दसवें में वरदत्तकुमार का वर्णन है। ये सभी राजकुमार थे। इन सभी ने तपस्वी मुनि को पवित्र भावना से निर्दोष आहारदान दिया था। उस कारण से उन्हें अपार सुख, ऐश्वर्य, रूप आदि प्राप्त हुआ था और अन्त में वे उत्तमकुल में जन्म ग्रहण कर साधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त करेंगे। इन दश अध्ययनों में से सुबाहुकुमार आदि कुछ जीव तो १५ भव धारण करके मोक्ष जायेंगे और कुछ जीवों ने उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया।

उपसंहार

विपाकसूत्र में आये हुए सभी पात्र ऐतिहासिक ही हों यह बात नहीं, कुछ पौराणिक और प्रागैतिहासिक हैं। दुःखविपाक के सभी कथानकों में हिंसा, स्तेय और अब्रह्म के कटु परिणामों का दिग्दर्शन कराया गया है। किन्तु असत्य और महापरिग्रह के परिणामों की कोई कथा इसमें नहीं आई। इसी प्रकार सुखविपाक में दान के फल का दिग्दर्शन है किन्तु अन्य धर्मों के आराधन के फलों का निर्देश नहीं है। जबकि नन्दी और समवाय में यह उल्लेख है कि प्रस्तुत आगम में असत्य और परिग्रहवृत्ति के परिणामों की भी चर्चा है।

□

१२. दृष्टिवाद

नामकरण

दृष्टिवाद बारहवाँ अंग है, जिसमें संसार के सभी दर्शनों एवं नयों का निरूपण किया गया है।[१] दूसरे शब्दों में कहें तो जिसमें सम्यक्त्व आदि दृष्टियों—दर्शनों का विवेचन किया गया हो वह दृष्टिवाद है।[२]

दृष्टिवाद विलुप्त हो चुका है। वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। भगवान महावीर के १७० वर्ष के पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। उनके स्वर्गगमन के पश्चात् दृष्टिवाद का शनैः-शनैः लोप होने लगा और वीर निर्वाण सम्वत् १००० में वह पूर्णरूप से लुप्त हो गया। अर्थात् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गगमन के बाद वह शब्द रूप से पूर्णतया नष्ट हो गया और अर्थरूप में कुछ अंश बचा रहा।[३]

दृष्टिवाद के नाम

ठाणांग में दृष्टिवाद, हेतुवाद, भूतवाद, तथ्यवाद, सम्यग्वाद, धर्मवाद, भाषाविचय या भाषाविजय, पूर्वगत, अनुयोगगत और सर्वप्राणभूतजीवसत्वसुखावह ये दश नाम दृष्टिवाद के प्राप्त होते हैं।[४]

---

१ दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा। प्रवचन पुरुषस्य द्वादशेऽङ्गे।

—स्थानांगवृत्ति, ठा० ४, उ० १

२ दृष्टिर्दर्शनं सम्यक्त्वादि, वदनं वादो, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः।

—प्रवचनसारोद्धार, द्वार १४४

३ गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ······

—भगवतीसूत्र, शतक २०, उ० ८, सू० ६७७; सुत्तागमे पृ० ८०४

४ दिट्ठिवायस्स णं दस नामधिज्जा पण्णत्ता। तं जहा—दिट्ठिवाएइ वा, हेउवाएइ वा, भूयवाएइ वा, तच्चावाएइ वा, सम्मावाएइ वा, धम्मावाएइ वा, भासाविजएइ वा, पुव्वगएइ वा, अणुओगगएइ वा, सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा।

—स्थानांग सूत्र, ठा० १०, सूत्र ७४२; मुनिश्री कमल द्वारा सम्पादित

विषयवस्तु

समवायांग व नन्दी में परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये दृष्टिवाद के पांच विभाग बताये हैं।[१] इनके विभिन्न भेद-प्रभेदों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि प्रथम विभाग में लिपि विज्ञान और सर्वांग पूर्ण गणित विद्या का विवेचन था। द्वितीय विभाग में छिन्नछेदनय, अछिन्नछेदनय, त्रिकनय, चतुर्नय की परिपाटियों का विस्तार से विवेचन था। उसमें यह भी बताया गया था कि प्रथम और चतुर्थ ये दो परिपाटियाँ निर्ग्रंथों की थीं और अछिन्नछेदनय एवं त्रिकनय की परिपाटियाँ आजीविकों की थीं। तृतीय विभाग में १४ पूर्वों की विस्तार से चर्चा विचारणा थी। प्रथम उत्पादपूर्व में सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों की प्ररूपणा उत्पाद की दृष्टि से की गई थी।[२] इस पूर्व का पद परिमाण एक कोटि पद था। द्वितीय अग्रायणीयपूर्व में सभी द्रव्य पर्याय और जीवविशेष के अग्र-परिमाण का वर्णन था। इसका पद परिमाण ६६ लाख पद था। तृतीय वीर्यप्रवादपूर्व में सकर्म एवं निष्कर्म जीव और अजीव के वीर्य—शक्ति विशेष का वर्णन था। इसकी पद संख्या ७० लाख थी। चतुर्थ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व में वस्तुओं के अस्तित्व और नास्तित्व के वर्णन के साथ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय प्रभृति द्रव्यों का अस्तित्व और आकाशपुष्प आदि के नास्तित्व का प्रतिपादन किया गया था और प्रत्येक द्रव्य के स्व-स्वरूप से अस्तित्व और पर-स्वरूप से नास्तित्व का भी प्रतिपादन था। इसका पदपरिमाण ६० लाख था। पंचम ज्ञानप्रवादपूर्व में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल के भेद-प्रभेदों का विस्तार से विवेचन था। इसकी पदसंख्या १ करोड़ थी। छठे सत्यप्रवादपूर्व में सत्यवचन का विस्तार से वर्णन किया गया था। साथ ही उसके प्रतिपक्षी रूप पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया था। इसमें १ करोड़ और ६ पद थे। सातवें आत्मप्रवादपूर्व में आत्मा के स्वरूप व उसकी व्यापकता, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व सम्बन्धी विवेचन अनेक नयों की दृष्टि से किया गया था। इस पूर्व में २६ करोड़ पद

---

१ से किं दिट्ठिवाए ? से समासओ पंचविहे पण्णत्ते तं जहा—परिकम्मे, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुओगे, चूलिया। (नन्दीसूत्र)

२ पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पाय भावमंगीकाउं पण्णवणा कया। (नन्दीचूर्णि)

थे। आठवें कर्मप्रवादपूर्व में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि अष्ट कर्मो की प्रकृतियाँ, स्थितियाँ एवम् उनके परिणाम व बन्ध के भेद-प्रभेदों का विस्तार से निरूपण था। इस पूर्व में एक करोड़ अस्सी हजार पद थे। नवें प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व में प्रत्याख्यान और उनके भेद-प्रभेदों का विस्तार से विश्लेषण किया गया था, साथ ही इसमें आचार संबंधी नियम भी थे। इसमें ८४ लाख पद थे। दसवें विद्यानुप्रवादपूर्व में अतिशय शक्ति सम्पन्न विद्याओं, उपविद्याओं और उनकी साधना की विधियों का निरूपण था। जिसमें अंगुष्ठ प्रश्नादि ७०० लघुविद्याएँ, रोहिणी प्रभृति ५०० महाविद्याएँ एवम् अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और छिन्न इन आठ महान निमित्तों द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन था। इस पूर्व में १ करोड़ ८० लाख पद थे। ग्यारहवें अवन्ध्यपूर्व में ज्ञान, तप आदि सत्कृत्यों को शुभ फल देने वाले और प्रमाद-कषाय आदि असत्कृत्यों को अशुभ फलदायक बताया है। शुभाशुभ कर्मों के फल निश्चित रूप से मिलते ही हैं, वे कभी भी निष्फल नहीं होते। अतः इस पूर्व का नाम अवन्ध्यपूर्व था। इसकी पदसंख्या २६ करोड़ थी। दिगम्बर दृष्टि से ग्यारहवें पूर्व का नाम कल्याणवादपूर्व था; जिसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के गर्भावतरण का उत्सव, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करने वाली १६ भावनाएँ, एवम् तप का वर्णन और चन्द्र, सूर्य के ग्रहण तथा ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव, शकुन और उनके शुभाशुभ फल का वर्णन था। और इस पूर्व की पद संख्या २६ करोड़ थी। बारहवें प्राणायुपूर्व में आयु और प्राणों के भेद-प्रभेद का विस्तार से निरूपण था और इसकी पदसंख्या १ करोड़ ५६ लाख थी। दिगम्बर दृष्टि से इस पूर्व में कायचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलि, प्रक्रम, साधक प्रभृति आयुर्वेद के भेद, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि प्राण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के भेद-प्रभेद, दश प्राण, द्रव्य, द्रव्यों के उपकार और अपकार आदि का वर्णन किया गया था और इसकी पदसंख्या १३ करोड़ थी। तेरहवें क्रियाविशालपूर्व में संगीत-शास्त्र, छन्द, अलंकार, पुरुषों की ७२ कलाएँ, स्त्रियों की ६४ कलाएं, ८४ प्रकार के शिल्प, विज्ञान, गर्भ अवधारण आदि क्रियाएँ, सम्यग्दर्शन, मुनि-वन्दन, नित्य-नियम एवम् आध्यात्मिक चिंतन आदि लौकिक व लोकोत्तर सभी क्रियाओं का विस्तार से विश्लेषण था। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ इस पूर्व की पदसंख्या ६ करोड़ मानती हैं। चौदहवें लोक-

बिन्दुसारपूर्व में लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की विद्याओं का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त कराने वाली सर्वाक्षर सन्निपातादि विशिष्ट लब्धियों का वर्णन था। जैसे अक्षर पर बिन्दु वैसे ही ज्ञान का सर्वोत्तम सार होने से इसे लोकबिन्दुसार या त्रिलोकबिन्दुसार की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता था। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार इस पूर्व की पदसंख्या १२½ करोड़ थी।

चौदह पूर्वों की वस्तु अर्थात् ग्रंथ परिच्छेद की संख्या क्रमशः १०, १४, ८, १८, १२, २, १६, ३०, २०, १५, १२, १३, ३० और २५ थी।[1] ग्रंथ परिच्छेद के अतिरिक्त आदि के चार पूर्वो में क्रमशः ४, १२, ८ और १० चूलिकाएँ थीं।[2] शेष १० पूर्वों में चूलिकाएँ नहीं थीं। जैसे पर्वत का शिखर पर्वत के अन्य भाग से उन्नत होता है वैसे चूलिकाओं का भी स्थान था।[3]

दृष्टिवाद का चतुर्थ विभाग अनुयोग था। उसके मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग ये दो भेद थे। प्रथम मूल प्रथमानुयोग में अरिहंतों के पंचकल्याणक का सविस्तृत विवरण था। द्वितीय गंडिकानुयोग में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि महापुरुषों का चरित्र था। यह विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। दिगम्बर परम्परा के साहित्य में इस विभाग का नाम प्रथमानुयोग मिलता है।

दृष्टिवाद का पाँचवाँ विभाग चूलिका था। समवायांग और नंदी में लिखा है कि चार पूर्वों की जो चूलिकाएँ हैं उन्हीं चूलिकाओं का दृष्टिवाद के इस विभाग में समावेश किया गया है किन्तु दिगम्बर साहित्य में जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता ये पाँच चूलिकाएँ बताई हैं।

दृष्टिवाद का महत्त्व

दृष्टिवाद अत्यधिक विशाल था। आचार्य शीलाङ्क ने सूत्रकृतांगवृत्ति में लिखा है कि पूर्व अनंत अर्थ वाला होता है और उसमें वीर्य का प्रतिपादन

---

१ दस १ चोद्दस २ अट्ठ ३ अट्ठारसेव ४ बारस ५ दुवे ६ य वत्थूणि।
सोलस ७ तीसा ८ बीसा ९ पण्णरस अणुप्पवादम्मि १० ॥७९॥
बारस एक्कारसमे ११ बारसमे तेरसेव वत्थूणि १२।
तीसा पुण तेरसमे १३ चोद्दसमे पण्णवीसा उ १४ ॥८०॥
नन्दीसूत्र—पुण्यविजय जी, पृ० ४१

२ नन्दीसूत्र ८१, पृ० ४५

३ नन्दीचूर्णि

किया जाता है अत: उसकी अनंतार्थता जाननी चाहिए। जैसे समस्त नदियों के बालुकणों की गणना की जाय या सभी समुद्रों के पानी को हथेली में एकत्रित कर उसके जलकणों की गणना की जाय तो उन बालुकणों और जलकणों की संख्या से भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होता है ।[1]

कालजन्य मंद मेधा के कारण इस विशाल ज्ञानराशि का धीरे-धीरे ह्रास होता चला गया। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को उपदेश देते हुए कहा था कि 'ज्ञान का गर्व न करो'। उन्होंने अपने हाथ में मुट्ठीभर धूलि लेकर एक स्थान पर रक्खी। तत्पश्चात् दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें स्थान पर रक्खी, फिर उन्होंने शिष्य को संबोधित करते हुए कहा—जैसे यह धूलि एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखने पर क्रमशः कम होती चली गई वैसे ही तीर्थंकर भगवान की वाणी गणधरों को प्राप्त हुई और गणधरों से अन्य आचार्यों को और फिर उनके शिष्य-प्रशिष्यों को। इसी प्रकार यह भी कम होती चली गई है। आज प्रस्तुत द्वादशांगी का ज्ञान कितना कम रह गया है यह कहना अत्यधिक कठिन है।

निशीथचूर्णि के अनुसार दृष्टिवाद में द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, धर्मकथानुयोग और गणितानुयोग का कथन होने से छेदसूत्रों की भाँति इसे भी उत्तम श्रुत कहा है। तीन वर्ष के प्रव्रजित साधु को निशीथ, पाँच वर्ष के प्रव्रजित साधु को कल्प और व्यवहार का उपदेश देना बताया है किन्तु दृष्टिवाद के उपदेश के लिए बीस वर्ष की प्रव्रज्या आवश्यक मानी गई है।[2] बृहत्कल्पनिर्युक्ति में लिखा है कि तुच्छ स्वभाववाली, बहुत अभिमानी, चंचल इन्द्रियों वाली और मन्दबुद्धि वाली सभी स्त्रियों को दृष्टिवाद पढ़ने

---

१ यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगन्तव्या तद्यथा—
सव्व नईणं जा होज्ज बालुया गणणमागया सन्ती।
तत्तो बहुयतरागो, एगस्स अत्थो पुव्वस्स ॥१॥
सव्व समुद्दाणजलं, जइ पत्थमियं हविज्ज संकलियं।
एत्तो बहुयतरागो अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥२॥
तदेवं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति।
—सूत्रकृतांग (वीर्याधिकार), आचार्यश्री जवाहरलाल म० द्वारा संपादित, पृ० ३३५

२ बृहत्कल्पभाष्य, पृ० ४०४

का निषेध है।[1] इस कथन का क्या रहस्य है यह चिन्तकों के लिए विचारणीय है।

उपसंहार

इस प्रकार स्पष्ट है कि दृष्टिवाद बहुत ही विशाल और महत्त्वपूर्ण अंग था। इसका महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जब आर्यरक्षित वेद-वेदांगों तथा अन्य सभी प्रकार के ज्ञान के पारगामी विद्वान होकर लौटे तो उनकी माता ने एक ही शब्द कहा—'दृष्टिवाद पढ़ो। क्योंकि इसी के द्वारा तुम्हें आत्मा का सच्चा स्वरूप ज्ञात हो सकेगा। तुम समस्त सिद्धान्त के ज्ञाता हो जाओगे। आत्म-कल्याण के लिए दृष्टिवाद का अध्ययन अपेक्षित है।' और माता के इन वचनों को सुनकर आर्यरक्षित दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए चल दिए।

दृष्टिवाद की विशालता, गंभीरता, अब केवल अतीत की वस्तु रह गई है। ज्ञान का यह विपुल भंडार अप्राप्य है। इसका उल्लेख भर ही शेष है।

□

---

१ बृहत्कल्पनिर्युक्ति, पृ० १४६

तृतीय खण्ड

अङ्गबाह्य आगम साहित्य

उपांग आगम साहित्य
मूल आगम साहित्य
छेद आगम साहित्य
प्रकीर्णक (पइन्ना) आगम साहित्य

उपांग आगम साहित्य

- औपपातिक
- राजप्रश्नीय
- जीवाभिगम
- प्रज्ञापना
- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
- सूर्यप्रज्ञप्ति
- चन्द्रप्रज्ञप्ति
- निरयावलिया
- कप्पिया
- कल्पावतंसिका (कप्पवडंसिया)
- पुष्पिका (पुप्फिया)
- पुष्पचूलिका

१. औपपातिकसूत्र

नामकरण

औपपातिकसूत्र जैन वाङ्मय का प्रथम उपांग है। अंगों में जो स्थान आचारांग का है वही स्थान उपांगों में औपपातिक का है। इसके दो अध्याय हैं। प्रथम का नाम समवसरण है और द्वितीय का नाम उपपात। दूसरे अध्याय में उपपात संबंधी नाना प्रकार के प्रश्नों की चर्चा हुई है अतः आचार्य अभयदेव ने वृत्ति में लिखा है कि उपपात जन्म, देव और नारकियों के जन्म या सिद्धिगमन का वर्णन होने से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है।[१] विन्टरनित्ज ने औपपातिक के स्थान पर उपपादिक शब्द का प्रयोग किया है जो अर्थ की गंभीरता को पूरी तरह व्यंजित नहीं करता है। इसका प्रारंभिक अंश गद्यात्मक और अन्तिम अंश पद्यात्मक है। मध्यभाग में गद्य-पद्य का सम्मिश्रण है किन्तु कुल मिलाकर इस सूत्र का अधिकांश भाग गद्यात्मक है। इसमें ४३ सूत्र हैं। इसमें एक ओर जहां राजनैतिक, सामाजिक तथा नागरिक तथ्यों की चर्चा हुई है तो दूसरी ओर धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक तथ्य भी प्रतिपादित हुए हैं। इस आगम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जिन विषयों की चर्चा की गई है उनका पूर्ण विवेचन किया गया है। अन्य आगमों में, यहाँ तक कि अंगसूत्रों में भी इन्हीं वर्णनों का संदर्भमात्र दिया गया है। भगवान महावीर के आ-नख-शिख समस्त अंगोपांगों का इतना विशद वर्णन अन्य किसी भी आगम में नहीं है। भगवान की शरीर-सम्पत्ति को जानने के लिए यही एकमात्र आधारभूत आगम है। उनके समवसरण का सजीव चित्रण और भगवान की महत्त्वपूर्ण उपदेशविधि भी इसमें सुरक्षित है।

चम्पानगरी

चम्पा उस युग की एक प्रसिद्ध नगरी थी। वह धनधान्य आदि से समृद्ध और मनुष्यों से आकीर्ण थी। उस नगरी के संबंध में विस्तार से

---

१ उपपतनं उपपातो—देवनारकजन्म सिद्धिगमनं च। अतस्तमधिकृत्य कृतमध्ययन-मौपपातिकम्। —औप० अभयदेव वृत्ति

इसमें प्रकाश डाला गया है। वहाँ के राजमार्ग सुन्दर ही नहीं अतिसुन्दर थे जो हाथियों, घोड़ों, रथों और पालकियों के आवागमन से आकीर्ण रहते थे। उसके उत्तर-पूर्व में पुरातन और सुप्रसिद्ध पूर्णभद्र नामक एक चैत्य था जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष, पत्र, पुष्प, फल से लदे हुए थे और नाना पक्षी जिन पर क्रीड़ा किया करते थे। विविध लताओं से वे वृक्ष परिवेष्ठित थे। जहाँ पर रथ आदि वाहन खड़े किये जाते थे।

चंपानगरी में भंभसार के पुत्र राजा कूणिक राज्य करते थे। वह कुलीन, राजलक्षणों से संपन्न, राज्याभिषिक्त, विपुल भवन-शयन-आसन-यान-वाहन-कोष्ठ-कोष्ठागार के अधिपति थे। उनकी सर्वांगसुन्दर धारिणी रानी थी। एक बार भगवान महावीर अनेक श्रमणों के साथ वहाँ पधारे। वार्तानिवेदक से समाचार श्रवण कर कूणिक अत्यन्त प्रमुदित हुआ और प्रीतिदान देकर उसका सत्कार किया।

भगवान महावीर के जो सन्त थे वे उग्र, भोग, राजन्य, ज्ञात और कौरव कुलों के क्षत्रिय, भट, योद्धा, सेनापति, श्रेष्ठि व इभ्य पुत्र थे। उनके मल, मूत्र, थूक और हस्तादिक के स्पर्श से रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाते थे। अनेक श्रमण मेधावी, प्रतिभासंपन्न, कुशलवक्ता और आकाशगामी विद्या में निष्णात थे। वे कनकावली, एकावली, क्षुद्रसिंहनिष्क्रीडित, महासिंहनिष्क्रीडित, भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा, आयंबिल, वर्धमान मासिक भिक्षुप्रतिमा, क्षुद्रमोकप्रतिमा, महामोकप्रतिमा, यवमध्यचन्द्रप्रतिमा और वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा आदि तपविशेष का आचरण करते थे। वे विद्यामंत्र में कुशल, पर-वादियों के मानमर्दन करने में पटु, द्वादशांगवेत्ता और विविध भाषाओं के ज्ञाता थे। बारह प्रकार के तप आदि में सदा निमग्न रहते थे।

भगवान के आगमन का समाचार सुनकर राजा कूणिक ने चंपानगरी को पूर्णरूप से सजाने का आदेश दिया। तदनुसार संपूर्ण नगरी अलकापुरी के सदृश सजाई गई। राजा कूणिक भी स्नानादि कर बहुमूल्य वस्त्र व आभूषण धारण कर, हाथी पर सवार होकर चतुरंगिणी सेना सहित दर्शनार्थ पहुँचा। भगवान ने उपदेश दिया। गणधर गौतम ने भगवान से जीव और कर्मबन्ध विषयक प्रश्न किये।

प्रस्तुत आगम में भगवान महावीर के संपूर्ण शरीर का शब्दचित्र भी प्रस्तुत किया गया है। भगवान महावीर के शरीर व अंगोपांग का सविस्तृत

वर्णन भी आगम में है। उनके ३४ बुद्ध वचनातिशय, ३५ सत्य वचनातिशय, अशोक वृक्ष आदि प्रातिहार्यों का वर्णन है। भगवान के समवसरण में भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक चारों प्रकार के देव व देवियाँ, आर्य और अनार्य सभी उपस्थित होते थे। भगवान अर्धमागधी भाषा में जो उपदेश देते वह सभी आर्य-अनार्य भाषाओं में स्वयमेव ही अनुवादित होकर सुनाई देता था। भगवान के धर्मोपदेश के मुख्य विषय ये थे—लोक, अलोक, जीवादि नवतत्त्व, उत्तम पुरुष, चार गति, माता-पिता व गुरुजनों की भक्ति, निर्वाणसाधना, १८ पाप प्रवृत्तियों का परिचय और उनसे निवृत्ति, अस्तिनास्तित्ववाद, शुभाशुभकर्मफल तथा सर्वथा कर्मक्षय होने से मुक्ति होती है आदि। नरक, तिर्यंच मनुष्य व देवगति के चार-चार कारण, आगार व अनगार धर्म का परिचय श्रवण कर अनेकों का आगारधर्म ग्रहण करना और कूणिक आदि का स्वस्थान गमन। इस तरह समवसरण का वर्णन है।

इसके पश्चात् गणधर गौतम का शारीरिक व आध्यात्मिक परिचय दिया गया है। गणधर गौतम ने प्रश्न किये। असंयत यावत् एकान्त सुप्त के पापकर्मों का आगमन, मोहबन्ध के साथ वेदना का बन्ध, असंयत की देवगति, व्यन्तर देवों की स्थिति, ऋद्धि आदि। अनिच्छा से ब्रह्मचर्य पालन करने वाली स्त्रियों की व्यन्तर देवों में उत्पत्ति। अग्निहोत्री यावत् कंडूत्यागियों की ज्योतिषी देवों में उत्पत्ति, उनकी स्थिति, कान्दर्पिक यावत् नृत्यरुचि श्रमणों की वैमानिकों में उत्पत्ति और उनकी स्थिति। परिव्राजकों की ब्रह्मदेवलोक में उत्पत्ति, सात ब्राह्मण परिव्राजकों के नाम, षट्शास्त्रों के नाम, सांख्य-शास्त्र व अन्य ग्रंथ, परिव्राजकों की संक्षिप्त आचार-संहिता आदि का परिचय भी इसमें प्राप्त होता है।

अंबड परिव्राजक के ७०० शिष्य कंपिलपुर से पुरिमताल नगर की ओर जा रहे थे। अटवी में रास्ता भूलने से भटक गये। सभी परिव्राजकों को प्यास सताने लगी, पानी देने वाले के अभाव में अदत्तादान की प्रतिज्ञा होने से पानी ग्रहण नहीं किया और गंगानदी की संतप्त बालू—रेत पर संलेखना-पादपोपगमन कर समाधिमरण प्राप्त किया। अंबड परिव्राजक की साधना, उसके द्वारा कंपिलपुर में वैक्रियलब्धि का प्रदर्शन, अवधिज्ञान, आगारधर्म की आराधना, अंबड का दृढ़ सम्यक्त्व और अन्त में समाधिमरण के द्वारा ब्रह्मदेवलोक में उत्पत्ति। वहाँ से च्युत होकर महाविदेह में जन्म होगा। वहाँ दृढ़प्रतिज्ञ यह नाम होगा, कलाचार्य के समीप अध्ययन,

७२ कलाओं और १८ देशीय भाषाओं के नाम, अंत में विरक्त हो दीक्षाग्रहण कर, केवलज्ञान प्राप्त कर अंबड की आत्मा निर्वाण पद को प्राप्त करेगी।

आचार्य आदि के प्रत्यनीक श्रमण आदि की किल्विषिक देवों में उत्पत्ति। किल्विषिक देवों की स्थिति, परलोक में अनाराधक होना। जातिस्मरण से देशविरति तक संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की सहस्रार कल्प पर्यंत उत्पत्ति और स्थिति। आजीवक श्रमणों की अच्युत कल्प पर्यंत उत्पत्ति और स्थिति। स्वयं की प्रशंसा करने वाले यावत् कौतुक करने वाले श्रमणों की अच्युत कल्प पर्यंत उत्पत्ति और वहां के देवों की स्थिति। प्रवचन निह्नवों की ग्रैवेयक देव पर्यन्त उत्पत्ति और स्थिति। अल्पारंभी यावत् देश-विरत श्रमणोपासक की अच्युत कल्प पर्यंत उत्पत्ति, स्थिति। अनारम्भी यावत् नग्नभाववाले निर्ग्रंथों की मुक्ति। अवशेष शुभकर्मों के रहने से निर्ग्रंथों की सर्वार्थसिद्ध में उत्पत्ति और स्थिति। सर्वकामविरत यावत् क्षीणलोभ निर्ग्रंथों की मुक्ति।

केवली समुद्घात के चौथे समय आत्मा का संपूर्ण लोक में व्याप्त होना और निर्जीर्ण पुद्गलों का भी पूर्ण लोक से स्पर्श। निर्जीर्ण पुद्गलों को अतिसूक्ष्म सिद्ध करने हेतु गन्धपुद्गलों का उदाहरण। केवली समुद्घात करने के कारण। क्या सभी केवली समुद्घात करते हैं? जवाब में नहीं करते हैं। केवली समुद्घात में ८ समय लगते हैं। केवली समुद्घात के समय मन, वचन के योग का प्रयोग नहीं होता, काय योग का प्रयोग होता है। समुद्-घात के समय मुक्त नहीं होते। केवली समुद्घात के पश्चात् मन, वचन और काया का प्रयोग होता है। सयोगी अवस्था में मुक्ति नहीं होती।

मुक्त आत्मा की विग्रहगति नहीं होती। मुक्त होते समय एक साका-रोपयोग होता है। सिद्धों की सादि अपर्यवसित स्थिति को द्योतित करने के लिए दग्धबीज का उदाहरण दिया गया है। सिद्ध होने वाले जीव का संघ-यण, संस्थान, जघन्य-उत्कृष्ट अवगाहना, सिद्धों का निवास-स्थान, सर्वार्थ-सिद्ध विमान के उपरिभाग से ईषत् प्राग्भारा पृथ्वीतल का अन्तर, ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी का आयाम, विष्कंभ, परिधि, मध्यभाग की मोटाई, उसके १२ नाम, उसका वर्ण, संस्थान, पौद्गलिक रचना, स्पर्श और उसकी अनु-पम सुन्दरता का वर्णन किया गया है। ईषत् प्राग्भारा के उपरितल से लोकान्त का अन्तर और कोश के छठे भाग में सिद्धों की अवस्थिति।

अन्त में २२ गाथाओं में यह प्रतिपादित किया गया है कि सिद्ध अलोक के नीचे हैं और लोक के ऊपर हैं। तिर्छे लोक में वे शरीर त्याग करते हैं और सिद्ध लोक में रहते हैं। सिद्धात्माओं का संस्थान, सिद्धों की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवगाहना, एक में अनेक सिद्धात्मा, सिद्धात्माओं का लोकान्त से स्पर्श, सिद्धात्माओं का परस्पर स्पर्श, सिद्धों का लक्षण, सिद्धों का ज्ञान, सिद्धों की दृष्टि, और अंत में सिद्धों के अनुपम सुख का वर्णन एक भीलपुत्र के उदाहरण से प्रस्तुत किया गया है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत आगम की अपनी अनेक विशेषताएँ हैं। नगर, चैत्य, राजा एवं रानियों का सांगोपांग वर्णन है। यह वर्णन अन्य आगमों के लिए आधारभूत है अतः इसी ग्रन्थ का उल्लेख स्थान स्थान पर किया गया है।

चंपानगरी का अलंकारिक वर्णन सर्वप्रथम इसी में है। इस प्रकार का सूक्ष्म और पूर्ण वर्णन संस्कृत साहित्य में भी कम दृष्टिगोचर होता है। संस्कृति और समाज की दृष्टि से भी इस आगम का महत्त्व है। धार्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना भी की गई है। इसकी भाषा उपमाबहुल, समासबहुल और विशेषणबहुल है।

□

२. राजप्रश्नीयसूत्र

नामकरण

राजप्रश्नीय द्वितीय उपांग है। नंदीसूत्र में इसका नाम 'रायपसेणिय' मिलता है।[१] आचार्य मलयगिरि ने 'रायपसेणीअ' नाम दिया है। वे इसका संस्कृत रूप 'राजप्रश्नीयं—राजप्रश्नेषु भवं' करते हैं। सिद्धसेनगणी ने तत्त्वार्थवृत्ति में 'राजप्रसेनकीय' लिखा है, तो मुनि चंद्रसूरि ने 'राजप्रसेन-जित' लिखा है।

आचार्य मलयगिरि ने रायपसेणइय को सूत्रकृतांग का उपांग सिद्ध करते हुए लिखा है कि सूत्रकृतांग में जो क्रियावादी, अक्रियावादी प्रभृति पाखंडियों के भेदों की परिगणना की गई है उनमें से अक्रियावादियों के मत का अवलंबन लेकर राजा प्रदेशी ने केशीश्रमण से प्रश्नोत्तर किए। अतः रायपसेणइय सूत्रकृतांग का उपांग है। डा० विंटरनित्ज का अभिमत है कि प्रस्तुत आगम में पहले राजा प्रसेनजित की कथा थी। उसके पश्चात् प्रसेनजित के स्थान में पएस लगाकर प्रदेशी के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत आगम दो विभागों में विभक्त है। प्रथम विभाग में सूर्याभ नामक देव भगवान महावीर के समक्ष उपस्थित होकर नृत्य करता है और विविध प्रकार के नाटकों की रचना करता है। दूसरे विभाग में राजा प्रदेशी का केशीकुमारश्रमण से जीव के अस्तित्व और नास्तित्व को लेकर संवाद है।

प्रस्तुत आगम का प्रारम्भ आमलकप्पा[२] नगरी के वर्णन से होता है। वह नगरी चंपानगरी के समान ही अत्यन्त सुन्दर थी। उसके उत्तर-पूर्व में आम्रसाल नामक चैत्य था। वह चैत्य वनखंड से वेष्टित था। वहाँ का राजा सेय था और रानी का नाम धारिणी था। भगवान महावीर वहाँ पर

---

१ नंदीसूत्र ८३

२ बौद्ध साहित्य में 'अल्लकप्पा' नाम आता है। यह स्थान शाहाबाद जिले में मसार और वैशाली के बीच में अवस्थित था।

पधारे और आम्रसाल वन में विराजे। राजा-रानी भगवान के उपदेश श्रवणार्थ पहुँचे। उपदेश श्रवण कर परिषद के लोग अत्यन्त प्रसन्न भाव से कहने लगे–निर्ग्रन्थ प्रवचन का जैसा सुन्दर प्रतिपादन आपने किया है वैसा अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं कर सकता।' उस समय सौधर्मस्वर्ग के सूर्याभ नामक देव ने अपने दिव्य ज्ञान से देखा कि श्रमण भगवान महावीर इस समय आम्रसालवन चैत्य में विराज रहे हैं। उसने वहीं से भगवान को वंदन किया और अपने आभियोगिक देवों को आदेश दिया कि वे शीघ्र ही महावीर की सेवा में पहुँचें और वहाँ की जमीन आदि को साफ करें, सुगंधित जल से छिड़काव करें, पुष्पों की वर्षा करें तथा सुगंधित द्रव्यों से महका दें। तदनुसार किया गया।

सूर्याभदेव ने अपने सेनापति को बुलाकर सुधर्मा सभा में टंगे हुए घंटे को जोर-जोर से बजवा कर अपने अधीन देवों को तैयार किया और अत्यन्त सुन्दर कलात्मक विमान की रचना की। उसमें बैठकर भगवान की सेवा में आया। उसने भगवान से प्रश्न किये और गौतम आदि निर्ग्रन्थ श्रमणों के समक्ष ३२ प्रकार की नृत्यकला प्रदर्शित करने की भावना व्यक्त की। उसने प्रेक्षा मंडप आदि की रचना कर अनेक प्रकार के वाद्य बनाये; जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व है। तत्पश्चात् देव व देवकुमारियों ने ३२ प्रकार के नाटक किये। ३२वें नाटक में भगवान महावीर के च्यवन, गर्भ-संहरण, जन्म, अभिषेक, बालक्रीडा, यौवनावस्था, गृहस्थावास, महाभि-निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानप्राप्ति, तीर्थप्रवर्तन और परिनिर्वाण संबंधी घटनाओं का अभिनय किया गया था। अभिनय समाप्त होने के पश्चात् सूर्याभदेव नमस्कार कर विमान में बैठकर अपने स्थान को लौट गया।

उसके बाद सूर्याभदेव के विमान के सम्बन्ध में गौतम ने प्रश्न किया। भगवान महावीर ने विस्तार से सूर्याभदेव के विमान पर प्रकाश डाला। गौतम ने द्वितीय प्रश्न किया कि यह महान् ऋद्धि सूर्याभदेव को किन शुभकर्मों से प्राप्त हुई है। भगवान ने इस प्रश्न का जो उत्तर प्रदान किया—वह इस आगम का द्वितीय विभाग है, वह इस प्रकार है—

केकय अर्ध जनपद[1] में सेयविया (श्वेताम्बिका) नाम की एक सुन्दर

---

१ जैन साहित्य मे २५½ आर्य क्षेत्रों की परिगणना की गई है जिन क्षेत्रों में श्रमण सुखपूर्वक विहार कर सकते थे। केकय देश श्रावस्ती के उत्तर-पूर्व नेपाल की तराई मे था। बौद्ध साहित्य में सेयविया को सेतव्या लिखा है। भगवान

नगरी थी। उसके उत्तरपूर्व में मृगवन नामक उद्यान था। इस नगरी का राजा प्रदेशी[1] था। वह अधार्मिक, प्रचण्ड व क्रोधी था। अत्यन्त मायावी था। गुरुजनों का वह कभी भी सत्कार-सन्मान नहीं करता था। श्रमण व ब्राह्मणों पर उसे विश्वास ही नहीं था। उसकी रानी का नाम सूर्यकान्ता और पुत्र का नाम सूर्यकान्त था, जो उसके राज्य, राष्ट्र, वल, वाहन, कोष, कोष्ठागार और अन्तःपुर की निगरानी किया करता था।

राजा प्रदेशी के चित्त नामक एक सारथी था[2]। वह साम, दाम, दंड और भेद नीतियों में अत्यन्त कुशल था। प्रबल प्रतिभासम्पन्न होने के कारण राजा प्रदेशी समय-समय पर उससे परामर्श लिया करता था।

कुणाला जनपद में श्रावस्ती नाम की एक नगरी थी। वहाँ का राजा जितशत्रु राजा प्रदेशी का आज्ञाकारी सामन्त था। एक बार राजा प्रदेशी ने अपने चित्त सारथी को बुलाकर कहा कि 'यह भेंट लेकर श्रावस्ती जाओ और कुछ समय राजा जितशत्र के साथ रहकर वहाँ के शासन की देखभाल करो।' तदनुसार चित्त सारथी वहाँ जाता है और उपहार प्रदान कर वहाँ पर रहता है। उस समय चतुर्दशपूर्वधारी पार्श्वापत्य केशीकुमार श्रमण वहाँ पर पधारते हैं। उनके आगमन को श्रवण कर हजारों की जनमेदनी दर्शनार्थ उमड़ पड़ी, जिसे देखकर चित्त सारथी ने कंचुकी पुरुष को बुलाकर पूछा कि 'आज कौन सा महोत्सव है जिसके कारण इतनी चहल-पहल हो रही है ?' कंचुकी ने केशीश्रमण के पधारने की बात कही। चित्त सारथी भी केशीश्रमण की सेवा में पहुँचा। केशीश्रमण ने सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण और सर्व बहिद्धादान[3] विरमण का उपदेश दिया।

महावीर यहाँ पधारे थे। यह स्थान श्रावस्ती (सहेट महेट) से १७ मील और बलरामपुर से ६ मील की दूरी पर अवस्थित था।

१ दीघनिकाय के पायासिसुत्त में राजा पायासि के प्रश्नोत्तर हैं। जो इन प्रश्नों से मिलते-जुलते हैं। वहाँ पर पायासि को कोशल के राजा पसेनदि का वंशधर कहा है।

२ दीघनिकाय में चित्त के स्थान पर सत्ते शब्द का प्रयोग हुआ है। सत्ते का पर्यायवाची संस्कृत में क्षात-क्षता होता है। जिसका अर्थ सारथी है।

देखिये—रायपसेणयसुत्त का सार, पृ० ९९—पं० बेचरदास दोशी

३ स्थानांग वृत्ति पृ० २०२ में बहिद्धा का अर्थ मैथुन और आदान का अर्थ परिग्रह किया है।

चित्त सारथी केशीकुमार के पावन प्रवचन को सुनकर अत्यन्त आल्हादित हुआ और कहने लगा—'मैं अनगारधर्म को ग्रहण करने में असमर्थ हूँ अतः मुझे श्रावकधर्म ग्रहण करायें।' वह श्रावकधर्म स्वीकार कर निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धाशील हुआ। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस और पूर्णिमा के दिन पौषध करता हुआ निर्ग्रन्थ मुनियों को निर्दोष अशन-पान-आसन-शय्या आदि से लाभान्वित करता हुआ आत्मचिन्तन में लीन रहने लगा।

राजा जितशत्रु की ओर से उपहार लेकर चित्त सारथी सेयविया (श्वेतांबिका) की ओर प्रस्थान करने के पूर्व केशीश्रमण से सेयविया (श्वेतांबिका) पधारने की प्रार्थना करने लगा, किन्तु केशीश्रमण ने उसकी प्रार्थना की ओर ध्यान नहीं दिया। जब उसने अपनी प्रार्थना की उपेक्षा का कारण जानना चाहा तब केशीश्रमण ने कहा, 'तुम्हारा राजा प्रदेशी अधार्मिक है अतः हम वहाँ कैसे आ सकते हैं?' चित्त ने निवेदन किया 'आप वहाँ पधारें, आपको वहाँ पर किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।' चित्त सारथी वहाँ से सेयविया पहुँचा और मृगवन के उद्यानपालक को सूचित किया कि केशी-श्रमण यहाँ पधारें तो उन्हें सभी प्रकार की सुविधा देना। उसके बाद उसने राजा प्रदेशी को जितशत्रु के दिये हुए उपहार प्रदान किये। कुछ समय के पश्चात् केशीश्रमण सेयविया पधारे। चित्त सारथी उनके वन्दन हेतु पहुँचा। उसने केशीश्रमण से निवेदन किया—भंते! राजा प्रदेशी बड़ा ही अनार्य और अधार्मिक है। उसे आप उपदेश दें जिससे उसका भी कल्याण हो और साथ ही अन्यों का भी। केशीश्रमण ने कहा—जब तक वह नहीं आता, अपनी शंकाओं का समाधान नहीं करता तब तक वह धर्मश्रवण नहीं कर सकता।

दूसरे दिन चित्त सारथी ने प्रदेशी से निवेदन किया कि जो कम्बोज के चार घोड़े उपहार में प्राप्त हुए हैं उनकी हम परीक्षा करें। राजा घोड़ों के रथ पर आरूढ़ होकर इधर-उधर घूमता रहा। जब वह थक गया और उसे प्यास सताने लगी तब चित्त सारथी उसे मृगवन उद्यान में ले गया, जहाँ केशीश्रमण धर्मोपदेश दे रहे थे। केशीश्रमण को देखकर प्रदेशी मन में चिन्तन करने लगा, 'जड़ व्यक्ति ही जड़ की उपासना करते हैं। मूढ़ व्यक्ति ही मूढ़ों की उपासना करते हैं, अज्ञ व्यक्ति ही अज्ञानियों को सन्मान देते हैं। यह कौन जड़, मूढ़ व अज्ञानी है? इसका चेहरा चमक रहा है। उस पर दिव्य तेज भी झलक रहा है। यह क्या खाता है? क्या पीता है? यह इतने उच्च

स्वर से उपदेश दे रहा है कि मैं उद्यान में स्वच्छन्द रूप से चंक्रमण भी नहीं कर सकता।' चित्त ने प्रदेशी की शंका का समाधान करते हुए कहा—राजन्! ये पार्श्वापत्य केशीकुमार श्रमण हैं, चार ज्ञान के धारक हैं और अन्नजीवी हैं।

राजा प्रदेशी केशीश्रमण के पास जाता है। केशीश्रमण उसके मन के विचार व्यक्त करके उसे प्रभावित करते हैं। प्रदेशी प्रश्न करता है—क्या श्रमण निर्ग्रन्थ जीव और शरीर को पृथक् मानते हैं?

केशी—हाँ, हम जीव और शरीर को पृथक मानते हैं।

प्रदेशी—मेरे दादा अधार्मिक थे, प्रजा का पालन ठीक रूप से नहीं करते थे, आपकी दृष्टि से वह मरकर नरक में गये होंगे। उनका मेरे ऊपर अत्यन्त स्नेह था। मुझे देखकर वे प्रसन्नता से फूले न समाते थे। ऐसी स्थिति में वे मुझे आकर क्यों नहीं कहते कि मैं नरक में पैदा हुआ हूँ। पापकृत्य करने के कारण वहाँ अपार कष्टों का अनुभव कर रहा हूँ। इसलिए तू पाप न कर। पर उन्होंने मुझे अभी तक कुछ भी नहीं कहा है अतः जीव और शरीर एक हैं।

केशी—प्रदेशी! तुम्हारी रानी के साथ कोई कामुक व्यक्ति विषय-सेवन की इच्छा करे तो क्या तुम उसे दंड दोगे?

प्रदेशी—हाँ, मैं उसे शूली पर चढ़ा दूंगा, उसके प्राण ले लूंगा।

केशी—यदि वह व्यक्ति तुमसे कहे, जरा रुक जाओ, मैं अपने सम्बन्धियों को सूचित कर दूं कि कामवासना के वशीभूत होकर मुझे मृत्यु-दण्ड मिल रहा है। यदि तुम भी ऐसा करोगे तो तुम्हें भी इसी प्रकार का दंड मिलेगा। तो क्या तुम उस पुरुष को अपने सम्बन्धियों को सूचना देने के लिए मुक्त करोगे?

प्रदेशी—कभी नहीं, क्योंकि वह मेरा अपराधी है।

केशी—इसी प्रकार तुम्हारे दादा का तुम्हारे ऊपर स्नेह होने पर भी और उनकी इच्छा होने पर भी वे नरक से यहाँ पर नहीं आ सकते। अतः जीव और शरीर भिन्न हैं।

प्रदेशी—(दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करता है) मेरी दादी बहुत ही धर्मात्मा थी। उसका भी मुझ पर बहुत ही अनुराग था। वह आपकी दृष्टि से स्वर्ग में ही गई होगी। उसे तो आकर कहना चाहिए कि पुण्य के कारण

मैं स्वर्ग में गई हूँ। अतः तू भी धर्म और पुण्य कर। किन्तु उसने भी मुझे सूचित नहीं किया है अतः जीव और शरीर भिन्न नहीं है।

केशी—कल्पना कीजिए, स्नानादि और सुगन्धित द्रव्यों के साथ तुम दर्शन के लिए जा रहे हो; उस समय कोई व्यक्ति शौचगृह में बैठा हुआ तुम्हें आह्वान करे कि तुम भी कुछ समय के लिए यहाँ आकर बैठो तो क्या उस समय तुम उसकी बात सुनोगे ?

प्रदेशी—मैं उस शौचगृह में कभी नहीं जाऊँगा।

केशी—स्वर्ग में उत्पन्न हुआ देव मानव-लोक में आना पसन्द नहीं करता। चूंकि मानव-लोक की गन्ध उसे प्रिय नहीं होती और स्वर्ग के रंगीन काम-भोगों को वह छोड़ नहीं पाता।

प्रदेशी—एक तस्कर को पकड़कर कोतवाल मेरे पास लाया। मैंने उसे कुम्भी में डालकर ऊपर से ढक्कन लगा दिया। कहीं छिद्र न रहे अतः उसे लोहे और शीशे से बन्द कर दिया। विश्वस्त पहरेदार भी नियुक्त कर दिये। कुछ समय के पश्चात् मैंने कुम्भी को खुलवा कर देखा, वह मरा हुआ था। जिससे यह स्पष्ट है कि जीव और शरीर दोनों एक ही हैं।

केशी—एक व्यक्ति कूटागारशाला में द्वार बंद कर, अन्दर बैठकर यदि जोर-जोर से भेरी बजाये तो क्या तुम बाहर बैठे हुए उसकी आवाज नहीं सुनते ?

प्रदेशी—हाँ, सुनता हूँ।

केशी—जैसे निच्छिद्र मकान में से आवाज बाहर आती है वैसे ही जीव पृथ्वीशिला और पर्वत को भी भेद कर बाहर जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि जीव और शरीर एक नहीं है।

प्रदेशी—मैंने एक तस्कर को लोहे की कुम्भी में डलवा दिया और कुम्भी को अच्छी तरह बंद करवा दिया। कुछ दिनों के पश्चात् जब उसे खोला गया तो मृतकलेवर में कीड़े बिल-बिला रहे थे। उस लोहे की कुम्भी में कहीं पर भी छिद्र नहीं था, फिर वे कीड़े वहाँ कैसे आ गये ? ज्ञात होता है कि जीव और शरीर भिन्न नहीं है।

केशी—तुमने लोहे को फूंकते हुए देखा है ? उस समय लोहा अग्निमय हो जाता है। लोहे में वह अग्नि कैसे प्रविष्ट हुई ? उसमें कहीं भी कोई छिद्र नहीं होता। इसी प्रकार जीव अनिरुद्ध गति वाला होने से कुम्भी को

भेद कर अन्दर जा सकता है और निकल भी सकता है। अतः इससे जीव और शरीर की एकता सिद्ध नहीं होती।

प्रदेशी—एक व्यक्ति धनुर्विद्या में कुशल है किन्तु वही व्यक्ति बाल्यावस्था में एक भी बाण नहीं छोड़ सकता था। यदि बाल्यावस्था व युवावस्था में जीव एक होने से एक सदृश शक्ति होती तो मैं समझता कि जीव और शरीर भिन्न हैं।

केशी—धनुर्विद्या में निष्णात कोई व्यक्ति नये धनुष बाण द्वारा जितनी कुशलता दिखा सकता है उतनी कुशलता वह पुराने जीर्ण-शीर्ण धनुष बाण से नहीं दिखा सकता। सारांश यह है कि धनुर्विद्यानिष्णात व्यक्ति शक्तिशाली तो है, पर उपकरणों की कमी के कारण वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं कर सकता। इसी प्रकार मंदज्ञान वाला व्यक्ति उपकरणों की कमी के कारण अपनी शक्ति नहीं दिखा सकता। युवावस्था में उपकरण शक्तिमान् होने से उसकी शक्ति बढ़ जाती है।

प्रदेशी—कोई युवक लोहे, सीसे या जस्ते का भार अच्छी तरह से उठा सकता है किन्तु वृद्धावस्था आने पर वही व्यक्ति भार वहन करने में असमर्थ हो जाता है और लकड़ी के सहारे चलता है। दोनों अवस्थाओं में जीव एक ही हो तो ऐसा क्यों होता है? तरुणावस्था की भाँति यदि वृद्धावस्था में भी भार वहन करने का सामर्थ्य रहता तो आपका कथन सत्य होता किन्तु ऐसा होता नहीं। इससे यह समझा जा सकता है कि जीव और शरीर दोनों भिन्न नहीं हैं।

केशी—हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति ही भार वहन कर सकता है। यदि किसी हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति के पास नई कावड़ हो तो वह गुरुतर भार उठाकर ले जा सकता है। यदि जीर्ण-शीर्ण कावड़ है तो वह उससे भार नहीं उठा सकता। यही बात वृद्ध और तरुण के संबंध में है।

प्रदेशी—अच्छा, तो एक दूसरा प्रश्न है। किसी तस्कर को पहले हम जीवित अवस्था में तोलें फिर उसे मारकर तोलें तो दोनों अवस्थाओं में चोर के वजन में कोई अन्तर नहीं होता। अतः जीव और शरीर की अभिन्नता ही सिद्ध होती है।

केशी—जैसे खाली और हवा से भरी हुई मशक के वजन में विशेष कोई अन्तर नहीं पड़ता वैसे ही जीवित पुरुष और मृत पुरुष के वजन में कोई

अन्तर नहीं पड़ता। जीव अमूर्त्त है। उसका अपना कोई वजन नहीं होता। अत: जीव के निकल जाने पर भी मृतक का वजन न्यून नहीं होता।

प्रदेशी—मैंने एक बार किसी तस्कर के शरीर का परीक्षण किया किन्तु मुझे जीव दिखाई नहीं दिया। मैंने उसके शरीर के प्रत्येक अंग और उपांग को काटकर देखा किन्तु कहीं पर भी जीव दिखाई नहीं दिया। अत: स्पष्ट है कि जीव का अभाव है।

केशी—अरे प्रदेशी ! मुझे लगता है कि तू मूढ़ है। तेरी सारी प्रवृत्ति तो मुझे ऐसी लगती है जैसे कुछ व्यक्ति जंगल में पहुँचे। उनके साथ अग्नि थी। उन्होंने अपने एक साथी से कहा कि हम सभी दूर जंगल में जाकर लकड़ियाँ ले आते हैं तब तक तुम इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन तैयार कर रखना। कदाचित् अग्नि बुझ जाय तो इन अरणी की लकड़ियों को घिसकर आग प्रगट कर लेना। उसके साथी चले गये और वह आग, जो साथ में थी, बुझ गई। उसने अपने साथियों की सलाह के अनुसार लकड़ियों को इधर-उधर उलट-पलट कर देखा किन्तु कहीं पर भी आग नजर नहीं आई। कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीर-चीरकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये किन्तु आग नहीं मिली। वह निराश और हताश होकर सोचने लगा कि मेरे साथियों ने मेरे साथ हँसी की है। यदि वे इन लकड़ियों में आग की बात नहीं कहते तो मैं उस अग्नि को ही सँभाल कर रखता। भूखे-प्यासे साथी लकड़ियाँ लेकर लौटे तो देखा कि भोजन तैयार नहीं हुआ है। एक साथी ने उन अरणी की लकड़ियों को घिसकर अग्नि तैयार की और सभी ने भोजन किया। जैसे वह लकड़हारा लकड़ी को चीरकर आग पाने की इच्छा रखता था वैसे ही तुम भी शरीर को चीरकर जीव को देखने की इच्छा रखते हो, क्या तुम भी उस मूर्ख लकड़हारे की तरह ही नहीं हो ?

प्रदेशी—जैसे कोई व्यक्ति अपनी हथेली पर रखकर आंवला स्पष्ट रूप से दिखाता है वैसे ही क्या आप भी जीव को दिखा सकते हैं ?

केशी—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अशरीरी जीव, परमाणु पुद्गल, शब्द, गंध और वायु, इन आठ पदार्थों को विशिष्ट ज्ञानी देख सकते हैं, अज्ञानी नहीं।

प्रदेशी—क्या हाथी और चींटी में एक समान जीव होता है ?

केशी—हाँ, एक समान होता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी कमरे में दीपक जलाए तो वह संपूर्ण कमरे को प्रकाशित करता है। यदि उसे किसी

वर्तन से ढँक दिया जाय तो वह वर्तन के भाग को ही प्रकाशित करेगा। दीपक दोनों स्थानों पर वही है। स्थान विशेष की दृष्टि से उसके प्रकाश में संकोच और विस्तार होता है। यही वात हाथी और चींटी के जीव के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। संकोच और विस्तार दोनों ही अवस्थाओं में उसकी प्रदेश संख्या न्यूनाधिक नहीं होती, समान ही रहती है।

केशीकुमार श्रमण के अकाट्य तर्कों को सुनकर राजा प्रदेशी की सभी शंकाओं का समाधान हो गया। उसने कहा, आपका कथन तो ठीक है किन्तु जो मेरा मन्तव्य है कि जीव और शरीर एक है वह मेरा ही नहीं किन्तु मेरे पिता की भी यही धारणा थी। अतः मैं अपने पैतृक मन्तव्य को कैसे छोड़ सकता हूँ?

केशी—तू भी लोहे के वजन को उठाने वाले उसी मूढ़ व्यक्ति के समान दिखलाई देता है।

कुछ व्यक्ति धन की अभिलाषा से विदेश प्रस्थित हुए। कुछ दूर चलने पर उन्होंने लोहे की खदान देखी, बड़े प्रसन्न हुए। वे सभी लोहे को लेकर आगे बढ़े तो तांबे की खदान मिली। लोहा छोड़कर उन्होंने तांबा लिया। फिर चाँदी की खदान आने पर तांवा छोड़कर चाँदी ली। आगे बढ़ने पर सोने की खदान मिली तो उन्होंने चाँदी छोड़कर सोना ग्रहण किया। उसके वाद रत्नों की खदान आने पर सोने को छोड़कर रत्न लिए। वहाँ से कुछ दूर आगे बढ़ने पर बहुमूल्य वज्ररत्न की खदान मिली। उन्होंने उन रत्नों को छोड़कर वज्ररत्न लिए। उनका एक साथी जिसने सर्वप्रथम लोहा लिया था, वह अपने साथियों के अस्थिर मस्तिष्क की हँसी उड़ाने लगा। उसके साथियों ने उसे बहुत समझाया कि लोहे को छोड़कर बहुमूल्य रत्न ले लो। इससे तुम्हारी सम्पूर्ण दरिद्रता मिट जायगी। पर वह न माना। उसने कहा—इतनी दूर से लाये हुए लोहे को कैसे त्याग दूँ? उसके साथी जिन्होंने रत्न लिये थे वे सभी श्रीमंत हो गये और वह वैसा ही भिखारी और दरिद्र बना रहा। जब अपने साथियों को श्रीसंपन्न देखता है तो उसे महान् पश्चात्ताप होने लगता है कि मैंने भयंकर भूल की। वैसे ही तू केवली प्ररूपित धर्म को स्वीकार नहीं करेगा तो तुझे भी पश्चात्ताप होगा।

प्रदेशी ने केशीश्रमण से धर्म के मर्म को श्रवण कर श्रावकव्रत ग्रहण किये। जो पहले अधार्मिक था, जिसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे, उसके

जीवन का सारा नक्शा वदल गया। कोयले की तरह जिसका जीवन काला-कलूटा था वह केशीश्रमण रूपी अग्नि के स्पर्श से स्वर्ण की तरह चमकने लगा। वह अपने राज्य, वल, वाहन, भंडार, कोष्ठागार, ग्राम, नगर और अंतःपुर से उदासीन होकर सदा आत्मसाधना में तल्लीन रहने लगा। रानी सूर्यकांता ने जब राजा की उदासीन वृत्ति देखी तो उसे वह अच्छी नहीं लगी। वह राजा को विप प्रयोग से मारकर अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाने का उपाय सोचने लगी। उसने एक दिन राजा के भोजन व वस्त्रों में विप मिला दिया जिससे भोजन करते ही और वस्त्राभूपण धारण करते ही राजा के शरीर में अपार वेदना होने लगी।

राजा प्रदेशी समझ गया किन्तु रानी के प्रति उसके अन्तर्मानस में तनिक भी रोप पैदा नहीं हुआ। उसने पौपधशाला में जाकर अपने समस्त कृत्यों की आलोचना की। वह समाधिपूर्वक शरीर का त्याग कर सौधर्म स्वर्ग में सूर्याभ नामक देव हुआ। सूर्याभदेव के अतुल समृद्धि प्राप्त करने का यही रहस्य है।

देवलोक से च्युत होकर सूर्याभदेव महाविदेह में दृढ़प्रतिज्ञ राजकुमार होगा और जलकमल के समान निर्लेप भाव से जीवन यापन करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

उपसंहार

प्रस्तुत आगम की अनेक विशेपताएँ है। इसमें स्थापत्य, संगीत और नाट्यकला की दृष्टि से अनेक तत्त्वों का समावेश हुआ है। ३२ प्रकार के नाटकों का उल्लेख है जो सूर्याभदेव ने भगवान के सामने किये थे। लेखन संबंधी सामग्री का भी निर्देश किया गया है। साम, दाम और दंड नीति के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। ७२ कलाएँ, ४ परिपद्, कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य का निरूपण है। पार्श्वनाथ परम्परा सम्वन्धी अनेक वातों की जानकारी होती है। काव्य और कथाओं के विकास के लिए वार्तालाप और संवादों का आदर्श यहाँ उपस्थित किया गया है।

□

३. जीवाभिगम

नामकरण

जीवाभिगम या जीवाधिगम तृतीय उपांग है। प्रस्तुत आगम में श्रमण भगवान महावीर और गणधर गौतम के प्रश्न और उत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद और प्रभेदों की चर्चा की गई है। इसमें ९ प्रकरण (प्रतिपत्ति), एक अध्ययन, १८ उद्देशक, ४७५० उपलब्ध श्लोक प्रमाण पाठ हैं। २७२ गद्य सूत्र और ८१ पद्यगाथा हैं। टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने प्रस्तुत आगम को स्थानांग का उपांग लिखा है। उन्होंने अपनी वृत्ति में अनेक स्थलों पर वाचनाभेद का भी उल्लेख किया है।[1] परम्परा की दृष्टि से प्रस्तुत आगम में २० उद्देशक थे और बीसवें उद्देशक की व्याख्या शालिभद्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि ने की थी। अभयदेव ने भी इसके तृतीय पद पर संग्रहणी लिखी थी।

प्रथम प्रतिपत्ति

पहली जीवाजीवाभिगम प्रतिपत्ति है। उसमें जीव और अजीव के दो-दो भेद किये हैं फिर धर्म-अधर्म आदि के रूप में अजीव के भेद किये हैं फिर संसारी जीव के त्रस व स्थावर ये दो भेद हैं। स्थावर जीव के पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय ये तीन भेद किये हैं और पृथ्वीकाय के सूक्ष्म व बादर भेद करके शरीर अवगाहना, संघयण, संस्थान, कषाय, लेश्या, संज्ञा, इन्द्रिय, समुद्घात, संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्ति, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, योग, उपयोग, आहार, उपपात, स्थिति, समोहिया-असमोहिया मरण, च्यवन, गति और आगति, ये द्वार सभी में घटाये गये हैं। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद किये हैं। बादर वनस्पति के प्रत्येक व साधारण और प्रत्येक के वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्व, तृण, वलय,

---

१ इह भूयान् पुस्तकेषु वाचनाभेदो गलितानि च सूत्राणि बहुषु पुस्तकेषु यथावस्थित वाचनाभेद प्रतिपत्त्यर्थं गलितसूत्रोद्धरणार्थं चैवं सुगमान्यपि विव्रियन्ते।

(जीवाजीवाभिगम टीका ३, ३७६)

हरित, औषधि, जलरुह, कुहण आदि और साधारण शरीर वनस्पतिकाय के अनेक प्रकार हैं।

त्रस जीव के तेजस्काय, वायुकाय और औदारिक त्रस ये तीन भेद किये हैं। तेजस्काय और वायुकाय के सूक्ष्म और बादर और फिर बादर के अनेक भेद बताये हैं। औदारिक त्रस द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रूप से चार प्रकार होते हैं। पंचेन्द्रिय के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये भेद किये हैं। नरक के रत्नप्रभादि सात भेद बताये हैं। तिर्यंच के जलचर, स्थलचर और नभचर ये तीन भेद करके फिर एक-एक के अनेक भेद किये हैं। मनुष्य के संमूर्च्छिम और गर्भोत्पन्न ये दो भेद हैं और देव के भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक ये चार भेद हैं।

द्वितीय प्रतिपत्ति

द्वितीय प्रतिपत्ति में संसारी जीव के तीन प्रकार बताये हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। स्त्रियाँ तीन प्रकार की हैं—तिर्यंचणी, मानुषी और देवी। फिर उनके अनेक भेद किये हैं और उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति पर प्रकाश डाला है। फिर पुरुष के भी तीन भेद किये हैं—तिर्यंच, मनुष्य और देव। स्त्री के समान पुरुष के भी अनेक भेद बताकर उनकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति पर प्रकाश डाला है। इसके बाद नपुंसक के तीन प्रकार बताये हैं—नारक, तिर्यंच और मनुष्य और उनके भी अनेक प्रकार बताकर उनका जघन्य-उत्कृष्ट अन्तरकाल भी बताया है। नपुंसक वेद को किसी महानगरी के प्रज्वलित होने के समान उग्र दाहकारी बताया है।

तृतीय प्रतिपत्ति

तृतीय प्रतिपत्ति में नरक की सात पृथ्वियों के नाम, गोत्र, पहली नरक रत्नप्रभा पृथ्वी के ३ काण्ड, शर्कराप्रभा यावत् तमस्तमाप्रभा का एक-एक प्रकार बताया है। सात नरकों के नारकावास, सात नरकों के नीचे घनोदधि, घनवात, तनुवात, अवकाशान्तर, रत्नप्रभा के काण्ड का बाहुल्य, यावत् तमस्तमा के बाहुल्य आदि, सात नरकों और उनके अवकाशान्तरों में पुद्गल द्रव्यों की व्यापक स्थिति, सात नरकों से चारों दिशाओं में लोकान्त का अन्तर, सात नरकों के संस्थान, सात नरकों में सर्व जीवों के उत्पन्न होने, निकलने आदि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर, सात नरकों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि, चार गतियों की अपेक्षा से गति और आगति,

नैरयिकों के श्वासोच्छ्वास के पुद्‌गल, आहार के पुद्‌गल, लेश्याएँ, ज्ञान, अज्ञान, योग, उपयोग, अवधिज्ञान का प्रमाण, समुद्‌घात, सात नरकों में क्षुधा-पिपासादि की वेदना, शीतोष्ण वेदना, मानवलोक की उष्णता से नारकीय उष्णता की तुलना, नैरयिकों का अनिष्ट पुद्‌गल परिणमन, तिर्यंच के सम्बन्ध में विस्तार से लेश्या, दृष्टि, अज्ञान, ज्ञान, योग, उपयोग, उत्पत्ति, स्थिति, मरण, समुद्‌घात, उद्‌वर्तन, कुलकोडि इन ११ द्वारों से वर्णन किया गया है।

मनुष्य योनि के जीवों के वर्णन में मनुष्य के संमूर्च्छिम और गर्भज दो भेद किये हैं। संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का स्थान, गर्भज मनुष्य ३ प्रकार के—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तरद्वीपज। एकोरुकद्वीप (अन्तरद्वीप) का स्थान, आयाम, विष्कंभ और परिधि, पद्मवरवेदिका की ऊँचाई, विष्कंभ, भूमितल का वर्णन, अनेक प्रकार के वृक्ष, लताएँ, गुल्म और १० प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन। वहाँ के मनुष्यों का सर्वांगीण वर्णन करते हुए उनकी ऊँचाई, पसलियाँ, आहारेच्छा का काल, मनुष्यों के भोज्य पदार्थ, वहाँ की पृथ्वी व फलों के आस्वाद का वर्णन किया है। और साथ ही गृह, ग्राम, नगर, असि, मसि, कृषि आदि कर्म, हिरण्य, सुवर्ण आदि धातु, राजा और सामाजिक व्यवस्था, दास्यकर्म, वैरभाव, मित्रादि, नटादि के नृत्य, वाहन, धान्य, डांस, मच्छर, युद्ध, रोग, अतिवृष्टि, लोहे आदि धातु की खानें, क्रय-विक्रय आदि सभी का वहाँ पर अभाव बताया गया है। अकर्मभूमिज मनुष्य के ३० प्रकारों और कर्मभूमिज के १५ प्रकारों का वर्णन है।

चार प्रकार के देवों का वर्णन करते हुए भवनवासी देवों से लेकर अनुत्तर विमानवासी देवों तक के भेदों का निरूपण किया है। भवनवासी देवों के भवनों का स्थान, दक्षिण के असुरकुमारों के भवनों का वर्णन, असुरेन्द्र की ३ परिषद, उनमें देवों की, देवियों की संख्या, उनकी स्थिति, तीन परिषदों की भिन्नता का कारण, उत्तर के असुरकुमारों का वर्णन, इसी प्रकार असुरकुमारों की तीन परिषदों का भी वर्णन है और दक्षिण-उत्तर के नागकुमारेन्द्र और दक्षिण-उत्तर के भवनेन्द्र व उनकी तीन परिषद व सभी के देव-देवियों का वर्णन है। व्यन्तर देवों के भवन, इन्द्र और परिषदों का भी वर्णन है। ज्योतिष्क देवों के विमानों का संस्थान और सूर्य, चन्द्र,

ज्योतिषी देवों की तीन-तीन परिषदों का वर्णन है। द्वीप समुद्रों का स्थान, संख्या, संस्थान आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप के वृत्ताकार की उपमाएँ, उसके संस्थान की उपमाएं, जम्बूद्वीप का आयाम, विष्कंभ, परिधि, जगती की ऊँचाई, उसके मूल, मध्य और ऊपर का विष्कंभ, उसका संस्थान, जगती की जाली की ऊँचाई व विष्कंभ, पद्मवरवेदिका की ऊँचाई, विष्कंभ, उसकी जालिकाएँ, घोड़े आदि के चित्र, वनलता आदि लताएँ, अक्षय, स्वस्तिक, विविध प्रकार के कमल, शाश्वत या अशाश्वत नित्यता आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप के वनखंड का चक्रवाल, विष्कंभ, विविध वापिकाएँ उनके सोपान व तोरण, समीपवर्ती पर्वत, उनके शिलापट्ट, अनेक लतागृह, मंडप, शिलापट्ट उन पर देव-देवियों की क्रीड़ाएँ आदि विषयों का वर्णन है।

जम्बूद्वीप के विजय द्वार का स्थान, उसकी ऊँचाई, विष्कंभ तथा कपाट की रचना का विस्तृत वर्णन है। विजय देवों के, सामानिक देवों के, अग्रमहिषियों के, तीन परिषदों के, आत्मसंरक्षक देवों आदि के भद्रासनों का वर्णन है। विजयद्वार के ऊपरी भाग का वर्णन किया गया है, उसके नाम का हेतु, उसके परिवार व विजयद्वार का नाम शाश्वत है—यह भी बताया गया है।

जम्बूद्वीप की विजया राजधानी का स्थान, उसका आयाम, विष्कंभ, परिधि, प्राकार की ऊँचाई, प्राकार के मूल, मध्य और ऊपरी भाग का विष्कंभ, उसका संस्थान, कपिशीर्षक का आयाम, विष्कंभ, उसके द्वारों की ऊँचाई और विष्कंभ, द्वारों का द्वार, चार वनखण्ड, उनका आयाम, विष्कंभ, दिव्य प्रासाद, उसमें चार महर्धिक देव, परिधि, पद्मवरवेदिका-वनखंड-सोपान व तोरण, प्रासादावतंसक, मणिपीठिका, सिंहासन, अष्टमंगल, समीपवर्ती प्रासादों की ऊँचाई, आयाम, विष्कंभ, अन्य पार्श्ववर्ती प्रासादों की ऊँचाई, आयाम, विष्कंभ आदि का वर्णन है।

विजयदेव की सुधर्मा सभा, ऊँचाई, आयाम, विष्कंभ, उसके तीन द्वारों की ऊँचाई व विष्कंभ, मुख्य मंडपों का आयाम, विष्कंभ और ऊँचाई, प्रेक्षागृह मंडपों का आयाम, ऊँचाई, विष्कंभ, मणिपीठिकाओं का आयाम, विष्कंभ और बाहुल्य, चैत्यवृक्षों की ऊँचाई, महेन्द्रध्वजाओं की ऊँचाई, सिद्धायतन का आयाम, विष्कंभ आदि का वर्णन किया गया है।

उपपात सभा का वर्णन, विजयदेव की उत्पत्ति, पर्याप्ति, मानसिक संकल्प, आदि का वर्णन किया गया है। विजयदेव की स्थिति और उनके सामानिक देवों की स्थिति, जम्बूद्वीप के विजय, वैजयन्त, जयंत और अपराजित द्वारों का वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप के एक द्वार से दूसरे द्वार का अन्तर, जम्बूद्वीप से लवणसमुद्र का और लवणसमुद्र से जम्बूद्वीप का स्पर्श। जम्बूद्वीप के और लवणसमुद्र के जीवों की उत्पत्ति बताई गई है।

जम्बूद्वीप में उत्तरकुरु का स्थान, संस्थान और विष्कंभ, जीवा और वक्षस्कार पर्वत का स्पर्श, धनुपृष्ठ की परिधि, उत्तरकुरुक्षेत्र के मनुष्यों की ऊँचाई, पसलियाँ, आहारेच्छा, काल, स्थिति और शिशुपालन काल। उत्तरकुरु के दो यमकपर्वत हैं। उनकी ऊंचाई, उद्वेध, मूल, मध्य और ऊपरी भाग का आयाम, विष्कंभ, परिधि, उन पर्वतों पर प्रासाद और उनकी ऊँचाई, यमक नाम का कारण दो यमक देव हैं। यमक पर्वत नित्य हैं, यमक देवों की राजधानी का स्थान, आदि का वर्णन है।

उत्तरकुरु में नीलवंतद्रह का स्थान, आयाम, विष्कंभ और उद्वेध, पद्मकमल का आयाम, विष्कंभ, परिधि, बाहल्य, ऊँचाई और सर्वोपरिभाग, इसी तरह पद्मकर्णिका, भवन, द्वार, मणिपीठिका, १०८ कमल, कर्णिकाएँ, पद्मपरिवार आदि के आयाम, विष्कंभ, परिधि का वर्णन है।

कंचनग पर्वतों का स्थान, प्रासाद नाम का कारण, कंचनगदेव और उसकी राजधानी, उत्तरकुरुद्रह का स्थान, चंद्रद्रह, ऐरावणद्रह, माल्यवंतद्रह, जम्बूपीठ का स्थान, मणिपीठिका, जम्बू-सुदर्शन वृक्ष की ऊँचाई, आयाम, विष्कंभ आदि का वर्णन किया गया है। जम्बू-सुदर्शन की शाखाएँ, उन पर भवन, द्वार, उपरिभाग में सिद्धायतन के द्वारों की ऊँचाई, विष्कम्भ आदि। पार्श्ववर्ती अन्य जम्बू-सुदर्शनों की ऊँचाई, अनाधृत देव और उसका परिवार, चारों ओर के वनखण्ड, प्रत्येक वनखण्ड में भवन, नन्दा पुष्करिणियाँ, उनके मध्य प्रासाद, उनके नाम, एक महान कूट, उसकी ऊँचाई, आयाम, विष्कम्भ आदि का वर्णन है। जम्बू-सुदर्शन वृक्ष पर अष्टमंगल, उसके १२ नाम, उसके नाम का कारण, अनाधृत देव की स्थिति, राजधानी का स्थान का वर्णन है। जम्बूद्वीप नाम की नित्यता, उसमें चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, महाग्रह, तारागण आदि की संख्या आदि का वर्णन है।

लवणसमुद्र का संस्थान, उसका चक्रवाल, विष्कंभ, परिधि, पद्मवरवेदिका की ऊँचाई और वनखंड, लवणसमुद्र के द्वारों का अन्तर,

लवणसमुद्र और धातकीखंडद्वीप का परस्पर स्पर्श, लवणसमुद्र के जीवों की धातकीखण्ड में परस्पर उत्पत्ति, लवणसमुद्र नाम का कारण, लवणाधिपति सुस्थित देव की स्थिति, लवणसमुद्र की नित्यता, उसमें चंद्र, सूर्य, नक्षत्र, महाग्रह, तारा आदि की संख्या। अष्टमी आदि तिथियों में लवणसमुद्र का ज्वारभाटा (भरती और घटती), उसमें चार पाताल कलश आदि का वर्णन है।

लवणाधिप सुस्थित देव, गौतम द्वीप का स्थान, वनखंड, क्रीड़ास्थल, मणिपीठिका और उसके नाम के कारण का वर्णन है।

जम्बूद्वीप के चन्द्रद्वीप का स्थान, ऊँचाई, आयाम, विष्कंभ, क्रीड़ास्थल, प्रासादावतंसक, मणिपीठिका का परिमाण, नाम का हेतु आदि, इसी प्रकार जम्बूद्वीप के सूर्य और उनके द्वीपों का वर्णन है। लवणसमुद्र के बाहर चन्द्र-सूर्य और उनके द्वीप, धातकीखण्ड के चन्द्र, सूर्य और उनके द्वीप, कालोदधिसमुद्र के चन्द्र, सूर्य और उनके द्वीप, पुष्करवरद्वीप के चन्द्र, सूर्य और उनके द्वीप, लवणसमुद्र के वेलंधर मच्छ, कच्छप, बाह्य समुद्रों में वेलंधरों का अभाव, लवणसमुद्र के उदक का वर्णन, उसमें वर्षा आदि का सद्भाव किन्तु बाह्य समुद्रों में अभाव, उसका संस्थान, चक्रवाल, विष्कंभ, परिधि, उद्वेध आदि का वर्णन है।

धातकीखण्ड का संस्थान, चक्रवाल, विष्कंभ, चक्रवाल परिधि, पद्मवरवेदिका और वनखंड, उसके द्वार, उनके अन्तर, धातकीखण्ड और कालोदधि का स्पर्श, जीवों की उत्पत्ति, नाम का हेतु, धातकीखण्ड के वृक्ष और देव-देवियों की स्तुति, उसकी नित्यता, धातकीखण्ड के चन्द्र, सूर्य, महाग्रह, नक्षत्र, तारागण आदि का वर्णन है।

कालोद समुद्र का संस्थान, चक्रवाल, विष्कंभ, परिधि, पद्मवरवेदिका, वनखंड, चार द्वार, उनका अन्तर, कालोद समुद्र व पुष्करवरद्वीप का परस्पर स्पर्श, जीवों की परस्पर उत्पत्ति, नाम का कारण, काल, महाकाल देव की स्थिति, कालोद समुद्र की नित्यता, उसके चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि का वर्णन किया गया है।

पुष्करवरद्वीप का संस्थान, चक्रवाल, परिधि, पद्मवरवेदिका वनखंड, चार द्वार, उनका अन्तर, द्वीप और समुद्र के प्रदेशों का स्पर्श, जीवों की परस्पर उत्पत्ति, नाम का हेतु, पद्म और महापद्म वृक्ष, पद्म और

पुंडरीक देवों की स्थिति, पुष्करवरद्वीप में चन्द्र, सूर्य, महाग्रह, नक्षत्र तारा आदि का वर्णन है।

मानुषोत्तर पर्वत बीच में आ जाने से पुष्करवरद्वीप के दो विभाग हो गये हैं। समय क्षेत्र का आयाम, विष्कंभ, परिधि, मनुष्य क्षेत्र के नाम का कारण, सूर्य, चन्द्र, महाग्रह, नक्षत्र, तारा आदि का वर्णन है।

मनुष्यलोक और उसके बाहर ताराओं की गति आदि, मानुषोत्तर पर्वत की ऊँचाई, पर्वत के नाम का कारण, लोक सीमा के अनेक विकल्प, मनुष्यक्षेत्र में चन्द्रादि ज्योतिषी देवों की मण्डलाकार गति, इन्द्र के अभाव में सामानिक देवों द्वारा शासन, इन्द्र का विरहकाल, पुष्करोदधि का संस्थान, चक्रवाल, विष्कंभ, परिधि, चार द्वार, उनका अन्तर, द्वीप और समुद्र के जीवों की परस्पर उत्पत्ति आदि पर चिन्तन किया है।

अंत में स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्र का वर्णन है। लवणसमुद्र, कालोद समुद्र, पुष्करोद, वरुणोद, क्षीरोद, घृतोद, क्षोतोद तथा शेष समुद्र आदि के पानी के आस्वाद का वर्णन है। ये प्रत्येक रस वाले चार-चार समुद्र, उदगरस वाले तीन समुद्र, बहुत मच्छ-कच्छ वाले तीन समुद्र, शेष समुद्र अल्प मच्छ वाले हैं। समुद्रों के मत्स्यों की कुलकोटि, अवगाहना, आदि का वर्णन है। देवों की दिव्य गति, बाह्य पुद्गलों के ग्रहण से ही विकुर्वणा, देव के वैक्रिय शरीर को छद्मस्थ नहीं देख सकता, बालक का छेदन-भेदन किये बिना बालक को ह्रस्व, दीर्घ करने का सामर्थ्य देव में होता है, आदि का वर्णन है।

चन्द्र, सूर्यों के नीचे, मध्य और ऊपर रहने वाले ताराओं का वर्णन, प्रत्येक चन्द्र, सूर्य के परिवार का परिमाण, जम्बूद्वीप के मेरु से ज्योतिषी देवों की गति का अन्तर, लोकान्त से ज्योतिषी देवों की गति क्षेत्र का अन्तर, रत्नप्रभा के ऊपरी भाग से ताराओं का, सूर्य-विमान का, चन्द्र-विमान का और सबसे ऊपर के तारे के विमान का अन्तर यहाँ बताया गया है।

इसी प्रकार अधोवर्ती तारे से सूर्य, चन्द्र और सर्वोपरि तारे का अन्तर, जम्बूद्वीप में सर्वाभ्यन्तर, सर्वबाह्य, सर्वोपरि, सर्वअधो गति करने वाले नक्षत्रों का वर्णन, चन्द्रविमान, यावत् ताराविमान का विष्कंभ, परिधि, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रों के विमानों को परिवहन करने वाले देवों की

संख्या, चन्द्रादि की गति, अग्रमहिषियाँ, उनकी विकुर्वणा आदि का वर्णन दिया गया है।

वैमानिक देवों का वर्णन करते हुए शक्रेन्द्र की तीन परिषद, उनके देवों की संख्या, स्थिति, यावत् अच्युतेन्द्र की तीन परिषद आदि का वर्णन है। अहमिन्द्र, ग्रैवेयक व अनुत्तर विमान के देवों का वर्णन है। सौधर्म, ईशान से लेकर अनुत्तर विमानों का आधार, सौधर्म यावत् अनुत्तर विमान पृथ्वी का भिन्न-भिन्न बाहुल्य, भिन्न-भिन्न संस्थान, ऊँचाई, आयाम, विष्कंभ, परिधि, वर्ण, प्रभा, गंध और स्पर्श। सर्व विमानों की पौद्गलिक रचना, जीवों और पुद्गलों का चयोपचय, जीवों की उत्पत्ति का भिन्न-भिन्न क्रम, सर्व जीवों से सर्वथा रिक्त न होना, देवों की भिन्न-भिन्न अवगाहना। ग्रैवेयक और अनुत्तर देवों में विक्रिया करने की शक्ति होने पर भी वे विक्रिया नहीं करते। देवों में संघयण का अभाव है, केवल पुद्गलों का शुभ परिणमन होता है। देवों में समचतुरस्र संस्थान है, भिन्न-भिन्न वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। वैमानिक देवों के अवधिज्ञान की भिन्न-भिन्न अवधि, भिन्न-भिन्न समुद्घात, क्षुधा-पिपासा के वेदन का अभाव, भिन्न-भिन्न प्रकार की वैक्रिय शक्ति, सातावेदनीय, वेशभूषा, कामभोग, भिन्न-भिन्न स्थिति, गति। नैरयिकों की, तिर्यंचों की, मनुष्यों और देवों की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य, उत्कृष्ट संस्थिति काल। नैरयिक, मनुष्य और देव व तिर्यंच का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल और उनका अल्पबहुत्व इसमें वर्णित है।

चतुर्थ प्रतिपत्ति

चतुर्थ पंचविध जीव प्रतिपत्ति में संसार स्थित जीव के पांच प्रकार बताये हैं—एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय।

जीव दो प्रकार के, सूक्ष्म और बादर, उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, संस्थितिकाल, अल्पबहुत्व आदि बताये गये हैं।

पंचम प्रतिपत्ति

पंचम षड्विध जीव प्रतिपत्ति में संसार स्थित जीव छह प्रकार के हैं—पृथ्वीकाय यावत् त्रसकाय। इन प्रत्येक के दो-दो भेद हैं। उनकी भिन्न-भिन्न संस्थितिकाल व भिन्न-भिन्न अन्तरकाल और अल्पबहुत्व बताया है। सूक्ष्म-बादर षट्कायिक जीवों की स्थिति, संस्थिति, अन्तरकाल और

अल्पबहुत्व। निगोद दो प्रकार के हैं। निगोदाश्रय दो प्रकार के हैं, सूक्ष्म और बादर। निगोद की स्थिति, संस्थिति, अन्तरकाल और अल्पबहुत्व आदि का वर्णन है।

षष्ठम जीव प्रतिपत्ति

छठी सप्तविध जीव प्रतिपत्ति में संसारस्थ जीव सात प्रकार के बताये हैं। उन संसारी जीवों की स्थिति, संस्थिति, अन्तरकाल और अल्पबहुत्व का वर्णन है। वे सात जीव इस प्रकार हैं—नैरयिक, तिर्यंच, तिर्यंचणी, मनुष्य, मानुषी, देव और देवी।

सप्तम जीव प्रतिपत्ति

सातवीं अष्टविध जीव प्रतिपत्ति में संसारी जीव ८ प्रकार के बताये हैं। प्रथमसमय नैरयिक, अप्रथमसमय नैरयिक, प्रथमसमय तिर्यंच, मनुष्य और देव, इसी प्रकार अप्रथमसमय तिर्यंच, मनुष्य और देव का वर्णन है। इन आठ प्रकार के संसारी जीवों की स्थिति, संस्थितिकाल, अन्तरकाल और अल्पबहुत्व पर प्रकाश डाला है।

अष्टम जीव प्रतिपत्ति

आठवीं नवविध जीव प्रतिपत्ति में संसारी जीव के नौ प्रकार बताये हैं—पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेउकायिक, वाउकायिक, वनस्पतिकायिक, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय। नौ प्रकार के जीवों की स्थिति, संस्थिति, अन्तरकाल, अल्पबहुत्व आदि का विवेचन किया गया है।

नवम जीव प्रतिपत्ति

नवीं दशविध जीव प्रतिपत्ति में संसारी जीवों के दश प्रकार बताये हैं—प्रथमसमय एकेन्द्रिय से प्रथमसमय पंचेन्द्रिय तक के पाँच और इसी प्रकार अप्रथमसमय एकेन्द्रिय से अप्रथमसमय पंचेन्द्रिय जीव तक के पांच कुल मिलाकर दश प्रकार के जीवों की स्थिति, संस्थिति, अन्तरकाल और अल्पबहुत्व का सम्यक् निरूपण किया गया है।

इसी प्रकार प्रस्तुत प्रतिपत्ति में जीवों के सिद्ध, असिद्ध, सेन्द्रिय, अनिन्द्रिय, ज्ञानी, अज्ञानी, आहारक, अनाहारक, भाषक, अभाषक, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, परित्त, अपरित्त, पर्याप्तक, अपर्याप्तक, सूक्ष्म, बादर, संज्ञी, असंज्ञी, भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक भेद कहे हैं तथा योग, वेद, दर्शन, संयत, असंयत, कषाय, ज्ञान, शरीर, काय, लेश्या, योनि, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा से वर्णन किया गया है।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में द्वीप और सागरों का विस्तार से वर्णन है। इसमें १६ प्रकार के रत्न, अस्त्र-शस्त्रों के नाम, धातुओं के नाम, कल्पवृक्ष, विविध प्रकार के पात्र, विविध आभूषण, भवन, वस्त्र, ग्राम, नगर, राजा आदि के नाम बताये हैं। त्यौहार, उत्सव, नट, यान, आदि विविध प्रकार के नाम आदि भी वर्णित हैं। इसी तरह कला, युद्ध व रोग आदि के नाम बताये हैं। इसमें उद्यान, वापी, पुष्करिणी, कदलीघर, प्रसाधनघर आदि का सरस व साहित्यिक वर्णन है। कला की दृष्टि से सांस्कृतिक सामग्री का इसमें प्राचुर्य है।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में जीव और अजीव का अभिगम है। समग्र ग्रंथ में जीव निरूपण का क्रम, जीव के जो विविध भेद हैं उनको प्रधान रूप में रखकर किया गया है अर्थात् पहले संसारी जीवों के दो भेद से लेकर दश भेदों का वर्णन है। इसमें क्रमशः जीव के भेदों का निरूपण और उन भेदों में उन जीवों की स्थिति, अंतर, अल्पबहुत्व आदि का वर्णन है।

सामान्य रूप से ऐसा कह सकते हैं कि समग्र ग्रंथ दो विभागों में विभक्त है। प्रथम विभाग में अजीव का और संसारी जीवों के भेदों का तथा दूसरे में समग्र जीवों के यानि संसारी और सिद्ध इन दोनों का समावेश हो जाय इस प्रकार भेद निरूपण है। यह अंगबाह्य सूत्र स्थविरकृत है।

□

४. प्रज्ञापनासूत्र

नामकरण

प्रज्ञापना जैन आगम साहित्य का चतुर्थ उपांग है। प्रस्तुत आगम के रचयिता श्यामाचार्य ने इसका नाम 'अध्ययन' दिया है[१] जो सामान्य नाम है, और विशेष नाम 'प्रज्ञापना' है। वे कहते हैं—क्योंकि भगवान महावीर ने सर्वभावों की प्रज्ञापना की है उसी प्रकार मैं भी करने वाला हूँ (करता हूँ)। अतः इसका विशेष नाम प्रज्ञापना है। उत्तराध्ययन की भाँति प्रस्तुत आगम का नाम भी 'प्रज्ञापनाध्ययन' यह पूर्ण नाम हो सकता है।

प्रस्तुत आगम में एक ही अध्ययन है जबकि उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं। इस आगम के प्रत्येक पद के अन्त में 'पण्णवणाए भगवईए' यह पाठ मिलता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि अंग साहित्य में जो स्थान भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) का है वही स्थान उपांग में प्रज्ञापना का है।

प्रज्ञापना का अर्थ

प्रज्ञापना क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में बताया है कि 'जीव-अजीव के सम्बन्ध में जो निरूपण है वह प्रज्ञापना है।'[२] प्रस्तुत आगम में जीव अजीव का निरूपण होने से इसे प्रज्ञापना के नाम से कहा गया है। भगवती[३], आवश्यक मलयगिरिवृत्ति[४], आवश्यकचूर्णि,[५] महावीरचरियं[६] और त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र[७] में भगवान महावीर द्वारा छद्मस्थ अवस्था में दश महास्वप्न देखने का उल्लेख है। उसमें तीसरा स्वप्न उन्होंने

---

१ 'अज्झयणमिणं चित्तं' —प्रज्ञापना गा० ३

२ उवदंसिया भगवया पण्णवणा सव्व भावाणं……जह वण्णियं भगवया अहमवि तह वण्णइस्सामि —प्रज्ञापना गा० २-३

३ भगवती १६।६।५८०

४ आवश्यक मलयगिरि पृ० २७०

५ आवश्यकचूर्णि पृ० २७५

६ महावीरचरियं ५।१५५

७ त्रिषष्टिशलाका० १०।३।१४६

देखा कि एक रंग-विरंगा पुंस्कोकिल सामने उपस्थित है। उस स्वप्न का फल था 'वे विविध ज्ञानमय द्वादशांग श्रुत की प्रज्ञापना करेंगे।'

इसमें 'प्रज्ञापयति' और 'प्ररूपयति' इन क्रियाओं से यह स्पष्ट है कि भगवान का उपदेश प्रज्ञापना-प्ररूपणा है। उस उपदेश का आधार लेकर प्रस्तुत आगम की रचना होने से प्रस्तुत आगम का नाम प्रज्ञापना रखा हो ऐसा ज्ञात होता है। अंग साहित्य में यत्र-तत्र 'भगवान ने यह कहा' इस प्रकार जहाँ-जहाँ उल्लेख हुआ है वहाँ पर 'पन्नत्तं' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः श्यामाचार्य ने प्रज्ञापना शब्द का प्राधान्य होने से प्रस्तुत आगम का नाम प्रज्ञापना रखा हो। भगवतीसूत्र में आर्य स्कन्धक के प्रसंग में भगवान महावीर ने स्वयं कहा *'एवं खलु मए खंधया, चउव्विहे लोए पण्णत्ते'*[1]। इसी प्रकार आचारांग प्रभृति में भी अनेक स्थलों पर इस प्रकार के प्रयोग हुए हैं जो भगवान के उपदेश के लिए प्रज्ञापना शब्द का प्राधान्य प्रगट करते हैं। टीकाकार के अनुसार प्रस्तुत शब्द के प्रयोग में जो 'प्र' उपसर्ग है वह महावीर के उपदेश की विशेषता को सूचन करता है। जीव और अजीव आदि तत्त्वों का जो सूक्ष्म विश्लेषण भगवान महावीर ने किया है उतना सूक्ष्म वर्णन उस युग के अन्य किसी भी धर्माचार्य के उपदेश में दृष्टि-गोचर नहीं होता है।

प्रस्तुत आगम के भाषापद में 'पण्णवणी' एक भाषा का प्रकार बतलाया है। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य मलयगिरि लिखते हैं, जिस प्रकार से वस्तु व्यवस्थित हो उसी प्रकार उसका कथन जिस भाषा के द्वारा किया जाय वह भाषा 'प्रज्ञापनी' है[2]। प्रज्ञापना का यह सामान्य अर्थ है। तात्पर्य यह है कि जिसमें कोई धार्मिक विधि-निषेध का प्रश्न नहीं है किन्तु सिर्फ वस्तु निरूपण जिससे होता हो वह प्रज्ञापनी भाषा है।[3]

बौद्ध पालि साहित्य में 'पञ्ञत्ती' नामक ग्रन्थ है जिसमें विविध प्रकार के पुद्गल अर्थात् पुरुष के अनेक प्रकार के भेदों का निरूपण है। उसमें पञ्ञत्ति यानी प्रज्ञप्ति और प्रज्ञापना दोनों के नाम का तात्पर्य एक सदृश है।

---

१ भगवती २।१।९०

२ "प्रज्ञापनी—प्रज्ञाप्यतेऽर्थोऽनयेति प्रज्ञापनी" —प्रज्ञापना पत्र २४९

३ यथावस्थितार्थाभिधानादियं प्रज्ञापनी ॥ —प्रज्ञापना पत्र २४९

प्रज्ञापना का आधार

आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना को समवाय का उपांग लिखा है[1] किन्तु प्रस्तुत उपांग का सम्बन्ध कब से इस अंग के साथ हुआ इसका स्पष्ट निर्णय विज्ञ नहीं कर सके हैं। स्वयं श्यामाचार्य प्रज्ञापना को दृष्टिवाद में से लिया ऐसा सूचित करते हैं।[2] किन्तु हमारे सामने दृष्टिवाद उपलब्ध नहीं है। अतः स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि पूर्व आदि से कौन सी सामग्री ली गई तथापि ज्ञानप्रवाद, आत्मप्रवाद और कर्मप्रवाद के साथ इसके वस्तु-पदार्थ का मेल बैठता है।[3] प्रज्ञापना और दिगम्बर ग्रन्थ षट्खंडागम दोनों का विषय प्रायः समान है। षट्खंडागम की धवला टीका में षट्खंडागम का सम्बन्ध अग्रायणीपूर्व के साथ जोड़ा गया है।[4] अतः प्रज्ञापना का भी सम्बन्ध अग्रायणीपूर्व के साथ जोड़ सकते हैं।

आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार समवायांग में कहे हुए अर्थ का ही वर्णन प्रज्ञापना में है जिससे वह समवायांग का उपांग है। किन्तु स्वयं शास्त्रकार ने इसका सम्बन्ध दृष्टिवाद से बताया है। अतः यही उचित लगता है कि इसका सम्बन्ध समवायांग की अपेक्षा दृष्टिवाद से अधिक है। किन्तु दृष्टिवाद में मुख्य रूप से दृष्टि—दर्शन का ही वर्णन था। समवायांग में भी मुख्य रूप से जीव, अजीव आदि तत्त्वों का निरूपण है और इसमें भी वही निरूपण है, अतः समवायांग का उपांग मानने में भी कोई बाधा नहीं है।

प्रज्ञापना में ३६ विषयों का निर्देश है, इसलिए इसके ३६ प्रकरण हैं। प्रकरण को पद इस प्रकार सामान्य नाम दिया है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में प्रतिपाद्य विषय के साथ पद शब्द का व्यवहार किया है। आचार्य मलयगिरि पद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं 'पदं प्रकरणमर्थाधिकारः इति

---

१ इयं च समवायाख्यस्य चतुर्थाङ्गस्योपांगम् तदुक्तार्थप्रतिपादनात्।
—प्रज्ञापना टीका पत्र १

२ अज्झयणमिणं चित्तं सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं।
जह वण्णियं भगवया अहमवि तह वण्णइस्सामि ॥ गा० ३॥

३ पण्णवणासुत्तं—प्रस्तावना मुनि पुण्यविजयजी, पृ० ६

४ षट्खंडागम, पु० १, प्रस्तावना, पृ० ७२

पर्याया:'[1] अत: यहां पद का अर्थ प्रकरण[2] और अर्थाधिकार समझना चाहिए।

रचना-शैली

संपूर्ण ग्रंथ की रचना प्रश्नोत्तर के रूप में हुई है। प्रारंभ से सूत्र ८१ तक प्रश्नकर्ता या उत्तरदाता कौन है इस संबंध में कोई सूचना नहीं है, केवल प्रश्न व उत्तर हैं। इसके पश्चात् ८२वें सूत्र में भगवान महावीर और गणधर गौतम का संवाद है। ८३ से ९२ सूत्र तक सामान्य प्रश्नोत्तर हैं। ९३वें में गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर हैं। उसके पश्चात् ९४वें से १४७ सूत्र तक सामान्य प्रश्नोत्तर हैं। तदनन्तर १४८ से २११ (अर्थात् संपूर्ण दूसरा पद) तीसरे पद के २२५ से २७५ तक और ३२५, ३३०-३३३ व चौथे पद से लेकर शेष सभी पदों के सूत्र में गौतम गणधर और भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर दिये हैं। सिर्फ उनके प्रारंभ, मध्य या अंत में आने वाली गाथा और १०८६ में वे प्रश्नोत्तर नहीं हैं।

जिस प्रकार प्रारंभ में सम्पूर्ण ग्रन्थ की अधिकार गाथाएं आयी हैं। उसी प्रकार कितने ही पदों के प्रारम्भ में भी विषय निर्देशक गाथाएँ रचना में आई हैं। जैसे ३, १८, २०, २३ पदों के प्रारंभ और उपसंहार में। इसी प्रकार १०वें पद के अन्त में, ग्रंथ के मध्य में और जहां आवश्यकता हुई वहां भी गाथाएँ दी गई हैं।[3]

संपूर्ण आगम का श्लोक प्रमाण ७८८७ है। इसमें प्रक्षिप्त गाथाओं को छोड़कर २३२ कुल गाथाएँ हैं और शेष गद्य है। इस आगम में जो संग्रहणी गाथाएं हैं उनके रचयिता कौन हैं यह कहना कठिन है। प्रज्ञापना के ३६ पदों में सर्वप्रथम पद में जीव के दो भेद—संसारी और सिद्ध बताये हैं। उसके बाद इन्द्रियों के क्रम के अनुसार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में सब संसारी जीवों का समावेश करके निरूपण किया है। यहां जीव के भेदों का नियामक तत्त्व इंद्रियों की क्रमशः वृद्धि बतलाया है। दूसरे पद में जीवों की स्थानभेद से विचारणा की गई है। इसका क्रम भी प्रथम पद की भांति

---

१ प्रज्ञापनाटीका, पत्र ६

२ सूत्रसमूहः प्रकरणम् —न्यायवार्तिक, पृ० १

३ पण्णवणासुत्तं, द्वितीय भाग (प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय) प्रस्तावना, पृ० १०-११

इन्द्रिय प्रधान ही है। जैसे वहाँ एकेन्द्रिय, वैसे यहाँ पृथ्वीकाय आदि काय शब्द को लेकर भेदों का निरूपण किया गया है। तीसरे पद से लेकर बाकी के पदों में जीवों का विभाजन गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परित्त, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भव, अस्तिकाय, चरिम, जीव, क्षेत्र, बंध इन सभी दृष्टियों से जीवों के भेदों का निरूपण है और उनके अल्पबहुत्व का विचार किया है। अर्थात् प्रज्ञापना में तृतीय पद के बाद के पदों में कुछ अपवाद[1] छोड़कर सर्वत्र नारक से लेकर २४ दंडकों में विभाजित जीवों की विचारणा की गई है।

विषय विभाग

आचार्य मलयगिरि ने गाथा २ की व्याख्या करते हुए प्रज्ञापना में आये हुए विषय विभाग का संबंध जीवाजीवादि सात तत्त्वों के निरूपण के साथ इस प्रकार संयोजित किया है—

१-२ जीव-अजीव	पद १, ३, ५, १० और १३	= ५ पद
३ आस्रव	पद १६, २२	= २ पद
४ बन्ध	पद २३	= १ पद
५-७ संवर, निर्जरा और मोक्ष	पद ३६	= १ पद

शेष पदों में क्वचित् किसी तत्त्व का निरूपण है।

जैनदृष्टि से सभी तत्त्वों का समावेश द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में किया गया है। अतः आचार्य मलयगिरि ने द्रव्य का समावेश प्रथमपद में, क्षेत्र का द्वितीय पद में, काल का चतुर्थ पद में और भाव का शेष पदों में समावेश किया है।

प्रज्ञापना का भगवती विशेषण

पाँचवें अंग का नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है और उसका विशेषण 'भगवती' है। प्रज्ञापना को भी 'भगवती' विशेषण दिया गया है। जबकि अन्य किसी भी आगम के साथ यह विशेषण नहीं लगाया गया है। यह विशेषण प्रज्ञापना की विशेषता का सूचक है। भगवती में प्रज्ञापनासूत्र के १, २, ५, ६, ११, १५, १७, २४, २५, २६, २७ पदों में विषय की पूर्ति करने की सूचना है। विशेषता यह है कि प्रज्ञापना उपांग होने पर भी भगवती आदि का

---

१ इस अपवाद के लिए देखिए पद १३, १८, २१।

सूचन उसमें नहीं किया गया है। इसका मूल कारण यह है कि प्रज्ञापना में जिन विषयों की चर्चा की गई है उन विषयों का उसमें सांगोपांग वर्णन है। महायान बौद्धों में प्रज्ञापारमिता के सम्वन्ध में लिखे हुए ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व होने से अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ का मात्र भगवती ऐसा उल्लेख है।[१]

प्रज्ञापना के रचयिता

प्रज्ञापना के मूल में कहीं पर भी उसके रचयिता के नाम का निर्देश नहीं है। उसके प्रारंभ में मंगल के पश्चात् दो गाथाएँ हैं। उसकी व्याख्या आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि दोनों ने की है किन्तु वे उन गाथाओं को प्रक्षिप्त मानते हैं। उन गाथाओं में स्पष्ट उल्लेख है कि यह श्यामाचार्य की रचना है। आचार्य मलयगिरि ने श्यामाचार्य के लिए 'भगवान' विशेषण का प्रयोग किया है।[२] आर्य श्याम ये वाचक वंश के थे। वे पूर्वश्रुत में निष्णात थे। उन्होंने प्रज्ञापना की रचना में विशिष्ट कला प्रदर्शित की जिसके कारण अंग और उपांग में उन विषयों की चर्चा के लिए प्रज्ञापना देखने का सूचन किया है।

नन्दी की पट्टावली में सुधर्मा से लेकर क्रमशः आचार्य परम्परा के नाम दिये हैं, उसमें ११वाँ नाम 'वंदिमो हारियं य सामज्जं' इसमें आर्य श्याम का नाम आया है और उन्हें हारित गोत्र का बताया गया है। किन्तु प्रज्ञापना की प्रारंभिक प्रक्षिप्त गाथा में आर्य श्याम को वाचक वंश का बताया है और साथ ही २३वें पट्ट पर भी बताया है। आचार्य मलयगिरि ने भी उनको २३वें आचार्य परम्परा पर माना है किन्तु सुधर्मा से लेकर श्यामाचार्य तक उन्होंने नाम नहीं दिये हैं। पट्टावलियों के अध्ययन से यह परिज्ञात होता है कि कालकाचार्य नाम के तीन आचार्य थे। एक का वीर

---

१ शिक्षा समुच्चय, पृ० १०४-११२, २०२

२ (क) भगवान् आर्यश्यामोऽपि इत्यमेव सूत्रं रचयति (टीका, पत्र ७२)
(ख) भगवान् आर्यश्यामः पठति (टीका, पत्र ४७)
(ग) सर्वेषामपि प्रावचनिकसूरीणां मतानि भगवान् आर्यश्याम उपदिष्टवान (टीका, पत्र ३८५)
(घ) भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ (टीका, पत्र ३८५)

निर्वाण ३७६ में स्वर्गवास हुआ था।[१] द्वितीय गर्दभिल्ल को नष्ट करने वाले कालकाचार्य हुए। उनका समय वीर निर्वाण ४५३ है और तृतीय कालकाचार्य जिन्होंने संवत्सरी महापर्व पंचमी के स्थान पर चतुर्थी को मनाया था, उनका समय वी० नि० ९९३ है।

इन तीन कालकाचार्यों में प्रथम कालकाचार्य जिन्हें श्यामाचार्य भी कहते हैं उन्होंने पट्टावलियों के अभिमतानुसार प्रज्ञापना की रचना की। किन्तु पट्टावलियों में उनको २३वाँ स्थान पट्ट-परंपरा में नहीं दिया है। अन्तिम कालकाचार्य प्रज्ञापना के कर्त्ता नहीं हैं क्योंकि नंदी, जो वीर निर्वाण ९९३ के पहले रचित है उसमें, प्रज्ञापना को आगम सूची में स्थान दिया गया है। अतः अब चिन्तन करना है कि प्रथम और द्वितीय कालकाचार्य में से कौन प्रज्ञापना के रचयिता हैं? डा० उमाकान्त का अभिमत है कि यदि दोनों कालकाचार्यों को एक माना जाय तो ११वीं पाट पर जिस श्यामाचार्य का उल्लेख है वे और गर्दभिल्ल राजा को नष्ट करने वाले कालकाचार्य ये दोनों एक सिद्ध होते हैं। पट्टावली में जहाँ उन्हें दो गिना है वहाँ भी एक की तिथि वीर सं० ३७६ वर्ष है तो दूसरे की तिथि ४५३ है। वैसे देखें तो दोनों में ७७ वर्ष का अन्तर है इसलिए चाहे जिसने प्रज्ञापना रचा हो प्रथम या दूसरे ने अथवा दोनों एक हों तो भी विक्रम से पूर्व होने वाले कालकाचार्य (श्यामाचार्य) की रचना है इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

परम्परा की दृष्टि से निगोद की व्याख्या करने वाले कालक और श्याम ये दोनों एक ही आचार्य हैं क्योंकि ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। परम्परा की दृष्टि से वीर निर्वाण ३३५ में वे युगप्रधान हुए और ३७६ तक वे जीवित रहे। यदि प्रज्ञापना उन्हीं कालक की रचना है तो वीर निर्वाण ३३५ से ३७६ के मध्य की रचना है। निर्युक्ति में इससे पूर्व की रचनाएँ हैं। नन्दीसूत्र में जो आगमसूची दी गई है उसमें प्रज्ञापना का उल्लेख है। नन्दी विक्रम संवत् ५२३ से पूर्व की रचना है अतः उसके साथ प्रज्ञापना के उक्त समय का विरोध नहीं है।

---

१ (क) आद्यः प्रज्ञापनाकृत् इन्द्रस्य अग्रे निगोदविचारवक्ता श्यामाचार्यपरनामा। स तु वीरात् ३७६ वर्षेर्जातः। —(खरतरगच्छीय पट्टावली)

(ख) धर्मसागरीय पट्टावली के अनुसार—एक कालक जो वीर निर्वाण ३७६ में मृत्यु को प्रप्त हुए।

प्रज्ञापना में सर्वप्रथम मंगलाचरण किया है। उसमें प्रथम अरिहंत को नही किन्तु सिद्ध को नमस्कार किया गया है। फिर भगवान महावीर को नमस्कार किया है।

प्रथम पद में जैनदर्शन सम्मत मौलिक तत्त्वों की व्यवस्था भेद-प्रभेद बताकर की गई है। उसके पश्चात् उन्हीं तत्त्वों का विशद रूप से निरूपण किया गया है। प्रज्ञापना को जीव और अजीव इन दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम अजीव प्रज्ञापना है क्योंकि इसका विषय कम है। उसके पश्चात् कुछ अपवाद के अतिरिक्त जीव के सम्बन्ध में विविध रूप से विचार किया है। अजीव में रूपी और अरूपी ये दो भेद हैं। रूपी में पुद्गल द्रव्य और अरूपी में धर्म, अधर्म, आकाश और अद्धा समय (काल) आदि तत्त्व हैं। इन भेदों के विश्लेपण में द्रव्य, तत्त्व या पदार्थ जैसे सामान्य नाम का उपयोग नहीं हुआ है जो इस आगम की प्राचीनता को सिद्ध करता है। जो रूपी पदार्थ हैं वे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान युक्त होते हैं। इस प्रकार वर्ण के १००, गंध के ४६, रस के १००, स्पर्श के १८४ और संस्थान के १०० भेद होते हैं। कुल मिलाकर रूपी अजीव—पुद्गल के ५३० भेद होते हैं।

जीव के संसारी और सिद्ध ये दो मुख्य भेद हैं। सिद्धों के १५ भेद किये गये हैं। वे समय, लिंग, वेश और परिस्थिति आदि की दृष्टि से किये गये हैं। उसके पश्चात् संसारी जीवों के भेद-प्रभेद बताये हैं। इस गणना का मुख्य आधार इन्द्रियाँ हैं। उनके भेद-प्रभेदों में जीवों की सूक्ष्मता और स्थूलता, पर्याप्ति और अपर्याप्ति कारण हैं और जन्म के प्रकार को लेकर के भी भेद होते हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक संमूर्च्छिम, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य में गर्भज और संमूर्च्छिम, नारक और देवों में उपपात जन्म है। नारक और संमूर्च्छिम नियम से नपुंसक ही होते हैं। गर्भज में तीनों लिंग होते हैं। देवों में पुरुप और स्त्री दो लिंग होते हैं। इस प्रकार लिंग के भेद से उन-उन जीवों के भेद किए गए हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में जो भेद है उसका मूल आधार चार गति है। साथ ही गर्भज और संमूर्च्छिम यह भी भेद का कारण है। मनुष्य के भेदों में देशभेद, संस्कारभेद, व्यवस्थाभेद, ज्ञानादि शक्तिभेद, आदि हैं। नारक और देवों का भेद स्थानभेद से है।

इसमें असंसारसमापन्न, अनंतरसिद्ध इसके पश्चात् सिद्ध के १५ भेद, परम्परसिद्ध के अप्रथमसमय सिद्ध, आदि ५ भेद, संसारसमापन्न के पर्याप्त-अपर्याप्त के रूप में भेद किये गये हैं। तदनन्तर पृथ्वीकाय के भेद हैं और पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों के भेदों का निरूपण किया गया है।

निवासस्थान

प्रथम पद में जीवों के सिद्ध और संसारी के रूप में विविध भेदों की सूची दी गई है। तो इस द्वितीय पद में उन जीवों के निवास स्थान के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। निवासस्थान के दो प्रकार बताये हैं—(१) जीव जहाँ पर जन्म लेकर मरणपर्यंत रहता है वह 'स्व-स्थान' निवासस्थान है और (२) प्रासंगिक निवासस्थान। यह उपपात और समुद्घात के रूप में दो प्रकार का है। जहाँ से जीव आयु पूर्ण कर अन्य स्थान पर जन्म लेने के लिए जाता है उस समय मार्ग में जिन प्रदेशों की यात्रा की है वह स्थान उपपात है। प्रासंगिक होने पर भी अनिवार्य है। अतः उपपात को प्रासंगिक निवासस्थान कहा है। तीसरा समुद्घात स्थान है। इसमें जीव के प्रदेशों का विस्तार होता है। समुद्घात के सम्बन्ध में प्रस्तुत आगम के ३६वें पद में विस्तार से चर्चा है। इसलिए समुद्घात की अपेक्षा से भी निवासस्थान का चिन्तन किया गया है।

प्रथम पद में जीवों के भेदों का वर्णन करते हुए जैसा एकेन्द्रिय के सामान्य भेदों का वर्णन किया गया है वैसा इस स्थानपद में नहीं किया गया है किन्तु पंचेन्द्रिय जैसे सामान्य भेदों का वर्णन हुआ है। जीवों के मुख्य-मुख्य रूप से भेद-प्रभेदों के स्थानों का निरूपण है। लेकिन जीव के निवासस्थान का विचार क्यों आवश्यक माना गया? उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जैनदर्शन में आत्मा को शरीर प्रमाण माना है, व्यापक नहीं। इसलिए चूँकि संसार में जन्म के समय उसकी अनेक गति होती है और वह नियतस्थान में ही शरीर धारण करता है। अतः कौनसा जीव कहाँ पर है इसको जानने के लिए स्थान का विवेचन आवश्यक है। साथ ही इस विवेचन से जैनधर्म की आत्म-परिणाम के सम्बन्ध की मान्यता भी पुष्ट होती है। अन्य दर्शनों में आत्मा को सर्वव्यापक माना है अतः वे जीवों के निवासस्थान का विचार केवल शरीर की दृष्टि से ही करते हैं। जीव तो उनकी दृष्टि से लोक में सदैव सर्वत्र व्याप्त है इसलिए उन्होंने जीव के

स्थान का विचार नहीं किया। जीवों के भेद-प्रभेद के सम्बन्ध में जो स्थान विचार किया है वह तीन स्थानों का है किन्तु सिद्ध के सम्बन्ध में तो केवल स्व-स्थान का ही विचार है; क्योंकि सिद्धों में 'उपपात' नहीं है। सिद्धों में उपपात इसलिए नहीं है कि अन्य संसारी जीवों की भाँति उनमें नाम-गोत्र कर्म का उदय नहीं है अत: वे नाम धारण करके नवीन जन्म लेने के लिए गति नहीं करते। वे तो अपने ही स्वरूप को प्राप्त करते हैं और वही सिद्धि है। संसारी जीव अन्य स्थान पर जन्म लेते समय जो गति करते हैं वह गति आकाश-प्रदेशों को स्पर्श करके होती है अत: वे आकाश प्रदेश उनके स्थान हैं। किन्तु मुक्त जीवों में जो गति है वह आकाश प्रदेशों को स्पर्श करके नहीं होती अतः उस गति को अस्पृशद्गति कहा गया है।[1]

समुद्घात स्थान भी सिद्ध जीवों में नहीं है क्योंकि समुद्घात सकर्म जीवों में ही होता है, कर्मरहित जीवों में नहीं।

सामान्यरूप से यह कह सकते हैं कि एकेन्द्रिय जीव समग्र लोक में प्राप्त होते हैं। इसका रहस्य यह है कि 'तीनों लोकों में निवासस्थान' की अपेक्षा से सम्पूर्ण एकेन्द्रिय जाति का विवेचन है। बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय का निवास समग्रलोक में नहीं है किन्तु लोक के असंख्यातवें भाग में है और सिद्ध लोकाग्र पर हैं। उसे भी लोक का असंख्यातवाँ भाग कहना चाहिए। मनुष्य में, केवली समुद्घात की दृष्टि से, निवासस्थान समग्र लोक में कहा गया है।

प्रश्न है कि अजीव के स्थान के सम्बन्ध में विचार क्यों नहीं किया? ऐसा ज्ञात होता है कि जीवों के प्रभेदों में अमुक निश्चित स्थान की कल्पना कर सकते हैं, वैसे पुद्गल के सम्बन्ध में नहीं। परमाणु व स्कन्ध समग्र लोकाकाश में हैं किन्तु उनका स्थान निश्चित नहीं है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय ये दोनों समग्र लोकव्यापी हैं और आकाश लोकालोकव्यापी है, अतः उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है।

तीसरे पद में जीव और अजीव तत्त्वों का संख्या की दृष्टि से विचार किया गया है। भगवान महावीर के समय और तत्पश्चात् भी तत्त्वों का संख्या-विचार महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। एक ओर उपनिषदों के मत से

---

१ (क) भगवती सार, पृ० ३१३

(ख) उपाध्याय यशोविजयजी ने अस्पृशद्गतिनाम प्रकरण की रचना की है।

सम्पूर्ण विश्व एक ही तत्त्व का परिणाम है तो दूसरी ओर सांख्य के मत से जीव अनेक किन्तु अजीव एक है। बौद्धों की मान्यता अनेक चित्त और अनेक रूप की है। इस दृष्टि से जैनमत का स्पष्टीकरण आवश्यक था। वह यहाँ पर किया गया है। अन्य दर्शनों में सिर्फ संख्या का निरूपण है जबकि प्रस्तुत पद में संख्या का विचार अनेक दृष्टियों से किया गया है। मुख्य रूप से तारतम्य का निरूपण अर्थात् कौन किससे कम या अधिक है इसकी विचारणा इस पद में की गई है। प्रथम दिशा की अपेक्षा से किस दिशा में जीव अधिक और किस दिशा में कम, इसी तरह जीवों के भेद-प्रभेद की न्यूनाधिकता का भी दिशा की अपेक्षा से विचार किया गया है। इसी प्रकार गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि से जीवों के जो-जो प्रकार होते हैं उनमें संख्या का विचार करके अन्त में समग्र जीवों के जो विविध प्रकार होते हैं उन समग्र जीवों की न्यूनाधिक संख्या का निर्देश किया गया है।

इसमें केवल जीवों का ही नहीं किन्तु धर्मास्तिकाय आदि षट् द्रव्यों की भी परस्पर संख्या का तारतम्य निरूपण किया गया है। वह तारतम्य द्रव्यदृष्टि और प्रदेशदृष्टि से बताया गया है। प्रारम्भ में दिशा को मुख्य करके संख्या-विचार है और बाद में ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक की दृष्टि से समग्र जीवों के भेदों का संख्यागत विचार है।

जीवों की तरह पुद्गलों की संख्या का अल्पबहुत्व भी उन-उन दिशाओं में व उन-उन लोकों में बताया है। इसके सिवाय द्रव्य, प्रदेश और द्रव्यप्रदेश दोनों दृष्टियों से भी परमाणु और संख्या का विचार है। उसके बाद पुद्गलों की अवगाहना, कालस्थिति और उनकी पर्यायों की दृष्टि से भी संख्या का निरूपण किया गया है।

इस पद में जीवों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करके अल्प-बहुत्व का विचार किया है। इसकी संख्या की सूची पर से यह फलित होता है कि उस काल में भी आचार्यों ने जीवों की संख्या का तारतम्य (अल्पबहुत्व) बताने का इस प्रकार जो प्रयत्न किया है वह प्रशस्त है। इसमें बताया गया है कि पुरुषों से स्त्रियों की संख्या—चाहे मनुष्य हो, देव हो, या तिर्यंच हो—अधिक मानी गई है। अधोलोक में नारकों में प्रथम से सातवीं नरक में जीवों का क्रम घटता गया है अर्थात् सबसे नीचे के सातवें नरक में सबसे कम नारक जीव हैं। इससे विपरीत क्रम उर्ध्वलोक के देवों में है; उसमें सबसे नीचे के देवों में सबसे अधिक जीव हैं यानि सौधर्म में सबसे अधिक

और अनुत्तर विमानों में सबसे कम हैं। परन्तु मनुष्यलोक के (तिर्यक् लोक में) नीचे भवनवासी देव है। उनकी संख्या सौधर्म से अधिक है और उनसे ऊपर होने पर भी व्यन्तर देवों की संख्या अधिक और उनसे भी अधिक ज्योतिष्क हैं जो व्यन्तरों से भी ऊपर हैं।

सबसे कम संख्या मनुष्यों की है इसलिए यह भव दुर्लभ माना जाय यह स्वाभाविक है। इन्द्रियाँ जितनी कम उतनी जीवों की संख्या अधिक अथवा ऐसा कह सकते हैं कि विकसित जीवों की अपेक्षा से अविकसित जीवों की संख्या अधिक है। अनादिकाल से आज तक जिन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली है ऐसे सिद्ध जीवों की संख्या भी एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से कम ही है। संसारी जीवों की संख्या सिद्धों से अधिक ही रहती है। इसलिए यह लोक संसारी जीवों से कभी शून्य नहीं होगा क्योंकि प्रस्तुत पद में जो संख्याएँ दी हैं उनमें कभी परिवर्तन नहीं होगा, ये ध्रुवसंख्याएं हैं।

सातवें नरक में अन्य नरकों की अपेक्षा सबसे कम नारक जीव हैं तो सबसे ऊपर देवलोक—अनुत्तर में भी अन्य देवलोकों की अपेक्षा सबसे कम जीव हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जैसे अत्यन्त पुण्यशाली होना दुष्कर है वैसे ही अत्यन्त पापी होना भी दुष्कर है। जीवों का जो क्रमिक विकास माना गया है उसके अनुसार तो निकृष्ट कोटि के जीव एकेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रिय में से ही आगे बढ़कर जीव क्रमशः विकास को प्राप्त होते हैं।

एकेन्द्रियों और सिद्धों की संख्या अनन्त की गणना में पहुँचती है। अभव्य भी अनन्त हैं और सिद्धों की अपेक्षा समग्र रूप से संसारी जीवों की संख्या भी अधिक है। और यह बिलकुल संगत है क्योंकि भविष्य में—अनागत काल में—संसारी जीवों में से ही सिद्ध होने वाले हैं। इसलिए वे कम हों तो संसार खाली हो जायगा—ऐसा मानना पड़ेगा।

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक क्रम से जीवों की संख्या घटती जाती है। यह क्रम अपर्याप्त जीवों में तो बराबर बना रहता है किन्तु पर्याप्त अवस्था में व्युत्क्रम मालूम पड़ता है। ऐसा क्यों हुआ है यह विज्ञों के लिए विचारणीय और संशोधन का विषय है।

चौथे पद में नाना प्रकार के जीवों की स्थिति अर्थात् आयुष्य का विचार हुआ है। जीवों की उन-उन नारकादि रूप में स्थिति-अवस्थान

विचारणा का क्रम इस प्रकार है—प्रश्न किया गया कि नारक जीवों की कितनी पर्यायें हैं ? उत्तर में कहा कि नारक जीवों की अनन्त पर्यायें हैं। इसमें संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद भिन्न-भिन्न दृष्टियों की अपेक्षा से हैं। द्रव्य दृष्टि से नारक संख्यात है, प्रदेश दृष्टि से असंख्यात प्रदेश होने से असंख्यात हैं और वर्ण, गंधादि व ज्ञान दर्शन आदि दृष्टियों से उनकी पर्यायें अनन्त हैं। इस प्रकार सभी दंडकों और सिद्धों की पर्यायों का स्पष्ट निरूपण इस पद में किया है।

आचार्य मलयगिरि ने प्रस्तुत दश दृष्टियों को संक्षेप में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों में विभक्त किया है। द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता को द्रव्य में, अवगाहना को क्षेत्र में, स्थिति को काल में और वर्णादि व ज्ञानादि को भाव में समाविष्ट किया है।[1]

द्रव्य की दृष्टि से वनस्पति के अतिरिक्त शेष २३ दंडक के जीव असंख्य हैं और वनस्पति के अनन्त। पर्याय की दृष्टि से सभी २४ दंडक के जीव अनन्त हैं। सिद्ध द्रव्य की दृष्टि से अनन्त हैं।

प्रथम पद में अजीव के जो भेद किये हैं वे प्रस्तुत पद में भी हैं। अन्तर यह है कि वहाँ प्रज्ञापना के नाम से हैं और यहाँ पर्याय के नाम से। पुद्गल के यहाँ पर परमाणु और स्कन्ध ये दो भेद किये हैं। स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश को स्कन्ध के अन्तर्गत ही ले लिया है। रूपी अजीव की पर्यायें अनन्त हैं। उनका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से इसमें विचार किया है। परमाणु, द्विप्रदेशी स्कन्ध यावत् दशप्रदेशी स्कन्ध और संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों की पर्यायें अनन्त हैं। स्थिति की अपेक्षा परमाणु और स्कन्ध दोनों एक समय की, दो समय की स्थिति से लेकर यावत् असंख्यातकाल की स्थिति वाले होते हैं। स्वतंत्र परमाणु अनंतकाल की स्थिति वाला नहीं होता परन्तु स्कन्ध अनन्तकाल की स्थिति वाला हो सकता है। एक परमाणु अन्य परमाणु से स्थिति की दृष्टि से हीन, तुल्य या अधिक होता है। अवगाहना की दृष्टि से द्वि-प्रदेशी से लेकर यावत् अनन्त प्रदेशी स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेश तक का क्षेत्र रोक सकते हैं परन्तु अनन्त प्रदेश नहीं, क्योंकि पुद्गल द्रव्य लोकाकाश में ही है और लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही हैं।

---

१ प्रज्ञापनाटीका, पत्र १८१ अ०

अलोकाकाश अनन्त है पर वहाँ पुद्गल या अन्य किसी द्रव्य की अवस्थिति नहीं है।

परमाणुवादी न्याय-वैशेपिक परमाणु को नित्य मानते हैं और उसके परिणाम-पर्याय नहीं मानते जबकि जैन परमाणु को भी परिणामीनित्य मानते हैं। परमाणु स्वतंत्र होने पर भी उसके परिणाम होते हैं, यह प्रस्तुत पद से स्पष्ट होता है। परमाणु स्कन्धरूप में और स्कन्ध परमाणुरूप में परिणत होते हैं ऐसी प्रक्रिया जैनाभिमत है।

छठा व्युत्क्रांति पद है। इसमें जीवों की गति और आगति पर विचार किया गया है। चारों गतियों में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त उपपात-विरहकाल और उद्वर्तना-विरहकाल है। उन गतियों के प्रभेदों पर चिन्तन करते हैं तो उपपात-विरहकाल और उद्वर्तना-विरहकाल प्रथम नरक में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त का है। सिद्ध गति में उपपात है, उद्वर्तना नहीं हैं। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि अगले अन्य सूत्रों में एक भी नरक का उपपात-विरहकाल १२ मुहूर्त नहीं है; २४ मुहूर्त और उससे अधिक है तो फिर १२ मुहूर्त का विरहकाल किस रूप में घटित हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने स्पष्टीकरण किया है कि सातों नरकों को एक साथ रखकर विचार करें तो १२ मुहूर्त के बाद कोई न कोई जीव नरक में उत्पन्न होता ही है। इसी प्रकार अन्य गतियों में भी जानना चाहिए।[1] पाँच स्थावरों में निरन्तर उपपात और उद्वर्तना है। इसमें सान्तर विकल्प नहीं है। इसके पश्चात् एक समय में नरक से लेकर सिद्ध तक कितने जीवों का उपपात और उद्वर्तना है, इस पर चिन्तन किया गया है। साथ ही नारकादि के भेद-प्रभेदों में जीव किस-किस भव से आकर पैदा होता है और मरकर कहाँ-कहाँ जाता है, उसके पश्चात् पर-भव का आयुष्य जीव कब बाँधता है इसकी चर्चा है। जीव ने जिस प्रकार का आयुष्य बाँधा है उसी प्रकार का नवीन भव धारण करता है। आयु के सोपक्रम और निरुपक्रम ये दो भेद हैं। इसमें देवों और नारकों में तो निरुपक्रम आयु है क्योंकि आकस्मिक मृत्यु नहीं होती और आयु के छह मास शेष रहने पर वे नवीन आगामी भव का आयुष्य बाँधते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में दोनों प्रकार की आयु है। निरुपक्रम हो तो आयुष्य का तीसरा

---

१ प्रज्ञापनाटीका पत्र २०५

भाग शेष रहने पर पर-भव का आयुष्य बांधते हैं और सोपक्रम हो तो त्रिभाग का भी त्रिभाग करते-करते एक आवली मात्र आयु शेष रहने पर पर-भव का आयुष्य बांधते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य में असंख्यात वर्ष की आयु वाला हो तो नियम से आयु के छह माह शेष रहने पर और संख्यात वर्ष की आयु वाले यदि निरुपक्रम आयु वाले हों तो आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर आयुष्य बांधते हैं। जो सोपक्रम आयु वाले हों तो एकेन्द्रिय के समान जानना चाहिये। आयुष्य बंध के छह प्रकार हैं। जातिनाम निद्धत आयु, गतिनाम, स्थितिनाम, अवगाहनानाम, प्रदेशनाम और अनुभावनानाम निद्धत्त आयु का निरूपण है। इन सभी में आयुकर्म का प्राधान्य है और उसके उदय होने से तत्सम्बन्धी उन-उन जाति आदि कर्म का उदय होता है।

सातवें पद में सिद्ध के अतिरिक्त जितने भी संसारी जीव हैं उनके श्वासोच्छ्वास के काल की चर्चा है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि जितना दुःख अधिक उतने श्वासोच्छ्वास अधिक होते हैं और अत्यन्त दुःखी को तो निरन्तर श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया चालू रहती है।[1] ज्यों-ज्यों अधिक सुख होता है त्यों-त्यों श्वासोच्छ्वास लम्बे समय के बाद लिये जाते हैं यह अनुभव की बात है।[2] श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी दुःख है। देवों में जिनकी जितनी अधिक स्थिति है उतने ही पक्ष के पश्चात् उनकी श्वासोच्छ्वास की क्रिया होती है, इत्यादि का विस्तार से निरूपण है।[3]

आठवें संज्ञापद में जीवों की संज्ञा के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। संज्ञा दश प्रकार की है—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक और ओघ। इन संज्ञाओं का २४ दण्डकों की अपेक्षा से विचार किया है और संज्ञा-सम्पन्न जीवों के अल्पबहुत्व का भी विचार किया है। नरक में भयसंज्ञा का, तिर्यंच में आहारसंज्ञा का, मनुष्य में मैथुनसंज्ञा का और देवों में परिग्रहसंज्ञा का बाहुल्य है।

---

१ अतिदुःखिता हि नैरयिकाः दुःखितानां च निरन्तरं उच्छ्वास-निःश्वासौ, तथा लोके दर्शनात् —प्रज्ञापनाटीका पत्र २२०

२ सुखितानां च यथोत्तरं महानुच्छ्वास-निःश्वास क्रिया विरहकालः। प्रज्ञापनाटीका पत्र २२१

३ यथा यथाऽऽयुषः सागरोपमवृद्धिस्तथा तथोच्छ्वास-निःश्वासक्रिया विरहप्रमाणस्यापि पक्षवृद्धिः।

नवें पद का नाम योनिपद है। एक भव में से आयु पूर्ण होने पर जीव अपने साथ कार्मण और तैजस शरीर लेकर गमन करता है। जन्म लेने के स्थान में नये जन्म के योग्य औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों को ग्रहण करता है। उस स्थान को योनि अथवा उत्पत्ति स्थान कहते हैं। प्रस्तुत पद में योनि का अनेक दृष्टि से विचार किया गया है। शीत, उष्ण, शीतोष्ण, सचित्त, अचित्त, मिश्र, संवृत, विवृत और संवृतविवृत इस प्रकार जीवों के ९ प्रकार की योनि-स्थान अर्थात् उत्पत्तिस्थान हैं। इन सभी का विस्तार से निरूपण किया गया है।

दसवें पद में द्रव्यों के चरम और अचरम का विवेचन है। जगत की रचना में कोई चरम अन्त में होता है तो कोई अचरम अन्त में नहीं किन्तु मध्य में होता है। प्रस्तुत पद में विभिन्न द्रव्यों के लोक-अलोक आश्रित चरम और अचरम के सम्बन्ध में विचारणा की गई है। चरम-अचरम यह अन्य किसी की अपेक्षा से ही हो सकते हैं। प्रस्तुत पद में छह प्रकार के प्रश्न पूछे गये हैं—(१) चरम है, (२) अचरम है, (३) चरम हैं (बहुवचन), (४) अचरम हैं, (५) चरमान्त प्रदेश हैं, (६) अचरमान्त प्रदेश हैं। इन छह विकल्पों को लेकर २४ दंडकों के जीवों का गत्यादि दृष्टि से विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, गति की अपेक्षा से चरम उसे कहते हैं कि जो अब अन्य किसी गति में न जाकर मनुष्य गति में से सीधा मोक्ष में जाने वाला है। किन्तु मनुष्य गति में से सभी मोक्ष में जाने वाले नहीं हैं, इसलिए जिनके भव शेष हैं वे सभी जीव गति की अपेक्षा से अचरम हैं। इसी प्रकार स्थिति आदि से भी चरम-अचरम का विचार किया गया है।

भाषापद

ग्यारहवां भाषापद है। इस पद में भाषा सम्बन्धी विचारणा करते हुए बताया है कि भाषा किस प्रकार उत्पन्न होती है, कहां पर रहती है, उसकी आकृति किस प्रकार की है, उसका स्वरूप, भेद-प्रभेद और बोलने वाला व्यक्ति इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर चिन्तन किया गया है। जो बोली जाय वह भाषा है।[1] दूसरे शब्दों में कहें तो जो दूसरों के अवबोध-समझने में कारण हो वह भाषा है।[2] भाषा का आदि कारण तो जीव है और उपादान

---

१ भाष्यते इति भाषा —प्रज्ञापनाटीका पृ० २४६

२ भाषावबोधबीजभूता —प्रज्ञापनाटीका पृ० २५६

कारण पुद्गल है। जीव स्थितिपरिणत भाषा के पुद्गलों को काययोग से ग्रहण कर भाषा रूप में परिणत करता है। ये भाषा के पुद्गल जब भाषा के रूप में बाहर निकलते हैं तब सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं। लोक वज्राकार होने से भाषा का आकार भी शास्त्रकार ने वज्राकार बतलाया है। भाषा का पर्यवसान लोकान्त में होता है अतः भाषा के पुद्गल समग्र लोक में फैलकर उसको भर देते हैं। लोक के आगे भाषा के पुद्गल नहीं जाते क्योंकि गमन-क्रिया में सहायभूत धर्मास्तिकाय लोक में ही है। जो भाषा के पुद्गल ग्रहण किये वे भाषा के रूप में परिणत होकर बाहर निकलते हैं। उसका काल परिमाण दो समय का है। जीव प्रथम समय में उन्हें ग्रहण करता है और द्वितीय समय में बाहर निकालता है। आवश्यक-निर्युक्ति[1] और विशेषावश्यकभाष्य में[2] बताया गया है कि काययोग से भाषा पुद्गलों का ग्रहण होता है और वाक्योग से उसका निर्गमन होता है।

पुद्गल परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशीस्कन्ध रूप होते हैं। जो स्कन्ध अनन्तप्रदेशी हैं उन्हीं का ग्रहण भाषा के लिए उपयोगी होता है। क्षेत्र की दृष्टि से असंख्यात प्रदेशों में स्थित स्कन्ध, काल की दृष्टि से एक सम से लेकर असंख्यात समय की स्थिति वाले होते हैं। रूप, रस, गन्ध औ स्पर्श की दृष्टि से भाषा के पुद्गल एक समान नहीं होते परन्तु सभी स्पर्श परिणाम वाले तो होते ही हैं। स्पर्श की दृष्टि से चार स्पर्श वाले पुद्गल का ही ग्रहण होता है। आत्मा के साथ स्पर्श किये हुए पुद्गलों का ही ग्रह होता है। आत्मा आकाश के जितने प्रदेशों को अवगाहन कर रहता है उत ही प्रदेशों में रहे हुए भाषा के पुद्गलों को वह ग्रहण करता है।

प्रस्तुत पद में भाषा के भेदों का अनेक दृष्टियों से वर्णन किया गय है। भाषा के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। पर्याप्त के सत्यभाषा औ मृषाभाषा ये दो भेद हैं। सत्यभाषा के जनपदसत्य, सम्मतसत्य आदि १० भे हैं और मृषा—असत्यभाषा के क्रोधनिश्रित, माननिश्रित आदि १० भेद हैं अपर्याप्त भाषा के सत्यामृषा और असत्यामृषा दो भेद हैं। जिसमें अर्द्धसत्य अभिप्रेत है वह सत्यामृषा है, उसके १० भेद हैं और जिसमें सत्य या मिथ्या

१ आवश्यकनिर्युक्ति गा० ७
२ विशेषावश्यकभाष्य गा० ३५३

का सम्बन्ध न हो वह असत्यामृषा है, उसके १२ भेद हैं। अन्य दृष्टि से लिंग, संख्या, काल, वचन आदि की दृष्टि से भाषा के १६ प्रकार बताये हैं।

बारहवें पद में जीवों के शरीर के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। शरीर के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच भेद किये हैं।[1] उपनिषदों में आत्मा के पाँच कोष की चर्चा है। उसमें केवल अन्नमय कोष के साथ ही औदारिक शरीर की तुलना की जा सकती है।[2] इसके पश्चात् सांख्य आदि दर्शनों में अव्यक्त, सूक्ष्म और लिंग शरीर माना गया है। उसकी तुलना कार्मण शरीर के साथ हो सकती है।[3]

२४ दंडकों में से किनमें कितने शरीर हैं, इस पर चिन्तन कर बतलाया गया है कि औदारिक से वैक्रिय और वैक्रिय से आहारक आदि शरीरों के प्रदेशों की संख्या अधिक होने पर भी वे अधिकाधिक सूक्ष्म हैं।

तेरहवें परिणामपद में परिणाम के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए जीव और अजीव दोनों पदार्थों के परिणाम बताये हैं। पहले जीव के भेद-प्रभेद बताकर २४ दंडकों में गति, कषाय आदि दृष्टि से उनके परिणामों का विचार किया गया है। फिर अजीव के परिणामों के भेद-प्रभेद बताये हैं। यहाँ परिणाम का अर्थ पर्याय अथवा भावों का परिणमन किया है।

चौदहवाँ कषायपद है। इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चारों कषाय २४ दंडकों में बताये हैं। क्षेत्र, वस्तु, शरीर और उपधि को लेकर सम्पूर्ण संसारी जीवों में कषाय की उत्पत्ति होती है। कषाय के अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये चार भेद बताये हैं। साथ ही आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित, उपशांत और अनुपशांत इस प्रकार के भेद भी किये हैं। आभोगनिर्वर्तित कषाय कारण उपस्थित होने पर होता है और बिना कारण जो कषाय होता है वह अनाभोगनिर्वर्तित है।

कर्मबंधन का कारण मुख्य रूप से कषाय है। तीनों कालों में आठों कर्म प्रकृतियों के चयन के स्थान और प्रकार, २४ दंडक के जीवों में कषाय

---

१ भगवती, १७-१ सू० ५९२

२ तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली, बेलवलकर और रानाडे
—History of Indian Philosophy, p. 250.

३ सांख्यकारिका ३९-४० बेलवलकर और रानाडे, History of Indian Philosophy, p. 358, 430 & 370.
मालवणिया—"गणधरवाद", प्रस्तावना, पृ० १२१-१२३।

को ही माना गया है। साथ ही उपचयन, बंध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा में चारों कषाय ही मुख्य रूप से कारण बताये गये हैं।

पन्द्रहवाँ इन्द्रियपद है। यहाँ इन्द्रियों के सम्बन्ध में दो उद्देशकों में चिन्तन किया है। पहले उद्देशक में २४ द्वार हैं और दूसरे में १२ द्वार हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिव्हेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। इनकी चर्चा २४ दंडकों में की गई है। जीवों में इन्द्रियों के द्वारा अवग्रहण-परिच्छेद, अवाय, ईहा और अवग्रह—अर्थ और व्यंजन दोनों प्रकार से, २४ दंडकों में निरूपण किया गया है। चार इन्द्रियों का व्यंजनावग्रह होता है, चक्षु का नहीं। अर्थावग्रह छह प्रकार का है, क्योंकि वह पाँच इन्द्रिय और छठवें नोइन्द्रिय-मन से भी होता है। इसी प्रकार इन्द्रियों के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दो भेद किये हैं। इन्द्रियोपचय, इन्द्रियनिर्वर्तित, इन्द्रियलब्धि आदि द्वारों से द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की २४ दंडकों के साथ विचारणा की गई है।

सोलहवाँ प्रयोग पद है। मन, वचन और काय के द्वारा आत्मा के व्यापार को 'योग' कहा गया है तथा उसी योग का वर्णन प्रस्तुत पद में प्रयोग शब्द से किया गया है। यह आत्म-व्यापार[1] इसी कारण कहा जाता है कि आत्मा के अभाव में तीनों की क्रिया नहीं हो सकती। जैनदृष्टि से तीनों पुद्गलमय हैं और पुद्गल की जो स्वाभाविक गति है वह आत्मा के बिना भी उसमें हो सकती है किन्तु जब पुद्गल मन, वचन, काय के रूप में परिणत हुए हों तब आत्मा के सहयोग से जो विशिष्ट प्रकार का व्यापार होता है वह अपरिणत में असंभव है। पुद्गल का मन आदि में परिणमन होना, वह भी आत्मा के कर्माधीन ही है। इसीलिए उनके व्यापार को आत्मव्यापार कहा जाता है। उस व्यापार अर्थात् प्रयोग के १५ भेदों का निर्देश करके सामान्य जीव में और विशेष रूप से २४ दंडक में प्रयोग की योजना करके बतलाई है। इस आयोजना में अमुक प्रयोग हो तब उसके साथ अन्य कितने प्रयोग हो सकते हैं, इसका भी विस्तार से विवेचन किया है।

सत्रहवाँ लेश्यापद है। इसमें लेश्या का वर्णन करने वाले छह उद्देशक

---

१ प्रयोगः परिस्पन्दक्रिया, आत्मव्यापार इत्यर्थः —प्रज्ञापनाटीका पत्र ३१७

२ आत्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिबन्धनवीर्योत्पादो योगः। अथवा आत्मप्रदेशानां संकोचविकोचो योगः।" —धवला, भाग १, पृ० १४०

हैं। प्रथम उद्देशक में नारक आदि २४ दंडकों के सम्बन्ध में आहार, शरीर, श्वासोच्छ्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया, आयु आदि का वर्णन है। सलेशी जीवों की अपेक्षा नारकादि २४ दंडकों में उक्त, सम, विसम का विवेचन है। द्वितीय उद्देशक में लेश्या के छह भेद बताकर नरकादि चार गति के जीवों में कितनी-कितनी लेश्याएँ होती हैं, उसका निरूपण है। तृतीय उद्देशक में जन्म और मृत्युकाल की लेश्या सम्बन्धी चर्चा है और उन लेश्या वाले जीवों के अवधिज्ञान की मर्यादा और कितना ज्ञान होता है इस सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। चतुर्थ उद्देशक में एक लेश्या का दूसरी लेक्ष्या में परिणमन होने पर उसके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की चर्चा है। पांचवें उद्देशक में एक लेश्या का दूसरी लेश्या में देव नारक की अपेक्षा से परिणमन नहीं होता यह बताया है। छठे उद्देशक में मनुष्य सम्बन्धी लेश्या का विचार किया गया है।

लेश्या का अर्थ टीकाकार ने इस प्रकार किया है कि कषाय अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। यह परिभाषा छद्मस्थ सम्बन्धी है। शुक्ल लेश्या तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली को भी है अतः वहाँ योग की प्रवृत्ति ही लेश्या है। कषाय तो केवल उसमें तीव्रता आदि का संनिवेश करती है।[1]

जीव को लेश्या की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जीव परलोक में जन्म लेता है। क्योंकि मृत्युकाल में आगामी भव की और उत्पत्तिकाल में अतीत भव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त काल तक होना आवश्यक है। जीव जिस लेश्या में मरता है अगले भव में उसी लेश्या में जन्म लेता है।[2]

अठारहवें पद का नाम कायस्थिति है। इसमें जीव और अजीव दोनों अपनी-अपनी पर्याय में कितने काल तक रहते हैं इस पर चिन्तन किया है। चतुर्थ स्थितिपद और इस पद में अन्तर यह है कि स्थितिपद में तो २४ दंडकों में जीवों की भवस्थिति अर्थात् एक भव की अपेक्षा से आयुष्य का विचार है जबकि इस पद में एक जीव मरकर सतत उसी भव में जन्म लेता रहे तो ऐसे सब भवों की परम्परा की काल-मर्यादा अथवा उन सभी भवों के आयुष्य का कुल जोड़ कितना होगा, इसका विचार कायस्थिति पद में किया

१ आवश्यकचूर्णि में जिनदास महत्तर ने कहा है—
"लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते। योगपरिणामो लेश्या। जम्हा अयोगि-केवली अलेस्सो।"

२ "जल्लेसाइं दव्वाइं आयइत्ता कालं करेइ, तल्लेसेसु उववज्जइ।"

गया है। स्थिति पद में तो सिर्फ आयु का ही विचार है जबकि प्रस्तुत पद में धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्य जो कि 'काय' रूप में जाने जाते हैं, उनका उस-उस रूप में रहने के काल का (स्थिति का) भी विचार किया गया है।

इसमें जीव, गति, इन्द्रिय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परित्त, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भवसिद्धिक, अस्तिकाय और चरिम की अपेक्षा से कायस्थिति का वर्णन है। वनस्पति की कायस्थिति 'असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा' बताई है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी वनस्पति का जीव अनादिकाल से वनस्पति रूप में नहीं रह सकता। उसने वनस्पति के अतिरिक्त अन्य कोई भव किया होना चाहिये, इस भ्रांति के निरसन के लिए वनस्पति के व्यवहारराशि और अव्यवहारराशि ये दो भव बताये हैं तथा निगोद के जीवों के स्वरूप का वर्णन किया है। माता मरुदेवी का जीव अनादिकाल से वनस्पति में था, इसका उल्लेख प्रमाण रूप में टीका में दिया है।[1]

उन्नीसवाँ 'सम्यक्त्व' पद है। इसमें जीवों के २४ दंडकों में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के सम्बन्ध में विचार करते हुए बताया है कि सम्यक्मिथ्यादृष्टि केवल पंचेन्द्रिय होता है और एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि ही होता है। द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक सम्यक्मिथ्यादृष्टि नहीं होते हैं। षट्खंडागम में असंज्ञी पंचेन्द्रिय को मिथ्यादृष्टि ही कहा है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक होते हैं।

बीसवें पद का नाम 'अन्तक्रिया' है। भव का अन्त करने वाली क्रिया 'अन्तक्रिया' कहलाती है। यह क्रिया दो अर्थ में व्यवहृत हुई है—नवीन भव अथवा मोक्ष। दूसरे शब्दों में मोक्ष और मरण इन दोनों अर्थों में अन्तक्रिया शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अन्तक्रिया का विचार जीवों के नरकादि २४ दंडकों में किया गया है। इस पद में यह बताया गया है कि सिर्फ मनुष्य ही अन्तक्रिया यानि मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसका वर्णन छह द्वारों से विशद रूप से किया है। दूसरी पर्याय में अन्तक्रिया का अर्थ मरण से है। अनन्तरागत या परंपरागत से नारकादि जीव अंतक्रिया कर सकते हैं, इसका निरूपण विस्तार से किया गया है।

---

१ प्रज्ञापनाटीका पत्र ३७६ और पत्र ३८५।

इक्कीसवाँ 'अवगाहना संस्थान' पद है। इस पद में जीवों के शरीर के भेद, संस्थान-आकृति, प्रमाण-शरीर का माप, शरीर निर्माण के लिए पुद्गलों का चयन, जीव में एक साथ कौन-कौन से शरीर होते हैं, शरीरों के द्रव्य और प्रदेशों का अल्पबहुत्व और अवगाहना का अल्पबहुत्व—इन सात द्वारों से शरीर के सम्बन्ध में विचारणा की गई है। गति आदि अनेक द्वारों से पूर्व में जीवों की विचारणा हुई है पर उनमें शरीर द्वार नहीं है। यहाँ पर प्रथम विधि द्वार में शरीर के पाँच भेदों—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस और कार्मण—का वर्णन करके औदारिकादि शरीरों के भेदों की चर्चा विस्तार से की है।

बाईसवाँ क्रियापद है। प्राचीन युग में सुकृत, दुष्कृत, पुण्य, पाप, कुशल, अकुशल कर्म के लिए 'क्रिया' शब्द व्यवहृत होता था और क्रिया करने वालों के लिए क्रियावादी शब्द का प्रयोग किया जाता था। आगम व पालि पिटकों में प्रस्तुत अर्थ में क्रिया का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। प्रस्तुत पद में क्रिया—कर्म की विचारणा की गई है। कर्म अर्थात् वासना या संस्कार, जिनके कारण पुनर्जन्म होता है। जब हम आत्मा के जन्म-जन्मान्तर की कल्पना करते हैं तब उसके कारणरूप कर्म की विचारणा अनिवार्य हो जाती है। महावीर और बुद्ध के समय क्रियावाद शब्द कर्म को मानने वालों के लिए प्रचलित था इसलिए क्रियावाद और कर्मवाद दोनों शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हो गये थे। कालक्रम से क्रियावाद शब्द के स्थान पर कर्मवाद ही प्रचलित हो गया। इसका एक कारण यह भी है कि कर्म-विचार की सूक्ष्मता ज्यों-ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों वह क्रिया-विचार से दूर भी होता गया। यह क्रिया-विचार कर्म-विचार की पूर्व भूमिका रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है। प्रज्ञापना में क्रियापद, सूत्रकृतांग में क्रियास्थान और भगवती में अनेक प्रसंगों में क्रिया और क्रियावाद की चर्चा की गई है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय क्रियाचर्चा का कितना महत्त्व था। प्रस्तुत पद में क्रिया के पाँच भेद—अहिंसा और हिंसा के विचार को लक्ष्य में रखकर किये हैं। दूसरे प्रकार से १८ पापस्थानकों को लेकर क्रिया की विचारणा की गई है। जीवों में कौन सक्रिय और कौन अक्रिय है, इसका विवेक भी किया गया है। नारकादि २४ दण्डकों के जीवों में प्राणातिपात आदि क्रिया १८ पापस्थानकों के कारण कर्म की कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है, उसकी चर्चा-विचारणा की गई है।

कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेपिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपात ये पांच क्रियाएँ हैं। इनका विस्तार से निरूपण है।

२३ से २७ तक के कर्मप्रकृति, कर्मबंध, कर्मवंधवेद, कर्मवेदबंध और कर्मवेदवेदक इन पांच पदों में कर्म सम्बन्धी विस्तार से चर्चा-विचारणा की गई है। प्रस्तुत पदों में कर्म प्रकृति के मूल आठ भेद—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय का और उनके उत्तरभेदों (उत्तरप्रकृतियों) का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

कर्म की आठों प्रकृतियां नैरयिकादि जीवों के २४ दंडकों में होती हैं। जीव किस प्रकार आठों प्रकृतियों का बंध करते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरणीय का उदय होता है तब दर्शनावरणीय का आगमन होता है। दर्शनावरणीय के उदय से दर्शनमोह का और दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व का और मिथ्यात्व का उदय होने पर आठों कर्मों का आगमन होता है। सभी जीवों के सम्बन्ध में आठों कर्मों के आगमन का यही क्रम है।

जीवों के जो ज्ञानावरणादि कर्म का बंध होता है, उसके दो कारण हैं—राग और द्वेष। राग में माया और लोभ का तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश किया गया है। कर्मो के वेदन-अनुभव के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहा है कि वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म तो २४ दंडक में जीव वेदते ही हैं परन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों को जीव वेदते भी हैं और नहीं भी वेदते। यहाँ पर 'वेदना' के लिए 'अनुभाव' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत पदों में कर्म के बद्ध, स्पृष्ट, संचय और कर्मो के अनुभाव का गति, स्थिति, भव, पुद्गल आदि की दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

अट्ठाईसवें पद का नाम आहारपद है। इसमें जीवों की आहार सम्बन्धी विचारणा दो उद्देशकों के द्वारा की गई है। प्रथम उद्देशक में ११ द्वारों से और दूसरे उद्देशक में १३ द्वारों से आहार सम्बन्धी प्रतिपादन किया गया है। २४ दंडकों में जीवों का आहार सचित्त होता है अथवा अचित्त या मिश्र? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि वैक्रिय शरीरधारी जीवों का आहार अचित्त ही होता है। परन्तु औदारिक शरीरधारी जीव तीनों प्रकार का आहार ग्रहण करते हैं। नारकादि २४ दंडकों में सात द्वारों से आहार सम्बन्धी विचारणा की गई है। जीव आहारार्थी होते हैं

या नहीं ? कितने समय के बाद आहारार्थी होते हैं ? आहार में क्या लेते हैं ? सभी दिशाओं में से ग्रहण करके समग्र का परिणमन करते हैं ? ग्रहीत पुद्गलों का सर्वभाव से आहार करते हैं या कुछ अंश का ? ग्रहीत सभी पुद्गलों का आहार करते हैं ?

जीव जो आहार लेते हैं वह आभोगनिर्वर्तित—स्वयं की इच्छा होने पर आहार लेना और अनाभोगनिर्वर्तित—बिना इच्छा के आहार लेना इस तरह दो प्रकार का है। इच्छा होने पर आहार लेने में जीवों की भिन्न-भिन्न कालस्थिति है। परन्तु बिना इच्छा लिया जाने वाला आहार तो निरन्तर लिया जाता है। वर्ण, रसादि सम्पन्न अनन्त प्रदेशीस्कन्ध वाला और असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र में अवगाढ़ और आत्मप्रदेशों से स्पृष्ट ऐसे पुद्गल ही आहार के लिए उपयोगी होते हैं।

प्रस्तुत पद के दूसरे उद्देशक के १३ द्वारों के माध्यम से जीवों के आहारक और अनाहारक इन दो विकल्पों की चर्चा की गई है। इसी तरह लोम आहार, प्रक्षेप आहार और ओज आहार किन-किन जीवों के होता है, इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

२९, ३० और ३३ वां 'उपयोग, पश्यत्ता और अवधि' पद है। प्र... पनासूत्र में जीवों के बोधव्यापार अथवा ज्ञानव्यापार के सम्बन्ध में इन तीन पदों में चर्चा-विचारणा की गई है। इसलिए यहाँ तीनों को एक ... लिया गया है।

आत्मा विज्ञाता है। उसमें किसी प्रकार के रस, रूप आदि नहीं हैं। वह अरूपी होने पर भी सत् है। आत्मा अरूपी, लोकप्रमाण, प्रदेशों वाल नित्य है और उसका गुण उपयोग है। संख्या की दृष्टि से अनन्त ... हैं। 'उपयोग' यह आत्मा का लक्षण या गुण है। यद्यपि उपयोग में अव... का समावेश होने पर इसका अलग पद देने का कारण यह है कि उस काल ... अवधि का विशेष विचार हुआ था। प्रस्तुत पद में उपयोग के और पश्यत्त के दो-दो भेद किये हैं—साकारोपयोग (ज्ञान) और अनाकारोपयोग (दर्शन) साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता।

आचार्य अभयदेव ने पश्यत्ता को उपयोग-विशेष ही कहा है। ... स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि जिस बोध में केवल त्रैकालिक अवबो... होता हो वह पश्यत्ता है परन्तु जिस बोध में वर्तमानकालिक बोध होता ...

वह उपयोग है। उपयोग और पश्यत्ता इन दोनों की प्ररूपणा जीवों के २४ दंडकों में निर्दिष्ट की गई है। अवधि पद में भेद, विषय, संस्थान, बाह्य-आभ्यंतर अवधि, देशावधि, क्षय-वृद्धि, प्रतिपाति-अप्रतिपाती इन सात मुद्दों से अवधिज्ञान के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा-विचारणा की गई है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाले रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। इसके दो भेद हैं—एक तो जन्म से प्राप्त होने वाला औपपातिक, जो देव और नारकी के होता है। दूसरा कर्म के क्षयोपशम से होने वाला, जो संज्ञी मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय को होता है। वह क्षायोपशमिक कहलाता है।

इकत्तीसवें संज्ञीपद में सिद्ध सहित सम्पूर्ण जीवों को संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी इन तीन भेदों में विभक्त करके विचार किया गया है। सिद्ध न तो संज्ञी हैं और न असंज्ञी इसलिए उनकी संज्ञा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी दी गई है। मनुष्य में भी जो केवली हैं वे भी सिद्ध समान, इसी संज्ञा वाले हैं। क्योंकि मन होने पर भी वे उसके व्यापार से ज्ञान प्राप्त नहीं करते। अन्य मनुष्य संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी हैं। नारक, भवनपति, वाणव्यंतर और पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक सिर्फ संज्ञी ही है।

संज्ञा शब्द के टीकाकार ने दो अर्थ किये हैं—(१) मतिज्ञान विशेष, जिसका एक प्रकार जातिस्मरण है, जिस ज्ञान में स्मरण—पूर्व अनुभव का स्मरण आवश्यक हो ऐसा ज्ञान संज्ञा है। (२) संज्ञा में संज्ञी-असंज्ञी अर्थात् मन वाले और बिना मन वाले ऐसा भी अर्थ बृहत्कल्प, विशेषावश्यक भाष्य आदि में हुआ है। 'सम्यग्जानाति इति संज्ञम्—मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। नैकेन्द्रियादिनाऽतिप्रसंगः तस्य मनसोऽभावात्। अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालाप-ग्राही संज्ञी' इस प्रकार धवला में भी संज्ञी शब्द की दो प्रकार की व्याख्या की गई है। संज्ञा शब्द का वास्तविक कौन सा अर्थ अभिप्रेत है यह खोज का विषय है।

बत्तीसवें पद का नाम 'संयत' है। इसमें संयत, असंयत, संयतासंयत और नोसंयतनोअसंयत नोसंयतासंयत—इस प्रकार संयम के चार भेदों को लेकर समस्त जीवों का विचार किया गया है। नारक, एकेन्द्रिय से लेकर

चतुरिन्द्रिय जीवों तक, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये असंयत होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच असंयत और संयतासंयत होते हैं। मनुष्य में प्रथम के ३ प्रकार होते हैं और सिद्धों में संयम का चौथा प्रकार नोसंयत-नोअसंयतनोसंयतासंयत है। संयम के आधार से जीवों के विचार करने की पद्धति महत्त्वपूर्ण है।

चौंतीसवें पद का नाम 'प्रविचारणा' पद है। प्रस्तुत पद में 'पवियारण' (प्रविचारण) शब्द का जो प्रयोग हुआ है उसका मूल 'प्रवीचार' शब्द में है।[1] प्रस्तुत पद के प्रारम्भ में जहाँ द्वार का निरूपण है वहाँ परियारणा और मूल में परियारणया ऐसा पाठ है। क्रीड़ा, रति, इन्द्रियों के कामभोग और मैथुन के लिए संस्कृत में प्रवीचार अथवा प्रविचारणा और प्राकृत में परियारणा अथवा पवियारणा शब्द का प्रयोग हुआ है। परिचारणा कब, किसको और किस प्रकार की सम्भव है, इस विषय की चर्चा प्रस्तुत पद में २४ दंडकों के आधार से की गई है। नारकों के सम्बन्ध में कहा है कि वे उपपात क्षेत्र में आकर तुरन्त ही आहार के पुद्गल ग्रहण करना प्रारम्भ कर देते हैं। उससे उनके शरीर की निष्पत्ति होती है और पुद्गल अंगोपांग, इन्द्रियादि रूप से परिणत होने के बाद वे परिचारणा शुरू करते हैं अर्थात् शब्दादि सभी विषयों का उपभोग करना शुरू करते हैं। परिचारणा के बाद विकुर्वणा—अनेक प्रकार के रूप धारण करने की प्रक्रिया करते हैं। देवों में इस क्रम में यह अन्तर है कि उनकी विकुर्वणा करने के बाद परिचारणा होती है। एकेन्द्रिय जीवों में परिचारणा नारक की तरह है किन्तु उनमें विकुर्वणा नहीं है सिर्फ वायुकाय में विकुर्वणा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में एकेन्द्रिय की तरह, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य में नारक की तरह परिचारणा है।

प्रस्तुत पद में जीवों के आहार ग्रहण के दो भेद आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित—बताकर भी चर्चा की गई है। एकेन्द्रिय के अतिरिक्त सभी जीव आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित आहार लेते हैं परन्तु एकेन्द्रिय में सिर्फ अनाभोगनिर्वर्तित ही है। जीव अपनी इच्छा से अपने उपयोगपूर्वक आहार लेते हैं वह आभोगनिर्वर्तित है और इच्छा न

---

१ (क) कायप्रवीचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम् —तत्त्वार्थभाष्य ४-८
(ख) प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम् —सर्वार्थसिद्धि ४-७

हैं। प्रस्तुत पर्वत के पूर्व और पश्चिम में दो गुफाएँ हैं जिन्हें तमिस्रगुहा और खण्डपवायगुहा (गुफा) कहते हैं। इनमें दो देव निवास करते हैं। वैताढ्यपर्वत के दोनों ओर विद्याधर श्रेणियां हैं जहां पर विद्याधर रहते हैं। आभियोग श्रेणियों में अनेक देवी-देवताओं का निवास है। वैताढ्य पर्वत पर एक सिद्धायतन है। इसमें आगे चलकर दक्षिणार्ध भरतकूट का वर्णन है। उत्तरार्ध भरत एवं ऋषभकूट का भी वर्णन है।

द्वितीय वक्षस्कार में काल (समय) का निरूपण है। काल के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये दो भेद किये गये हैं। अवसर्पिणी के सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुषमासुषमा, दुषमा और दुषमादुषमा ये छह भेद (आरे) हैं और उत्सर्पिणी के इसके विपरीत छह भेद (आरे) हैं। काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद से लेकर पल्योपम-सागरोपम तक का वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

समय	=	काल का सूक्ष्मतम अंश
जघन्ययुक्त असंख्यात समय	=	१ आवलिका
४४४६ ३४५८/३७७३ आवलिका	=	१ प्राण
संख्यात आवलि	=	१ उच्छ्वास
,, ,,	=	१ निःश्वास
१ उच्छ्वास-निःश्वास	=	१ प्राण
७ प्राण	=	१ स्तोक
७ स्तोक	=	१ लव
३८½ लव	=	१ घड़ी
२ घड़ी (७७ लव)	=	१ मुहूर्त (=४८ मिनिट)[1]
३० मुहूर्त	=	१ अहोरात्र
३० अहोरात्र	=	१ मास
१२ मास	=	१ वर्ष
८४ लाख वर्ष	=	१ पूर्वांग
,, पूर्वांग	=	१ पूर्व
,, पूर्व	=	१ त्रुटितांग
,, त्रुटितांग	=	१ त्रुटित

१ इस प्रकार १ मुहूर्त (४८ मिनिट) में ७७×४९=३७७३ उच्छ्वास होते हैं।

इसी प्रकार अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल से लेकर शीर्षपहेलिकांग और शीर्षपहेलिका तक उत्तरोत्तर चौरासी लाख गुणित जानना चाहिये। ये सभी संख्याएँ मिलकर १६४ अंक तक हैं और वह संख्यात गणना के अन्तर्गत आती हैं। पल्योपम और सागरोपम आदि कालमाप असंख्यात काल गणना के अन्तर्गत हैं। इन सबसे ऊपर अन्त-विहीन जो राशि है वह अनन्त कहलाती है।

चार कोटाकोटि सागरोपम का सुषमासुषमा नामक प्रथम आरा है। उस समय में दश प्रकार के कल्पवृक्ष बताये गये हैं—मत्तांग, भृतांग, त्रुटितांग, दीपशिखा, ज्योतिषिक, चित्रांग, चित्ररस, मणिअंग, गेहागार और अणिगण। इन कल्पवृक्षों से इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। इस समय के पुरुषों और स्त्रियों का, उनके आहार और निवासस्थान का एवं उनकी भवस्थिति का वर्णन है। उसके पश्चात् सुषमा नामक दूसरे आरे का वर्णन किया गया है और उसके बाद सुषमादुषमा नामक तीसरे आरे का वर्णन है। इस आरे में सुमति, प्रतिश्रुति, सीमंकर, सीमंधर, क्षेमंकर, क्षेमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, प्रसेनजित्, मरुदेव, नाभि और वृषभ नाम के १५ कुलकर बताये हैं। उनमें से एक से पाँच तक के कुलकरों ने 'हा कार' दंडनीति का प्रचलन किया, छह से दश तक के कुलकरों ने 'म कार' नीति का प्रचार किया और ११ से १५ तक के कुलकरों ने 'धिक् कार' नीति का उपयोग किया।

नाभि कुलकर की मरुदेवी भार्या के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म हुआ। वे कौशल के निवासी थे। वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे। उन्होंने अपने पुत्र भरत आदि को ७२ और ब्राह्मी, सुन्दरी पुत्रियों को ६४ कलाओं और अनेक शिल्पों का उपदेश दिया। अन्त में अपने पुत्रों को राज्य देकर, सर्वस्व का त्याग कर, केशों का लुंचन कर, एक देवदूष्य वस्त्र को धारण कर श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की।

ऋषभदेव एक वर्ष तक वस्त्रधारी रहे। तत्पश्चात् उसका भी त्यागकर, अनेक उपसर्गों को समभाव से जीतकर, पाँच समिति, तीन गुप्ति का सम्यक् पालन कर, शान्तभाव से सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान व सम्पत्ति-विपत्ति में समभावपूर्वक विचरण करने लगे।

हैं। प्रस्तुत पर्वत के पूर्व और पश्चिम में दो गुफाएँ हैं जिन्हें तमिस्रगुहा और खण्डप्रपातगुहा (गुफा) कहते हैं। इनमें दो देव निवास करते हैं। वैताढ्यपर्वत के दोनों ओर विद्याधर श्रेणियाँ हैं जहाँ पर विद्याधर रहते हैं। आभियोग श्रेणियों में अनेक देवी-देवताओं का निवास है। वैताढ्य पर्वत पर एक सिद्धायतन है। इसमें आगे चलकर दक्षिणार्ध भरतकूट का वर्णन है। उत्तरार्ध भरत एवं ऋषभकूट का भी वर्णन है।

द्वितीय वक्षस्कार में काल (समय) का निरूपण है। काल के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये दो भेद किये गये हैं। अवसर्पिणी के सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुषमासुषमा, दुषमा और दुषमादुषमा ये छह भेद (आरे) हैं और उत्सर्पिणी के इसके विपरीत छह भेद (आरे) हैं। काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद से लेकर पल्योपम-सागरोपम तक का वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

समय	=	काल का सूक्ष्मतम अंश
जघन्ययुक्त असंख्यात समय	=	१ आवलिका
४४४६ $\frac{३४५८}{३७७३}$ आवलिका	=	१ प्राण
संख्यात आवलि	=	१ उच्छ्वास
,, ,,	=	१ निःश्वास
१ उच्छ्वास-निःश्वास	=	१ प्राण
७ प्राण	=	१ स्तोक
७ स्तोक	=	१ लव
३८½ लव	=	१ घड़ी
२ घड़ी (७७ लव)	=	१ मुहूर्त (=४८ मिनिट)[1]
३० मुहूर्त	=	१ अहोरात्र
३० अहोरात्र	=	१ मास
१२ मास	=	१ वर्ष
८४ लाख वर्ष	=	१ पूर्वांग
,, पूर्वांग	=	१ पूर्व
,, पूर्व	=	१ त्रुटितांग
,, त्रुटितांग	=	१ त्रुटित

१ इस प्रकार १ मुहूर्त (४८ मिनिट) में ७७ × ४९ = ३७७३ उच्छ्वास होते हैं।

इसी प्रकार अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल से लेकर शीर्षपहेलिकांग और शीर्षपहेलिका तक उत्तरोत्तर चौरासी लाख गुणित जानना चाहिये। ये सभी संख्याएँ मिलकर १६४ अंक तक हैं और वह संख्यात गणना के अन्तर्गत आती हैं। पल्योपम और सागरोपम आदि कालमाप असंख्यात काल गणना के अन्तर्गत हैं। इन सबसे ऊपर अन्त-विहीन जो राशि है वह अनन्त कहलाती है।

चार कोटाकोटि सागरोपम का सुपमासुपमा नामक प्रथम आरा है। उस समय में दश प्रकार के कल्पवृक्ष बताये गये हैं—मत्तांग, भृतांग, त्रुटितांग, दीपशिखा, ज्योतिपिक, चित्रांग, चित्ररस, मणिअंग, गेहागार और अणिगण। इन कल्पवृक्षों से इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। इस समय के पुरुपों और स्त्रियों का, उनके आहार और निवासस्थान का एवं उनकी भवस्थिति का वर्णन है। उसके पश्चात् सुपमा नामक दूसरे आरे का वर्णन किया गया है और उसके बाद सुपमादुपमा नामक तीसरे आरे का वर्णन है। इस आरे में सुमति, प्रतिश्रुति, सीमंकर, सीमंधर, क्षेमंकर, क्षेमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, प्रसेनजित्, मरुदेव, नाभि और वृपभ नाम के १५ कुलकर बताये हैं। उनमें से एक से पाँच तक के कुलकरों ने 'हा कार' दंडनीति का प्रचलन किया, छह से दश तक के कुलकरों ने 'म कार' नीति का प्रचार किया और ११ से १५ तक के कुलकरों ने 'धिक् कार' नीति का उपयोग किया।

नाभि कुलकर की मरुदेवी भार्या के गर्भ से ऋपभदेव का जन्म हुआ। वे कौशल के निवासी थे। वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे। उन्होंने अपने पुत्र भरत आदि को ७२ और ब्राह्मी, सुन्दरी पुत्रियों को ६४ कलाओं और अनेक शिल्पों का उपदेश दिया। अन्त में अपने पुत्रों को राज्य देकर, सर्वस्व का त्याग कर, केशों का लुंचन कर, एक देवदूष्य वस्त्र को धारण कर श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की।

ऋपभदेव एक वर्ष तक वस्त्रधारी रहे। तत्पश्चात् उसका भी त्यागकर, अनेक उपसर्गों को समभाव से जीतकर, पाँच समिति, तीन गुप्ति का सम्यक् पालन कर, शान्तभाव से सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान व सम्पत्ति-विपत्ति में समभावपूर्वक विचरण करने लगे।

एक बार वे विहार करते हुए पुरिमताल नगर के शकटमुख उद्यान में आये और वहाँ न्यग्रोध (वट) वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। उन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि हुई। भगवान ऋषभदेव ने पाँच महाव्रत और षट् जीवनिकाय का उपदेश दिया। चतुर्विध संघ की संस्थापना की। उनके मुख्य गणधर ऋषभसेन थे। उनके श्रमण-श्रमणियों का पूरा विवरण दिया गया है। भगवान ऋषभ के संहनन, संस्थान, ऊँचाई, कुमारकाल, राज्यकाल, अनगार प्रव्रज्याकाल, छद्मस्थ जीवन, केवली जीवन आदि का वर्णन है। अन्त में अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर श्रमणों के साथ मुक्त हुए।

दुषमासुषमा नामक चौथे आरे में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव उत्पन्न हुए। दुषमा नामक पाँचवें आरे में जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट शतायु से अधिक उम्र वाले लोग होंगे। इस आरे के अन्त में चारित्रधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का नाश हो जायगा। दुषमादुषमा नामक छठवें आरे के अन्त में भयंकर वायु प्रवाहित होगी। दिशाएँ धूम्र और धूलि से आच्छन्न हो जायेंगी। आकाश से अग्नि और पत्थरों की वर्षा होगी जिससे मानव, पशु, पक्षी और वनस्पति नष्ट हो जायेंगे। केवल एक वैताढ्यपर्वत अवशेष रहेगा। इस काल के मानव जो बचे रहेंगे वे वैताढ्य पर्वत की गुफाओं में रहेंगे। मांस, मत्स्य और मृत शरीर आदि का भक्षण कर अपने जीवन का निर्वाह करेंगे। उनकी आयु अधिक से अधिक २० वर्ष की होगी।

उसके पश्चात् उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होगा जिसमें पुनः मानव के जीवन में सुख का समुद्र धीरे-धीरे तरंगित होने लगेगा। उत्सर्पिणी के दुषमाकाल में पुष्कर संवर्तकमेघ, क्षीरमेघ, घृतमेघ, अमृतमेघ, रसमेघ की वर्षा होगी जिससे हरियाली लहलहाने लगेगी। मानव मांसाहार का पूर्णरूप से निषेध करेगा। यहाँ तक कि मांसाहारियों की छाया तक का स्पर्श भी वह न करेगा। उसके पश्चात् दुषमासुषमा और सुषमादुषमा का वर्णन है। उत्सर्पिणी काल के इन आरों में भी २४ तीर्थंकर होंगे। तत्पश्चात् सुषमा और सुषमा-सुषमा आरे का वर्णन है।

तृतीय वक्षस्कार में भरत चक्रवर्ती का विस्तार से वर्णन है। भरत चक्रवर्ती विनीता नगरी में राज्य करते थे। उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। आयुधशाला के अध्यक्ष ने जब यह संवाद भरत को सुनाया

तो वह अत्यन्त आल्हादित हुआ। उसने सिंहासन से उठकर एक शाटिका का उत्तरासन कर हाथ जोड़कर चक्ररत्न को प्रणाम कर नगर को सुसज्जित किया और सपरिवार आयुधशाला में पहुँचा और उसकी अर्चना की। नगर में आठ दिन तक उत्सव मनाया गया। उसके पश्चात् चक्ररत्न ने विनीता से गंगा के दक्षिणी तट पर पूर्व दिशा में स्थित मागध तीर्थ की ओर प्रयाण किया। सम्राट् भरत भी चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित होकर हस्तिरत्न पर आरूढ़ होकर गंगा के दक्षिणी तट के प्रदेशों पर विजय-वैजयन्ती फहराता हुआ चक्ररत्न के पीछे चलकर मागध तीर्थ में आया और हस्तिरत्न से उतर कर दर्भ के संथारे पर बैठकर मागध नामक देव की आराधना की। फिर अश्वरथ पर सवार होकर चक्ररत्न का अनुगमन करते हुए लवणसमुद्र में प्रवेश किया। वहाँ पहुँच कर मगध तीर्थाधिपति देव के भवन में एक बाण मारा। बाण को देखकर देव एक क्षण को तो उत्तेजित हो गया किन्तु बाण पर लिखे हुए भरत चक्रवर्ती के नाम को पढ़कर उसे ध्यान आया कि भरत नामक चक्रवर्ती का जन्म हुआ है। वह शीघ्र ही भरत के पास पहुँचा और बधाई देकर निवेदन किया कि 'देवानुप्रिय ! मैं आपका आज से आज्ञाकारी सेवक हूँ। मेरे योग्य सेवा का आदेश दें।' भरत चक्रवर्ती अपने रथ को पुन: लौटाते हैं और विजय स्कन्धावार निवेश में पहुँचकर आठ दिन का उत्सव मनाते हैं। वहाँ से वरदाम तीर्थ आते हैं और वरदाम तीर्थ के कुमारदेव को अपने अधीन करते हैं। फिर प्रभास तीर्थ के देव को भी अपने वश में करते हैं। इसी तरह *सिंधुदेवी, वैताढ्यगिरि कुमार व कृतमाल देव को भी साधते हैं।* उसके पश्चात् चक्रवर्ती भरत ने अपने सुषेण नामक सेनापति को सिन्धु नदी के पश्चिम में स्थित निष्कुट प्रदेश को जीतने के लिए भेजा। सुषेण अत्यन्त पराक्रमी व म्लेच्छ भाषाओं में निष्णात था। उसने हाथी पर बैठकर सिन्धु नदी के किनारे के प्रदेशों को जीता और नौका से नदी को पारकर सिंहल, बर्बर, अंगलोक, चिलायलोक, यवनद्वीप, आर्बक, रोमक, अलसंड, पिक्खुल, कालमुख और जोनक नामक म्लेच्छों को, उत्तर वैताढ्य में रहने वाली म्लेच्छ जाति, दक्षिण-पश्चिम से लेकर सिंधु सागर कच्छ देश को विजय किया। उसके पश्चात् सुषेण सेनापति तिमिस्र गुफा के दक्षिणद्वार के कपाटों का उद्घाटन करता है और भरत चक्रवर्ती अपने मणिरत्न को लेकर तिमिस्र गुफा की दीवार पर काकिणीरत्न से ४९

मंडल (वर्तुल) वनाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण गुफा प्रकाशित हो जाती है और कटक सहित गुफा पार करने में उन्हें कोई नष्ट नहीं उठाना पड़ता। उत्तरार्ध भरत में आपात नाम के किरात रहते थे। वे अनेक भवन, वाहन, दास, दासी, गो-महिप से सम्पन्न थे। उन्होंने असमय में आकाश में बिजली चमकती हुई देखी। वृक्षों को फलता-फूलता व प्रसन्नता का वातावरण देखकर वे चिन्तित हो उठे कि कोई आपत्ति आने वाली है। इसी समय तिमिस्र गुफा के उत्तरद्वार से चक्रवर्ती भरत अपनी विराट सेना के साथ वहाँ पहुँचे। दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। किरातों ने भरत की सेना को विचलित कर दिया। यह देख सुपेण सेनापति अश्वरत्न पर आरूढ़ हो असिरत्न को हाथ में लेकर किरातों की ओर वढ़ा और उन्हें पराजित किया। किरात सिंधु नदी के तट पर वालुका के संस्तारक पर ऊर्ध्वमुख होकर वस्त्ररहित होकर लेट गये। उन्होंने अष्टमभक्त से अपने कुल-देवता मेघमुख नामक नागकुमार देवों की आराधना की। देवों ने आकर कहा—'यह भरत नामक चक्रवर्ती है। यह किसी से भी जीता नहीं जा सकता और न किसी शस्त्र, अग्नि, मंत्र आदि से इसकी हानि ही हो सकती है। तथापि, तुम लोगों के लिए हम मूसलाधार वर्षा करते हैं।' भरत ने वर्षा की चिन्ता नहीं की और अपने चर्मरत्न पर सवार हो छत्ररत्न से वर्षा को रोककर मणिरत्न के प्रकाश में सात रात्रियाँ वहाँ पर व्यतीत कीं। उसके पश्चात् किरात भरत को अजेय समझकर श्रेष्ठ रत्नों का उपहार लेकर शरण में पहुँचे और अपराधों की क्षमायाचना की। उसके पश्चात् भरत ने क्षुद्र हिमवंत पर्वत के सन्निकट पहुँच कर क्षुद्र हिमवंत गिरि कुमार देव की आराधना कर उसे सिद्ध किया। उसके वाद ऋपभकूट पर पहुँचकर काकिणी रत्न से पर्वत की भित्ति पर अपना नाम अंकित किया। तत्पश्चात् वैताढ्यपर्वत की ओर लौटा। वहाँ नमि और विनमि विद्याधरों को जीता। विनमि ने भरत चक्रवर्ती को स्त्री रत्न और नमि ने रत्न, कटक और वाहुबंध अर्पित किये। तत्पश्चात् भरत गंगादेवी को साधकर खंड-प्रपात गुफा में पहुँचा और नृतमालक देवता को सिद्ध कर गंगा के पूर्व में स्थित निष्कुट प्रदेश को जीता। सुपेण सेनापति ने खंड-प्रपात गुफा के कपाटों का उद्घाटन किया और भरत ने काकिणी रत्न से मंडल वनाये। वाद में भरत ने गंगा के पश्चिमी तट पर विजय स्कन्धावार निवेश स्थापित कर नैसर्प, पाण्डुक, पिंगलक, सर्वरत्न, महापद्म, काल,

महाकाल, माणवक और शंख इन ६ निधिरत्नों की प्राप्ति की। इस प्रकार चक्ररत्न अपनी यात्रा समाप्त कर विनीता राजधानी की ओर लौटा। भरत चक्रवर्ती भी षट्खंड पर दिग्विजय कर हस्तिरत्न पर आरूढ़ हो उसके पीछे चले और राजधानी में जा पहुँचे। सेनापति को बुलाकर राज्याभिषेक का आदेश दिया और मांडलिक राजाओं ने उन्हें बधाई दी। सेनापति, पुरोहित, सूपकार, श्रेणी-प्रश्रेणी आदि ने उनका अभिषेक किया। सम्राट् भरत की ऋद्धि का यहाँ पर विस्तार से वर्णन किया गया है।

एक बार चक्रवर्ती भरत आरिसा भवन में गये। वहाँ अनित्य भावना भाते हुए उनको केवलज्ञान हुआ। उसी समय सम्पूर्ण अलंकारों का त्याग कर पंचमुष्टि लोच किया और अन्त में अष्टापद पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। भरत के कुमार जीवन, मंडलीक राज जीवन, चक्रवर्ती गृहवास जीवन, केवली जीवन और संलेखना के काल पर प्रकाश डाला है।

चतुर्थ वक्षस्कार में चुल्ल हिमवंत का वर्णन है। इसमें सर्वप्रथम, इस पर्वत के बीच अवस्थित पद्म नाम के एक सरोवर का विस्तार से वर्णन किया गया है। गंगा नदी, सिंधु, रोहितांशा नदियों का भी विशद निरूपण है। इस पर्वत पर ११ शिखरों का वर्णन है। हैमवत क्षेत्र का और उसमें शब्दापाती नामक वृत्तवैताढ्य पर्वत का वर्णन है। महाहिमवंत और उस पर्वत के महापद्म नामक सरोवर का वर्णन है। हरिवर्ष, निषध पर्वत, उस पर्वत के तिगिछ नामक सरोवर, महाविदेह क्षेत्र और गंधमादन नामक पर्वत, उत्तरकुरु में यमक नामक पर्वत, जम्बूवृक्ष, महाविदेह क्षेत्र में माल्यवंत पर्वत, कच्छ नामक विजय, चित्रकूट आदि अन्य विजय, देवकुरु, मेरु पर्वत, नंदनवन, सोमनस वन आदि, नीलपर्वत, रम्यक, हिरण्यवत और ऐरावत आदि क्षेत्रों का इसमें बहुत ही विस्तार से वर्णन है। यह वक्षस्कार सभी वक्षस्कारों से बड़ा है।

पाँचवें वक्षस्कार में जिन-जन्माभिषेक का वर्णन है। तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाने के लिए दिशा-विदिशाओं से ५६ दिक्कुमारियाँ आती हैं। ये चार अंगुल छोड़कर तीर्थंकर की नाभिनाल को काटती है और बाद में तेलमर्दन, सुगंधित उबटन करके गंधोदक, पुष्पोदक, शुद्धोदक से स्नान कराती हैं। अग्निहोम करके रक्षा पोटली बाँधकर, पाषाण घोलक कान के पास बजाती हैं और आशीर्वचन व मधुर गीतादि एवं नृत्य करती हैं। शक्रेन्द्र का सपरिवार आगमन होता है और वह पाण्डुक वन में अभिषेक

शिला पर तीर्थंकर को अभिषेक के लिए ले जाता है। ईशानेन्द्रादि सभी इन्द्र मेरु पर्वत पर आते हैं और तीर्थोदक से अभिषेक करते हैं। पुनः तीर्थंकर को माता के पास लाते हैं और दिव्य वस्त्रयुगल, कुंडलयुगल देकर हिरण्य, सुवर्ण, रत्नादि के द्वारा शक्रेन्द्र के आदेश से वैश्रमण देव तीर्थंकर के निवास को भर देते हैं।

छठवें वक्षस्कार में जम्बूद्वीपगत पदार्थ संग्रह का वर्णन है। जम्बूद्वीप के प्रदेशों का लवणसमुद्र से स्पर्श और जीवों का जन्म, जम्बूद्वीप में भरत, ऐरावत, हैमवत, हिरण्यवत, हरिवास, रम्यकवास और महाविदेह, इनका प्रमाण, वर्षधर पर्वत, चित्रकूट, विचित्रकूट, यमक पर्वत, कंचन पर्वत, वक्षस्कार पर्वत, दीर्घ वैताढ्य पर्वत, वर्षधरकूट, वक्षस्कारकूट, वैताढ्यकूट, मंदरकूट, मागधतीर्थ, वरदामतीर्थ और प्रभासतीर्थ, विद्याधर श्रेणियाँ, चक्रवर्ती विजय, राजधानियाँ, तिमिस्रगुफा, खंड-प्रपात गुफा, नदी और महानदियों आदि का इसमें विस्तार से वर्णन किया गया है।

सातवें वक्षस्कार में ज्योतिष्क का वर्णन है। जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, ५६ नक्षत्र, १७६ महाग्रह, प्रकाश करते हैं। उसके बाद सूर्य मंडलों की संख्या आदि का निरूपण है। सूर्य की गति, दिन और रात्रि का मान, सूर्य के आतप का क्षेत्र, पृथ्वी से सूर्य आदि की दूरी, सूर्य का ऊर्ध्व और तिर्यक् ताप, चन्द्रमंडलों की संख्या, एक मुहूर्त में चन्द्र की गति, नक्षत्रमंडल एवं सूर्य के उदय-अस्त के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है।

संवत्सर पाँच प्रकार के हैं। नक्षत्र, युग, प्रमाण, लक्षण व शनैश्चर। नक्षत्र संवत्सर के १२ भेद बताये हैं। युग संवत्सर, प्रमाण, लक्षण संवत्सर के ५-५ भेद हैं और शनैश्चर संवत्सर के २८ भेद हैं। प्रत्येक संवत्सर के १२ महीने होते हैं। उनके लौकिक और लोकोत्तर नाम बताये हैं। एक महिने के दो पक्ष, एक पक्ष के १५ दिन, १५ रात्रि और १५ तिथियों के नाम, मास, पक्ष, करण, योग, नक्षत्र, पौरुषीप्रमाण, आदि पर विस्तार से विवेचन किया गया है।

चन्द्र का परिवार; मंडल में गति करने वाले नक्षत्र; पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में चन्द्र विमान को वहन करने वाले देव; सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा के विमानों को वहन करने वाले देव; ज्योतिषी देवों की शीघ्र गति, ज्योतिषी देवों में अल्प और महाऋद्धि वाले देव, जम्बूद्वीप में

एक तारे से दूसरे तारे का अन्तर, चंद की चार अग्रमहिषियाँ, परिवार, वैक्रियशक्ति, स्थिति आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप में जघन्य, उत्कृष्ट तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, निधि, निधियों का परिभोग, पंचेन्द्रिय रत्न तथा उसका परिभोग, एकेन्द्रिय रत्न, जम्बूद्वीप का आयाम, विष्कंभ, परिधि, ऊँचाई, पूर्ण परिमाण, शाश्वत, अशाश्वत कथन की अपेक्षा, जम्बूद्वीप में पाँच स्थावर कायों में अनन्त बार उत्पत्ति, जम्बूद्वीप नाम का कारण आदि बताया गया है।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में प्राचीन भूगोल का महत्त्वपूर्ण संकलन है। जैनदृष्टि से सृष्टि विद्या के बीज इसमें उपलब्ध होते हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का प्रागऐतिहासिक जीवन चरित्र भी इसमें मिलता है। सम्राट् भरत की दिग्विजय का वर्णन भी प्राप्त होता है जिसकी तुलना विष्णु पुराण से कर सकते हैं। भरत और किरातों के युद्ध का वर्णन प्राचीन युद्ध की स्मृति दिलाता है। तीर्थंकरों के कल्याण महोत्सव का वर्णन, जिसका बाद के ग्रन्थों में विस्तार से उल्लेख है, बीज इस आगम में है।

☐

६-७. सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति

नामकरण

सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति ये क्रमशः ६ठे और ७वें उपांग हैं। कई ग्रन्थों में सूर्यप्रज्ञप्ति को पाँचवाँ और चन्द्रप्रज्ञप्ति को सातवाँ उपांग लिखा है। सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य आदि ज्योतिष्क चक्र का वर्णन है। इसमें एक अध्ययन, २० प्राभृत, उपलब्ध मूलपाठ २२०० श्लोक परिमाण है। गद्यसूत्र १०८ और पद्यगाथा १०३ हैं। इसी प्रकार चन्द्रप्रज्ञप्ति में भी है। चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्र आदि ज्योतिष्क चक्र का वर्णन है।

महत्त्व

डॉ० विन्टरनित्ज सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति को वैज्ञानिक ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। अन्य पाश्चात्य विचारकों ने भी उनमें उल्लिखित गणित और ज्योतिष विज्ञान को महत्त्वपूर्ण माना है। डा० शुब्रिंग ने जर्मनी की हेमवर्ग यूनिवर्सिटी में अपने भाषण में कहा कि 'जैन विचारकों ने जिन तर्क-सम्मत एवं सुसंमत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया वे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि से भी अमूल्य एवं महत्वपूर्ण हैं। विश्वरचना के सिद्धान्त के साथ-साथ उसमें उच्चकोटि का गणित एवं ज्योतिष विज्ञान भी मिलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में गणित एवं ज्योतिष पर गहराई से विचार किया गया है। अतः सूर्यप्रज्ञप्ति के अध्ययन के बिना भारतीय ज्योतिष के इतिहास को सही रूप से नहीं समझा जा सकता।'[1]

पाश्चात्य विचारकों एवं ऐतिहासिक विद्वानों की दृष्टि से सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति ये महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इन्हें हम ज्योतिष व गणित का,

---

1 He who has a thorough knowledge of the structure of the world cannot but admire the inward logic and harmony of Jain ideas. Hand in hand with the refined cosmographical ideas goes a high standard of Astronomy and Mathematics. A history of Indian Astronomy is not conceivable without the famous 'Surya Pragyapati'. —Dr. Schubring.

भूगोल व खगोल का महत्वपूर्ण कोष कह सकते हैं। वेबर ने सन् १८६८ में 'उवेर डी सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक निबन्ध प्रकाशित किया था। डा० आर० शाम शास्त्री ने इस उपांग का 'ए ब्रीफ ट्रान्सलेशन ऑफ महावीराज् सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक संक्षिप्त अनुवाद किया है। इस आगम में आये हुए दो सूर्य और दो चन्द्र की मान्यता का 'भास्कर' ने अपने सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ में और ब्रह्मगुप्त ने अपने 'स्फुट सिद्धान्त' में खंडन किया है; किन्तु डॉ थिबो ने 'जरनल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल'[1] में 'ऑन द सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक अपने शोधपूर्ण लेख में प्रतिपादित किया कि ग्रीक लोगों के भारतवर्ष में आगमन के पूर्व उक्त सिद्धान्त सर्वमान्य था। उन्होंने भारतीय ज्योतिष के अति प्राचीन ज्योतिष्क वेदांग ग्रंथ की मान्यताओं के साथ सूर्यप्रज्ञप्ति के सिद्धान्तों की समानता बताई है।

सूर्यप्रज्ञप्ति के प्रथम प्राभृत में उल्लेख है कि मिथिला नगरी में जितशत्रु का राज्य था। उस समय भगवान महावीर मिथिला के बाहर मणिभद्र चैत्य में पधारे। धर्मोपदेश करने के पश्चात् गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान ने समाधान करते हुए कहा—दिन व रात्रि में मुहूर्त ३० होते हैं। इसके साथ ही नक्षत्रमास, सूर्यमास, चन्द्रमास और ऋतुमास के मुहूर्तों की वृद्धि का वर्णन किया। प्रथम से अन्तिम और अन्तिम से प्रथम मण्डल पर्यन्त सूर्य की गति का काल प्रतिपादित करते हुए बताया कि अन्तिम मंडल में सूर्य की एक बार और शेष मंडलों में सूर्य की दो बार गति होती है।

उसके पश्चात् आदित्य संवत्सर के दक्षिणायन और उत्तरायण में अहोरात्र के जघन्य तथा उत्कृष्ट मुहूर्त एवं अहोरात्र के मुहूर्तों की हानि-वृद्धि का कारण बताया है भरत और ऐरावत क्षेत्र के सूर्य का उद्योत क्षेत्र, आदित्य संवत्सर के दोनों अयनों में प्रथम से अन्तिम और अन्तिम से प्रथम पर्यन्त एक सूर्य की गति का अन्तर और अन्तर के सम्बन्ध में छह अन्य मान्यताएँ, सूर्य द्वारा द्वीप-समुद्रों के अवगाहन संबंध में एक रात-दिन में सूर्य कितने क्षेत्र में परिभ्रमण करता है? मण्डलों की रचना और विस्तार आदि का विवरण है।

दूसरे प्राभृत में सूर्य के उदय और अस्त का वर्णन है। यहां पर शास्त्रकार ने अनेक अन्य तीर्थिकों के मतों का उल्लेख किया है। कितने ही

---

१ जिल्द ४६, पृ० १०७-१८१

ऐसा मानते हैं कि सूर्य पूर्व दिशा में उदय होकर अनन्त आकाश में चला जाता है। यह कोई विमान, रथ या देवता नहीं है किन्तु गोलाकार किरणों का समूह मात्र है जो संध्या समय नष्ट हो जाता है। कितने ही यह मानते हैं कि सूर्य देवता है जो स्वभाव से आकाश में उत्पन्न होता है और सन्ध्या के समय आकाश में अदृश्य हो जाता है। कितने ही कहते हैं कि सूर्य एक देव है और सदा वर्तमान रहता है। प्रातःकाल पूर्व दिशा में उदित होकर सन्ध्या के समय पश्चिम दिशा में पहुँच जाता है और वहाँ से अधोलोक प्रकाशित करता हुआ नीचे की ओर लौट जाता है। आचार्य मलयगिरि ने प्रस्तुत सूत्र की टीका में लिखा है कि 'पृथ्वी को गोल स्वीकार करने वालों को ही यह मत मान्य हो सकता है, जैनों को नहीं। चूंकि वे पृथ्वी को गोलाकार न मानकर असंख्यात द्वीप-समुद्रों से घिरी हुई मानते हैं।' इसके बाद सूर्य के एक मण्डल से दूसरे मण्डल में गमन करने का वर्णन है। सूर्य एक मुहूर्त में कितने क्षेत्र में परिभ्रमण करता है? इस प्राभृत में अन्य मतों का उल्लेख करके स्वमत का प्रतिपादन किया है।

तीसरे प्राभृत में चन्द्र, सूर्य द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले द्वीप-समुद्रों का वर्णन है और बारह मतान्तरों का निर्देश भी हुआ है।

चतुर्थ प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का संस्थान दो प्रकार से बताया है—(१) विमान संस्थान (२) प्रकाशित क्षेत्र का संस्थान। दोनों प्रकार के संस्थानों के सम्बन्ध में अन्य १६ मतान्तरों के उल्लेख हैं। स्वमत से प्रत्येक मंडल में उद्योत और ताप क्षेत्र का संस्थान बताकर अन्धकार के क्षेत्र का निरूपण किया है। सूर्य के ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् ताप क्षेत्र का परिमाण भी बताया गया है।

पाँचवें प्राभृत में सूर्य की लेश्याओं का वर्णन है। छठवें प्राभृत में सूर्य के ओज का वर्णन है। दूसरे शब्दों में कहें तो सूर्य सदा एक रूप में अवस्थित रहता है या प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है? इस सम्बन्ध में अन्य २५ प्रतिपत्तियाँ हैं। जैनदृष्टि से जम्बूद्वीप में प्रति वर्ष केवल ३० मुहूर्त तक सूर्य का प्रकाश अवस्थित रहता है, शेष समय में अनवस्थित रहता है। क्योंकि प्रत्येक मण्डल पर एक सूर्य ३० मुहूर्त रहता है। इसमें जिस-जिस मंडल पर वह रहता है उस दृष्टि से वह अवस्थित है और दूसरे मंडल की दृष्टि से वह अनवस्थित है।

सातवें प्राभृत में बताया है कि सूर्य अपने प्रकाश द्वारा मेरु पर्वत आदि को और अन्य प्रदेशों को प्रकाशित करता है।

आठवें प्राभृत में बताया है कि जो सर्य पूर्व-दक्षिण में उदित होता है वह मेरु के दक्षिण में स्थित भरत आदि क्षेत्रों को प्रकाशित करता है। पश्चिम-उत्तर में उदित होने वाला सूर्य मेरु के उत्तर में स्थित ऐरावत आदि क्षेत्रों को प्रकाशित करता है। जंबूद्वीप के मेरु पर्वत से पूर्व-पश्चिम में जिस समय दिन है उस समय दक्षिण-उत्तर में रात्रि है। लवण समुद्र के दक्षिण-उत्तर में जिस समय दिन है उस समय पूर्व-पश्चिम में रात्रि है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की अपेक्षा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का कथन किया गया है।

नवें प्राभृत में पौरुपी छाया प्रमाण का उल्लेख करते हुए बताया है कि सूर्य के उदय और अस्त के समय ५९ पुरुप-प्रमाण छाया दिखाई देती है। इस प्राभृत में अनेक मत-मतान्तरों का उल्लेख करते हुए स्वमत की पौरुपी छाया के सम्बन्ध में स्थापना की है।

दसवें प्राभत में २२ उप-अध्याय हैं। इनमें नक्षत्रों में आवलिका का क्रम, मुहूर्त की संख्या, पूर्व भाग, पश्चिम भाग और उभय भाग से चन्द्र के साथ योग करने वाले नक्षत्र, युग के प्रारम्भ में योग करने वाले नक्षत्रों का पूर्वादि विभाग, नक्षत्रों के कुल, उपकुल और कुलोपकुल, १२ पूर्णिमा व अमावस्याओं में नक्षत्रों के योग। समान नक्षत्रों के योगवाली पूर्णिमा व अमावस्या, नक्षत्रों के संस्थान, उनके तारे। वर्षा, हेमंत और ग्रीष्म ऋतुओं में मास क्रम से नक्षत्रों का योग और पौरुपी प्रमाण। दक्षिण, उत्तर और उभय मार्ग से चन्द्र के साथ योग करने वाले नक्षत्र। नक्षत्ररहित चन्द्रमण्डल, सूर्यरहित चन्द्रमण्डल, नक्षत्रों के देवता, ३० मुहूर्तों के नाम, १५ दिनों के व रात्रियों के व तिथियों के नाम। नक्षत्रों के गोत्र, नक्षत्रों में भोजन का विधान। एक युग में चन्द्र व सूर्य के साथ नक्षत्रों का योग। एक संवत्सर के महीने, उनके लौकिक व लोकोत्तर नाम। पाँच प्रकार के संवत्सर और उनके ५-५ भेद हैं और अन्तिम शनैश्चर संवत्सर के २८ भेद हैं। दो चन्द्र, नक्षत्रों के द्वार, दो सूर्य उनके साथ योग करने वाले नक्षत्रों का मुहूर्त परिमाण। नक्षत्रों की सीमा, विष्कंभ आदि का प्रतिपादन किया गया है।

ग्यारहवें प्राभृत में संवत्सरों के आदि-अन्त और नक्षत्रों के योग का वर्णन हुआ है।

बारहवें प्राभृत में नक्षत्र, चन्द्र, ऋतु, आदित्य और अभिवर्धित इन ५ संवत्सरों का वर्णन है। छह ऋतुओं का प्रमाण, छह क्षयतिथियाँ, छह अधिक तिथियाँ, एक युग में सूर्य और चन्द्र की आवृत्तियाँ और उस समय नक्षत्रों का योग और योगकाल आदि का वर्णन है।

तेरहवें प्राभृत में कृष्ण और शुक्ल पक्ष में चन्द्र की हानि-वृद्धि बताई गई है। ६२ पूर्णिमा और ६२ अमावस्याओं में चन्द्र सूर्यों के साथ राहु का योग, प्रत्येक अयन में चन्द्र की मण्डलगति, आदि का वर्णन किया गया है।

चौदहवें प्राभृत में कृष्ण और शुल्क पक्ष की ज्योत्स्ना और अन्धकार का प्रमाण बताया है।

पन्द्रहवें प्राभृत में चन्द्रादि ज्योतिष्क देवों की एक मुहूर्त की गति है, नक्षत्र मास में चंद्र, सूर्य, ग्रहादि की मण्डल गति का वर्णन है। इसी प्रकार ऋतुमास में, आदित्य मास में भी मण्डलगति का निरूपण किया गया है।

सोलहवें प्राभृत में चन्द्रिका, आतप और अन्धकार के पर्याय का वर्णन है।

सत्रहवें प्राभृत में सूर्य-चन्द्र का च्यवन, उपपात आदि के सम्बन्ध में अन्य २५ मत-मतान्तरों का उल्लेख करने के बाद स्वमत का संस्थापन किया है।

अठारहवें प्राभृत में भूमि से सूर्य चन्द्रादि की ऊँचाई का परिमाण बताते हुए अन्य २५ मत-मतान्तरों का उल्लेख करके स्वमत का प्रतिपादन किया है। चन्द्र-सूर्य के विमान के नीचे, ऊपर और समविभाग में ताराओं के विमान हैं। उनके कारण, एक चन्द्र का ग्रह, नक्षत्र और ताराओं का परिवार, मेरु पर्वत से ज्योतिष्क चक्र का अन्तर, जम्बूद्वीप में सर्व बाह्य-आभ्यंतर, ऊपर-नीचे चलने वाले नक्षत्र, चन्द्र-सूर्यादि के संस्थान, आयाम, विष्कंभ और बाहुल्य। उनको वहन करने वाले देवों की संख्या और उनका दिशाक्रम से रूप, उनकी शीघ्र और मंद गति, अल्पबहुत्व। चन्द्र-सूर्य की अग्रमहिषियाँ परिवार, विकुर्वणा शक्ति, देव देवियों की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति आदि का वर्णन है।

उन्नीसवें प्राभृत में चन्द्र, सूर्य संपूर्ण लोक को प्रकाशित करते हैं या लोक के एक विभाग को ? इस सम्बन्ध में बारह मत-मतान्तर बताते हुए स्वमत का निरूपण किया गया है। लवणसमुद्र का आयाम, विष्कंभ और चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, तारे का वर्णन है। उसी तरह धातकीखंड के संस्थान का

वर्णन, कालोदधि समुद्र और पुष्करार्द्ध द्वीप, मनुष्य क्षेत्र आदि का विवरण है।

इन्द्र के अभाव में व्यवस्था, इन्द्र का जघन्य और उत्कृष्ट विरहकाल, मनुष्य क्षेत्र के बाहर चन्द्र की उत्पत्ति और गति तथा अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र तक द्वीप-समुद्रों का आयाम, विष्कंभ, परिधि आदि का वर्णन है।

बीसवें प्राभृत में चन्द्रादि का स्वरूप, राहु का वर्णन, राहु के दो प्रकार, जघन्य-उत्कृष्ट काल का वर्णन है। चन्द्र को शशी और सूर्य को आदित्य कहने का कारण यह है कि ज्योतिष्कों के इन्द्र—चन्द्र का मृग (शश) के चिन्ह वाला मृगांक नामक विमान है और सूर्य समय, आवलिका आदि से लेकर अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी के काल का आदि करने वाला है इसलिए इन्हें शशी और आदित्य कहते हैं। चन्द्र और सूर्य की अग्रमहिषियाँ, चन्द्र, सूर्य के कामभोगों की मानवीय कामभोगों के साथ तुलना की गई है। इसके पश्चात् ८८ ग्रहों के नाम बताये गये हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्र के परिभ्रमण का उल्लेख मुख्य रूप से हुआ है। चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति का वर्णन प्राय: समान है। केवल मंगलाचरण के रूप में जो १८ गाथाएँ दी गई हैं वे विशेष हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति में प्राचीन ज्योतिष सम्बन्धी मूल मान्यताओं का संकलन किया गया है। इनके विषय की वेदांग ज्योतिष्क के साथ तुलना कर सकते हैं। पंच वर्षात्मक युग का मान कल्पित कर सूर्य और चन्द्र का गणित किया गया है। सूर्य के उदय व अस्त का विचार कर दिनमान का कथन है। उत्तरायण में सूर्य लवण-समुद्र के बाहरी मार्ग से जम्बूद्वीप की ओर आता है। उस समय सूर्य की चाल सिंहगति होती है। उसके बाद गजगति हो जाती है जिससे उत्तरायण के आरम्भ में दिन लघु और रात्रि बड़ी होती है और उत्तरायण की समाप्ति पर गति मंद होने से दिन बड़ा होने लगता है। इसी प्रकार दक्षिणायन के आरम्भ में सूर्य जम्बूद्वीप के भीतरी मार्ग से बाहर की ओर गतिवाला होता है जिससे दिन बड़ा और रात्रि छोटी होती है। प्रस्तुत सिद्धान्त परवर्ती साहित्य में दिनमान एवं उत्तरायण व दक्षिणायन के निरूपण का स्रोत है। नक्षत्रों के गोत्र आदि का वर्णन मुहूर्तशास्त्र की नींव है। मुहूर्तशास्त्र में प्रधान रूप से नक्षत्रों के स्वभाव और गुणों पर विचार किया जाता है।

राजाओं को बुलाकर मंत्रणा की। शरणागत की रक्षा के लिए उन्होंने युद्ध करना उचित समझा। राजा चेटक भगवान महावीर का परम उपासक था। उसने श्रावक के द्वादशव्रत ग्रहण कर रखे थे और उसका यह विशेष नियम भी था कि 'मैं एक दिन में एक से अधिक वाण नहीं चलाऊँगा।' उसका वाण अमोघ था, कभी भी निष्फल नहीं जाता था। पहले दिन कूणिक की ओर से कालकुमार सेनापति होकर सामने आया। उसने गरुड़व्यूह की रचना की। राजा चेटक ने शकट व्यूह की रचना की। परस्पर भयंकर युद्ध हुआ। राजा चेटक ने अमोघ वाण का प्रयोग किया। कालकुमार जमीन पर गिर पड़ा और मरकर नरक में गया। यह पहले अध्ययन में वर्णन है। साथ ही कूणिक का जन्म, चेलना का दोहद और चेलना का कूणिक को पूर्वघटना बताकर पिता के प्रति प्रेम जाग्रत करने का भी वर्णन है।

इसी प्रकार एक-एक कर अन्य नौ भाई सेनापति वन कर आते हैं और राजा चेटक के अमोघ बाण से मर कर नरक में जाते हैं। क्रमशः नौ अध्ययनों में नौ भ्राताओं का वर्णन है। यह वर्णन चंपानगरी में भगवान महावीर से कुमारों की माताएँ पूछती हैं और भगवान उसका कथन करते हैं। ये दसों कुमार नरक से निकलकर महाविदेह में जन्म लेंगे। वहाँ वैराग्य और श्रमणधर्म स्वीकार करके उत्कृष्ट साधना कर शिव पद प्राप्त करेंगे।

द्वितीय कल्पावतंसिका वर्ग में दस अध्ययन हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—पउम, महापउम, भद्द, सुभद्द, पउमभद्द, पउमसेन, पउमगुल्म, नलिनी गुल्म, आणंद और नंदन।

चंपानगरी में राजा कूणिक राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। राजा श्रेणिक की एक रानी का नाम काली था। उसके काल नामक पुत्र हुआ। इसका उल्लेख प्रथम वर्ग में किया गया है। काल की पत्नी का नाम पद्मावती था। उसके पद्मकुमार नामक पुत्र हुआ। पद्मकुमार ने भगवान महावीर से श्रमणदीक्षा ग्रहण की और ११ अंगों का अध्ययन कर अन्त में अनशन कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से महाविदेह में जन्म लेकर मोक्ष जायगा। इसी प्रकार शेष नौ अध्ययनों में भी राजा श्रेणिक के पौत्र, जिनके पिताओं का अनुक्रम से प्रथम वर्ग (निरयावलिया-कल्पिका) में वर्णन किया गया है, उनके पुत्रों ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। साधना के द्वारा आयु पूर्ण कर वे देवलोक में गए और वहाँ से फिर मनुष्य हो कर मोक्ष जायेंगे। इस प्रकार इस वर्ग में व्रताचरण

के द्वारा जीवन-शोधन की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। पिता जहाँ कषाय के वशीभूत होकर मरण करके नरक में जाते हैं वहाँ पुत्र सत्कर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं। उत्थान और पतन का दायित्व मानव के स्वयं के कर्मों पर आधारित है। मानव साधना से भगवान भी बन सकता है और विराधना से भिखारी भी।

तीसरा वर्ग पुष्पिका है। इसके भी दश अध्ययन हैं—चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बहुपुत्रिक, पूर्णभद्र, माणिभद्र, दत्त, शिव, वलेपक और अनादृत।

पहले अध्ययन में भगवान महावीर राजगृह में एक वार विराजित थे। ज्योतिषीइन्द्र चन्द्र अवधिज्ञान से भगवान को राजगृह में देखकर अपने विमान सहित भगवान के दर्शनहेतु आया। विविध प्रकार के नाट्य किये। गौतम की जिज्ञासा पर भगवान ने उसके पूर्वभव का कथन किया। इसी प्रकार दूसरे अध्ययन में सूर्य का भगवान के समवसरण में विमान सहित आगमन, नाट्यविधि और भगवान का पूर्वभव कथन आदि का वर्णन है।

तीसरे अध्ययन में शुक्र महाग्रह का वर्णन है। इस अध्ययन में भगवान महावीर के दर्शनहेतु शुक्र आया और पूर्ववत् नाट्यविधि दिखाकर पुनः अपने स्थान लौट गया। भगवान ने उसके पूर्वभव का कथन करते हुए कहा —यह वाराणसी में सोमिल नामक ब्राह्मण था। वेद-शास्त्रों में निष्णात था। एक बार भगवान पार्श्व वाराणसी पधारे। सोमिल भगवान पार्श्व के दर्शन हेतु गया और उसने भगवान से प्रश्न किये—भगवन्! आपके यात्रा है? आपके यापनीय है? सरिसव, मास और कुलत्थ भक्ष्य हैं या अभक्ष्य? आप एक हैं या दो हैं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर भगवान ने स्याद्वाद की भाषा में दिया।

(यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सोमिल जिसने भगवान पार्श्व से प्रश्न किये थे वह और भगवतीसूत्र में १८वें शतक के १०वें उद्देशक में भी सोमिल ब्राह्मण का वर्णन है जिसने इसी प्रकार के प्रश्न भगवान महावीर से किये थे, ये दोनों दो भिन्न व्यक्ति थे। क्योंकि भगवान पार्श्व से प्रश्न करने वाला सोमिल ब्राह्मण वाराणसी का था और महावीर से प्रश्न करने वाला सोमिल वाणिज्यग्राम का। काल घटना की दृष्टि से भी दोनों पृथक्-पृथक् ही थे। नाम साम्य से भ्रम में पड़ना उचित नहीं।)

भगवान पार्श्व के वाराणसी से विहार करने के पश्चात् कुसंगति के कारण सोमिल पुनः मिथ्यात्वी बन जाता है। एक रात्रि में कुटुम्ब जाग-

रणा करते हुए चिन्तन किया कि प्रातः वाराणसी के बाहर एक बहुत ही सुन्दर बगीचा लगाऊँगा जिसमें विविध प्रकार के वृक्ष होंगे और रंग-बिरंगे फूल महकते होंगे। प्रातः विचार को आचार के रूप में परिणत किया। पुनः एक रात्रि को कुटुम्ब-जागरणा करते हुए उसे विचार उद्‌भूत हुआ कि प्रातः सभी को भोजनादि कराके गंगानदी के किनारे तापसी प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। प्रातः होने पर उसने दिशाप्रोक्षक तापसों के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और यह प्रतिज्ञा भी की कि यावत्-जीवन अन्तररहित छट्ठ-छट्ठ दिक् चक्रवाल तपस्या करता हुआ सूर्य के अभिमुख भुजाएँ उठाकर सूर्याभिमुख हो आतापना भूमि में तपश्चरण करूँगा। प्रथम छट्ठ के पारणे के दिन वह आतापना भूमि से चलकर वल्कल के वस्त्र धारण कर अपनी कुटी में आया और अपनी टोकरी लेकर पूर्व दिशा की ओर चला। वहाँ उसने सोम महाराज की पूजा की और कंदमूल फल आदि से टोकरी भरकर वह पुनः अपनी कुटी में आया। वहाँ उसने अपनी वेदी को लीप-पोत कर शुद्ध किया। फिर दर्भ और कलश को लेकर गंगास्नान के लिए गया। तत्पश्चात् आचमन कर देवता और पितरों को जलांजलि दी। दर्भ और पानी का कलश हाथ में लेकर कुटिया में आया। दर्भ, कुश और बालुका से वेदिका बनाई। मंथन काष्ठ से अरणि को घिसकर अग्नि पैदा की और समिध काष्ठ डालकर उसे प्रज्वलित किया। अग्नि की दाहिनी ओर उसने सात वस्तुएँ—सकथ (एक उपकरण), वल्कल, अग्निपात्र, शय्या, कमंडल, दंड और स्वयं को स्थापित किया। घी, मधु, तिल व चावलों द्वारा अग्नि में होम किया और चरु (बलि) पकाकर अग्नि-देवता की पूजा की। उसके बाद अतिथियों को भोजन कराके स्वयं ने भोजन किया।

इस प्रकार उसने दक्षिण में यम, पश्चिम में वरुण और उत्तर में वैश्रमण की पूजा की। पुनः एक दिन उसके अन्तर्मानस में विचार उत्पन्न हुआ कि मैं वल्कल के वस्त्र पहन पात्र एवं टोकरी ले काष्ठमुद्रा से मुंह बांध कर उत्तर दिशा की ओर महाप्रस्थान कर अभिग्रह धारण करूँगा कि जल, थल, दुर्ग, विषम पर्वत, गर्त या गुफा में गिरकर या स्थित होकर पुनः न उठूँगा। यह चिन्तन कर वह अशोक वृक्ष के नीचे गया, वहाँ पर पात्र, टोकरी एक ओर रखकर वेदी बनाई, स्नान किया, दर्भ आदि जो क्रियाएँ थीं उनका अनुष्ठान किया। एक देव ने अन्तरिक्ष में खड़े होकर सोमिल से कहा कि यह तुम्हारा कार्य उचित नहीं है। देव के कथन की वह उपेक्षा करता रहा। किन्तु

पुनः-पुनः देव के उद्‌बोधन से उसने श्रावक के पाँच अणुव्रत और सप्त शिक्षाव्रत ग्रहण कर लिए। तत्पश्चात् विविध प्रकार के तप करता रहा। अन्त में अर्धमासिक संलेखना से आत्मा को भावित करता हुआ पूर्वकृत पापस्थानकों की आलोचना, प्रतिक्रमण न करने से यह वहाँ से आयु पूर्ण कर शुक्र नामक महाग्रह में उत्पन्न हुआ है। वहाँ से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

चतुर्थ अध्ययन में भगवान महावीर राजगृह नगर के बाहर पधारे। उस समय बहुपुत्रिका नामक देवी भगवान के समवसरण में आती है। प्रवचन के पश्चात् वह अपनी दाहिनी भुजा से १०८ देवकुमारों को और बायीं भुजा से १०८ देवकुमारिकाओं को निकालती है। साथ ही बहुत से अन्य बालक-बालिकाओं को भी अपनी वैक्रिय शक्ति से निकालती है। इसके बाद सूर्याभ देव के सदृश नाटक करती है। नाटक पूर्ण होने पर पुनः उन सबको अपने शरीर में समाविष्ट कर लेती है। गणधर गौतम ने बहुपुत्रिका देवी के जाने के पश्चात् उसके सम्बन्ध में पूछा कि वह विशाल देवऋद्धि उसके शरीर में से निकली और पुनः उसके शरीर में कैसे विलीन हो गई? भगवान ने कहा—जैसे एक भव्य भवन में से हजारों व्यक्ति निकलते हैं और पुनः उस घर में प्रवेश कर जाते हैं वैसे ही। गौतम ने पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की कि यह पूर्वभव में कौन थी? भगवान ने कहा—वाराणसी नगरी में भद्र नामक सार्थवाह था। उसकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। वह वन्ध्या होने के कारण दिन-रात दुःखी रहा करती थी और मन में चिन्तन करती रहती थी—वे माताएँ धन्य हैं जिन्होंने पुत्रों को जन्म दिया है, दुग्ध-पान कराया है और अपनी गोदी में बैठाकर उनकी तुतली बोली सुनी है। किन्तु मैं तो भाग्यहीन हूँ, मेरे कोई सन्तान नहीं है। एक समय वाराणसी में सुव्रता नामक आर्या, जो पंच समिति और तीन गुप्ति की धारक थी, शिष्याओं के साथ आई। उनकी शिष्याएँ भद्र सार्थवाह के घर भिक्षा के लिए पहुँची। सुभद्रा ने विपुल अशन-पान-खाद्य आदि का प्रतिलाभ कर आर्यिकाओं से संतानोत्पत्ति के लिए कोई विद्या, मंत्र, वमन, विरेचन, वस्तिकर्म, औषधि आदि माँगी। आर्यिकाओं ने कहा—हम ऐसी बातें नहीं सुनती हैं, इस सम्बन्ध में उपदेश या विधि बताना हमारे नियम के प्रतिकूल है। हम तो निर्ग्रन्थ प्रवचन का ही उपदेश देती हैं। आर्यिकाओं का उपदेश श्रवण कर सुभद्रा श्रमणोपासिका हुई और कुछ समय के बाद उसने सुव्रता आर्या के

पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की। किन्तु आर्यिका होने पर भी सुभद्रा का बालकों के प्रति अत्यन्त स्नेह था। वह बच्चों को कभी उबटन लगाती, उनका शृंगार करती, उनको भोजनादि कराती। सुव्रता महासती ने सुभद्रा से कहा कि यह कार्य श्रमणमर्यादा के प्रतिकूल है। तुम्हें यह नहीं करना चाहिये। पर अपनी सद्गुरुणी की आज्ञा की अवहेलना करके वह अन्य उपाश्रय में जाकर एकाकी रहने लगी और स्वच्छन्दतापूर्वक बच्चों के साथ पूर्ववत् व्यवहार करने लगी। बहुत वर्षों तक स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हुए उसने श्रमणधर्म का पालन किया। अन्त में अर्धमासिक संलेखना द्वारा आयु पूर्ण किया। उत्तरगुणों में जो दोष लगे उनकी आलोचना न करने से यह सौधर्म सभा में बहुपुत्रिका नामक देवी हुई। यह जब इन्द्र के पास इन्द्रसभा में जाती है तब बहुत से बालक-बालिकाओं की विकुर्वणा करके सभा का मनोरंजन करती है। इसलिए इसे बहुपुत्री देवी (बहुपुत्रिका देवी) कहते हैं।

स्वर्ग से च्युत होकर यह बिभेल सन्निवेश में एक ब्राह्मण के घर उत्पन्न होगी। उस समय उसका नाम सोमा होगा। युवावस्था प्राप्त होने पर भानजे के साथ उसका विवाह होगा और बहुत से पुत्र-पुत्रियों की माता बनेगी। वे नाचेंगे, कूदेंगे, हँसेंगे, रोवेंगे, एक-दूसरे को मारेंगे, पीटेंगे, भोजन के लिए एक-दूसरे पर झपटेंगे और उसके शरीर पर कोई वमन करेगा, कोई मल और कोई मूत्र जिससे कि वह परेशान हो जायगी। तब मन में सोचेगी कि इससे तो वंध्याएँ ही ठीक हैं क्योंकि मैं इनसे कितनी परेशान हूँ? उस समय निर्ग्रन्थ श्रमणियाँ वहाँ आएँगी और उनसे निर्ग्रन्थ प्रवचन को श्रवण कर वह श्रावक के व्रत ग्रहण करेगी। उसके पश्चात् वह श्रमणी बनेगी और ११ अंगों का अध्ययन करके अन्त में मासिक संलेखना से सामान्य देव बनेगी। वहाँ से आयु पूर्ण कर महाविदेह में उत्पन्न होगी और कर्मों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगी।

पाँचवें अध्ययन में पूर्णभद्र, छठे अध्ययन में माणिभद्र, सातवें में दत्त, आठवें में शिव गृहपति, नवें में बल और दसवें में अनाढिय गृहपति का वर्णन है। इन अध्ययनों में भी वे देव आते हैं, नाटक करते हैं और भगवान से गौतम उनके पूर्वभव के सम्बन्ध में पूछते हैं, आदि एक सदृश वर्णन है।

इस प्रकार पुष्पिका उपांग में स्व-समय और पर-समय के ज्ञान की दृष्टि से कथाओं का संकलन है। कथाओं में कुतूहल तत्त्व की प्रधानता है। सभी आख्यानों में वर्तमान जीवन पर उतना प्रकाश नहीं डाला गया जितना

उनके परलोक के जीवन पर डाला गया है। सांसारिक मोह और ममताओं का सवल चित्रण है। पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त का समर्थन सर्वत्र मुखरित हो रहा है।

चतुर्थ वर्ग का नाम पुष्पचूला है। इस वर्ग में १० अध्ययन हैं। श्री देवी, ह्रीदेवी, धृतिदेवी, कीर्तिदेवी, बुद्धिदेवी, लक्ष्मीदेवी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी।

एक वार भगवान महावीर राजगृह नगर में पधारे। उस समय श्री देवी सुधर्मा सभा से आई और उसने दिव्य नाटक किये किन्तु उसने वहुपुत्रिका की भाँति वालक-वालिकाओं की विकुर्वणा नहीं की। गौतम ने उसके पूर्वभव के सम्वन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान ने कहा कि राजगृह में सुदर्शन श्रेष्ठी था। उसकी यह भूता नामक पुत्री थी। युवावस्था में भी यह वृद्धा के समान दिखलाई देती थी अतः इसका विवाह नहीं हो सका था। एक वार पुरुपादानीय भगवान पार्श्वनाथ वहाँ पधारे। उनके उपदेश को श्रवण कर पुष्पचूलिका आर्या के पास वह श्रमणी वनी। उसके पश्चात् वह रात-दिन अपने शरीर की सेवा-शुश्रूपा में लगी रहती। पुष्प-चूलिका आर्यिका ने उसे वताया कि यह श्रमणाचार नहीं है। तुम्हें इन पापों की आलोचना कर शुद्धीकरण करना चाहिए। पर वह आज्ञा की अवहेलना कर भिन्न स्थान पर रहने लगी। विना आलोचना किये मर कर यह देवी हुई है। महाविदेह में जन्म लेकर यह निर्वाण प्राप्त करेगी। इसी प्रकार शेप नौ अध्ययनों में भी कथाएँ हैं।

पाँचवें वर्ग का नाम वृष्णिदसा है। उसमें १२ अध्ययन हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—निपधकुमार, मायनीकुमार, वहकुमार, वेषकुमार, प्रगतिकुमार, ज्योतिकुमार, दशरथकुमार, दृढ़रथकुमार, महाधनुकुमार, सप्तधनुकुमार, दशधनुकुमार और शतधनुकुमार।

द्वारिका नगरी में श्रीकृष्ण वासुदेव राज्य करते थे। समुद्रविजय प्रमुख दश दशार्ह राजा, वलदेव प्रमुख पाँच महावीर, उग्रसेन प्रमुख राजा, प्रद्यम्न प्रमुख कुमार, शंव प्रमुख योद्धा, वीरसेन प्रमुख वीर, रुक्मिणी प्रमुख रानियाँ और अनंगसेना आदि गणिकाओं से श्रीकृष्ण वासुदेव घिरे रहते थे। द्वारिका में वलदेव राजा की रानी रेवती थी, उसने निपधकुमार को जन्म दिया। भगवान अरिष्टनेमि एक वार द्वारिका में पधारे। उनका आगमन सुन श्रीकृष्ण ने सामुदानिक भेरी द्वारा भगवान के आगमन की उद्घोपणा

करवायी और सपरिवार दल-बल सहित वे भगवान के वन्दन के लिये गये। निपधकुमार भी भगवान को नमस्कार करने के लिए पहुँचा। निपधकुमार के दिव्यरूप को देखकर भगवान अरिष्टनेमि के प्रधान शिष्य वरदत्त ने उसके दिव्यरूप आदि के सम्बन्ध में पूछा। भगवान ने बताया कि रोहीतक नगर में महावल राजा राज्य करता था। उसकी रानी पद्मावती से वीरंगत नाम का पुत्र हुआ। युवावस्था में वह अनेक प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी भोगों को भोगता हुआ विचरता था। एक वार सिद्धार्थ आचार्य उस नगर में आये। उनका उपदेश श्रवण कर वीरंगत ने श्रमण प्रव्रज्या ग्रहण की। उसने अनेक प्रकार के तपादि अनुष्ठान किए और ११ अंगों का अध्ययन किया। इस प्रकार ४५ वर्ष तक श्रमणपर्याय का पालन किया। उसके वाद दो मास की संलेखना कर पापस्थानकों की आलोचना और शुद्धि करके समाधिभाव से कालधर्म प्राप्त करके ब्रह्म नामक पाँचवें देवलोक में देव हुआ। वहाँ देवायु पूर्ण करके यहाँ यह निपधकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ है और ऐसी मानुषी ऋद्धि प्राप्त की है। वह निपधकुमार भगवान अरिष्टनेमि के समीप अनगार होकर कालान्तर में निर्वाण को प्राप्त हुए।

इसी प्रकार अन्य अध्ययनों में भी प्रसंग हैं।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि वृष्णिदशा में यदुवंशीय राजाओं के इतिवृत्त का अंकन है। इसमें कथा-तत्त्वों की अपेक्षा पौराणिक तत्त्वों का प्राधान्य है। इसमें भगवान अरिष्टनेमि का महत्त्व कई दृष्टियों से प्रतिपादित किया गया है।

□

मूल आगम साहित्य

- उत्तराध्ययन
- दशवैकालिक
- नन्दी सूत्र
- अनुयोगद्वार

१. उत्तराध्ययनसूत्र

नामकरण

आगम साहित्य में प्राचीन विभाजन के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र अंगबाह्य आवश्यकव्यतिरिक्त कालिकश्रुत का ही एक भेद है।[1] सामान्य रूप से मूलसूत्रों की संख्या चार है। किन्तु उस पर जो विभिन्न मत हैं उनका दिग्दर्शन हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं। चाहे कितने मतभेद रहे हों पर सभी ने उत्तराध्ययन को मूलसूत्र माना है।

उत्तराध्ययन में दो शब्द हैं—'उत्तर' और 'अध्ययन'। समवायांग में 'छत्तीसं उत्तरज्झयणा'[2] यह वाक्य प्राप्त होता है। इस वाक्य में उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों का प्रतिपादन नहीं किन्तु ३६ उत्तर अध्ययन प्रतिपादित किये गये हैं। नन्दीसूत्र में भी 'उत्तरज्झयणाणि' यह बहुवचनात्मक नाम प्राप्त होता है।[3] उत्तराध्ययन की अंतिम गाथा में भी 'छत्तीसं उत्तरज्झाए' इस प्रकार बहुवचनात्मक नाम मिलता है।[4] निर्युक्तिकार ने भी उत्तराध्ययन का बहुवचन में प्रयोग किया है।[5] चूर्णि में ३६ उत्तराध्ययनों का एक श्रुतस्कन्ध माना है तथापि उन्होंने इसका नाम बहुवचनात्मक माना है।[6] बहुवचनात्मक नाम से यह ज्ञात होता है कि उत्तराध्ययन अध्ययनों का एक योग मात्र है, एक कर्तृक एक ग्रन्थ नहीं।

---

१ दसवैकालिक भा० २, पृ० २२१, टिप्पण २६ तथा पृ० ३५२ टिप्पण ७८
२ समवायांग, समवाय ३६
३ नन्दीसूत्र ४३
४ उत्तराध्ययन ३६।२६८
५ उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा० ४, पृ० २१ पा० टि० ४
६ एतेसि चेव छत्तीसाए उत्तरज्झयणाणं समुदय समितिसमागमेणं उत्तरज्झयणभाव-सुयक्खंधे ति लब्भइ, ताणि पुण छत्तीसं उत्तरज्झयणाणि इमेहिं नामेहिं अणुगंतव्वाणि। —उत्तराध्ययनचूर्णि पृष्ठ ८

उत्तर शब्द पूर्व की अपेक्षा से ही है। चूर्णि में इन अध्ययनों की तीन प्रकार से योजना प्राप्त होती है।[1]

(१) स-उत्तर —पहला अध्ययन
(२) निरुत्तर —छत्तीसवाँ अध्ययन
(३) स-उत्तर-निरुत्तर —बीच के सारे अध्ययन

किन्तु उत्तर शब्द की प्रस्तुत अर्थ योजना चूर्णिकार अधिकृत नहीं मानते हैं। वे निर्युक्तिकार के द्वारा प्रस्तुत अर्थ को अधिकृत मानते हैं। निर्युक्ति की दृष्टि से यह अध्ययन आचारांग के उत्तरकाल में पढ़े जाते थे इसलिए इन्हें उत्तर अध्ययन कहा गया है।[2] उत्तराध्ययन की चूर्णि व वृहद्वृत्ति में भी इस कथन का समर्थन है। श्रुतकेवली आचार्य शय्यंभव के पश्चात् ये अध्ययन दशवैकालिक के उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे।[3] एतदर्थ ये उत्तर अध्ययन ही बने रहे हैं। यह उत्तर शब्द की व्याख्या संगत ज्ञात होती है।

दिगम्बर ग्रन्थों में उत्तर शब्द की अनेक दृष्टियों से व्याख्या प्राप्त होती है। धवला में लिखा है कि उत्तराध्ययन उत्तरपदों का वर्णन करता है। यह उत्तर शब्द समाधान का प्रतीक है।[4] अंगपण्णत्ती में उत्तर शब्द के दो अर्थ ज्ञात होते हैं—

(१) उत्तरकाल—किसी ग्रन्थ के पश्चात् पढ़े जाने वाले अध्ययन।
(२) उत्तर—प्रश्नों का उत्तर देने वाले अध्ययन।[5]

इन अर्थों में उत्तर और अध्ययनों के सम्बन्ध में सत्य तथ्य का उद्घाटन किया गया है। उत्तराध्ययन में ४, १६, २३, २५ और २९वाँ—

---

१ विणयसुयं सउत्तरं जीवाजीवाभिगमो णिरुत्तरो, सर्वोत्तर इत्यर्थः, सेसज्झयणाणि सउत्तराणि णिरुत्तराणि य, कहं ? परीसहा विणयसुयस्स उत्तरा चउरंगिज्जस्स तु पुव्वा इतिकाउं णिरुत्तर। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ६

२ कमउतरेण पगयं आयारस्सेवः उवरिमाइं तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणां हुंति णायव्वा॥
—उत्तराध्ययननिर्युक्ति गा० ३

३ विशेषश्चायं यथा—शय्यम्भवं यावदेष क्रमः तदाऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठयन्त इति। —उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, पत्र ५

४ उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ। —धवला, पृष्ठ ९७

५ उत्तराणि अहिज्जंति, उत्तरज्झयणं पदं जिणिदेहिं। —अंगपण्णत्ती ३।२५,२६

ये अध्ययन प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये हैं और कुछ अन्य अध्ययनों में भी आंशिक रूप से कुछ प्रश्नोत्तर आये हैं। प्रस्तुत दृष्टि से उत्तर का 'समाधानसूचक' अर्थ संगत होने पर भी सभी अध्ययनों में वह घटित नहीं होता। उत्तरकालवाची अर्थ संगत होने के साथ पूर्णरूप से व्याप्त भी है। अतः उत्तर का मुख्य अर्थ यही उचित प्रतीत होता है।

अध्ययन का अर्थ पढ़ना है। किन्तु यहाँ पर अध्ययन शब्द परिच्छेद (अध्याय) के अर्थ में व्यवहृत है। निर्युक्तिकार और चूर्णिकार ने इसका विशेष अर्थ भी किया है[1] किन्तु तात्पर्य परिच्छेद से ही है।

उत्तराध्ययन का कर्तृत्व

उत्तराध्ययन के कर्तृत्व के सम्बन्ध में निर्युक्ति, चूर्णि व विज्ञों में विविध मत हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु उत्तराध्ययन को एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते हैं। उनके अभिमतानुसार उत्तराध्ययन को कर्तृत्व की दृष्टि से चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) अंगप्रभव, (२) जिन-भाषित, (३) प्रत्येकबुद्ध-भाषित, (४) सम्वाद-समुत्थित।[2]

उत्तराध्ययन का द्वितीय अध्ययन अंगप्रभव है। वह कर्मप्रवादपूर्व के सत्रहवें प्राभृत से उद्धृत है।[3] दसवां अध्ययन जिन-भाषित हैं।[4] आठवां

---

१ (क) अज्झप्पस्साणयणं कम्माणं अवचओ उवचियाणं।
अणुवचओ व णवाणं तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥
अहिगम्मंति य अत्था अणेण अहियं व णयणमिच्छंति।
अहियं व साहु गच्छइ तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥
—उत्तरा० नि० गाथा ६-७

(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पृ० ६-७

(ग) ,, चूर्णि पृ० ७

२ अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥
—उत्तराध्ययननिर्युक्ति गा० ४

३ कम्मप्पवायपुव्वे सतरसे पाहुडंमि जं सुत्तं।
सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं॥
—उत्तराध्ययननिर्युक्ति गा० ६६

४ (क) जिणभासिया जहा दुमपत्तगादि। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ७

(ख) जिनभाषितानि यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनम्।
—उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति, पत्र० ५

अध्ययन प्रत्येकबुद्ध-भाषित है।[1] नौवां और तेईसवां अध्ययन सम्वाद-समुत्थित है।[2]

उत्तराध्ययन के मूलपाठ पर ध्यान देने से उसके कर्तृत्व के सम्बन्ध में कुछ चिन्तन किया जा सकता है।

द्वितीय अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य आया है 'सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया।'

सोलहवें अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य उपलब्ध होता है—सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता।'

उन्तीसवें अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य प्राप्त होता है—सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए।

उपर्युक्त वाक्यों से यह परिज्ञात होता है कि दूसरा और उन्तीसवां अध्ययन तो भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित है और सोलहवां अध्ययन स्थविर द्वारा रचित है।

निर्युक्तिकार ने द्वितीय अध्ययन को कर्मप्रवादपूर्व से निर्यूढ माना है जबकि इस अध्ययन के प्रारंभिक वाक्य से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह जिन-भाषित है।

जब हम चिन्तन करते हैं तो ज्ञात होता है कि निर्युक्तिकार ने चार वर्गों में विभक्त कर उसके कर्तृत्व पर प्रकाश डालना चाहा। किन्तु उससे कर्तृत्व पर तो प्रकाश नहीं पड़ता है, हाँ विषय-वस्तु पर अवश्य ही प्रकाश पड़ता है। दसवें अध्ययन में जो विषय-वस्तु है वह भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित है किन्तु उनके द्वारा रचित नहीं क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन की अन्तिम गाथा 'बुद्धस्स निसम्म भासियं' से यह बात स्पष्ट होती है। इसी

---

१ (क) पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा काविलिज्जादि।

—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ७

(ख) प्रत्येकबुद्धाः कपिलादयः तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलीयाध्ययनम्।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

२ संवाओ जहा णमिपव्वज्जा केसिगोयमेज्जं च। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ७

उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

तरह दूसरे और उन्तीसवें अध्ययन के प्रारम्भ के वाक्यों से भी यह तथ्य उजागर होता है।

छठे अध्ययन की अन्तिम गाथा है—'अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन के धर्ता, अर्हत्-तत्त्व के व्याख्याता ज्ञातपुत्र वैशालिक (तीर्थंकर महावीर) ने ऐसा कहा है।'[1]

प्रत्येकबुद्ध-भाषित अध्ययन भी प्रत्येकबुद्ध द्वारा ही विरचित हो, यह बात नहीं है क्योंकि आठवें अध्ययन की अन्तिम गाथा में कहा है कि विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिलमुनि ने इस प्रकार धर्म कहा है। जो इसकी सम्यक् आराधना करेंगे, वे संसार समुद्र को पार करेंगे। उनके द्वारा ही दोनों लोक आराधित होंगे।[2] यदि उनके द्वारा रचित होता तो इस प्रकार कैसे कहते।

सम्वाद-समुत्थित अध्ययन नौवें और तेईसवें अध्ययनों का पर्यवेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि वे नमि राजर्षि और केशी-गौतम द्वारा विरचित नहीं है। नौवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है—सम्बुद्ध, पण्डित और विचक्षण पुरुष इसी प्रकार भोगों से निवृत्त होते हैं जैसे कि नमि राजर्षि।[3]

तेईसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है कि 'समग्र सभा धर्मचर्चा से सन्तुष्ट हुई। अतः सन्मार्ग में समुपस्थित उसने भगवान केशी और गौतम की स्तुति की कि वे दोनों प्रसन्न रहें।[4]

सारांश यह है कि निर्युक्तिकार ने जो उत्तराध्ययन को कर्तृत्व की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त किया उसका तात्पर्य इतना ही है कि भगवान महावीर, कपिल, नमि और केशी-गौतम के उपदेश व संवादों को आधार बनाकर इन अध्ययनों की रचना हुई है। इन अध्ययनों के रचयिता कौन

---

१ एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिये वियाहिए॥ —उत्तरा० ६।१८

२ इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति तेहिं आराहिया दुवे लोगा॥
—उत्तरा० ८।२०

३ एवं करेन्ति संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु जहा से नमी रायरिसि॥ —उत्तरा० ९।६२

४ तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु भयवं केसिगोयमे॥ —उत्तरा० २३।८९

हैं ? और उन्होंने कब इन अध्ययनों की रचना की ? इस प्रश्न का उत्तर न निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने दिया है और न चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने दिया है और न वृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने ही दिया है।

आधुनिक विज्ञों का ऐसा मानना है कि वर्तमान में उपलब्ध उत्तराध्ययन किसी एक व्यक्ति विशेष की रचना नहीं है अपितु अनेक स्थविर मुनियों की रचनाओं का संकलन है। उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित हैं और कुछ अध्ययन स्थविरों द्वारा संकलित हैं[1] किन्तु यह निश्चित है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय तक उत्तराध्ययन छत्तीस अध्ययन के रूप में संकलित हो चुका था। एतदर्थ ही समवायांग में छत्तीस उत्तर-अध्ययनों के नाम उल्लिखित हुए हैं।

विषय-वस्तु की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन धर्मकथात्मक, उपदेशात्मक, आचारात्मक और सैद्धान्तिक इन चार विभागों में विभक्त किए जा सकते हैं। जैसे—

(१) धर्मकथात्मक—७, ८, ९, १२, १३, १४, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २५ और २७

(२) उपदेशात्मक—१, ३, ४, ५, ६ और १०

(३) आचारात्मक—२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२ और ३५

(४) सैद्धान्तिक—२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४ और ३६

आर्यरक्षित (विक्रम की प्रथम शती) ने आगमों को चार अनुयोगों में विभक्त किया। उसमें उत्तराध्ययन को धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत गिना है।[2] हमारी दृष्टि से उत्तराध्ययन में धर्मकथानुयोग की प्रधानता होने से वर्गीकरण में लिया गया होगा किन्तु आचारात्मक अध्ययनों को चरण-करणानुयोग में और सैद्धान्तिक अध्ययनों को द्रव्यानुयोग में सहज रूप से लिया जा सकता है। इस प्रकार उत्तराध्ययन का जो वर्तमान रूप है उसमें अनेक अनुयोग सम्मिलित हैं।

कुछ आधुनिक चिन्तकों का यह अभिमत है कि उत्तराध्ययन के पहले के अठारह अध्ययन प्राचीन हैं और उसके बाद के अठारह अध्ययन

---

१ (क) देखिए—दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणं की भूमिका : आचार्य तुलसी।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका : कवि अमरमुनिजी।

२ अत्र धम्माणुयोगेनाधिकारः —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ९

अर्वाचीन हैं किन्तु अपने मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिये हैं।

कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि अठारह अध्ययन तो अर्वाचीन नहीं है, हाँ कुछ अध्ययन उनमें से अर्वाचीन हो सकते हैं। जैसे इकत्तीसवें अध्ययन में आचारांग, सूत्रकृताङ्ग आदि प्राचीन नामों के साथ दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ जैसे अर्वाचीन आगमों के नाम भी मिलते हैं,[1] जो श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ़ या कृत हैं,[2] जिनका समय वीर-निर्वाण की दूसरी शती है अतः प्रस्तुत अध्ययन की रचना भद्रबाहु के पश्चात् की होनी चाहिए।

अन्तकृत्दशांग[3] आदि प्राचीन आगम साहित्य में श्रमण-श्रमणियों के चौदह पूर्व, ग्यारह अंग, या बारह अंगों के अध्ययन का वर्णन मिलता है, अंगबाह्य या प्रकीर्णक श्रुत के अध्ययन का वर्णन उपलब्ध नहीं होता किन्तु उत्तराध्ययन के अट्ठाइसवें अध्ययन में अंग और अंगबाह्य—इन दो प्राचीन विभागों के अतिरिक्त ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है[4] अतः प्रस्तुत अध्ययन भी उत्तरकालीन आगम-व्यवस्था के सन्निकट की रचना होनी चाहिए।

---

१ तेवीसइ सूयगडे रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥
पणवीसभावणाहिं उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥
अणगारगुणेहिं च पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥ —उत्तरा० ३१।१६-१८

२ (क) वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयणाणि।
सुत्तस्स कारगमिसि दसासु कप्पे य ववहारे॥
—दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति गा० १

(ख) तेण भगवता आयारपकप्प दसाकप्प ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा। —पंचकल्पभाष्य गा० २३ चूर्णि

३ (क) सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ। —अन्तकृत प्रथम वर्ग
(ख) बारसंगी। —अन्तकृतदशा, ४ वर्ग, अध्य० १
(ग) सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ। —अन्तकृतदशा, ३ वर्ग, अ० १

४ सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य॥ —उत्तरा० २८।२३

दूसरी बात यह है कि अट्ठाइसवें अध्ययन में द्रव्य,[१] गुण[२] और पर्याय[३] की जो संक्षिप्त परिभाषाएँ दी गई हैं वैसी परिभाषाएँ प्राचीन आगम साहित्य में नहीं मिलतीं। वहाँ पर विवरणात्मक अर्थ की प्रधानता है, अतः यह अध्ययन अर्वाचीन प्रतीत होता है।

दिगम्बर साहित्य में भी उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का संकेत किया गया है। वह इस प्रकार है—

धवला में लिखा है—उत्तराध्ययन में उद्गम, उत्पादन और एषणा से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्तों का विधान है[४] और उत्तराध्ययन उत्तर-पदों का वर्णन करता है।[५]

अंगपण्णत्ती में वर्णन है कि बाईस परीषहों और चार प्रकार के उपसर्गों के सहन का विधान, उसका फल तथा प्रस्तुत प्रश्न का यह उत्तर है। यह उत्तराध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।[६]

हरिवंश पुराण में आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि उत्तराध्ययन में वीर-निर्वाण गमन का वर्णन है।[७]

---

१ द्रव्य—गुणाणमासओ दव्वं (द्रव्य गुणों का आश्रय है) तुलना करें—
क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्य लक्षणम्।
—वैशेषिकदर्शन प्र० अ० प्रथम आह्निक सूत्र १५

२ गुण—एगदव्वसिया गुणा। तुलना करें—
द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।
—वैशे० दर्शन प्र० अ० प्रथम आह्निक सू० १६

३ पर्याय—लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे। —उत्तराध्ययन
तुलना करें—एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम्।
—वैशे० १।१।१७

४ उत्तरज्झयणं उग्गमुप्पायणेसणदोसगयपायच्छित्तविहाणं कालादि विसेसिदं वण्णेदि। —धवला पत्र ५४५ हस्तलिखित प्रति

५ उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ। —धवला पृ० ९७ (सहारनपुर प्रति)

६ उत्तराणि अहिज्जंति उत्तरज्झयणं पदं जिणिदेहिं।
बावीसपरीसहाणं उवसग्गाणं च सहणविहिं॥
वण्णेदि तप्फलमवि, एवं पण्हे च उत्तरं एवं।
कहदि गुरुसीसयाण पइण्णिय अट्ठमं तु खु॥
—अंगपण्णत्ती ३।२५-२६

७ उत्तराध्ययनं वीर-निर्वाणगमनं तथा। —हरिवंशपुराण १०।१३४

दिगम्बर साहित्य में जो उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का निर्देश है वह वर्णन वर्तमान में उपलब्ध उत्तराध्ययन में नहीं है। आंशिक रूप से अंग-पण्णत्ती का विषय मिलता है,जैसे (१) बाईस परिषहों के सहन करने का वर्णन-दूसरे अध्ययन में। (२) प्रश्नों के उत्तर-उन्तीसवाँ अध्ययन।

प्रायश्चित्त का विधान और भगवान महावीर के निर्वाण का वर्णन उत्तराध्ययन में प्राप्त नहीं है। यह हो सकता है कि इन लेखकों को उत्तराध्ययन की प्रति प्राप्त नहीं हुई हो और भ्रान्त अनुश्रुति के आधार पर ऐसा लिख दिया हो अथवा उन्हें उत्तराध्ययन का अन्य संस्करण प्राप्त हुआ हो। तत्त्वार्थराजवार्तिक में उत्तराध्ययन को आरातीय आचार्यों (गणधरों के पश्चात् के आचार्यों) की रचना माना है।[१]

समवायांग[२] और उत्तराध्ययन निर्युक्ति[३] आदि में उत्तराध्ययन की जो विषय-सूची दी गई है वह उत्तराध्ययन में ज्यों की त्यों प्राप्त होती है। अतः यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु प्राचीन है। वीर-निर्वाण की प्रथम शताब्दी में दशवैकालिक सूत्र की रचना हो चुकी थी। उत्तराध्ययन दशवैकालिक के पहले की रचना है, वह आचारांग के पश्चात् पढ़ा जाता था, अतः इसकी संकलना वीर-निर्वाण की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हो चुकी थी।

क्या उत्तराध्ययन भगवान महावीर की अन्तिम वाणी है ?

अब प्रश्न यह है कि क्या उत्तराध्ययन भगवान महावीर की अन्तिम वाणी है ? उत्तर में निवेदन है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र में लिखा है कि श्रमण भगवान महावीर कल्याणफल-विपाक वाले पचपन अध्ययनों और पाप-फल वाले पचपन अध्ययनों एवं छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणों का व्याकरण कर प्रधान नामक अध्ययन का प्ररूपण करते-करते सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।[४]

---

१ यद् गणधरशिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थ तत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्तांगार्थवचनविन्यासं तदंगबाह्यम्......तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः —तत्त्वार्थवार्तिक १।२० पृ० ७८

२ समवायांग ३६वाँ समवाय।

३ उत्तराध्ययननिर्युक्ति १८-२६

४ कल्पसूत्र १४६, पृ० २१० देवेन्द्र मुनि सम्पादित।

इसी आधार से यह माना जाता है कि छत्तीस अपृष्ट-व्याकरण उत्तराध्ययन के ही छत्तीस अध्ययन हैं। उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा से भी प्रस्तुत कथन का समर्थन होता है—

इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए॥

जिनदासगणी महत्तर ने इस गाथा का अर्थ इस प्रकार किया है—ज्ञातकुल में उत्पन्न वर्द्धमान स्वामी छत्तीस उत्तराध्ययनों का प्रकाशन या प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।[1]

शान्त्याचार्य ने अपनी वृहद्वृत्ति में उत्तराध्ययनचूर्णि का अनुसरण करके भी अपनी ओर से दो बातें और मिलाई हैं। पहली बात यह कि भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन अर्थ-रूप में और कुछ अध्ययन सूत्र रूप में प्ररूपित किये।[2] दूसरी बात उन्होंने परिनिर्वृत्त का वैकल्पिक अर्थ स्वस्थीभूत किया है।[3]

निर्युक्ति में इन अध्ययनों को जिन-प्रज्ञप्त लिखा है।[4] वृहद्वृत्ति में जिन शब्द का अर्थ श्रुतजिन-श्रुतकेवली किया है।[5]

निर्युक्तिकार का अभिमत है कि छत्तीस अध्ययन श्रुतकेवली प्रभृति स्थविरों द्वारा प्ररूपित है। उन्होंने निर्युक्ति में इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की है कि यह भगवान ने अन्तिम देशना में कहा है। वृहद्वृत्तिकार भी इस सम्बन्ध में सन्दिग्ध हैं। केवल चूर्णिकार ने अपना स्पष्ट मन्तव्य व्यक्त किया है।

समवायाङ्ग में छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणों का कोई भी उल्लेख नहीं है। वहाँ इतना ही सूचन है कि भगवान महावीर अन्तिम रात्रि के समय पचपन कल्याणफल-विपाक वाले अध्ययनों तथा पचपन पाप-फल विपाक वाले अध्ययनों का व्याकरण कर परिनिर्वृत्त हुए।[6] छत्तीसवें समवाय में

---

१ उत्तराध्ययनचूर्णि पृ० २८३।
२ उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति पत्र ७१२।
३ अथवा पाउकरे त्ति प्रादुरकार्षीत् प्रकाशितवान्, शेषं पूर्ववत्, नवरं 'परिनिर्वृतः' क्रोधादिदहनोपशमतः समन्तात्स्वस्थीभूतः। —वृहद्वृत्ति पत्र ७१२
४ तम्हा जिणपन्नत्ते, अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते।
अज्झाए जहाजोगं, गुरुपसाया अहिज्झिज्जा॥ —उत्तरा० निर्युक्ति गा० ५५९
५ तस्माज्जिनैः श्रुतजिनादिभिः प्ररूपिताः —उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति पत्र ७१३
६ समवायांग ५५

भी जहाँ पर उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों का नाम निर्देश किया है वहाँ पर भी इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं है।

उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन की चौवीसवीं गाथा के प्रथम दो चरण वे ही हैं जो छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा के हैं। देखिए—

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे।
विज्जाचरणसम्पन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे॥

उत्तरा० १८।२४

इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसंमए॥

उत्तरा० ३६।२६६

वृहद्वृत्तिकार ने अठारहवें अध्ययन की चौवीसवीं गाथा के पूर्वार्द्ध का जो अर्थ किया है वही अर्थ छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा का किया जाय तो उससे यह फलित नहीं होता कि ज्ञातपुत्र महावीर छत्तीस अध्ययनों का प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। वहाँ पर अर्थ है—बुद्ध अवगत तत्त्व, परिनिर्वृत्त-शीतीभूत ज्ञातपुत्र महावीर ने इस तत्त्व का प्रज्ञापन किया है।[1]

उत्तराध्ययन का गहराई से अध्ययन करने से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि इसमें भगवान महावीर की वाणी का संगुंफन सम्यक् प्रकार से हुआ है। यह भगवान महावीर की वाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इसमें जीव, अजीव, कर्मवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का समुचित रूप से प्रतिपादन हुआ है। केवल धर्मकथानुयोग का ही नहीं अपितु चारों अनुयोगों का मधुर संगम हुआ है। अतः यह भगवान महावीर की वाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इसमें वीतराग वाणी का विमल प्रवाह प्रवाहित है। इसके अर्थ के प्ररूपक भगवान महावीर हैं किन्तु सूत्र के रचयिता स्थविर होने से इसे अंगबाह्य आगमों में रखा गया है। उत्तराध्ययन शब्दतः भगवान महावीर की अन्तिम देशना ही है यह साधिकार तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि

---

१ इत्येवंरूपं 'पाउकरे' त्ति प्रादुरकार्षीत्—प्रकटितवान् 'बुद्ध.' अवगततत्त्वः सन् ज्ञात एव ज्ञातकः जगत्प्रतीतः क्षत्रियो या, स चेह प्रस्तावान्महावीर एव, परिनिर्वृतः कषायानलविध्यापनात्समन्ताच्छीतीभूतः।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ४४४

कल्पसूत्र में उत्तराध्ययन को अपृष्ट-व्याकरण अर्थात् बिना किसी के पूछे स्वतः कथन किया हुआ शास्त्र बताया है किन्तु वर्तमान के उत्तराध्ययन में आये हुए केशी-गौतमीय, सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन जो प्रश्नोत्तर शैली में हैं वे चिन्तकों को चिन्तन के लिए अवश्य ही प्रेरित करते हैं। केशी-गौतमीय अध्ययन में भगवान महावीर का जिस भक्ति और श्रद्धा के साथ गौरवपूर्ण उल्लेख है वह भगवान स्वयं अपने लिए किस प्रकार कह सकते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन में कुछ अंश स्थविरों ने अपनी ओर से संकलित किया हो। और उन प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनों को वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दी के पश्चात् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने संकलन कर उसे एक रूप दिया हो।[1]

विषय-वस्तु

भाषा और विषय की दृष्टि से यह प्राचीन है। इसकी विस्तृत चर्चा शारपेन्टियर, जेकोबी और विन्टरनित्ज प्रभृति विद्वानों ने की है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनेक स्थलों की तुलना बौद्धों के सुत्तनिपात, जातक और धम्मपद आदि से की जा सकती है। जैसे राजा नमि को बौद्ध साहित्य में प्रत्येक-बुद्ध मानकर उसकी कठोर तपस्या का वर्णन किया है। हरिकेशमुनि की कथा कुछ प्रकारान्तर से मातंग जातक में मिलती है। चित्त-संभूत की कथा की तुलना चित्तसंभूत जातक से की जा सकती है। इषुकार कथा की तुलना हत्थिपार जातक में वर्णित कथा से हो सकती है। प्रत्येकबुद्धों की कथा कुम्भकार जातक में कही गई है। मृगापुत्र की कथा भी कुछ प्रकारान्तर से बौद्ध साहित्य में आती है।

इसी प्रकार इस आगम के सुभाषित व संवाद भी बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं। जो इसकी प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।[2]

उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं। उपलब्ध मूलपाठ २१०० श्लोक प्रमाण हैं। १६५६ पद्यसूत्र हैं और ८९ गद्यसूत्र हैं।

उत्तराध्ययन का प्रथम अध्ययन 'विनय' है। विनय का अर्थ अनुवर्तन, प्रवर्तन, अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार का परिपालन है।

---

१ (क) दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका (आचार्यश्री तुलसी)
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र — उपाध्याय अमरमुनि की भूमिका

२ विन्टरनित्जः हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४६७-८।

एतदर्थ ही उसे जिनशासन का मूल कहा है। विनय केवल मानसिक आस्था नहीं वरन् आत्मिक और व्यावहारिक विशेषताओं की अभिव्यंजना है। जो गुरु की आज्ञा का पालन करता हो, गुरु के समीप रहता हो, गुरु के इंगित और मनोभावों को जानता हो वह विनीत है। जैसे मरियल घोड़े को बार-बार कोड़े लगाने की आवश्यकता होती है किन्तु अच्छी नस्ल का घोड़ा चाबुक देखते ही सही मार्ग पर चलने लगता है वैसे ही विनीत साधक मरियल घोड़े की तरह नहीं किन्तु आकीर्ण घोड़े की तरह इंगित मात्र से ही समझकर पापकर्म त्याग देता है। अपनी आत्मा का दमन करके जिसने अपनी आत्मा को वश में कर लिया है वह इहलोक और परलोक दोनों में सुखी होता है।[1] कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाय तो उन्हें प्रेमपूर्वक प्रसन्न करना चाहिये। हाथ जोड़कर उनकी क्रोधाग्नि को शान्त करना चाहिए और उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहिये कि भविष्य में वह ऐसा कार्य कभी न करेगा।

द्वितीय अध्ययन में परीषह का वर्णन है। जो सहा जाता है वह परीषह है। सहने के दो प्रयोजन हैं—(१) मुक्तमार्ग से च्युत न होने के लिए और (२) कर्मों को क्षीण करने के लिए। जो कष्ट इच्छा से झेला जाता है वह कायक्लेश है और इच्छा के बिना ही प्राप्त होता है वह परीषह है। परीषह सहने से अहिंसादि धर्मों की सुरक्षा होती है। परीषह २२ हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, अचेल (वस्त्र रहित होना), अरति (अप्रीति), स्त्री, चर्या (गमन), निषद्या (बैठना), शय्या, आक्रोश (कठोर वचन), वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल (मल), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और दर्शन।

तपोसाधना के कारण साधक की बाहु-जंघा कृश हो जाय, शरीर की प्रत्येक नस दिखाई देने लगे तथापि भोजन-पान के लिए भिक्षु दीनवृत्ति नहीं करता। वह तृषा से पीड़ित होने पर भी सचित्त जल का उपयोग नहीं

---

१ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य॥ —उत्तरा० अ० १ गा० १५
तुलना कीजिए—
अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥ —धम्मपद १२।४

करता। सर्दी से ठिठुरता हुआ भी अग्नि की इच्छा नहीं करता। डांस-मच्छर उसे अपार कष्ट दे रहे हों तथापि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता। साधक सभी परीषहों में दृढ़तापूर्वक आत्मचिन्तन करता रहता है।

तृतीय 'चतुरंगीय' अध्ययन में मानवता, धर्मश्रवण, श्रद्धा व तपसंयम में पुरुषार्थ इन चार दुर्लभ अंगों का निरूपण किया गया है।

चतुर्थ 'असंस्कृत' अध्ययन की १३ गाथाओं में संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन करके भारंडपक्षी की तरह अप्रमत्त रहने का उपदेश दिया गया है। जीवन असंस्कृत है, इसका संधान नहीं किया जा सकता। अतः प्रमाद का परित्याग करना चाहिये। क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करना चाहिए।

पाँचवाँ अध्ययन 'अकाममरणीय' है। निर्युक्ति में इसका दूसरा नाम 'मरणविभक्ति' मिलता है। जीवन की भाँति मृत्यु भी कला है। जिन लोगों को यह कला नहीं आती वे सदा के लिए अपने पीछे दूषित वातावरण छोड़ जाते हैं। अतः मरणविवेक आवश्यक है। मरण—अकाममरण और सकाममरण रूप में दो प्रकार का है। सदसत् विवेक से शून्य मूढ़ पुरुषों का मरण अकाममरण है जो पुनः-पुनः होता है। विवेकी पुरुषों का मरण सकाममरण है जो एक ही बार होता है। इस सकाममरण को समाधिमरण और पंडितमरण भी कहा गया है।

छठा 'क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय' अध्ययन है। इसमें निर्ग्रंथ के बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ त्याग का संक्षिप्त निरूपण है। निर्ग्रन्थ शब्द जैनपरम्परा का विशिष्ट शब्द रहा है। बौद्ध साहित्य में भी इसका उल्लेख है। ग्रन्थ को त्राण मानना अविद्या है। समवायांग में इस अध्ययन का नाम 'पुरुषविद्या' मिलता है। इस नामकरण का आधार प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा 'जावंतऽविज्जापुरिसा' है।

सातवाँ अध्ययन 'एलय (उरब्भिय)' है। एलय और उरब्भिय का अर्थ है बकरा। इस अध्ययन में पाँच कथाओं का निरूपण है। जैसे (१) कोई व्यक्ति अतिथि के लिए बकरे को चावल और यव (जौ) खिलाकर हृष्ट-पुष्ट बनाता है। जब तक अतिथि नहीं आता तब तक वह प्राण धारण करता है। अतिथि के आते ही लोग उसे मारकर खा जाते हैं। (२) जैसे काकिणी (रुपये का १००वाँ भाग) के लिए किसी मनुष्य ने हजारों सुवर्ण-

मुद्राएँ खो दीं। (३) किसी राजा ने अपथ्य आहार करके अपना सारा राज्य खो दिया। (४) मनुष्य जीवन के सुख ओसकण की तरह अल्प और क्षणिक हैं और दिव्यसुख सागर के समान विशाल और स्थायी हैं। (५) पिता का आदेश पाकर तीन पुत्र व्यापार करने गये। एक व्यापार में बहुत धन कमाकर लौटा। दूसरा जैसे गया था, वैसे ही मूल पूँजी बचाकर लौट आया। तीसरा जो पूँजी लेकर गया था, वह भी खो आया।

आठवाँ अध्ययन 'कापिलीय' है। कपिल लोभ से विरक्त होकर मुनि बनता है। चोरों ने उसे घेर लिया। उस समय उसने संगीतात्मक उपदेश दिया। उसी का इसमें संग्रह है। कपिलमुनि के द्वारा यह गाया गया है अतः इसे कापिलीय कहा गया है। सूत्रकृतांगचूर्णि में इसे गेय माना है। नाम के दो प्रकार होते हैं—निर्देश्य अर्थात् विषय के आधार पर और निर्देशक (वक्ता) के आधार पर। इस अध्ययन का नाम निर्देशक-परक होने से कापिलीय रखा है। लोभ किस प्रकार बढ़ता है, इसका अनुभूत चित्र इसमें खींचा गया है। ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है। दो माशा सोने की इच्छा एक करोड़ से भी पूरी नहीं हुई।

नवाँ अध्ययन 'नमिप्रव्रज्या' है। श्रमणमुनि वही बनता है जिसे बोधिप्राप्त हो। वे तीन प्रकार के होते हैं—(१) जो स्वयं बोधि प्राप्त करते हैं उन्हें स्वयंबुद्ध कहा जाता है। (२) जो किसी एक घटना के निमित्त से बोधि प्राप्त करते हैं उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहा जाता है। (३) जो बोधिप्राप्त व्यक्तियों के उपदेश से बोधि प्राप्त करते हैं उन्हें बुद्धबोधित कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र में तीनों का वर्णन है। [स्वयंबुद्ध कपिल (८), प्रत्येकबुद्ध नमि (९) और बुद्धबोधित संजय (१८ वां अध्ययन)] इस अध्ययन में प्रव्रज्या के लिए अभिनिष्क्रमण करने वाले राजर्षि नमि का ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र के साथ आध्यात्मिक संवाद है। उसमें प्रव्रज्या के समय उठने वाले सामान्य व्यक्ति के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का बहुत ही सुन्दर चित्रण है। प्रस्तुत संवाद में नमि की प्रव्रज्या का वर्णन होने से इसका नाम नमि-प्रव्रज्या है। अन्यान्य आश्रमों से संन्यास को श्रेष्ठ कहा है। दान से संयम श्रेष्ठ है आदि का स्फुट निर्देश है।

दसवें अध्ययन का नाम 'द्रुमपत्रक' है। आद्य पद के आधार से इसका नाम रखा गया है जिसका अर्थ है वृक्ष का पका हुआ पत्ता। जैसे वृक्ष का पीला पड़ा हुआ पत्ता समय व्यतीत होने पर स्वयं ही झड़ कर गिर

जाता है वैसे ही मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर है। जैसे कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस की बिन्दु क्षणस्थायी है वैसे ही मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर है। मनुष्यभव दुर्लभ है, जो जीवों को अनेक भवों के बाद प्राप्त होता है। कर्मों का विपाक घोर होता है अतः हे गौतम ! क्षणमात्र का भी प्रमाद न कर। जीव पंचेन्द्रिय की पूर्णता प्राप्त कर सकता है किन्तु उससे उत्पन्न धर्मश्रवण दुर्लभ है। तेरा शरीर जर्जरित हो रहा है, केश पक गये है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो गई है इसलिए क्षणभर भी प्रमाद न कर। अरति, गंड-फोड़ा, फुंसी, विसूचिका आदि अनेक रोगों का भय सदा बना रहता है और आशंका बनी रहती है कि कहीं कोई व्याधि खड़ी न हो जाय या मृत्यु न आ जाय। इसलिए क्षणमात्र का भी प्रमाद न कर। इस प्रकार छत्तीस बार प्रस्तुत अध्ययन में गौतम के बहाने सभी साधकों को आत्मसाधना में क्षणमात्र का भी प्रमाद न करने का संदेश भगवान ने दिया है। इस प्रकार यह अन्तर्मन के जागरण का महान् उद्घोष है जो प्रत्येक साधक के लिए ज्योतिर्स्तम्भ के समान है।

ग्यारहवें अध्ययन में बहुश्रुत की भावपूजा का निरूपण है। यहाँ पर बहुश्रुत का प्रमुख अर्थ चतुर्दशपूर्वी है। यह सारा प्रतिपादन उन्हीं से सम्बन्धित है। बहुश्रुत के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन भेद कहे हैं। जघन्य निशीथ का ज्ञाता, मध्यम निशीथ से लेकर १४ पूर्वो से कम का ज्ञाता और उत्कृष्ट १४ पूर्वी। बहुश्रुतता का प्रमुख कारण विनय है। इसी का श्रुत फलवान होता है। स्तब्धता, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य ये पाँच शिक्षा के विघ्न हैं। इनकी तुलना हम योगमार्ग के ९ विघ्नों से कर सकते हैं। जो सदा गुरुकुल में रहकर योग और तप साधना करता है, प्रियकारी है और प्रिय वचन बोलता है वह शिक्षा का अधिकारी है। जैसे मेरु पर्वतों में महान् है वैसे बहुश्रुत ज्ञानी पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ है।

बारहवें अध्ययन में मुनि हरिकेशी का वर्णन है। चांडाल कुल में उत्पन्न हरिकेशबलमुनि भिक्षा के लिए ब्राह्मणों की यज्ञशाला में पहुँचे। तप से कृश, वस्त्रों से मलिन, उन्हें आता हुआ देखकर अशिष्ट लोग हँसने लगे। वे जातिमद से उन्मत्त बनकर असंयमी-अब्रह्मचारी ब्राह्मण मुनि को लक्ष्य करके कहने लगे—'यह बीभत्स रूप वाला विकराल मलिन वस्त्रधारी मैले-कुचैले वस्त्रों को अपने गले में लपेटे हुए पिशाच-सा क्यों आ रहा है? अरे! बदसूरत तू कौन है? किस आशा से आया है? ऐ मलिन वस्त्रधारी

पिशाच ! तू यहाँ से चला जा—यहाँ पर क्यों खड़ा है?' यह सुनकर तिन्दुक वृक्ष पर रहने वाला यक्ष अनुकंपा से महामुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर बोला—'मैं श्रमण हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, धन-सम्पत्ति और परिग्रह से विरक्त हूँ, इसलिए अनुद्दिष्ट भोजन ग्रहण करने के लिए यहाँ आया हूँ।' इस संवाद में दान का अधिकारी, जातिवाद, यज्ञ, जलस्नान, तप का प्रकर्ष आदि की चर्चा है। बौद्ध साहित्य में मातंग जातक में यह कथा प्रकारान्तर से मिलती है।

तेरहवें अध्ययन में चित्त और संभूत नाम के दो भाइयों की छह जन्मों की पूर्वकथा का संकेत है। इसलिए इसका नाम 'चित्तसंभूतीय' है। पुण्यकर्म के निदान बन्ध के कारण संभूत के जीव (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) का पतन तथा संयमी चित्तमुनि का उत्थान बताकर जीवों को धर्माभिमुख होने का तथा उसके फल की अभिलाषा न करने का उपदेश दिया गया है। साथ में यह भी प्रतिपादित किया है कि कोई व्यक्ति यदि साधुधर्म का पालन न कर सके तो उसे गृहस्थधर्म का पालन तो अवश्य करना चाहिये।

चौदहवें अध्ययन में छह पात्र हैं। भृगु पुरोहित, पुरोहितानी और उनके दो लड़के और राजा-रानी। किन्तु राजा की लौकिक प्रधानता के कारण इसका नाम 'इक्षुकारीय' रखा गया है। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है 'अन्यत्व भावना का उपदेश।' वैदिक मान्यता थी कि पुत्र के विना गति नहीं होती—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।' लोगों का इस कथन में विश्वास था। पुत्रोत्पत्ति जीवन की महान् सफलता बन गई थी और अध्यात्म के प्रति उदासीनता छा रही थी। भगवान महावीर ने इसका खण्डन किया कि पुत्र शरणदाता है। उन्होंने बताया कि धर्म ही आत्मा का सच्चा संरक्षक है। प्रस्तुत अध्ययन में भृगु पुरोहित ब्राह्मण संस्कृति का प्रतिनिधि है और उसके पुत्र श्रमण संस्कृति के। ब्राह्मण संस्कृति पर श्रमण संस्कृति की विजय बताई गई है। दोनों संस्कृतियों की मान्यताओं की मौलिक चर्चा भी इसमें आई है। बौद्ध साहित्य में हस्तिपाल जातक में कुछ परिवर्तन के साथ इस कथा का निरूपण हुआ है।

पन्द्रहवें अध्ययन में भिक्षु के लक्षणों का निरूपण है। इसमें अनेक दार्शनिक और सामाजिक तथ्यों का संकलन किया गया है। जो राग से उपरत है, संयम में तत्पर है, आस्रव से विरत है, शास्त्रों का ज्ञाता है, आत्मरक्षक एवं प्राज्ञ है, रागद्वेष को पराजित कर सभी को अपने समान

देखता है, जो किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं होता वह भिक्षु है। जो भिक्षु सत्कार, पूजा, वंदना तक नहीं चाहता वह किसी की प्रशंसा की अपेक्षा कैसे करेगा? जो संयत है, तपस्वी है, सुव्रती, निर्मल आचार से युक्त है, जो आत्मा की खोज में लगा रहता है वह भिक्षु है। आगमयुग में कुछ श्रमण और ब्राह्मण मंत्र, चिकित्सा आदि का प्रयोग करते थे। भगवान महावीर ने उसका पूर्ण निषेध किया है। आजीविक आदि श्रमण विद्याओं का प्रयोग कर आजीविका चलाते थे। उससे आकर्षण और विकर्षण दोनों होते थे। साधना भंग होती थी। भगवान ने इन विद्या-प्रयोगों से आजीविका चलाने का निषेध किया।

सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य समाधि का निरूपण होने से इसका नाम ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान रखा गया है। इसमें १० समाधिस्थानों का बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से निरूपण हुआ है। शयन-आसन, कामकथा, स्त्री-पुरुष का एक आसन पर बैठना, चक्षुगृद्धि, शब्दगृद्धि, पूर्व क्रीड़ा का स्मरण, सरस आहार, अतिमात्रा में आहार, विभूषा, इन्द्रिय विषयों की आसक्ति, ये ब्रह्मचर्यसाधना के विघ्न हैं। वेद-उपनिषदों में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे शृंखलाबद्ध नियमों का उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध साहित्य में भी इस प्रकार का ब्रह्मचर्य सम्बन्धी कोई व्यवस्थित क्रम नहीं मिलता। किन्तु प्रकीर्णक रूप से कुछ नियम मिलते हैं। वहाँ रूप के प्रति आसक्ति भाव को दूर करने के लिए अशुचि भावना के चिन्तन का मंत्र मान्य रहा है जो कामगता-स्मृति के नाम से विख्यात है। जब हम अन्य अनेक परंपराओं के संबंध में दश समाधिस्थानों का अध्ययन करते हैं तो इसकी मौलिकता का स्पष्ट परिज्ञान होता है।

सत्रहवाँ अध्ययन पापश्रमणीय है। श्रमण बनने के पश्चात् साधक को अपना जीवन साधनामय व्यतीत करना चाहिये। जो साधक ऐसा नहीं करता वह पापश्रमण है। श्रमण बनने का लक्ष्य केवल वेश-परिवर्तन नहीं किन्तु जीवन-परिवर्तन है। जो श्रमण होकर सदा निद्राशील रहता है, यथेच्छ खा-पीकर सो जाता है वह पापश्रमण है। जो शांत हुए विवाद को पुनः उभाड़ता है, अधर्म में अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह और कलह में व्यस्त है वह पापश्रमण है। जो प्रतिलेखन नहीं करता, गुरुओं की आज्ञा का पालन नहीं करके अवहेलना करता है वह पापश्रमण है। अतः साधक को दोषों का परित्याग कर व्रतों को ग्रहण करना चाहिये।

अठारहवें अध्ययन में राजर्षि संजय का वर्णन है। वह कांपिल्य नगर का राजा था। शिकार के लिए एक बार वह जंगल में गया। वह हिरनों का पीछा कर उन्हें बाणों से मार रहा था। कुछ दूर आगे बढ़ने पर मृत हिरनों के पास ही मुनि को ध्यानस्थ देखा। राजा ने सोचा ये हिरन मुनि के हैं जी मैंने मार डाले हैं। यदि मुनि क्रुद्ध हो जायेंगे तो जला कर लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को भस्म कर देंगे। राजा भय से काँपकर मुनि से क्षमायाचना करने लगा। मुनि गर्दभाली ने ध्यान खोलकर कहा—'मेरी ओर से तुम्हें अभय है पर दूसरों को भी तुम अभय देने वाले बनो। जिनके लिए तुम यह अनर्थ कर रहे हो वे तुम्हें बचा नहीं सकेंगे।' मुनि के उपदेश से राजा संजय मुनि बन गया। एक बार संजय मुनि का एक क्षत्रिय राजर्षि के साथ संवाद होता है। इस संवाद में भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, महापद्म, हरिषेण और जय नामक चक्रवर्तियों तथा दशार्णभद्र, नमि, करकण्डू, द्विमुख, नग्नजित्, उद्दायन, काशीराज, विजय और महाबल नामक राजाओं के दीक्षित होने का उल्लेख है।

उन्नीसवें अध्ययन का नाम 'मृगापुत्रीय' है। राजकुमार मृगापुत्र अपनी पत्नियों के साथ महल के गवाक्ष में बैठा हुआ नगर की शोभा को निहार रहा था। उसकी दृष्टि एक तेजस्वी सन्त पर जा टिकी। वह मंत्र-मुग्ध सा देखता रहा। उसे पूर्वभव की स्मृति हो आई। भोग उसे रोग प्रतीत हुए। माता-पिता से वह प्रव्रज्या की बात करता है और वे उसे समझाने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं कि साधु जीवन बहुत दुष्कर और कठोर होता है। लोहे के जौ चबाने के समान है। तुम साधु जीवन की कठोर चर्या सहन नहीं कर सकोगे क्योंकि तुम सुकुमार हो। मृगापुत्र ने कहा—पूर्व जन्म में नरक की भयंकर वेदनाएँ परतंत्र व असहाय स्थिति में कितनी ही बार सहन की हैं। माता-पिता—साधु जीवन में तुम्हारा कौन ध्यान रखेगा? बीमार होने पर कौन तुम्हारी चिकित्सा करेगा? मृगापुत्र ने कहा—जंगल में मृग रहते हैं, जब बीमार हो जाते हैं तो उनकी देखभाल कौन करता है? जिस प्रकार वन के मृग किसी भी प्रकार की व्यवस्था के बिना स्वतंत्र जीवनयापन करते हैं उसी प्रकार मैं भी रहूँगा। संभवतः मृगचर्या का उल्लेख होने से इस अध्ययन का नाम समवायांग में मृगचर्या दिया है। मृगापुत्र की प्रधानता होने से बाद में मृगापुत्रीय नाम हो गया हो ऐसा प्रतीत होता है।

बीसवें अध्ययन का नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' है। इसमें अनाथी मुनि और

राजा श्रेणिक के बीच हुए रोचक संवाद का वर्णन है। अनाथी मुनि की प्रव्रज्या का विशेषरूप से वर्णन होने से संभवत: समवायांग में इस अध्ययन का नाम 'अनाथप्रव्रज्या' दिया हो। प्रस्तुत आगम में 'महानिर्ग्रंथीय' नाम मिलता है। उसका संकेत इस अध्ययन की दो गाथाओं में है।[1] महानिर्ग्रन्थ का अर्थ सर्वविरत साधु है। क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय अध्ययन का ही विशेष रूप से वर्णन होने के कारण इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' है।

इक्कीसवें अध्ययन का नाम 'समुद्रपालीय' है। चंपानगरी में पालित नामक एक व्यापारी था, जो महावीर का भक्त था। वह एक बार व्यापार करता हुआ पिहुंड नामक नगर में पहुँचा। वहाँ किसी वणिक्पुत्री के साथ उसका विवाह हुआ। जहाज द्वारा घर लौटते हुए पालित के पुत्र हुआ जिसका नाम समुद्र-पालित रखा गया। वह समय पर ७२ कलाओं में निष्णात हुआ। एक समय अपराधी को ले जाते हुए देखकर वह सोचने लगा—अच्छे कर्मो का फल अच्छा होता है। बुरे कर्मो का फल बुरा होता है। कर्मफल की गहराई को वह सोचता रहा और उसका मन संवेग और वैराग्य से भर गया। उसने मुनिदीक्षा ली। इसमें साधु के आंतरिक आचार के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने कहा है कि साधु प्रिय और अप्रिय दोनों बातों में सम रहे।

बाईसवें अध्ययन में 'रथनेमि' का उल्लेख है। इसमें अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण, राजीमती, रथनेमि आदि का चरित्र-चित्रण है। रथनेमि ने गुफा में राजीमती को देखा। उसने विवाह की बात दोहराई। राजीमती ने ने कहा—'रथनेमि ! मैं तुम्हारे भाई की परित्यक्ता हूँ और तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो ? क्या यह कार्य वमन किये को पुन: चाटने के समान घृणास्पद नहीं है ? तुम अपने और मेरे कुल के गौरव को स्मरण करो। इस प्रकार के अघटित प्रस्ताव को रखते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ?' रथनेमि को अपनी भूल समझ में आ गई। अंकुश द्वारा जैसे मत्त हाथी वश में आ जाता है और राजपथ पर चल पड़ता है वैसे ही रथनेमि भी स्वस्थ होकर पुन: अपने संयम पथ पर आरूढ़ हो गया। राजीमती का यह बोध इतना

---

१ (क) मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं महानियंठाण वए पहेणं। उत्तर० २०।५१
(ख) महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं से काहए महया वित्थरेणं।—उत्तर० २०।५३

दीप्तिमान है जैसे आज ही दिया गया हो। यह वह शाश्वत सत्य है जो कभी धूमिल नहीं होगा।

तेईसवें अध्ययन का नाम 'केशीगौतमीय' है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य केशी और भगवान महावीर के शिष्य गौतम के बीच एक ही धर्म में सचेल-अचेल, चार महाव्रत और पाँच महाव्रत परस्पर विपरीत विविध धर्म के विषय भेद को लेकर संवाद होता है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि समय के अनुसार बाह्य आचरण में परिवर्तन कर लिया जाता है। यह अध्ययन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

चौबीसवाँ अध्ययन 'समितीय' है। नेमिचन्द्रवृत्ति में इसका नाम 'प्रवचनमाता' प्राप्त होता है। इसमें प्रवचनमाता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति का वर्णन है। माँ जैसे पुत्र का लालन-पालन व रक्षण करती है और सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है वैसे ही प्रवचनमाता साधक को साधनापथ पर सम्यक् विधि से प्रयाण करने की प्रेरणा देती है।

पच्चीसवाँ अध्ययन 'यज्ञीय' है। भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में यज्ञ-पूजा का प्रारम्भ से महत्त्व रहा है। महावीर के समय उसका प्रभुत्व था। महावीर ने सच्चा यज्ञ क्या है, सच्चा ब्राह्मण कौन होता है यह लोगों को समझाया। प्रस्तुत अध्ययन में बताया है कि वाराणसी नगरी में जयघोष और विजयघोष दो भाई थे। वे काश्यपगोत्री ब्राह्मण थे। एक बार जयघोष गंगा में नहाने हेतु गया। वहाँ उसने एक सर्प को मेंढक निगलते हुए देखा। इतने में एक कुरर पक्षी आया। उसने साँप को पकड़ा। साँप के मुँह में मेंढक है और कुरर के मुख में साँप है। यह दृश्य देखकर जयघोष विरक्त हो गया और वह श्रमण बन गया। एक बार जयघोष वाराणसी में भिक्षा की अन्वेषणा करते हुए यज्ञमंडप में पहुँचे। जहाँ विजयघोष अनेक ब्राह्मणों के साथ यज्ञ कर रहा था। तप से जयघोष का शरीर अति क्षीण हो चुका था। विजयघोष उसे पहचान न सका। विजयघोष ने भिक्षा देने से इन्कार किया। मुनि शांत रहे और बोध देने की भावना से कहा कि—तुम्हें जानना चाहिए कि जो तुम कर रहे हो वह वास्तविक यज्ञ नहीं है। विषय, कषाय, वासनाओं को ज्ञानाग्नि में डालकर जलाना सच्चा यज्ञ है। सत्-चारित्र से सच्चा ब्राह्मण होता है। जाति से ही कोई मानव ब्राह्मण नहीं होता। मुनि के उपदेश से विजयघोष को यथार्थ ज्ञान हुआ और वह विरक्त होकर सम्यक्

आचरण से सम्पन्न हुआ। इस अध्ययन में ब्राह्मण की बड़ी मार्मिक व्याख्या की गई है जो सत्य और शाश्वत है।

छव्वीसवें अध्ययन का नाम 'सामाचारी' है। सामाचारी का अर्थ है सम्यक् व्यवस्था। इसमें जीवन की उस व्यवस्था का निरूपण है जिसमें साधक के परस्पर के व्यवहारों और कर्तव्यों का संकेत है। सामाचारी दश प्रकार की है—आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, इच्छाकार, मिथ्याकार, तथेतिकार, अभ्युत्थान और उपसम्पदा। इस अध्ययन में साधक-जीवन की कालचर्या का विभागशः विधान किया है। दिन और रात के कुल मिलाकर ८ प्रहर होते हैं। उनमें चार प्रहर स्वाध्याय के हैं, दो प्रहर ध्यान के हैं। दिन में एक प्रहर भिक्षा और रात्रि में एक प्रहर निद्रा के लिए है। स्वाध्याय और ध्यान से निद्रा स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है। यह जाग्रत साधक का दिव्य व भव्य साधना क्रम है।

सत्ताइसवां अध्ययन 'खलुंकिय' है। खलुंकिय का अर्थ है—दुष्ट बैल। गर्ग गोत्रीय 'गार्ग्य' मुनि अपने समय के योग्य आचार्य थे। वे सतत संयम-साधना व स्वाध्याय में लीन रहते थे। किन्तु उनके शिष्य उद्दंड, स्वच्छन्दी और अविनीत थे। उनके अभद्र व्यवहार से अपनी समत्व साधना में विघ्न आता देखकर गार्ग्य ने उन्हें छोड़ दिया क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई मार्ग न था। अनुशासनहीन अविनीत शिष्य उस दुष्ट बैल की तरह है जो मार्ग में गाड़ी को तोड़ देता है और मालिक को कष्ट पहुँचाता है। वह बात-बात पर आचार्य के साथ लड़ता-झगड़ता है और निंदा करता है। अविनीत शिष्यों का सम्पर्क होने पर आचार्य के कर्तव्य को भी इसमें बताया गया है।

अट्ठाईसवां अध्ययन 'मोक्षमार्ग-गति' है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप मोक्षगति के साधन हैं। इन साधनों की पूर्णता ही मोक्ष है। नव-तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की सम्यक् श्रद्धा दर्शन है। नवतत्त्वों का सम्यक् बोध ज्ञान है, रागादि आस्रवों का निग्रह तथा संवरण होना चारित्र है और आत्मोन्मुख तपनक्रियारूप विशिष्ट जीवन-शुद्धि तप है। इससे पूर्व संचित कर्मों का अंशतः नाश होता है। यह कथन व्यवहार की अपेक्षा से है। निश्चय-नय की दृष्टि से आत्मस्वरूप की प्रतीति दर्शन, स्व-रूपबोध ज्ञान और स्वयं में स्वयं की संलीनता चारित्र एवं इच्छानिरोध तप है। प्रथम दर्शन, बाद में ज्ञान और तत्पश्चात् चारित्र एवं तप आता है। इन सबकी पूर्णता होने पर मोक्ष होता है।

गलिक हैं, उनमें वर्ण, गंध, रस स्पर्श आदि हैं। आज के विज्ञान ने मानव-मस्तिष्क में स्फुरित होने वाले विचारों के चित्र भी लिये हैं जिनमें अच्छे-बुरे रंग उभरे हैं। प्रस्तुत अध्ययन में कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल इन छहों लेश्याओं का वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति आदि की दृष्टि से निरूपण किया गया है।

पैंतीसवें अध्ययन में 'अनगार' का वर्णन है। केवल घर छोड़ देने से ही कोई अनगार नहीं होता। अनगारधर्म एक महान साधना है। उसमें हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, इच्छा—लोभादि से दूर रहा जाता है। वह श्मशान, शून्यागार, वृक्ष के नीचे अथवा दूसरों के लिए बनाये हुए एकान्त स्थान में रहता है। वह क्रय-विक्रय से विरक्त होता है, स्वर्ण और मिट्टी को समान समझता है और आत्मध्यान में लीन रहता है।

छत्तीसवें अध्ययन 'जीवाजीवविभक्ति' है। जीव और अजीव की विभक्ति ही तत्त्वज्ञान का प्राण है। जीव-अजीव का भेद-विज्ञान ही सम्यक्-दर्शन है। जीव और अजीव द्रव्य जिस आकाश में है वह लोक है और जहाँ केवल आकाश ही है तथा कोई अन्य द्रव्य नहीं है वह अलोक है। अजीव के दो भेद हैं—रूपी और अरूपी। रूपी के ४ भेद और अरूपी के १० भेद हैं। रूपी के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। ऐसे रूपी पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये ४ भेद और अरूपी अजीव द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों के स्कन्ध, देश और प्रदेश से कुल ९ भेद और एक अद्धासमय का भेद मिलाकर अरूपी के १० भेद होते हैं। सब मिलाकर अजीव के कुल १४ भेद होते हैं। इसके अतिरिक्त वर्णादि अवान्तर भेदों का निरूपण इसमें किया गया है।

जीव के दो भेद हैं—संसारी और सिद्ध। सिद्धों के अनेक भेद हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर जीवों के तीन भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय। इनके अवान्तर भेद अनेक हैं। त्रस जीवों के तीन भेद हैं—अग्निकाय, वायुकाय, द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रिय जीव। इनके भी भेद-उपभेद अनेक हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के ४ प्रकार हैं—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इनके भी उत्तरभेद अनेक हैं।

प्रस्तुत अध्ययन के अन्त में समाधिमरण का भी वर्णन है। इस तरह २६९ गाथाओं में विस्तार से वर्णन हुआ है।

उपसंहार

उत्तराध्ययन के इन अध्ययनों में संसार की असारता और श्रमण जीवन के आचार का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है। यद्यपि उत्तराध्ययन-चूर्णि में इस आगम को धर्मकथानुयोग में परिगणित किया है किन्तु इसमें आचार का प्रतिपादन होने से चरणानुयोग का और दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन होने से द्रव्यानुयोग का भी मिश्रण हो गया है।

□

२. दशवैकालिक सूत्र

नामकरण

मूल आगमों में दशवैकालिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दीसूत्र में आवश्यकव्यतिरिक्त के कालिक और उत्कालिक ये दो भेद किये हैं। उसमें दशवैकालिक उत्कालिक में प्रथम है[१]। अस्वाध्याय के अतिरिक्त सभी प्रहरों में यह पढ़ा जा सकता है। चार अनुयोगों में दशवैकालिक का समावेश चरणकरणानुयोग में होता है।[२] इसमें चरण[३] (मूलगुण) करण[४] (उत्तरगुण) इन दोनों का अनुयोग है। धवला के अनुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।[५] अंगपण्णत्ती के अभिमतानुसार इसका विषय गोचरविधि और पिंडविशुद्धि है।[६] तत्त्वार्थसूत्र श्रुतसागरीयावृत्ति में इसे वृक्षकुसुम आदि का भेदकथक और यतियों के आचार का कथक कहा है।[७]

---

१ से किं तं उक्कालियं ? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—दसवेयालियं।
—नन्दीसूत्र

२ (क) दशवैकालिक—अगस्त्यसिंह चूर्णि (ख) दशवैकालिक निर्युक्ति गा० ४

३ चरणं मूलगुणाः।
वय समण-धम्म संयम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
णाणाइतियं तव, कोहनिग्गहाई चरणमेयं॥
—प्रवचनसारोद्धार गा० ५५२

४ करणं उत्तरगुणाः।
पिंडविसोही समिई भावण पडिमा इ इंदियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु॥ —वही, गाथा ५६३

५ दसवेयालियं आयार-गोयर-विहिं वण्णेइ।
—षट्खंडागम, सत्प्ररूपणा १-१-१, पृ० ९७

६ जदि गोयरस्स विहिं, पिंडविसुद्धिं च जं परूवेहि।
दसवेआलिय सुत्तं दहकाला जत्थ संवुत्ता॥ —अंगपण्णत्ती ३।२४

७ वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकं च दशवैकालिकम्।
—तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरीया, पृ० ६७

दशवैकालिक में आचार-गोचर के विश्लेपण के साथ ही जीवविद्या, योगविद्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा भी की गई है। यही कारण है कि इसकी रचना के पश्चात् श्रुत के अध्ययन में भी आचार्यों ने परिवर्तन कर दिया। पहले आचारांग के पश्चात् उत्तराध्ययनसूत्र पढ़ा जाता था किन्तु प्रस्तुत सूत्र की रचना होने के पश्चात् पहले दशवैकालिक और उसके पश्चात् उत्तराध्ययन का अध्ययन किया जाने लगा।[1] चूंकि श्रमण-जीवन के लिए पहले आचार का ज्ञान आवश्यक है और यह ज्ञान पहले आचारांग के अध्ययन से कराया जाता था किन्तु दशवैकालिक की रचना होने के पश्चात् पहले उसका अध्ययन प्रारम्भ हुआ क्योंकि दशवैकालिक सरल और सुगम था।

दशवैकालिक की रचना के पहले आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन को अर्थतः पढ़े बिना श्रमण-श्रमणियों को महाव्रतों की विभाग से उपस्थापना नहीं दी जाती थी। पर प्रस्तुत आगम की रचना हो जाने के पश्चात् षट्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन को जानने के पश्चात् महाव्रतों के विभाग से उपस्थापना की जाने लगी।[2]

दशवैकालिक का कर्तृत्व

व्यवहारभाष्य के अनुसार प्राचीन युग में आचारांग के द्वितीय लोकविजय अध्ययन के ब्रह्मचर्य नामक पांचवें उद्देशक के 'आमगंधंसूत्र' को बिना जाने-पढ़े कोई भी पिंडकल्पी (भिक्षा ग्रहण करने वाला) नहीं हो सकता था। दशवैकालिक का निर्माण होने पर उसके पिण्डैषणा नामक

---

१ आयारस्स उ उवरिं उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेआलिय उवरिं इयाणिं किं ते न होंती उ॥
—व्यवहार, उद्देशक ३, भाष्य, गा० १७६ (मलयगिरि)

२ (क) पुव्वं सत्थपरिण्णा अधीयपढियाइ होउ उवट्ठवणा।
इण्हिं च्छज्जीवणया किं सा उ न होउ उवट्ठवणा॥
—व्यवहारभाष्य, उ० ३, गा० १७४

(ख) पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचारांगान्तर्गतायामर्थतो ज्ञातायां पठितायां सूत्रतः उपस्थापना अभूदिदानीं पुनः सा उपस्थापना किं षट्जीवनिकायां दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठितायां च न भवति भवत्येवेत्यर्थः।
—व्यवहारभाष्य, गा० १७४ (मलयगिरिवृत्ति)

पाँचवें अध्ययन को जानने व पढ़ने वाला पिंडकल्पी होने लगा। ये वर्णन दशवैकालिक के महत्त्व को स्पष्ट रूप से उजागर करते हैं।[1]

प्रस्तुत आगम के कर्ता शय्यंभव माने जाते हैं। यह रचना स्वतन्त्र नहीं किन्तु निर्यूढ है। आचार्य शय्यंभव ने विभिन्न पूर्वों से इसका निर्यूहण किया है। दशवैकालिकनिर्युक्ति की दृष्टि से चतुर्थ अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन सत्यप्रवादपूर्व से और अवशेष सभी अध्ययन प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किये गये हैं।[2]

दूसरा मन्तव्य यह भी है कि दशवैकालिक का निर्यूहण गणिपिटक द्वादशांगी से किया गया है।[3] यह निर्यूहण किस अध्ययन का किस अंग से किया गया उसका स्पष्ट निर्देश नहीं है तथापि विज्ञों ने अनुमान लगाया है कि तृतीय अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।९ से मिलता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।११।७,८ और आचारांग १।१।१ का कहीं पर संक्षेप और कहीं पर विस्तार है। पाँचवें अध्ययन का विषय आचारांग के द्वितीय अध्ययन लोकविजय के पाँचवें उद्देशक और आठवें विमोह अध्ययन के दूसरे उद्देशक से मिलता-जुलता है। छठा अध्ययन समवायांग १८वें समवाय के 'वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं। पलियंक निसिज्जा य, सिणाणं सोभवज्जणं' गाथा का विस्तार से निरूपण है। सातवें अध्ययन का मूल स्रोत आचारांग १।१।६।५ में प्राप्त होता है। आठवें अध्ययन का कुछ

---

१ वितितंमि बंभचेरे पंचम उद्देसे आमगंधम्मि।
सुत्तंमि पिंडकप्पो इह पुण पिंडेसणाएओ॥
—व्यवहारभाष्य, उ० ३, गा० १७५

२ आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा॥
सच्चप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ वक्क सुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥
—दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १६-१७

३ बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ।
एअं किर निज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए॥

विषय स्थानांग ८।५६८,६०६,६१५ और आचारांग व सूत्रकृतांग से भी आंशिक तुलना हो सकती है।[1]

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पहली चूला १ व ४ अध्ययन से क्रमशः ५वें और ७वें अध्ययन की तुलना की जा सकती है। दशवैकालिक के २, ६ व १०वें अध्ययन के विषय की उत्तराध्ययन के १ और १५वें अध्ययन से तुलना कर सकते हैं।[2]

दिगम्बर परम्परा में दशवैकालिक का उल्लेख धवला, जयधवला, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्रुतसागरीयावृत्ति प्रभृति अनेक स्थलों में हुआ है और 'आरातीयैराचार्यैर्निर्यूढ' केवल इतना संकेत प्राप्त होता है। यह सूत्र कब तक मान्य रहा इसका संकेत नहीं मिलता।

प्रस्तुत आगम के दसवेयालिय[3] (दशवैकालिक) और दसवेकालिय[4] ये दो नाम मिलते हैं। यह नाम दस और वैकालिक अथवा कालिक इन दो पदों से निर्मित है। 'दस' शब्द अध्ययनों की संख्या की सूचना करता है और इसकी रचना विकाल बेला में हुई अतः इसे वैकालिक कहा गया है। सामान्य नियम के अनुसार आगम का रचनाकाल पूर्वाह्न माना जाता है किन्तु आचार्य शय्यंभव ने मनक की अल्पायु को देखकर उसी क्षण अपराह्न में ही इसका उद्धरण प्रारम्भ किया और उसे विकाल में पूर्ण किया। स्वाध्याय का काल दिन और रात में प्रथम और अन्तिम प्रहर है। प्रस्तुत आगम विना काल (विकाल) में भी पढ़ा जा सकता है अतः इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है।

यह चतुर्दशपूर्वी से आया है, जिन्होंने काल को लक्ष्य कर इसका निर्माण किया। इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है। एक

---

१ (क) दशवैकालिक अ० ४,सूत्र ६ : मिलाइये—आचारांग १।१।६।४६
(ख) दशवैकालिक ५।२।२८ : मिलाइये—आचारांग १।१।२।४
(ग) दशवैकालिक ६।५३ : मिलाइये—सूत्रकृतांग १।२।२।१८

२ 'दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि' की भूमिका, पृ० १२ (आचार्य तुलसी)

३ (क) नन्दीसूत्र ४६
(ख) दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा ६

४ दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १, ७, १२, १४, १५।

कारण यह भी हो सकता है कि इसका दसवाँ अध्ययन वैतालिक नाम के वृत्त में रचा हुआ है। अतः इसका नाम दसवैतालियं हो सकता है।[1]

हम बता चुके हैं कि आचार्य शय्यंभव ने मनक के लिए दशवैकालिक का निर्माण किया। उसने छह मास में दशवैकालिक को पढ़ा और वह समाधिपूर्वक संसार से चल बसा। आचार्य को इस बात की प्रसन्नता थी कि उसने श्रुत और चारित्र की सम्यक् आराधना की अतः उनकी आँखों से आनन्द के आँसू छलक पड़े। उनके प्रधान शिष्य यशोभद्र ने इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा—'मनक मेरा संसारपक्षी पुत्र था इसलिए कुछ स्नेह-भाव जाग्रत हुआ। वह आराधक हुआ यह प्रसन्नता का विषय है। मैंने उसकी आराधना के लिए इस आगम का निर्यूहण किया है। अब इसका क्या किया जाय ?' संघ ने चिन्तन के पश्चात् यह निर्णय किया कि इसे यथावत् रखा जाय। यह मनक जैसे अनेक श्रमणों की आराधना का निमित्त बनेगा। इसलिए इसका विच्छेद न किया जाय।[2] प्रस्तुत निर्णय के पश्चात् दशवैकालिक का जो वर्तमान में रूप है उसे अध्ययन क्रम से संकलित किया गया है। महानिशीथ के अभिमतानुसार पाँचवें आरे के अन्त में पूर्णरूप से अंगसाहित्य विच्छिन्न हो जायगा तब दुप्पसह मुनि दशवैकालिक के आधार पर संयम की साधना करेंगे और अपने जीवन को पवित्र बनायेंगे।

दशवैकालिक का रचनाकाल

भगवान महावीर के पश्चात् सुधर्मास्वामी और उनके उत्तराधिकारी जम्बूस्वामी थे। तीसरे आचार्य प्रभवस्वामी हुए। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में सोचा किन्तु कोई भी शिष्य आचार्य पद के योग्य नहीं था, फिर गृहस्थों की ओर ध्यान दिया। उन्हें राजगृह में शय्यंभव ब्राह्मण, जो उस समय यज्ञ कर रहा था, योग्य प्रतीत हुआ। आचार्य राजगृह आये। शय्यंभव के पास साधुओं को भेजा। उनकी प्रेरणा से वे आचार्य के पास आये, सम्बुद्ध हुए और प्रव्रज्या ग्रहण की। २८ वर्ष की उम्र

---

१ दसवैकालिक : अगस्त्यसिंह चूर्णि, पुण्यविजयजी महाराज द्वारा सम्पादित

२ आणंदअंसुपायं कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा अ विआलणा संघे॥

में वे श्रमण बने थे अत: दशवैकालिक का रचनाकाल वीर नि० सं० ७२ के आसपास है। उस समय प्रभवस्वामी विद्यमान थे।[1]

डा० विन्टरनित्ज ने वीर नि० के ४८ वर्ष बाद दशवैकालिक का रचनाकाल माना है[2] और प्रो० एम० वी० पटवर्धन का भी यही अभिमत है[3] किन्तु पट्टावलियों के कालनिर्णय से उनका कथन मेल नहीं खाता।

विषयवस्तु

दशवैकालिक के दश अध्ययन हैं। उनमें पाँचवें अध्ययन के २ और नवें के ४ उद्देशक हैं। शेष अध्ययनों के उद्देशक नहीं है। चौथा व नवाँ अध्ययन गद्य-पद्यात्मक है। शेष सभी अध्ययन पद्यात्मक है। टीकाकार ने दशवैकालिक के पद्यों की संख्या ५०९ और चूलिकाओं की ३४ बताई है। चूर्णिकार ने पद्य ५३६ और चूलिकाएँ ३३ बताई हैं।

दशवैकालिक का प्रथम अध्ययन 'द्रुमपुष्पिका' है। धर्म क्या है—यह चिरचिन्त्य प्रश्न रहा है। उसका समाधान है—जो आत्मा का उत्कृष्ट हित साधता हो वह धर्म है। जिसमें अहिंसा, संयम और तप हो वही मंगल है। अहिंसक श्रमण को आहार कैसे ग्रहण करना चाहिये इसके लिए मधुकर का रूपक देकर बताया कि जिस प्रकार मधुकर पुष्पों से स्वभावसिद्ध रस ग्रहण करता है वैसे ही श्रमणों को गृहस्थों के घरों से जहाँ आहार, जल आदि स्वाभाविक रूप से बनते हैं प्रासुक आहार को ग्रहण करना चाहिए। मधुकर फूलों को म्लान किये बिना थोड़ा-थोड़ा रस पीता है वैसे श्रमण भी थोड़ा-थोड़ा ही ग्रहण करे। मधुकर उतना ही मधु ग्रहण करता है जितना उदरपूर्ति के लिए आवश्यक है। वह दूसरे दिन के लिए संग्रह नहीं करता वैसे ही श्रमण भी संयम-निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतना ही ग्रहण करे, संचय न करे। मधुकर किसी एक वृक्ष या फूल से ही रस ग्रहण नहीं करता अपितु विविध फूलों से ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण भी किसी गाँव, घर या व्यक्ति पर आश्रित न होकर सामुदायिक रूप से आहार ग्रहण करे। इस प्रकार इस अध्ययन में अहिंसा और उसके प्रयोग का निर्देश किया गया है।

---

१ दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १६-१७

२ A History of Indian Literature, Vol. II, Page 47, F. N. 1.

३ The Dasavaikalika Sutra : A Study, Page 9.

दूसरे अध्ययन में धृति का वर्णन है। बिना धृति के धर्म टिक नहीं सकता। साधु रथनेमि राजीमती से विषय-सेवन की प्रार्थना करते हैं। राजीमती उन्हें संयम में दृढ़ रहने के लिए उपदेश देती है। अगंधन सर्प अग्नि में जलकर अपने प्राण त्याग देगा किन्तु वमन किये हुए विष का कभी पान नहीं करेगा। वैसे ही साधक को भी परित्यक्त विषयभोगों का सेवन नहीं करना चाहिये।

तृतीय अध्ययन में अनाचार का उल्लेख है। जिसकी धर्म में धृति नहीं होती उसके लिए आचार और अनाचार का भेद नहीं होता। धृतिमान ही आचार का पालन करता है और अनाचार से बचता है। जो व्यवहार शास्त्रविहित है, जिसमें अहिंसा की प्रमुखता है वह आचार है, शेष अनाचार है। अनाचार अनाचरणीय है। श्रमणों के लिए औद्देशिक भोजन, क्रीत भोजन, आमंत्रित भोजन, कहीं से लाया हुआ भोजन, रात्रि-भोजन, स्नान, गंध, विलेपन, माला पहनना, पंखा झलना, गृहस्थपात्र, राजपिंड, दन्तधावन, देह प्रलोकन आदि अनाचारों का विस्तार से वर्णन है। कुछ अनाचारों के सेवन में प्रत्यक्ष हिंसा है। कुछ के सेवन से वह हिंसा का निमित्त बनता है और कुछ के सेवन से हिंसा का अनुमोदन होता है। कुछ कार्य स्वयं में दोषपूर्ण नहीं किन्तु बाद में शिथिलाचार के हेतु बन सकते हैं अतः उनका वर्जन किया गया है। इत्यादि अनेक हेतु अनाचार सेवन में रहे हुए हैं। कुछ नियम उत्सर्ग विधि में अनाचार हैं किन्तु अपवाद विधि में अनाचार नहीं होते।

चतुर्थ अध्ययन में 'षट्जीवनिकाय' का निरूपण है। आचार निरूपण के पश्चात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस आदि का विस्तार से वर्णन है। इसमें पाँच महाव्रतों का निरूपण करते हुए कहा है कि मुनि सजीव पृथ्वी को न खोदे, न भेदन करे। षट्जीवनिकाय को कृत, कारित, अनुमोदन व मन, वचन, काय से हानि पहुँचाने का निषेध किया है। पंच महाव्रत व छठे रात्रि-भोजन के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। प्रत्येक क्रिया में विवेक की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है कि यतना (विवेक) के साथ चलने, बैठने, सोने, खाने, पीने, बोलने वाला साधक पापकर्म नहीं करता। पहले ज्ञान है फिर दया है। जो अज्ञानी है वह श्रेय और पापकारी मार्ग को नहीं जानता। जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं

जानता वह संयम को कैसे जान सकेगा। अतः श्रमण को सतत सावधान रहकर छहकाय के जीवों की विराधना नहीं करनी चाहिए।

पाँचवें अध्ययन का नाम 'पिण्डैषणा' अध्ययन है। पिण्ड शब्द 'पिंडी संघाते' धातु से बना है। जिसका अर्थ है सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं का एकत्रित होना। जैन परिभाषा में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन सभी के लिए पिंड शब्द प्रयुक्त होता है। ऐषणा शब्द गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का संक्षेप रूप है। प्रस्तुत अध्ययन में पिण्ड की गवेषणा, शुद्धाशुद्ध ग्रहण (लेने) और परिभोग (खाने) की ऐषणा का वर्णन होने से इसका नाम पिण्डैषणा है।

ग्राम या नगर में भिक्षा हेतु श्रमण को शनैः-शनैः और शान्तचित्त से भ्रमण करना चाहिये। उसे भूमि को ४ हाथ प्रमाण देखकर चलना चाहिये। बीज, हरित, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, अप्काय और पृथ्वीकाय आदि के जीवों की हिंसा से बचना चाहिये। सचित्त रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढेर के ऊपर न जाय। वर्षा हो रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चलता हो और मार्ग में संपातिक जीव छा रहे हों, वेश्याओं का मोहल्ला हो, कुत्ता, सद्यःप्रसूता गाय, मदमत्त बैल, हाथी, घोड़ा, बालकों का क्रीड़ास्थान, कलह और युद्ध होता हो उस मार्ग से भिक्षादि के लिए न जाय। जल्दी-जल्दी वार्तालाप करते हुए या हँसते हुए भिक्षा के लिए गमन न करे। निषिद्ध और अप्रीतिकारी कुलों में भिक्षार्थ न जाय। भेड़, बालक, कुत्ते और बछड़े आदि का अतिक्रमण कर घर में प्रवेश न करे। गर्भिणी या स्तनपान कराती महिला यदि बालक को एक ओर हटाकर आहार दे तो उसे ग्रहण न करे किन्तु निर्दोष भिक्षा ग्रहण करे।

पिण्डैषणा के दूसरे उद्देशक में भिक्षु को समय पर भिक्षा के लिए जाना चाहिये और समय पर लौटना चाहिये। भिक्षु को गोचरी जाते समय मार्ग में न बैठना चाहिये और न खड़े-खड़े कथा करनी चाहिये, आदि।

छठे अध्ययन का नाम 'महाचार कथा' है। तीसरे अध्ययन में केवल अनाचार का नाम निर्देश किया गया था। प्रस्तुत अध्ययन में अनाचार के विविध पहलुओं पर विचार किया गया है। तीसरे अध्ययन में उत्सर्ग और अपवाद की चर्चा नहीं है किन्तु इस अध्ययन में उत्सर्ग और अपवाद की भी चर्चा हुई है। प्रारम्भ में व्रतों का पालन, जीवों की रक्षा, गृहस्थ के पात्र

का उपयोग न करना, पल्यंक व गृहस्थ के आसन पर न बैठना, स्नान न करना, शरीर की शोभा का त्याग करना आदि का उपदेश है। सभी जीव जीना चाहते हैं अतः निर्ग्रंथ श्रमण प्राणवध का त्याग करते हैं। मिथ्या भाषण न करे, सचित्त या अचित्त, अल्प या बहुत, यहाँ तक कि दाँत कुरेदने का तिनका भी बिना माँगे ग्रहण न करे। मैथुन अधर्म का मूल है, अतः निर्ग्रन्थ मैथुन का त्याग करता है। वस्त्र, पात्र आदि परिग्रह नहीं किन्तु मूर्च्छा परिग्रह है। भिक्षु रात्रिभोजन का त्याग करे।

सातवें अध्ययन का नाम 'वाक्यशुद्धि' है। प्रस्तुत अध्ययन में असत्य और सत्यासत्य भाषा के प्रयोग का निषेध किया गया है। भाषा के ये दोनों प्रकार सावद्य हैं किन्तु असत्यामृषा (व्यवहारभाषा) के प्रयोग का निषेध भी है और विधान भी है। श्रमण के लिए क्या वक्तव्य है, क्या अवक्तव्य है—इसका बहुत ही सूक्ष्म विवेचन इस अध्ययन में है। बोलने से पहले और बोलते समय कितनी सावधानी अपेक्षित है, यह इसमें प्रतिपादित करते हुए कहा है कि कठोर एवं अनेक प्राणियों को त्रास उत्पन्न करने वाली सत्यवाणी भी न बोले क्योंकि उससे पाप का बन्ध होता है। 'काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहकर न पुकारे। गृहस्थ को आओ, बैठो, यह करो, यहाँ से जाओ या खड़े रहो ऐसी भाषा न बोले। जो भाषा पापकर्म का अनुमोदन करने वाली हो, दूसरों के लिए पीड़ाकारक हो ऐसी भाषा क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वशीभूत होकर भी साधु को नहीं बोलनी चाहिये।

आठवें अध्ययन का नाम 'आचारप्रणिधि' है। आचार एक निधि है। उस निधि को प्राप्त कर श्रमण को किस प्रकार रहना चाहिये इसका दिशानिर्देश इसमें है। प्रणिधि का दूसरा अर्थ एकाग्रता, स्थापना या प्रयोग है। जैसे उच्छृङ्खल अश्व सारथी को उन्मार्ग पर ले जाता है वैसे ही दुष्प्रणिहित इन्द्रियाँ श्रमण को उत्पथ में ले जाती हैं। अतः श्रमण को कषायादि का निग्रह कर मन का सुप्रणिधान करना चाहिये। यही शिक्षण इस अध्ययन में दिया गया है। इसलिए इसका नाम आचारप्रणिधि है। मन, वचन और काय से श्रमण को छहकाय के जीवों के प्रति अहिंसक आचरण करना चाहिये। संयतात्मा को चाहिये कि वह पात्र, कम्बल, शय्या, मलादि त्यागने का स्थान, संथारा व आसन की एकाग्रचित्त से प्रतिलेखना करे। कानों को प्रिय लगने वाले शब्दों में रागभाव न करे।

दारुण एवं कठोर स्पर्श को शरीर द्वारा सहन करे। क्षुधा-पिपासा आदि को अदीनभाव से सहन करे क्योंकि देह दुःख को समभाव से सहन करने का महाफल कहा गया है। जब तक बुढ़ापा पीड़ा नहीं देता, व्याधियाँ कष्ट नहीं पहुँचातीं, इन्द्रियाँ क्षीण नहीं हो जातीं तब तक धर्म का आचरण कर ले। क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मित्रों का नाश करती है और लोभ सर्वगुणों का नाश करने वाला है। क्रोध को उपशमन से, मान को मृदुता से, माया को ऋजुता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिये। श्रमण को बिना पूछे नहीं बोलना चाहिए। किसी के वार्तालाप के समय बीच में न बोले, चुगली न करे और कपटपूर्ण असत्य न बोले।

नवें अध्ययन का नाम 'विनयसमाधि' है। इसके चार उद्देशक हैं। जैनागमों में विनय शब्द का प्रयोग आचार व उसकी विविध धाराओं के अर्थ में हुआ है। विनय का अर्थ केवल नम्रता ही नहीं, अपितु आचार है। विनय की प्रमुख धाराएँ दो हैं—अनुशासन और नम्रता। बौद्ध साहित्य में भी व्यवस्था, विधि व अनुशासन के अर्थ में विनय शब्द व्यवहृत हुआ है।

प्रथम उद्देशक में आचार्य के साथ शिष्य का वर्तन कैसा होना चाहिये इसका निरूपण है। 'अणंतनाणोवगओ वि संतो' शिष्य अनन्तज्ञानी भी हो जाय तो भी वह आचार्य की आराधना उसी प्रकार करता रहे जैसे वह पहले करता रहा हो। जिसके पास धर्मपद सीखता है उसके प्रति विनय का प्रयोग करे। मन, वाणी और शरीर से नम्र रहे। आशीविष सर्प क्रुद्ध हो जाय तो प्राणों के नाश से अधिक कुछ नहीं कर सकता किन्तु आचार्य अप्रसन्न हो जाय तो अबोधि के कारण जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जो गुरुओं की आशातना करता है वह उस व्यक्ति के समान है जो अग्नि को अपने पैरों से कुचलकर बुझाना चाहता है, या आशीविष सर्प को क्रुद्ध करता है या जीने की कामना से हलाहल विष का पान करता है।

दूसरे उद्देशक में अविनय और विनय का भेद बताया है। अविनीत विपत्ति में पड़ता है और विनीत सम्पत्ति को प्राप्त करता है। अविनीत असंविभागी होता है। जो संविभागी नहीं है वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। जो आचार्य और उपाध्याय की सेवा शुश्रूषा करता है उसकी शिक्षा जल से सिंचे हुए वृक्ष की भाँति बढ़ती जाती है।

तीसरे उद्देशक में कहा है कि जो अल्पवयस्क होने पर भी दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ है वह पूजनीय है। जो पीछे से अवर्णवाद नहीं बोलता, सामने विरोधी वचन नहीं कहता, जो निश्चयकारी और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता वह पूज्य है।

चौथे उद्देशक में चार समाधियों का वर्णन है। समाधि का अर्थ हित, सुख या स्वास्थ्य है। विनय समाधि के स्थान हैं—विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचारसमाधि। इन चारों के चार-चार भेद बताये हैं।

दसवां अध्ययन 'सभिक्षु' नामक है। जिसकी आजीविका केवल भिक्षा है वह भिक्षु कहलाता है। संवेग, निर्वेद, विवेक, सुशील-संसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय, शान्ति, मार्दव आदि भिक्षु के लक्षण हैं। जो छहकाय के जीवों को अपने समान मानता है, पाँच महाव्रतों की आराधना और आस्रवों का निरोध करता है वह भिक्षु है। जो हाथों से संयत हो, पैरों से संयत हो, वचन, इन्द्रियों से संयत हो, अध्यात्मरत हो और जो सूत्रार्थ को जानता हो, वह भिक्षु है। जो मद का त्याग कर धर्म-ध्यान में लीन रहता है, वह भिक्षु है।

इसकी दो चूलिकाएं हैं। प्रथम चूलिका 'रतिवाक्या' है। प्राणियों को असंयम में सहज ही रति और संयम में अरति होती है। जैसे चंचल घोड़ा लगाम से, मदोन्मत्त हाथी अंकुश से वश में आता है वैसे ही १८ स्थानों का चिन्तन करने से चंचल मन स्थिर होता है, आदि इसमें वर्णित है।

दूसरी चूलिका 'विवित्तचर्या' है। उसमें श्रमण की चर्या, गुणों और नियमों का निरूपण है। श्रमण को मद्य, मांस आदि का सेवन नहीं करना चाहिए। किसी से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये, विकृतियों का त्याग कर पुनः-पुनः कायोत्सर्ग करना चाहिये और स्वाध्याय व योग में रत रहना चाहिये। आत्मा की रक्षा पर बल देते हुए कहा है कि सर्व यत्न से आत्मा की विषय-कषायादि से रक्षा करनी चाहिये। यही सम्पूर्ण दशवैकालिक सूत्र का सार है।

□

३. नंदीसूत्र

नंदी और अनुयोगद्वार ये दोनों आगम चूलिकासूत्र के नाम से पहचाने जाते हैं। चूलिका शब्द का प्रयोग उन अध्ययनों या ग्रन्थों के लिए होता है जिसमें अवशिष्ट विषयों का वर्णन या वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया गया हो। दशवैकालिक और महानिशीथ के अन्त में भी चूलिकाएँ-चूलाएँ-चूड़ाएँ प्राप्त होती हैं। चूलिकाओं को वर्तमान युग की भाषा में ग्रन्थ का परिशिष्ट कह सकते हैं। नन्दी और अनुयोगद्वार भी आगम साहित्य के अध्ययन के लिए परिशिष्ट का कार्य करते हैं।

नंदीसूत्र में पाँच ज्ञानों का विस्तार से निरूपण है। निर्युक्तिकार ने नंदी शब्द को ज्ञान का पर्यायवाची माना है। नंदीसूत्र की रचना गद्य और पद्य दोनों में हुई है। इसमें एक अध्ययन है, ७०० श्लोक परिमाण मूलपाठ है। ५७ गद्यसूत्र हैं और ९७ पद्य-गाथाएँ हैं।

सर्वप्रथम सूत्रकार ने भगवान महावीर को नमस्कार किया है। उसके पश्चात् जैन संघ, २४ तीर्थंकर, ११ गणधर, जिन-प्रवचन, सुधर्मा आदि स्थविरों को स्तुतिपूर्वक नमस्कार किया है। इसमें जो स्थविरावली—गुरु-शिष्य परंपरा—प्रस्तुत की गई है वह कल्पसूत्र की स्थविरावली से भिन्न है। प्रस्तुत आगम में श्रमण भगवान महावीर के पश्चात् की स्थविरावली इस प्रकार है—

१. सुधर्मा, २. जम्बू, ३. प्रभव, ४. शय्यंभव, ५. यशोभद्र, ६. सम्भूतविजय, ७. भद्रबाहु, ८. स्थूलभद्र, ९. महागिरि, १०. सुहस्ति, ११. बलिस्सह, १२. स्वाति, १३. श्यामार्य, १४. शाण्डिल्य, १५. समुद्र, १६. मंगू, १७. धर्म, १८. भद्रगुप्त, १९. वज्र, २०. रक्षित, २१. नन्दिल (आनन्दिल) २२. नागहस्ती, २३. रेवतीनक्षत्र, २४. ब्रह्मदीपकसिंह, २५. स्कन्दिलाचार्य, २६. हिमवंत २७. नागार्जुन, २८. श्रीगोविन्द, २९. श्रीभूतदिन्न, ३०. लौहित्य, ३१. दूष्यगणी।

कल्पसूत्र की स्थविरावली इस प्रकार है :—

१. सुधर्मा, २. जम्बू, ३. प्रभव, ४. शय्यम्भव, ५. यशोभद्र, ६. संभूति-

विजय, ७. स्थूलभद्र, ८. सुहस्ती, ९. सुस्थितसुप्रतिबुद्ध, १०. इन्द्रदिन्न, ११. दिन्न, १२. सिंहगिरि, १३. वज्र १४. श्रीरथ, १५. पुष्यगिरि, १६. फल्गुमित्र, १७. धनगिरि, १८. शिवभूति, १९. भद्र, २०. नक्षत्र, २१. रक्ष, २२. नाग, २३. जेहिल, २४. विष्णु, २५. कालक, २६. सम्पलितभद्र, २७. वृद्ध, २८. संघपालित, २९. श्रीहस्ती, ३०. धर्म, ३१. सिंह ३२. धर्म, ३३. शाण्डिल्य, ३४. देवर्द्धिगणी।

मंगलाचरण में शास्त्रकार ने संघ को नगर, चक्र, रथ, कमल, चन्द्र, सूर्य, समुद्र और मेरु की उपमा दी है, जो संघ के महत्त्व को प्रदीप्त करती है। उसके पश्चात् अर्थग्रहण की योग्यता रखने वाले श्रोताओं का निम्न १४ दृष्टान्तों से वर्णन किया है—

१. शैल और घन, २. कुटक अर्थात् घड़ा, ३. चालनी, ४. परिपूर्णक, ५. हंस, ६. महिष, ७. मेष, ८. मशक, ९ जलौका, १०. विडाली, ११. जाहक १२. गौ, १३. भेरी, १४. आभीरी।

इन रूपकों पर टीकाकार ने विस्तार से प्रकाश डाला है। श्रोताओं के समूह को सभा कहते हैं। वह सभा ज्ञायिका, अज्ञायिका और दुर्विदग्धा के रूप में तीन प्रकार की है। जैसे हंस पानी का परित्याग कर दूध को पीता है वैसे ही गुणसंपन्न पुरुष दोषों को छोड़कर गुणों को ग्रहण करता है। ऐसे पुरुषों की सभा को ज्ञायिका कहा गया है। जो श्रोता मृग, सिंह, कुक्कुट के बच्चों के सदृश मधुर प्रकृति के होते हैं तथा असंस्कारित रत्नों के सदृश किसी भी रूप में ढाले जा सकते हैं वे अज्ञायिक हैं और ऐसे श्रोताओं की सभा अज्ञायिका कहलाती है। जो व्यक्ति स्वयं तो ज्ञाता नहीं है पर अपने आपको बहुत बड़ा ज्ञानी मानता है और मूर्ख व्यक्तियों से अपनी मिथ्या प्रशंसा सुनकर वायु से भरी हुई मशक के समान फूला नहीं समाता वह व्यक्ति दुर्विदग्ध है, ऐसे व्यक्तियों की सभा दुर्विदग्धा सभा कहलाती है।

नंदीसूत्र अंगबाह्य आगम है। इसमें जो ज्ञान के संबंध में विस्तार से विश्लेषण किया गया है उसका मूलस्रोत स्थानांग, समवायांग, भगवती, राजप्रश्नीय, उत्तराध्ययन आदि हैं। उनमें संक्षेप में पाँच ज्ञानों का निरूपण है किन्तु नंदी में ज्ञानवाद पूर्ण रूप से विकसित है। संक्षेप में हम नंदी के ज्ञान विवेचन को इस प्रकार दे सकते हैं—

ज्ञान
१ आभिनिबोधिक
२ श्रुत
३ अवधि
४ मनःपर्यव
५ केवल
१ प्रत्यक्ष
२ परोक्ष
१ इन्द्रियप्रत्यक्ष
१ श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष
२ चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष
३ घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष
४ जिह्वेन्द्रियप्रत्यक्ष
५ स्पर्शेन्द्रियप्रत्यक्ष
२ नोइन्द्रियप्रत्यक्ष
१ अवधि
२ मनःपर्यव
३ केवल
१ आभिनिबोधिक
२ श्रुत
१ श्रुतनिश्रित
२ अश्रुतनिश्रित
अवग्रह
ईहा
६
अवाय
६
धारणा
६
व्यंजनावग्रह
४
अर्थावग्रह
६
औत्पातिकी
वैनयिकी
कर्मजा
पारिणामिकी
अक्षर अनक्षर संज्ञि असंज्ञि सम्यक् मिथ्या सादि अनादि सपर्यवसित अपर्यवसित
कुल १२ भेद श्रुत के
गमिक
अगमिक
अंगप्रविष्ट
अंगबाह्य
कालिक
उत्कालिक

मनःपर्यवज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति ये दो प्रकार हैं। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन के अधिक सूक्ष्म परिणामों को भी जान सकता है। दोनों में दूसरा अन्तर यह है कि ऋजुमति प्रतिपाती है अर्थात् उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट भी हो सकता है किन्तु विपुलमति केवलज्ञान की प्राप्ति तक बना रहता है। दोनों प्रकार के मनःपर्यवज्ञान का चार प्रकार से चिन्तन किया है।

द्रव्य की दृष्टि से—ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी अनन्तप्रदेशी अनन्त स्कन्धों को जानता व देखता है किन्तु विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उससे अधिक स्पष्ट, विशुद्ध और विपुल जानता व देखता है।

क्षेत्र की दृष्टि से—ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग को और अधिक से अधिक नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के छोटे प्रतरों तक तथा ऊपर ज्योतिष्क विमान के उपरितल पर्यन्त और तिर्यक् लोक में ढाई द्वीप के संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के मनोगत भावों को जानता व देखता है और विपुलमति उसी क्षेत्र से ढाई अंगुल अधिक विपुल, विशुद्ध व स्पष्ट जानता व देखता है।

काल की दृष्टि से—ऋजुमति पल्योपम के असंख्यातवें भाग के भूत व भविष्य को जानता व देखता है और विपुलमति उससे कुछ अधिक विशुद्ध व स्पष्ट जानता-देखता है।

भाव की दृष्टि से—ऋजुमति अनंतभावों को (भावों के अनन्तवें भाग को) जानता व देखता है। विपुलमति कुछ अधिक विस्तारपूर्वक व स्पष्ट रूप से जानता व देखता है।

केवलज्ञान में केवल शब्द का अर्थ एक या सहायरहित है। ज्ञानावरणीय कर्म के समूल नष्ट होने से ज्ञान के अवान्तर भेद मिट जाते हैं और ज्ञान एक हो जाता है। उसके पश्चात् मन व इन्द्रियों के सहयोग की आवश्यकता नहीं रहती अतः वह 'केवल' कहलाता है।

केवल शब्द का दूसरा अर्थ शुद्ध है। ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से ज्ञान में किञ्चित् मात्र भी अशुद्धि का अंश नहीं रहता है, इसलिए वह 'केवल' कहलाता है।

केवल शब्द का तीसरा अर्थ सम्पूर्ण है। ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से ज्ञान में अपूर्णता नहीं रहती है, इसलिए वह 'केवल' कहलाता है।

केवल शब्द का चौथा अर्थ असाधारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट होने पर जैसा ज्ञान होता है वैसा दूसरा नहीं होता, इसलिए वह 'केवल' कहलाता है।

केवल शब्द का पाँचवाँ अर्थ 'अनन्त' है। ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से जो ज्ञान होता है, वह फिर कदापि आवृत नहीं होता, एतदर्थ वह 'केवल' कहलाता है।

जैनपरंपरा की दृष्टि से केवलज्ञान का अर्थ सर्वज्ञता है। केवलज्ञानी केवलज्ञान पैदा होते ही लोक और अलोक को जानने लगता है। केवलज्ञान का विषय सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायें हैं। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसे केवलज्ञानी नहीं जानता। कोई भी पर्याय ऐसी नहीं जो केवलज्ञान का विषय न हो। छहों द्रव्यों के वर्तमान, भूत और भविष्य की जितनी भी पर्यायें हैं सभी केवलज्ञान के विषय हैं। आत्मा की ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास केवलज्ञान है। जब पूर्णज्ञान हो जाता है तब अपूर्णज्ञान स्वतः नष्ट हो जाता है। अपेक्षादृष्टि से केवलज्ञान के दो प्रकार बताये हैं—(१) भवस्थ केवलज्ञान और (२) सिद्ध केवलज्ञान। भवस्थ के सयोगी और अयोगी दो भेद हैं। सयोगी के भी प्रथमसमय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान और अप्रथमसमय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान या चरम और अचरम सयोगी भवस्थ केवलज्ञान। सिद्ध केवलज्ञान के दो भेद हैं—अनन्तर और परम्पर। अनंतरसिद्ध केवलज्ञान के तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध आदि १५ भेद हैं और परम्परसिद्ध केवलज्ञान के अप्रथम, द्विसमय यावत् अनंतसमय सिद्ध केवलज्ञान। सामान्य रूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से केवलज्ञान का चिन्तन किया गया है।

इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान की चर्चा के पश्चात् अप्रत्यक्षज्ञान की चर्चा की गई है। परोक्षज्ञान आभिनिबोधिक और श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। आभिनिबोधिक को मतिज्ञान भी कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र में—मति, स्मृति, चिन्ता और आभिनिबोधक को एकार्थी कहा है। जो ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से होता है, वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन, मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान होने के लिए शब्द श्रवण आवश्यक है। शब्दश्रवण मति के अन्तर्गत है क्योंकि वह श्रोत्र का विषय है। जब शब्द सुनाई देता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्दश्रवणरूप जो प्रवृत्ति है वह मतिज्ञान है। उसके पश्चात् शब्द

और अर्थ के वाच्य-वाचक भाव के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान कदापि संभव नहीं है। श्रुतज्ञान का अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है, मतिज्ञान उसका वहिरंग कारण है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—इन्द्रिय और मनोजन्य एक दीर्घ ज्ञान व्यापार का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान है और उत्तरवर्ती—परिपक्व व स्पष्ट अंश श्रुतज्ञान है। जो ज्ञान भाषा में उतारा जा सके वह श्रुतज्ञान है और जो ज्ञान भाषा में उतारने योग्य परिपाक को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान को यदि दूध कहें तो श्रुतज्ञान को खीर कह सकते हैं।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पात्र की अपेक्षा से क्रमशः मति और श्रुत दोनों ज्ञान तथा अज्ञान भी कहलाते हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद किये हैं—श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। अश्रुतनिश्रित के औत्पातिकी, विनयजा, कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि ये चार भेद किये हैं। औत्पातिकी बुद्धि वह है जो बिना देखे, बिना सुने, बिना जाने पदार्थों को तत्काल विशुद्धरूप से ग्रहण कर लेती है। यह बुद्धि किसी प्रकार के पूर्व अभ्यास या अनुभव के बिना ही उत्पन्न होती है। सूत्रकार ने इसका स्वरूप विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए सत्ताबीस (२७) दृष्टान्तों का संकेत किया है और चूर्णि व वृत्ति में उन दृष्टान्तों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

कठिन कार्यभार के निर्वाह में समर्थ, धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग का वर्णन करने वाली, सूत्र और अर्थ का सार ग्रहण करनेवाली, इहलोक और परलोक में फल देनेवाली और विनय से उत्पन्न होने वाली बुद्धि वैनयिकी है। इस बुद्धि के स्वरूप को समझाने के लिए १५ दृष्टान्त दिये गये हैं।

कर्मजा बुद्धि एकाग्रचित्त से कार्य के परिणाम को देखने वाली, अनेक कार्यों के अभ्यास के चिंतन से विशाल एवं विद्वद्जनों से प्रशंसित है। इस बुद्धि का स्वरूप स्पष्ट करने हेतु १२ दृष्टान्त दिये गये हैं।

पारिणामिकी बुद्धि वह है जो अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से विषय को सिद्ध करती है। यह आयु के परिपाक से पुष्ट और इहलौकिक उन्नति एवं मोक्ष रूप निश्रेयस प्रदान करने वाली है। इस बुद्धि का स्वरूप समझाने के लिए २१ उदाहरण दिये गये हैं। इन चारों बुद्धियों के जो उदाहरण दिये गये हैं वे सभी रोचक और ज्ञानवर्द्धक हैं।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद किये गये हैं। अवग्रह के भी अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह ये दो भेद हैं। व्यंजनावग्रह के श्रोत्रेन्द्रियज, घ्राणेन्द्रियज, जिव्हेन्द्रियज और स्पर्शेन्द्रियज ये ४ भेद हैं। अर्थावग्रह के श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिव्हेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय और नोइन्द्रिय जनित ये छह भेद हैं। इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणा के भी ६-६ भेद हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के कुल २८ भेद होते हैं। अवग्रह एक समय रहता है। ईहा और अवाय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और धारणा संख्येय और असंख्येय काल तक रहती है।

मतिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। द्रव्य-क्षेत्रादि की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सभी पदार्थों को जानता है पर देखता नहीं।

श्रुतज्ञान के १४ प्रकार हैं—अक्षरश्रुत, अनक्षर, संज्ञि, असंज्ञि, सम्यक्, मिथ्या, सादि, अनादि, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट, अनंगप्रविष्ट। इनमें से अक्षरश्रुत के संज्ञाअक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्धि-अक्षर ये तीन भेद हैं और उनके श्रोत्रेन्द्रिय आदि के भेद से छह प्रकार हैं। अनक्षरश्रुत श्वासोच्छ्वास लेना, छींकना, खांसना आदि अनेक प्रकार का है। संज्ञिश्रुत कालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी तीन तरह की संज्ञा की अपेक्षा से तीन प्रकार का है। इसके विपरीत लक्षण वाला असंज्ञिश्रुत है।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर प्रणीत द्वादशांगी गणिपिटक सम्यक् श्रुत है। यह आचारांग से दृष्टिवाद तक है।

सम्यक्दृष्टि के लिए स्व-श्रुत और पर-श्रुत ये दोनों सम्यक्श्रुत हैं और मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्या हो जाता है। मिथ्याश्रुत के नाम इस प्रकार बताये गये हैं—महाभारत, रामायण, भीमासुरोक्त, शकुनरुत आदि।

पूर्वोक्त द्वादशांगी पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सादि और सपर्यव-सित-सांत है और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अनादि एवं अपर्यवसित-अनंत है।

जिस सूत्र के आदि, मध्य और अन्त में कुछ विशेषता के साथ पुनः-पुनः एक ही पाठ का उच्चारण हो वह गमिक श्रुत है—जैसे दृष्टिवाद। इसके विपरीत अगमिक श्रुत है जैसे—आचारांग आदि।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत का पूर्व पृष्ठों में परिचय दिया जा चुका है।

अन्त में श्रुतज्ञान का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार बताते हैं कि श्रुतज्ञान का सही ज्ञान उस साधक को होगा जो शुश्रूषा (श्रवणेच्छा), प्रतिपृच्छा, श्रवण, ग्रहण, ईहा, अपोह, धारणा और आचरण इन आठ गुणों से युक्त होगा।

नन्दीसूत्र का आगम साहित्य में गहरा महत्त्व रहा है क्योंकि इसमें भावमंगल रूप पाँच ज्ञानों का वर्णन है। आगम अथवा श्रुत भी पाँच ज्ञानों में से एक ज्ञान है। इसलिए नन्दी का सम्बन्ध दूसरे आगमों से स्वतः जुड़ जाता है, अतः शास्त्रों की व्याख्या या वाचना का प्रारम्भ नन्दी से किया जाता था, ऐसा उल्लेख मिलता है।

नन्दीसूत्र के तीन संस्करण प्राप्त होते हैं। प्रथम देववाचक नन्दीसूत्र, दूसरा लघुनन्दी जिसे अनुज्ञानन्दी भी कहते हैं और तीसरा योगनन्दी। देववाचक विरचित नन्दीसूत्र का ऊपर की पंक्तियों में परिचय दिया जा चुका है। लघुनन्दी जिसे अनुज्ञानन्दी कहते हैं, उसमें अनुज्ञा शब्द का अर्थ आज्ञा है। इस पाठ का उपयोग आचार्य जब अपने शिष्य को गणधारण करने की या आचार्य बनने की आज्ञा देते हैं उस समय मंगलरूप होने से करते हैं, इसलिए इसे अनुज्ञानन्दी यह सार्थक नाम दिया गया है। अनेक कल्पों में एक कल्प अनुज्ञाकल्प भी है उसका विशेष परिचय पंचकल्प भाष्य और चूर्णि में दिया गया है।[1]

योगनंदी में नंदी का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया गया है। उसमें ज्ञान के आभिनिबोधिक आदि पाँच प्रकार बताये हैं। उनमें से केवल श्रुतज्ञान के उद्देशादि होते हैं अर्थात् श्रुतज्ञान का अध्ययन-अध्यापन हो सकता है और श्रुत में भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के ही उद्देशक होते हैं। अतः प्रस्तुत योगनंदी में पाँच ज्ञान के नाम बताकर श्रुत में १२ आचारश्रुतादि अंग और अंगबाह्य में कालिक के अन्तर्गत उत्तराध्ययनादि ३६ और उत्कालिक के अन्तर्गत दशवैकालिकादि ३१, आवश्यकव्यतिरिक्त और सामायिकादि छह आवश्यक सूत्र का समावेश किया है। इसमें योग शब्द प्रारम्भ में

१ विशेष जिज्ञासु देखें—नन्दीसुत्तं अणुओगद्दाराइं की पुण्यविजयजी महाराज की प्रस्तावना, महावीर जैन विद्यालय से प्रकाशित।

रखने का कारण यह है कि श्रुत का अभ्यास बिना योग के नहीं होता था। श्रुतनिमित्त जो योगविधि करने की होती उसके प्रारम्भ में इस नन्दी के पाठ का प्रयोग होने से इसे योगनंदी कहा गया है।

प्रस्तुत आगम के रचयिता देववाचक हैं। देववाचक और आगमों को पुस्तकारूढ़ करने वाले देवर्द्धि दोनों के नाम-साम्य होने से दोनों को एक माना गया है। १३वीं शताब्दी में भी आचार्य देवेन्द्र ने दोनों को एक बतलाया है[1] जिसका समर्थन इतिहासवेत्ता मुनिश्री कल्याणविजयजी ने किया[2] है। वे युगप्रधान नंदी में आई हुई स्थविरावली और कल्पसूत्र में आई गुर्वावली को प्रमाण मानकर अपने मंतव्य की पुष्टि करते हैं किन्तु सबसे प्राचीन प्रमाण नंदीचूर्णि का है। उसमें स्पष्ट रूप से उट्टंकित है कि दूष्यगणी के शिष्य देववाचक हैं। कल्पसूत्र की गुर्वावली में देवर्द्धि के गुरु का नाम आर्य शाण्डिल्य आया है। चूर्णि में देववाचक को दूष्यगणि का शिष्य लिखा है। इसलिए आर्य शाण्डिल्य के शिष्य देवर्द्धि और दूष्यगणी के शिष्य देववाचक एक नहीं है। आगम प्रभावक मुनि पुण्यविजयजी, पं० दलसुख मालवणिया आदि भी दोनों को अलग-अलग मानते हैं।[3] कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावली में भी इसी कारण भेद है।

---

१ (क) यदाह भगवान् देवर्द्धि क्षमाश्रमणः—नाणं पंचविहं पन्नत्तमित्यादि यदाह देवर्द्धि वाचकः—से किं तं मइनाणेत्यादि

(ख) यदाहुर्निर्दलिताज्ञानसंभारप्रसरा देवर्द्धिवाचकवराः—तं समासओ चउविहं पन्नत्तमित्यादि।

(आ० देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रंथ स्वोपज्ञवृत्ति)

२ वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना, पृ० १२०

३ (क) दूसगणिसीसो देववायगो साधुजणहियट्ठाए इणमाह—

(नन्दीचूर्णि, पृ० १०)

(ख) कः एवमाह—दूष्यगणि शिष्यो देववाचक इति गाथार्थः।

(नन्दी, हारिभद्रीयावृत्ति, पृ० २०)

(ग) देववाचकोऽधिकृताध्ययनविषयभूतस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां कुर्वन्निदमाह

(वही, पृ० २३)

(घ) तत आचार्योऽपि देववाचकनामा ज्ञानपंचकं व्याचिख्यासु तीर्थंकृत्स्तुतिमभिधातुमाह (श्री मलयगिरीया नन्दीवृत्ति पृ० २)

(ङ) दूष्यगणिपादोपसेवि पूर्वान्तिर्गतसूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षां कृत्वा सम्प्रत्यधिकृताध्ययनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां विदधाति—

(वही, पत्र ६५)

पं० श्रीकल्याणविजयजी ने देववाचक और देवर्द्धि को एक माना है इसलिए कल्पसूत्र के आधार से वे देवर्द्धि का समय भगवान महावीर के निर्वाण का ९८०वाँ वर्ष मानते हैं अतः उनके मतानुसार दोनों एक होने से देववाचक का समय भी वही ९८०वाँ वर्ष गिनना चाहिये। लेकिन यदि वे दोनों अलग हैं, तो उनकी समय-विचारणा भी अलग करनी आवश्यक है। वल्लभी स्थविरावली में भूतदिन्न के ७९ वर्ष और कालक के ११ वर्ष बतलाये हैं और कालक के साथ वह स्थविरावली पूरी होती है तब अन्त में वीर निर्वाण ९८१ तक में कालक का काल पूर्ण होता है।

देववाचक ने जो परम्परा नंदी में दी है उसके अनुसार भूतदिन्न के बाद कालक नहीं किन्तु लौहित्य का उल्लेख है और लौहित्य के बाद अपने गुरु दूसगणि का उल्लेख है। वल्लभी स्थविरावली के अनुसार कालक के ११ वर्ष न गिनें तो भूतदिन्न का स्वर्गवास वीर-निर्वाण ९७० (वि० सं० ५००) में हुआ। उसके बाद नन्दी के अनुसार लौहित्य हुए और बाद में दूसगणि। दूसगणि के शिष्य देववाचक हैं। ऐसा भी संभव है कि भूतदिन्न का समय ७९ वर्ष जितना लंबा हो तो उनकी उपस्थिति में ही उनके शिष्य लौहित्य और प्रशिष्य दूसगणि दोनों विद्यमान रहे हों। इससे हम देववाचक को वीर-निर्वाण ९७० (वि० सं ५००) से भी पूर्व मान सकते हैं। ऐसा न हो तो भी भूतदिन्न के बाद ५० वर्ष में देववाचक हुए ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती अर्थात् वि० सं० ५०० से ५५० तक उनका समय माना जा सकता है।

देववाचक के समय की वि० सं० ५५० यह अन्तिम अवधि माननी चाहिये। उसके पूर्व भी हुए हों ऐसी भी सम्भावना है। उनकी इस अन्तिम अवधि का समर्थन आचार्य जिनभद्र का विशेषावश्यक भी करता है। क्योंकि उसमें नंदी का उल्लेख आया है। आचार्य जिनभद्र का समय ५४६ से ५५० आस-पास का है। इसलिए नंदी की रचना उनके विशेषावश्यक से पूर्व की गई हो यह निश्चित है। वीर-निर्वाण ९८० अथवा ९९३ (विक्रम सं० ५१०-५२३) में आचार्य देवर्द्धि ने कल्पसूत्र का लेखन पूर्ण किया है इसलिए नंदी का समय उसके पूर्व ही होना चाहिये क्योंकि नंदी का उल्लेख अन्य अंग आगमों में आता ही है। इसलिए यह निस्सन्देह है कि नंदी की रचना वि० सं ५२३ से पूर्व हो गई थी।

आवश्यकनिर्युक्ति द्वितीय भद्रबाहु की कृति है। वराहमिहिर, जिन्होंने वि० सं० ५६२ में पंचसिद्धांतिका लिखी है, वे उनके समकालीन हैं। अत: आवश्यकनिर्युक्ति का समय भी वि० सं० ५६२ मानें तो भी नंदी की रचना इससे पूर्व हुई होगी, ऐसा युक्तिसंगत मालूम पड़ता है। और अंगादि के वल्लभी लेखनकाल को ध्यान में लें तो पूर्वोक्त वि० सं० ५२३ के पूर्व नंदी की रचना मानने में कोई बाधा नहीं दीखती।

□

४. अनुयोगद्वार

मूल आगम साहित्य में नन्दी के पश्चात् अनुयोगद्वार आता है। जैसे पाँच ज्ञानरूप नन्दी मंगलस्वरूप है वैसे ही अनुयोगद्वारसूत्र भी समग्र आगमों को और उनकी व्याख्याओं को समझने में कुन्जी सदृश है। ये दोनों आगम एक दूसरे के परिपूरक हैं। आगमों के वर्गीकरण में इन दोनों आगमों का स्थान चूलिका वर्ग में रक्खा गया है। जैसे एक भव्य मंदिर शिखर से अधिक शोभा प्राप्त करता है वैसे ही आगम मंदिर भी नन्दी और अनुयोगद्वार रूप शिखर से अधिक जगमगाता है।

अनुयोग का अर्थ व्याख्या या विवेचन है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अनुयोग की व्याख्या करते हुए लिखा है—श्रुत अर्थात् शब्द का उसके अर्थ के साथ योग वह अनुयोग है। अथवा सूत्र का अपने अर्थ के सम्बन्ध में जो अनुरूप या अनुकूल व्यापार हो वह अनुयोग है। अनुयोग का प्राकृतरूप अणु+योग है। अणु=स्तोक-स्वल्प, अनु=पश्चात् भी होता है। सूत्र=शब्द, अर्थ से अणु=स्तोक है अतः उसे अणु कहते हैं। वक्ता के मन में अर्थ प्रथम आता है। उसके पश्चात् वह उसके प्रतिपादक शब्द का प्रयोग करता है। अथवा यों कह सकते हैं कि भगवान महावीर ने प्रथम अर्थ का उपदेश दिया और बाद में गणधरों ने सूत्र की रचना की। इसलिए सूत्र शब्द अर्थ के बाद में है। इसलिए सूत्र 'अनु' कहलाता है। इस 'अनु' शब्द का अर्थ के साथ योग करना अनुयोग है। अथवा अनु-अणु-सूत्र का जो व्यापार-अर्थ का प्रतिपादन वह अनुयोग है। सारांश यह है कि शब्दों की व्याख्या करने की प्रक्रिया अनुयोग हैं।[1]

---

१ अणुयोजणमणुयोगो सुतस्स णियएण जमभिधेयेणं।
यावारो वा जोगो जो अणुरूवोऽणुकूलो वा॥
आह—अनुयोग इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—श्रुतस्य स्वेनार्थेन अनुयोजनमनुयोगः। अथवा—(अणोः) सूत्रस्य स्वाभिधेयव्यापारो योगः। अनुरूपोऽनुकूलो (वा) योगोऽनुयोगः।

भद्रबाहु स्वामी ने अनुयोग के पर्याय इस प्रकार बताये हैं—अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक।[1] विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने और बृहत्कल्पभाष्य में संघदासगणी ने इन सभी का विवरण प्रस्तुत किया है।

अनुयोगद्वार में द्रव्यानुयोग की प्रधानता है। उसमें चार द्वार हैं, १८९९ श्लोकप्रमाण उपलब्ध मूलपाठ है। १५२ गद्यसूत्र हैं और १४३ पद्यसूत्र हैं।

अनुयोगद्वार में प्रथम पंचज्ञान से मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् आवश्यक अनुयोग का उल्लेख है। इससे पाठक को सहज ही यह अनुमान होता है कि इसमें आवश्यकसूत्र की व्याख्या होगी, पर ऐसा नहीं है। इसमें अनुयोग के द्वार अर्थात् व्याख्याओं के द्वार उपक्रम आदि का ही विवेचन किया गया है। विवेचन या व्याख्या पद्धति कैसी होनी चाहिये यह बताने के लिए आवश्यक को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत सूत्र में केवल आवश्यक श्रुतस्कन्ध अध्ययन नामक ग्रन्थ की व्याख्या, उसके छह अध्ययनों के पिण्डार्थ (अर्थाधिकार का निर्देश), उनके नाम और सामायिक शब्द की व्याख्या दी है। आवश्यकसूत्र के पदों की व्याख्या नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अनुयोगद्वार मुख्यरूप से अनुयोग की व्याख्याओं के द्वारों का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है—आवश्यकसूत्र की व्याख्या करने वाला नहीं।

आगम साहित्य में अंगों के पश्चात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान आवश्यकसूत्र को दिया गया है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में निरूपित सामायिक से ही श्रमण जीवन का प्रारम्भ होता है। प्रतिदिन प्रातः संध्या के समय

अथवा जमत्थतो थोव पच्छभावेहि सुतमाणुं तस्स।
अभिधेये वावारो जोगो तेणं व संबंधो॥

अथवाऽर्थतः पश्चादभिधानात् स्तोकत्वाच्च सूत्रम् अनु, तस्याभिधेयेन योजनमनुयोगः। अणुनो वा योगोऽणुयोगः अभिधेयव्यापार इत्यर्थः

—स्वोपज्ञवृत्ति—विशेषावश्यक

१ अणुयोगो अणियोगो भास विभासा य वत्तियं चेव।
एते अणुओगस्स तु णामा एगट्ठिया पंच॥
(आव० नि० गाथा १२६, विशे० १३८२, पृ० १८७)

श्रमण जीवन की जो आवश्यक क्रिया है इसकी शुद्धि और आराधना का निरूपण इसमें है। अतः अंगों के अध्ययन से पूर्व आवश्यक का अध्ययन आवश्यक माना गया है। एतदर्थ ही आवश्यकसूत्र की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा प्रस्तुत सूत्र में की है। व्याख्या के रूप में भले ही सम्पूर्ण ग्रन्थ की व्याख्या न हो, केवल ग्रन्थ के नाम के पदों की व्याख्या की गई हो, तथापि व्याख्या की जिस पद्धति को इसमें अपनाया गया है वही पद्धति सम्पूर्ण आगमों की व्याख्या में भी अपनाई गई है। यदि यह कह दिया जाय कि आवश्यक की व्याख्या के बहाने से ग्रन्थकार ने सम्पूर्ण आगमों के रहस्यों को समझाने का प्रयास किया है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आगम के प्रारम्भ में आभिनिबोधिक आदि पाँच ज्ञानों का निर्देश करके श्रुतज्ञान का विस्तार से निरूपण किया है। क्योंकि श्रुतज्ञान का ही उद्देश (पढ़ने की आज्ञा), समुद्देश (पढ़े हुए का स्थिरीकरण), अनुज्ञा (अन्य को पढ़ाने की आज्ञा) एवं अनुयोग (विस्तार से व्याख्यान) होता है; जबकि शेष चार ज्ञानों का नहीं होता। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के उद्देशादि होते हैं वैसे ही कालिक, उत्कालिक और आवश्यकसूत्र के भी होते हैं।

सर्वप्रथम यह चिन्तन किया गया है कि आवश्यक एक अंगरूप है या अनेक अंगरूप? एक श्रुतस्कन्ध है या अनेक श्रुतस्कन्ध? एक अध्ययन रूप है या अनेक अध्ययनरूप? एक उद्देशनरूप है या अनेक उद्देशनरूप? समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आवश्यक न एक अंगरूप है, न अनेक अंगरूप, वह एक श्रुतस्कन्ध है और अनेक अध्ययन रूप है। उसमें न एक उद्देश है, न अनेक। आवश्यक श्रुतस्कन्धाध्ययन का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन इन चारों का पृथक्-पृथक् निक्षेप किया गया है। आवश्यक निक्षेप चार प्रकार का है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। किसी का भी आवश्यक यह नाम रख देना नाम-आवश्यक है।

किसी वस्तु की आवश्यक के रूप में स्थापना करने का नाम स्थापना-आवश्यक है। स्थापनाआवश्यक के ४० प्रकार हैं—काष्ठकर्म-जन्य, चित्रकर्मजन्य, वस्त्रकर्मजन्य, लेपकर्मजन्य, ग्रंथिकर्मजन्य, वेष्टनकर्म-जन्य, पुरिमकर्मजन्य (धातु आदि को पिघलाकर साँचे में ढालना), संघातिम-कर्मजन्य (वस्त्रादि के टुकड़े जोड़ना) और अक्षकर्मजन्य (पासा) वराटक-कर्मजन्य (कौड़ी)। इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं— एक रूप और अनेक रूप।

प्रमाण के अर्द्धकर्ष, कर्ष, अर्द्धपल, पल, अर्द्धतुला, तुला, अर्द्धभार, भार आदि अनेक भेद हैं। इस प्रमाण से अगर, कुमकुम, खांड, गुड़ आदि वस्तुओं का प्रमाण मापा जाता है। जिस प्रमाण से भूमि आदि का माप किया जाय वह अवमान है। इसके हाथ, दंड, धनुष्य आदि अनेक प्रकार हैं। गणितमान प्रमाण में संख्या से प्रमाण निकाला जाता है जैसे एक, दो से लेकर हजार, लाख, करोड़ आदि जिससे द्रव्य के आय-व्यय का हिसाब लगाया जाय। प्रतिमान—जिससे स्वर्ण आदि मापा जाय। इसके गुञ्जा, कांगणी, निष्पाव, कर्ममाशक, मंडलक, सोनैया आदि अनेक भेद हैं। इस प्रकार द्रव्यप्रमाण की चर्चा है।

क्षेत्रप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न दो प्रकार का है। एक प्रदेशावगाही, द्वि-प्रदेशावगाही, आदि पुद्गलों से व्याप्त क्षेत्र को प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहा गया है। विभागनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण के अंगुल, वितस्ति, हस्त, कुक्षि, दंड, कोश, योजन आदि नानाविध प्रकार हैं। अंगुल—आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल के रूप में तीन प्रकार का है। जिस काल में जो मानव होते हैं उनके अपने अंगुल से १२ अंगुल प्रमाणमुख होता है। १०८ अंगुल प्रमाण पूरा शरीर होता है। वे पुरुष उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप से ३ प्रकार के हैं। जिन पुरुषों में पूर्ण लक्षण हैं और १०८ अंगुल प्रमाण जिनका शरीर है वे उत्तम पुरुष हैं, जिन पुरुषों का शरीर १०४ अंगुल प्रमाण है वे मध्यम पुरुष हैं और जिनका शरीर ९६ अंगुल प्रमाण है वे जघन्य पुरुष हैं। इन अंगुलों के प्रमाण से छह अंगुल का १ पाद, २ पाद की १ वितस्ति, २ वितस्ति का १ हाथ, २ हाथ की १ कुक्षि, २ कुक्षि का १ धनुष्य, दो हजार धनुष्य का १ कोश, ४ कोश का १ योजन होता है। प्रस्तुत प्रमाण से आराम, उद्यान, कानन, वन, वनखंड, कुआ, वापिका, नदी, खाई, प्राकार, स्तूप आदि नापे जाते हैं।

उत्सेधांगुल का प्रमाण बताते हुए परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु का वर्णन विविध प्रकार से किया है। प्रकाश में जो धूलिकण आँखों से दिखाई देते हैं वे त्रसरेणु हैं। रथ के चलने से जो धूलि उड़ती है वह रथरेणु है। परमाणु का दो दृष्टियों से प्रतिपादन है—सूक्ष्म परमाणु और व्यावहारिक परमाणु। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के मिलने से एक व्यावहारिक परमाणु बनता है। व्यावहारिक परमाणुओं की क्रमशः वृद्धि होते-होते मानवों का बालाग्र, लीख, जूं, यव और अंगुल बनता है जो क्रमशः आठ गुने अधिक

पुनः सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना रूप दो भेद हैं। इस तरह स्थापनाआवश्यक के ४० भेद होते हैं।

द्रव्यआवश्यक के आगमतः और नोआगमतः ये दो भेद हैं। आवश्यक पद स्मरण कर लेना और उसका निर्दोष उच्चारणादि करना आगमतः द्रव्यआवश्यक है। इसका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए सप्तनय की दृष्टि से द्रव्यावश्यक पर चिन्तन किया है। नोआगमतः द्रव्यावश्यक का तीन दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। वे दृष्टियाँ हैं—ज्ञशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त। आवश्यक पद के अर्थ को जानने वाले, व्यक्ति के प्राणरहित शरीर को ज्ञशरीर द्रव्यावश्यक कहते हैं। जैसे मधु या घृत से रिक्त घट को भी मधुघट या घृतघट कहते हैं, क्योंकि पहले उसमें मधु या घृत था। वैसे ही आवश्यक पद का अर्थ जानने वाला चेतन तत्त्व अभी नहीं है तथापि उसका शरीर है; भूतकालीन सम्बन्ध के कारण वह ज्ञशरीर द्रव्यावश्यक कहलाता है। जो जीव वर्तमान में आवश्यक पद का अर्थ नहीं जानता है किन्तु आगामी काल में अपने इसी शरीर द्वारा वह उसे स्मरण करेगा उसका शरीर भव्यशरीर द्रव्यावश्यक है। ज्ञशरीर और भव्य शरीर से अतिरिक्त तद्व्यतिरिक्त है। वह लौकिक, कुप्रावचनिक, और लोकोत्तरीय रूप में तीन प्रकार का है। राजा, युवराज, सेठ, सेनापति, सार्थवाह प्रभृति का प्रातः व सायंकालीन आवश्यक कर्तव्य वह लौकिक द्रव्यावश्यक है। कुतीर्थिकों की क्रियाएँ कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक हैं। श्रमण के गुणों से रहित, निरंकुश, जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले स्वच्छन्द-विहारी की अपने मत की दृष्टि से उभय-कालीन क्रियाएँ लोकोत्तर द्रव्यावश्यक हैं।

भाव-आवश्यक आगमतः और नोआगमतः रूप में दो प्रकार का है। आवश्यक के स्वरूप को उपयोग-पूर्वक जानना आगमतः भाव-आवश्यक है। नोआगमतः भाव-आवश्यक भी लौकिक और कुप्रावचनिक तथा लोकोत्तरिक रूप में तीन प्रकार का है। प्रातः महाभारत, सायं रामायण प्रभृति का स-उपयोग पठन-पाठन लौकिक आवश्यक है। चर्म आदि धारण करने वाले तापस आदि का अपने इष्टदेव को सअंजलि नमस्कारादि करना कुप्रावचनिक भावावश्यक है। शुद्ध उपयोग-सहित वीतराग के वचनों पर श्रद्धा रखने वाले चतुर्विध तीर्थ का प्रातः-सायंकाल उपयोगपूर्वक आवश्यक करना लोकोत्तरिक भाव-आवश्यक है।

प्रमाण के अर्द्धकर्ष, कर्ष, अर्द्धपल, पल, अर्द्धतुला, तुला, अर्द्धभार, भार आदि अनेक भेद हैं। इस प्रमाण से अगर, कुमकुम, खाँड, गुड़ आदि वस्तुओं का प्रमाण मापा जाता है। जिस प्रमाण से भूमि आदि का माप किया जाय वह अवमान है। इसके हाथ, दंड, धनुष्य आदि अनेक प्रकार हैं। गणितमान प्रमाण में संख्या से प्रमाण निकाला जाता है जैसे एक, दो से लेकर हजार, लाख, करोड़ आदि जिससे द्रव्य के आय-व्यय का हिसाब लगाया जाय। प्रतिमान—जिससे स्वर्ण आदि मापा जाय। इसके गुञ्जा, कांगणी, निष्पाव, कर्ममाशक, मंडलक, सोनैया आदि अनेक भेद हैं। इस प्रकार द्रव्यप्रमाण की चर्चा है।

क्षेत्रप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न दो प्रकार का है। एक प्रदेशावगाही, द्वि-प्रदेशावगाही, आदि पुद्गलों से व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश-निष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहा गया है। विभागनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण के अंगुल, वितस्ति, हस्त, कुक्षि, दंड, कोश, योजन आदि नानाविध प्रकार हैं। अंगुल—आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल के रूप में तीन प्रकार का है। जिस काल में जो मानव होते हैं उनके अपने अंगुल से १२ अंगुल प्रमाणमुख होता है। १०८ अंगुल प्रमाण पूरा शरीर होता है। वे पुरुष उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप से ३ प्रकार के हैं। जिन पुरुषों में पूर्ण लक्षण हैं और १०८ अंगुल प्रमाण जिनका शरीर है वे उत्तम पुरुष हैं, जिन पुरुषों का शरीर १०४ अंगुल प्रमाण है वे मध्यम पुरुष हैं और जिनका शरीर ९६ अंगुल प्रमाण है वे जघन्य पुरुष हैं। इन अंगुलों के प्रमाण से छह अंगुल का १ पाद, २ पाद की १ वितस्ति, २ वितस्ति का १ हाथ, २ हाथ की १ कुक्षि, २ कुक्षि का १ धनुष्य, दो हजार धनुष्य का १ कोश, ४ कोश का १ योजन होता है। प्रस्तुत प्रमाण से आराम, उद्यान, कानन, वन, वनखंड, कूआ, वापिका, नदी, खाई, प्राकार, स्तूप आदि नापे जाते हैं।

उत्सेधांगुल का प्रमाण बताते हुए परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु का वर्णन विविध प्रकार से किया है। प्रकाश में जो धूलिकण आँखों से दिखाई देते हैं वे त्रसरेणु हैं। रथ के चलने से जो धूलि उड़ती है वह रथरेणु है। परमाणु का दो दृष्टियों से प्रतिपादन है—सूक्ष्म परमाणु और व्यावहारिक परमाणु। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के मिलने से एक व्यावहारिक परमाणु बनता है। व्यावहारिक परमाणुओं की क्रमशः वृद्धि होते-होते मानवों का बालाग्र, लीख, जूं, यव और अंगुल बनता है जो क्रमशः आठ गुने अधिक

होते हैं। प्रस्तुत अंगुल के प्रमाण से छह अंगुल का अर्द्धपाद, १२ अंगुल का पाद, २४ अंगुल का १ हस्त, ४८ अंगुल की १ कुक्षि, ९६ अंगुल का १ धनुष्य होता है। इसी धनुष्य के प्रमाण से दो हजार धनुष्य का १ कोश और ४ कोश का १ योजन होता है। उत्सेधांगुल का प्रयोजन ४ गतियों के प्राणियों की अवगाहना नापना है। यह अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट रूप से दो प्रकार की होती है। जैसे नरक में जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है और उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष्य प्रमाण है और उत्तर-वैक्रिया करने पर जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हज़ार धनुष्य होती है। इस तरह उत्सेधांगुल का प्रमाण स्थायी, निश्चित और स्थिर है। उत्सेधांगुल से एक हजार गुना अधिक प्रमाणांगुल होता है। वह भी उत्सेधांगुल के समान निश्चित है। अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ और उनके पुत्र भरत के अंगुल को प्रमाणांगुल माना गया है। अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर के एक अंगुल के प्रमाण में दो उत्सेधांगुल होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो उनके ५०० अंगुल के वरावर १००० उत्सेधांगुल अर्थात् १ प्रमाणांगुल होता है। इस प्रमाणांगुल से अनादि पदार्थों का नाप ज्ञात किया जाता है। इससे वड़ा अन्य कोई अंगुल नहीं है।

कालप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न रूप से दो प्रकार का है। एक समय की स्थिति वाले परमाणु या स्कन्ध आदि का काल प्रदेश-निष्पन्न कालप्रमाण कहलाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन, अहोरात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्य, सागर, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, परावर्तन, आदि को विभागनिष्पन्न कालप्रमाण कहा गया है। समय वहुत ही सूक्ष्म कालप्रमाण है। इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए वस्त्र विदारण का उदाहरण दिया है। असंख्यात समय की एक आवलिका, संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वासनिश्वास; प्रसन्नमन, पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति के एक श्वासोच्छ्-वास को प्राण कहते हैं। सात प्राणों का १ स्तोक, ७ स्तोकों का १ लव, उसके पश्चात् शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम की संख्या तक प्रकाश डाला है जिसका हम अन्य आगमों के विवेचन में उल्लेख कर चुके हैं। इस कालप्रमाण से चार गतियों के जीवों के आयुष्य पर विचार किया गया है।

भावप्रमाण ३ प्रकार का है—गुणप्रमाण, नय-प्रमाण और संख्या-प्रमाण। गुणप्रमाण—जीवगुणप्रमाण और अजीवगुणप्रमाण इस तरह से

दो प्रकार का है। जीवगुणप्रमाण के तीन भेद—ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुणप्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण हैं। इनमें से ज्ञानगुणप्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद हैं। प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष दो भेद हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष के श्रोत्रेन्द्रिय से स्पर्शेन्द्रिय तक पाँच भेद हैं। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष—ये तीन भेद हैं।[1]

अनुमान—पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् तीन प्रकार का है। पूर्ववत् अनुमान को समझाने के लिये एक रूपक दिया है। जैसे—किसी माता का कोई पुत्र लघुवय में अन्यत्र चला गया और युवक होकर पुनः अपने नगर में आया। उसे देखकर उसकी माता पूर्व लक्षणों से अनुमान करती है कि यह पुत्र मेरा ही है। इसे पूर्ववत् अनुमान कहा है।

शेषवत् अनुमान कार्यतः, कारणतः, गुणतः, अवयवतः और आश्रयतः इस तरह पाँच प्रकार का है। कार्य से कारण का ज्ञान होना कार्यतः अनुमान कहा जाता है। जैसे शंख, भेरी आदि के शब्दों से उनके कारणभूत पदार्थों का ज्ञान होना; यह एक प्रकार का अनुमान है। कारणतः अनुमान वह है जिसमें कारणों से कार्य का ज्ञान होता है जैसे—तंतुओं से पट बनता है, मिट्टी के पिंड से घट बनता है। गुणतः अनुमान वह है जिसमें गुण के ज्ञान से गुणी का ज्ञान किया जाय, जैसे—कसौटी से स्वर्ण की परीक्षा, गंध से फूलों की परीक्षा। अवयवतः अनुमान है अवयवों से अवयवी का ज्ञान होना जैसे—सींगों से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दाँतों से हाथी का। आश्रयतः अनुमान वह है जिसमें आश्रय से आश्रयी का ज्ञान होता है। इसमें साधन से साध्य पहचाना जाता है जैसे—धुएँ से अग्नि, बादलों से जल, सदाचरण से कुलीन पुत्र का ज्ञान होता है।

दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट—ये दो भेद हैं। किसी एक व्यक्ति को देखकर तद्देशीय या तज्जातीय अन्य व्यक्तियों की आकृति आदि का अनुमान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों की आकृति आदि से एक व्यक्ति की आकृति का अनुमान भी किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को पहले एक बार देखा हो, पुनः उसको दूसरे स्थान पर देखकर अच्छी तरह पहचान लेना विशेषदृष्ट अनुमान है।

---

१ प्रत्यक्षप्रमाण का विस्तृत विवरण नंदीसूत्र के विवेचन में दिया गया है।

दो प्रकार का है। जीवगुणप्रमाण के तीन भेद—ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुण-प्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण हैं। इनमें से ज्ञानगुणप्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद हैं। प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष दो भेद हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष के श्रोत्रेन्द्रिय से स्पर्शेन्द्रिय तक पाँच भेद हैं। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष—ये तीन भेद हैं।[1]

अनुमान—पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् तीन प्रकार का है। पूर्ववत् अनुमान को समझाने के लिये एक रूपक दिया है। जैसे—किसी माता का कोई पुत्र लघुवय में अन्यत्र चला गया और युवक होकर पुनः अपने नगर में आया। उसे देखकर उसकी माता पूर्व लक्षणों से अनुमान करती है कि यह पुत्र मेरा ही है। इसे पूर्ववत् अनुमान कहा है।

शेषवत् अनुमान कार्यतः, कारणतः, गुणतः, अवयवतः और आश्रयतः इस तरह पाँच प्रकार का है। कार्य से कारण का ज्ञान होना कार्यतः अनुमान कहा जाता है। जैसे शंख, भेरी आदि के शब्दों से उनके कारणभूत पदार्थों का ज्ञान होना; यह एक प्रकार का अनुमान है। कारणतः अनुमान वह है जिसमें कारणों से कार्य का ज्ञान होता है जैसे—तंतुओं से पट बनता है, मिट्टी के पिंड से घट बनता है। गुणतः अनुमान वह है जिसमें गुण के ज्ञान से गुणी का ज्ञान किया जाय, जैसे—कसौटी से स्वर्ण की परीक्षा, गंध से फूलों की परीक्षा। अवयवतः अनुमान है अवयवों से अवयवी का ज्ञान होना जैसे—सींगों से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दाँतों से हाथी का। आश्रयतः अनुमान वह है जिसमें आश्रय से आश्रयी का ज्ञान होता है। इसमें साधन से साध्य पहचाना जाता है जैसे—धुएँ से अग्नि, बादलों से जल, सदाचरण से कुलीन पुत्र का ज्ञान होता है।

दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट—ये दो भेद हैं। किसी एक व्यक्ति को देखकर तद्देशीय या तज्जातीय अन्य व्यक्तियों की आकृति आदि का अनुमान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों की आकृति आदि से एक व्यक्ति की आकृति का अनुमान भी किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को पहले एक बार देखा हो, पुनः उसको दूसरे स्थान पर देखकर अच्छी तरह पहचान लेना विशेषदृष्ट अनुमान है।

---

१ प्रत्यक्षप्रमाण का विस्तृत विवरण नंदीसूत्र के विवेचन में दिया गया है।

उपमान प्रमाण के साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत ये दो भेद हैं। साधर्म्योपनीत के किंचित्साधर्म्योपनीत, प्रायःसाधर्म्योपनीत और सर्व-साधर्म्योपनीत ये तीन प्रकार हैं। जिसमें कुछ साधर्म्य हो वह किंचित् साधर्म्योपनीत है उदाहरण के लिए जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है क्योंकि दोनों ही प्रकाशित हैं। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है क्योंकि दोनों में शीतलता है। जिसमें लगभग समानता हो वह प्रायःसाधर्म्योपनीत है जैसे—गाय है वैसी नील-गाय है। जिसमें सब प्रकार की समानता हो वह सर्वसाधर्म्योपनीत है। यह उपमा देश, काल आदि की भिन्नता के कारण अन्य में नहीं प्राप्त होती। अतः उसकी उसी से उपमा देना सर्वसाधर्म्योपनीत उपमान है। इसमें उपमेय और उपमान भिन्न नहीं होते। जैसे—सागर सागर के सदृश है। तीर्थङ्कर तीर्थङ्कर के समान हैं।

वैधर्म्योपनीत के किंचित्वैधर्म्योपनीत, प्रायःवैधर्म्योपनीत और सर्व-वैधर्म्योपनीत—ये तीन प्रकार हैं।

आगम दो प्रकार के हैं—लौकिक और लोकोत्तर। मिथ्यादृष्टियों के बनाये हुए ग्रन्थ लौकिक आगम हैं। जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग गणिपिटक—यह लोकोत्तर आगम है। अथवा आगम के सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम अथवा आत्मागम, अनंतरागम और परम्परागम, इस प्रकार तीन भेद हैं। तीर्थङ्कर द्वारा कथित अर्थ उनके लिए आत्मागम है। गणधररचित सूत्र गणधर के लिए आत्मागम है और अर्थ उनके लिए परम्परागम है। उसके पश्चात् सूत्र, अर्थ दोनों परम्परागम है। यह ज्ञानगुणप्रमाण का वर्णन है।

दर्शनगुणप्रमाण के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल-दर्शन गुणप्रमाण ये चार भेद हैं।

चारित्रगुणप्रमाण पाँच प्रकार का है—सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र गुणप्रमाण।

सामायिकचारित्र इत्वरिक और यावत्कथित रूप से दो प्रकार का है। छेदोपस्थापनीयचारित्र भी सातिचार और निरतिचार (सदोष और निर्दोष) ऐसे दो प्रकार का है। इसी तरह परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र भी क्रमशः निर्विश्यमान और निर्विष्टकायिक, प्रतिपाती और अप्रतिपाती, छाद्मस्थिक और केवलिक इस प्रकार दो-दो तरह के हैं।

चारित्रगुणप्रमाण के अवान्तर भेद-प्रभेदों पर प्रस्तुत आगम में प्रकाश नहीं डाला गया है।

अजीवगुणप्रमाण के ५ प्रकार हैं—वर्णगुणप्रमाण, गंधगुणप्रमाण, रसगुणप्रमाण, स्पर्शगुणप्रमाण और संस्थानगुणप्रमाण। इनके क्रमश: ५ २, ५, ८ और ५ भेद *प्रतिपादित किये गये हैं। यह गुणप्रमाण का वर्णन* हुआ।

भावप्रमाण का दूसरा भेद नयप्रमाण है। नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये सात प्रकार हैं। प्रस्थक, वसति एवं प्रदेश के दृष्टान्त से इन नयों का स्वरूप समझाया है।

भावप्रमाण का तृतीय भेद संख्याप्रमाण है। वह नामसंख्या, स्थापनासंख्या, द्रव्यसंख्या, उपमानसंख्या, परिमाणसंख्या, ज्ञानसंख्या, गणनासंख्या और भावसंख्या—इस तरह आठ प्रकार का है।

गणनासंख्या विशेष महत्त्वपूर्ण होने से उसका विस्तार से विवेचन किया है। जिसके द्वारा गणना की जाय वह गणनासंख्या कहलाती है। एक का अंक गिनने में नहीं आता अत: दो से गणना की संख्या का प्रारम्भ होता है। संख्या के संख्येयक, असंख्येयक और अनन्त ये तीन भेद हैं। संख्येयक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं। असंख्येयक के परीतासंख्येयक, युक्तासंख्येयक और असंख्येयासंख्येयक तथा इन तीनों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार असंख्येयक के ९ भेद हुए। अनन्तक के परीतानंतक, युक्तानंतक और अनन्तानन्तक ये तीन भेद हैं। इनमें से परीतानंतक और युक्तानन्तक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद हैं और अनन्तान्तक के जघन्य और मध्यम ये दो भेद हैं। इस प्रकार कुल ८ भेद होते हैं।

इस प्रकार संख्येयक के ३, असंख्येयक के ९ और अनन्तक के ८ कुल २० भेद हुए। यह भावप्रमाण का वर्णन हुआ।

हमने पूर्व पृष्ठों में सामायिक के चार अनुयोगद्वारों में से प्रथम अनुयोगद्वार उपक्रम के आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार ये ६ भेद किये थे। उनमें आनुपूर्वी, नाम और प्रमाण पर चिन्तन किया जा चुका है। अवशेष ३ पर चिन्तन करना है।

वक्तव्यता के स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और उभयसमयवक्तव्यता ये तीन प्रकार हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि

स्व-सिद्धान्तों का वर्णन करना स्वसमयवक्तव्यता है। अन्य मतों के सिद्धान्तों की व्याख्या करना परसमयवक्तव्यता है। स्वपर-उभय मतों की व्याख्या करना उभयसमयवक्तव्यता है।

जो जिस अध्ययन का अर्थ है अर्थात् विषय है वही उस अध्ययन का अर्थाधिकार है। उदाहरण के रूप में जैसे आवश्यकसूत्र के ६ अध्ययनों का सावद्ययोग से निवृत्त होना ही उसका विषयाधिकार है वही अर्थाधिकार कहलाता है।

समवतार का तात्पर्य यह है कि आनुपूर्वी आदि जो द्वार हैं उनमें उन-उन विषयों का समवतार करना अर्थात् सामायिक आदि अध्ययनों की आनुपूर्वी आदि पाँच बातें विचार कर योजना करना। समवतारनाम के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव समवतार इस प्रकार छह भेद हैं। द्रव्यों का स्वगुण की अपेक्षा से आत्मभाव में अवतीर्ण होना—व्यवहारनय की अपेक्षा से पररूप में अवतीर्ण होना आदि द्रव्य समवतार है। क्षेत्र का भी स्व-रूप, पर-रूप और उभयरूप से समवतार होता है। कालसमवतार श्वासोच्छ्वास से संख्यात, असंख्यात और अनन्तकाल (जिसका विस्तार पूर्व में दे चुके हैं) तक का होता है। भावसमवतार के भी दो भेद हैं—आत्मभाव समवतार और तदुभय समवतार। भाव का अपने ही स्वरूप में समवतीर्ण होना आत्मभाव समवतार कहलाता है। जैसे—क्रोध का क्रोध के रूप में समवतीर्ण होना। भाव का स्व-रूप और पर-रूप दोनों में समवतार होना तदुभय भावसमवतार है। जैसे—क्रोध का क्रोध के रूप में समवतार होने के साथ ही मान के रूप में समवतार होना तदुभय भाव-समवतार है।

अनुयोगद्वारसूत्र में अधिक भाग उपक्रम की चर्चा में ले रखा है। शेष तीन निक्षेप संक्षेप में हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना ऐसी है कि ज्ञातव्य विषयों का प्रतिपादन उपक्रम में ही कर दिया है जिससे बाद के विषयों को समझना अत्यन्त सरल हो जाता है।

निक्षेप, यह अनुयोगद्वार का दूसरा द्वार है। उपक्रम के पश्चात् निक्षेप पर चिन्तन सरल हो जाता है। अतः निक्षेप पर चिन्तन करते हुए ओघनिष्पन्ननिक्षेप, नामनिष्पन्ननिक्षेप और सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेप—इस प्रकार तीन भेद किये हैं। ओघनिष्पन्ननिक्षेप, अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा के रूप में चार प्रकार का है। अध्ययन के नामाध्ययन,

स्थापनाध्ययन, द्रव्याध्ययन और भावाध्ययन ये चार भेद हैं। अक्षीण के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद हैं। इन चार में भावाक्षीणता के आगमतः भावाक्षीणता और नोआगमतः भावाक्षीणता ये दो भेद हैं। अक्षीण शब्द के अर्थ को उपयोगपूर्वक जानना आगमतः भावाक्षीणता कहलाती है। जो व्यय करने पर भी किंचित्मात्र भी क्षीण न हो वह नोआगमतः भावाक्षीणता कहलाती है। जैसे—एक जगमगाते दीपक से शताधिक दीपक प्रज्ज्वलित किये जा सकते हैं किन्तु उससे दीपक की ज्योति क्षीण नहीं होती वैसे ही आचार्य श्रुत का दान देते हैं। वे स्वयं भी श्रुतज्ञान से दीप्त रहते हैं और दूसरों को भी प्रदीप्त करते हैं। सारांश यह है कि श्रुत का क्षीण न होना भावाक्षीणता है।

आय के नाम, स्थापनादि चार भेद हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का लाभ प्रशस्त आय है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की प्राप्ति अप्रशस्त आय है।

क्षपणा के नाम, स्थापनादि चार भेद हैं। क्षपणा का अर्थ निर्जरा, क्षय है। क्रोधादि का क्षय होना प्रशस्त क्षपणा है। ज्ञानादि का नष्ट होना अप्रशस्त क्षपणा है।

ओघनिष्पन्ननिक्षेप के विवेचन के पश्चात् नामनिष्पन्ननिक्षेप का विवेचन करते हुए कहा है—जिस वस्तु का नाम निक्षेप निष्पन्न हो चुका है उसे नामनिष्पन्ननिक्षेप कहते हैं, जैसे सामायिक। इसके भी नामादि चार भेद हैं। भावसामायिक का विवेचन विस्तार से किया है और भावसामायिक करने वाले श्रमण का आदर्श प्रस्तुत करते हुए बताया है—जिसकी आत्मा सभी प्रकार से सावद्य व्यापार से निवृत्त होकर मूलगुणरूप संयम, उत्तरगुणरूप नियम तथा तप आदि में लीन है उसी को भावसामायिक का अनुपम लाभ प्राप्त होता है। जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है, उनके प्रति समभाव रखता है वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही अन्य प्राणियों को भी दुःख प्रिय नहीं है। ऐसा जानकर जो न किसी अन्य प्राणी का हनन करता है, न करवाता है और न करते हुए की अनुमोदना ही करता है वह श्रमण है, आदि।

सूत्रालापकनिक्षेप वह है जिसमें 'करेमि भंते सामाइयं' आदि पदों

का नामादि भेदपूर्वक व्याख्यान किया जाता है। इसमें सूत्र का शुद्ध और स्पष्ट रूप से उच्चारण करने की सूचना दी है।

अनुयोगद्वार का तृतीय द्वार अनुगम है। उसके सूत्रानुगम और निर्युक्त्यनुगम ये दो भेद हैं। निर्युक्त्यनुगम के तीन भेद हैं—निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम, और सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम। इसमें निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम का विवेचन किया जा चुका है। उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम के उद्देश, निर्देश, निर्गम आदि छब्बीस भेद बताये हैं। सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम का अर्थ है—अस्खलित, अमिलित—अन्य सूत्रों के पाठों से असंयुक्त, प्रतिपूर्ण घोषयुक्त, कण्ठ-ओष्ठ से विप्रमुक्तक तथा गुरुमुख से ग्रहण किये हुए उच्चारण से युक्त सूत्रों के पदों का स्वसिद्धान्त के अनुरूप विवेचन करना।

अनुयोगद्वार का चौथा द्वार नय है। इसमें नैगम, संग्रह आदि सात मूल नयों का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। नय जैनदर्शन की आधारशिला हैं। नयद्वार के विवेचन के साथ ही चारों प्रकार के अनुयोगद्वार का वर्णन पूर्ण होता है।

इस प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्द-सिद्धान्तों का विवेचन है। उपक्रम-निक्षेप शैली की प्रधानता और साथ ही भेद-प्रभेदों की प्रचुरता होने से यह आगम अन्य आगमों से क्लिष्ट है तथापि जैनदर्शन के रहस्य को समझने के लिए यह अतीव उपयोगी है। जैन आगम की प्राचीन चूर्णि-टीकाओं के प्रारम्भ के भाग को देखते हुए ज्ञात होता है कि समग्र निरूपण में वही पद्धति अपनाई गई है जो अनुयोगद्वार में है। यह सिर्फ श्वेताम्बरसम्मत जैन आगमों की टीकाओं पर ही नहीं लागू होता वरन् दिगम्बरों ने भी यह पद्धति अपनाई है। इसका प्रमाण दिगम्बर सम्मत षट्खंडागम आदि प्राचीन शास्त्रों की टीका से मिलता है। इससे इसकी प्राचीनता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अनुयोगद्वार में सांस्कृतिक सामग्री भी प्रचुर मात्रा में है। संगीत के सात स्वर, स्वरस्थान, गायक के लक्षण, ग्राम, मूर्च्छनाएँ, संगीत के गुण और दोष, नवरस, सामुद्रिक लक्षण, १०८ अंगुल के माप वाले, शंखादि चिन्ह वाले, मस, तिल आदि व्यंजन वाले उत्तम पुरुष आदि बताये गये हैं। निमित्त के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है जैसे आकाश दर्शन और नक्षत्रादि के प्रशस्त होने पर

सुवृष्टि और अप्रशस्त होने पर दुर्भिक्ष आदि। इस तरह इसमें सांस्कृतिक व सामाजिक वर्णन भी किया गया है।[१]

अनुयोगद्वार के रचियता या संकलनकर्ता आर्यरक्षित माने जाते हैं। आर्यरक्षित से पहले यह पद्धति थी कि आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को छोटे-बड़े सभी सूत्रों की वाचना देते समय चारों अनुयोगों का उन्हें बोध करा देते थे। उस वाचना का क्या रूप था वह आज हमारे समक्ष नहीं है, तथापि इतना कहा जा सकता है कि वे वाचना देते समय प्रत्येक सूत्र पर आचारधर्म, उसके पालनकर्ता, उनके साधन-क्षेत्र का विस्तार और नियम ग्रहण की कोटि एवं भंग आदि का वर्णन कर सभी अनुयोगों का एक साथ बोध कराते थे। इसी वाचना को अपृथक्त्वानुयोग कहा गया है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि जब चरणकरणानुयोग आदि चारों अनुयोगों का प्रत्येक सूत्र पर विचार किया जाय तो वह अपृथक्त्वानुयोग है। अपृथक्त्वानुयोग में विभिन्न नय दृष्टियों का अवतरण किया जाता है और उसमें प्रत्येक सूत्र पर विस्तार से चर्चा की जाती है।[२]

आर्य वज्रस्वामी तक कालिक आगमों के अनुयोग (वाचना) में अनुयोगों का अपृथक्त्व रूप रहा। उसके पश्चात् आर्यरक्षित ने कालिक श्रुत और दृष्टिवाद के पृथक् अनुयोग की व्यवस्था की।[३] कारण कि आर्यरक्षित के धर्मशासन में ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और वादी सभी प्रकार के सन्त थे। उन शिष्यों में पुष्यमित्र नाम के तीन विशिष्ट महामेधावी शिष्य थे। उनमें से एक का नाम दुर्बलिकापुष्यमित्र, दूसरे का घृतपुष्यमित्र और तीसरे का वस्त्रपुष्यमित्र था। घृतपुष्यमित्र और वस्त्रपुष्यमित्र की लब्धि का यह प्रभाव था कि प्रत्येक गृहस्थ के घर से श्रमणों को घृत और वस्त्र सहर्ष उपलब्ध होते थे। दुर्बलिकापुष्यमित्र निरन्तर स्वाध्याय में तल्लीन रहते थे। आर्यरक्षित के अन्य मुनि विन्ध्य, फल्गुरक्षित, गोष्ठामाहिल प्रतिभासम्पन्न शिष्य थे। उन्हें जितना सूत्रपाठ आचार्य से प्राप्त होता था उससे

---

१ 'नंदीसुत्तं अणुयोगदाराइं' की प्रस्तावना, पृ० ५२ से ७०

२ अपुहुत्तेगमावो सुत्ते सुत्ते सुचिरमरं जत्थ।
भण्णंतणुओगा चरणधम्मसंखाणदव्वाणं॥

—आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पृ० ३८३

३ जावंति अज्जवइरा अपुहुत्तं कालियाणुओगे य।
तेणारेण पुहुत्तं कालियसुय दिट्ठिवाये य॥ (वही)

उन्हें संतोष नहीं होता था अतः उन्होंने एक पृथक् वाचनाचार्य की व्यवस्था के लिए प्रार्थना की। आचार्य ने दुर्बलिकापुष्यमित्र को इसके लिए नियुक्त किया। कुछ दिनों के पश्चात् दुर्बलिकापुष्यमित्र ने आचार्य से निवेदन किया कि वाचना देने में समय लग जाने के कारण मैं पठितज्ञान का पुनरावर्तन नहीं कर पाता, अतः विस्मरण हो रहा है। आचार्य को आश्चर्य हुआ कि इतने मेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है! अतः उन्होंने प्रत्येक सूत्र के अनुयोग पृथक्-पृथक् कर दिये। अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्य नय दृष्टि का मूलभाव नहीं समझकर कहीं कभी एकान्तज्ञान, एकान्तक्रिया, एकान्तनिश्चय अथवा एकान्तव्यवहार को ही उपादेय न मान लें तथा सूक्ष्म विषय में मिथ्याभाव नहीं ग्रहण करें एतदर्थ नयों का विभाग नहीं किया।[1]

अनुयोगद्वार का रचना समय वीर निर्वाण संवत् ८२७ से पूर्व माना गया है और कितने ही विद्वान् उसे दूसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज आदि का यह मन्तव्य है कि अनुयोग का पृथक्करण तो आचार्य आर्यरक्षित ने किया किन्तु अनुयोगद्वारसूत्र की रचना उन्होंने ही की हो ऐसा निश्चितरूप से नहीं कह सकते।

□

१ (क) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पृ० ३६६
(ख) प्रभावकचरित्र २४०-२४३, पृ० १७
(ग) ऋषिमंडलस्तोत्र २१०

छेद आगम साहित्य

- दशाश्रुतस्कन्ध
- बृहत्कल्प
- व्यवहार
- निशीथ
- आवश्यक

१. दशाश्रुतस्कन्ध

छेदसूत्रों में जैन श्रमणों की आचार-संहिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस सम्पूर्ण विवेचन को उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त इन चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। उत्सर्ग का अर्थ है किसी विषय का सामान्य विधान। अपवाद का अर्थ है—परिस्थिति विशेष की दृष्टि से विशेष विधान। दोष का अर्थ है—उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भंग। और प्रायश्चित्त का अर्थ है—व्रत भंग होने पर समुचित दंड लेकर उसका शुद्धीकरण करना। किसी भी विधान के लिए ये चार बातें आवश्यक हैं। सर्वप्रथम नियम का निर्माण होता है। उसके पश्चात् देश, काल, परिस्थिति को संलक्ष्य में रखकर किंचित् छूट दी जाती है। परिस्थिति विशेष के लिए अपवाद व्यवस्था होती है। जिन दोषों के लगने की सम्भावना होती है उनकी सूची भी छेदसूत्रों में दी गई है। इसका उद्देश्य है कि उन दोषों से बचा जा सके। यदि साधक उन दोषों का सेवन करता है तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त से पुराने दोषों की शुद्धि होती है और नवीन दोष न लगें इसके लिए साधक सावधान होता है। जिस प्रकार छेदसूत्रों में वर्णन है वैसे ही बौद्ध भिक्षुओं के आचार-विचार का वर्णन विनयपिटक में है। इसके साथ छेदसूत्रों की सहज रूप से तुलना हो सकती है। आचारधर्म के गहन रहस्यों एवं विशुद्ध आचार-विचार को समझने के लिए छेदसूत्रों का परिज्ञान करना आवश्यक है।

दशाश्रुतस्कन्ध छेदसूत्र है। छेदसूत्र के दो कार्य हैं दोषों से बचाना और प्रमादवश लगे हुए दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान करना। इसमें दोषों से बचने का विधान है। ठाणांग में इसका अपरनाम आचारदशा प्राप्त होता है। दशाश्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं, इसलिए इसका नाम दशाश्रुतस्कन्ध है। दशाश्रुतस्कन्ध का १८३० अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है। २१६ गद्यसूत्र हैं। ५२ पद्यसूत्र हैं।

प्रथम उद्देशक में २० असमाधिस्थानों का वर्णन है। जिस सत्कार्य के करने से चित्त में शांति हो, आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्षमार्ग

में अवस्थित रहे वह समाधि है और जिस कार्य से चित्त में अप्रशस्त एवं अशान्त भाव हों, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो वह असमाधि है। असमाधि के बीस प्रकार हैं। जैसे—जल्दी-जल्दी चलना, बिना पूंजे रात्रि में चलना, बिना उपयोग सब दैहिक कार्य करना, गुरुजनों का अपमान, निन्दा आदि करना। इन कार्यों के आचरण से स्वयं व अन्य जीवों को असमाधिभाव उत्पन्न होता है। साधक की आत्मा दूषित होती है। उसका पवित्र चरित्र मलिन होता है। अतः उसे असमाधिस्थान कहा है।[1]

द्वितीय उद्देशक में २१ शबल दोषों का वर्णन किया गया है; जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है। चारित्र मलक्लिन्न होने से वह कर्बुर हो जाता है। इसलिए उन्हें शबलदोष कहते हैं।[2] 'शबलं कर्बुरं चित्रम्' शबल का अर्थ चित्रवर्णा है। हस्तमैथुन, स्त्री-स्पर्श आदि, रात्रि में भोजन लेना और करना, आधाकर्मी, औद्देशिक आहार का लेना, प्रत्याख्यानभंग, मायास्थान का सेवन करना आदि-आदि ये सब शबल दोष हैं। उत्तरगुणों में अतिक्रमादि चार दोषों का एवं मूलगुणों में अनाचार के अतिरिक्त तीन दोषों का सेवन करने से चारित्र-शबल होता है।

तीसरे उद्देशक में ३३ प्रकार की आशातनाओं का वर्णन है। जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति अत्यन्त सुन्दर की है। सम्यग्दर्शनादि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं और शातना का अर्थ खण्डन है। सद्गुरुदेव आदि महान् पुरुषों का अपमान करने से सम्यग्दर्शनादि सद्गुणों की आशातना—खण्डना होती है।[3]

---

१ समाधानं समाधिः—चेतसः स्वास्थ्यं, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः न समाधिरसमाधिस्तस्य स्थानानि—आश्रया भेदाः पर्याया असमाधि-स्थानानि।
—आचार्य हरिभद्र

२ शबलं—कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात्साधवोऽपि।
—अभयदेवकृत समवायांगटीका

३ आयः-सम्यग्दर्शनाद्यवाप्ति लक्षणस्तस्य शातना—खण्डना निरुक्तादाशातना।
—आचार्य अभयदेवकृत समवायांगटीका

'आसातणा णामं नाणादि आयस्स सातणा। यकार लोपं कृत्वा आशातना भवति।
—आचार्य जिनदास : आवश्यकचूर्णि

शिष्य का गुरु के आगे, समश्रेणि में, अत्यन्त समीप में गमन करना, खड़ा होना, बैठना आदि; गुरु से पूर्व किसी से सम्भाषण करना, गुरु के वचनों को जानकर अवहेलना करना, भिक्षा से लौटने पर आलोचना न करना, आदि-आदि आशातना के तेतीस प्रकार हैं।

चतुर्थ उद्देशक में ८ प्रकार की गणिसंपदाओं का वर्णन है। श्रमणों के समुदाय को गण कहते हैं। गण का अधिपति गणी होता है। गणिसम्पदा के आठ प्रकार हैं—आचारसम्पदा, श्रुतसम्पदा, शरीरसम्पदा, वचनसम्पदा, वाचनासम्पदा, मतिसम्पदा, प्रयोगमतिसम्पदा और संग्रहपरिज्ञासम्पदा।

आचारसम्पदा के—संयम में ध्रुवयोगयुक्त होना, अहंकाररहित होना, अनियतवृत्ति होना, वृद्धस्वभावी (अचंचलस्वभावी)—ये चार प्रकार हैं।

श्रुतसम्पदा के वहुश्रुतता, परिचितश्रुतता, विचित्रश्रुतता, घोषविशुद्धिकारकता—ये चार प्रकार हैं।

शरीरसम्पदा के शरीर की लम्बाई व चौड़ाई का सम्यक् अनुपात, अलज्जास्पद शरीर, स्थिर संगठन, प्रतिपूर्णइन्द्रियता—ये चार भेद हैं।

वचनसम्पदा के आदेयवचन—ग्रहण करने योग्य वाणी, मधुर वचन, अनिश्रित—प्रतिबन्धरहित, असंदिग्ध वचन—ये चार प्रकार हैं।

वाचनासम्पदा के विचारपूर्वक वाच्यविषय का उद्देश्य निर्देश करना, विचारपूर्वक वाचन करना, उपयुक्त विषय का ही विवेचन करना, अर्थ का सुनिश्चित रूप से निरूपण करना—ये चार भेद हैं।

मतिसम्पदा के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार प्रकार हैं।

अवग्रह मतिसम्पदा के क्षिप्रग्रहण, वहुग्रहण, वहुविधग्रहण, ध्रुवग्रहण, अनिश्रितग्रहण और असंदिग्धग्रहण—ये छह भेद हैं। इसी प्रकार ईहा और अवाय के भी छह-छह प्रकार हैं। धारणा मतिसम्पदा के वहुधारण, वहुविधधारण, पुरातनधारण, दुर्द्धरधारण, अनिश्रितधारण और असंदिग्धधारण—ये छह प्रकार हैं।

प्रयोगमतिसम्पदा के स्वयं की शक्ति के अनुसार वाद-विवाद करना, परिषद को देखकर वाद-विवाद करना, क्षेत्र को देखकर वाद-विवाद करना, काल को देखकर वाद-विवाद करना—ये चार प्रकार हैं।

संग्रहपरिज्ञासम्पदा के वर्षाकाल में सभी मुनियों के निवास के लिए योग्यस्थान की परीक्षा करना, सभी श्रमणों के लिए प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक की व्यवस्था करना, नियमित समय पर प्रत्येक कार्य करना, अपने से ज्येष्ठ श्रमणों का सत्कार सन्मान करना—ये भेद हैं।

गणिसम्पदाओं के वर्णन के पश्चात् तत्सम्बन्धी चतुर्विध विनय-प्रतिपत्ति पर चिंतन करते हुए आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणाविनय और दोषनिर्घात विनय बताये हैं। यह चतुर्विध विनय प्रतिपत्ति है जो गुरुसम्बन्धी विनय प्रतिपत्ति कहलाती है। इसी प्रकार शिष्य सम्बन्धी विनय प्रतिपत्ति भी उपकरणोत्पादनता, सहायता, वर्णसंज्वलनता (गुणानुवादिता) भारप्रत्यवरोहणता है। इन प्रत्येक के पुनः चार-चार प्रकार हैं। इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक में कुल ३२ प्रकार की विनय प्रतिपत्ति का विश्लेषण है।

पाँचवें उद्देशक में दश प्रकार की चित्तसमाधि का वर्णन है। धर्म-भावना, स्वप्नदर्शन, जातिस्मरणज्ञान, देवदर्शन, अवधिज्ञान, अवधिदर्शन, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलमरण (निर्वाण)—इन दश स्थानों के वर्णन के साथ मोहनीय कर्म की विशिष्टता पर भी प्रकाश डाला है।

छठे उद्देशक में ग्यारह प्रकार की उपासक प्रतिमाओं का वर्णन है। प्रतिमाओं के वर्णन के पूर्व मिथ्यादृष्टि के स्वभाव का चित्रण करते हुए बताया है कि वह न्याय या अन्याय का किञ्चित् मात्र भी विना ख्याल किये दंड प्रदान करता है। जैसे सम्पत्तिहरण, मुंडन, तर्जन, ताड़न, अंदुक बन्धन (सांकल से बांधना), निगडबन्धन, काष्ठबन्धन, चारकबन्धन (कारागृह में डालना), निगडयुगल संकुटन (अंगों को मोड़कर बांधना), हस्त, पाद, कर्ण, नासिका, ओष्ठ, शीर्ष, मुख, वेद आदि का छेदन करना, हृदय-उत्पाटन, नयनादि उत्पाटन, उल्लंबन (वृक्षादि पर लटकाना) घर्षण, घोलन, शूलायन (शूली पर लटकाना), शूलाभेदन, क्षारवर्तन (जख्मों आदि पर नमकादि छिड़कना) दर्भवर्तन (घासादि से पीड़ा पहुँचाना), सिंहपुच्छन, वृषभपुच्छन, दावाग्निदग्धन, भक्तपाननिरोध प्रभृति दंड देकर आनन्द का अनुभव करता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि आस्तिक होता है व उपासक बन एकादश प्रतिमाओं की साधना करता है। इन ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का वर्णन हम पूर्व अध्याय में उपासकदशांग के अन्तर्गत कर चुके हैं।

प्रतिमाधारक श्रावक प्रतिमा की पूर्ति के पश्चात् संयम ग्रहण कर लेता है ऐसा कुछ आचार्यों का अभिमत है। कार्तिक सेठ ने १०० वार प्रतिमा ग्रहण की थी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।

सातवें उद्देशक में श्रमण की प्रतिमाओं का वर्णन है। ये भिक्षु-प्रतिमाएँ १२ हैं।

प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। श्रमण के पात्र में दाता द्वारा दिये जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहती है उसे दत्ति कहते हैं। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहाँ से लेना कल्पता है। जहाँ दो, तीन या अधिक व्यक्तियों के लिए बना हो वहाँ से नहीं ले सकता। इसका समय एक मास का है।

दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। उसमें दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ली जाती हैं। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमाओं में क्रमश: तीन, चार, पांच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास है। केवल दत्तियों की वृद्धि के कारण ही त्रिमासिक से सप्तमासिक क्रमश: कहलाती हैं।

आठवीं प्रतिमा सात दिन-रात की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव के बाहर आकाश की ओर मुँह करके सीधा देखना, एक करवट से लेटना और निषद्यासन (पैरों को बराबर करके) बैठना, उपसर्ग आने पर शान्तचित्त से सहन करना, होता है।

नवीं प्रतिमा भी सात रात्रि की होती है। इसमें चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगुडासन या उत्कटुकासन करके ध्यान किया जाता है।

दसवीं प्रतिमा भी सात रात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर गोदोहनासन, वीरासन और आम्र-कुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की होती है। आठ प्रहर तक इसकी साधना की जाती है। चौविहार बेला इसमें किया जाता है। नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्ड की तरह खड़े रहकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। इसका आराधन तेले से किया जाता है। गांव के बाहर श्मशान में खड़े होकर मस्तक को थोड़ा झुकाकर किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर निर्निमेष नेत्रों से निश्चितता-पूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्ग आने पर समभाव से सहन किया जाता है।

इन प्रतिमाओं में स्थित श्रमण के लिए अन्य अनेक विधान भी किये गये हैं। जैसे—कोई व्यक्ति प्रतिमाधारी निर्ग्रन्थ है तो उसे भिक्षाकाल को तीन विभाग में विभाजित करके भिक्षा लेनी चाहिये—आदि, मध्य और चरम। आदि भाग में भिक्षा के लिए जाने पर मध्य और चरम भाग में नहीं जाना चाहिये। मासिकी प्रतिमा में स्थित श्रमण जहाँ कोई जानता हो वहाँ एक रात रह सकता है। जहाँ उसे कोई भी नहीं जानता वहाँ वह दो रात रह सकता है। इससे अधिक रहने पर उतने ही दिन का छेद अथवा तप प्रायश्चित्त लगता है। इसी प्रकार और भी कठोर अनुशासन का विधान किया है जिसे पढ़कर जैन आचार की कठोरता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे कोई उपाश्रय में आग लगा दे तो भी उसे उपाश्रय से बाहर नहीं निकलना चाहिये और यदि बाहर हो तो भीतर नहीं जाना चाहिए। यदि कोई पकड़कर उसे बाहर खींचने का प्रयत्न करे तो उसे हठ न करते हुए सावधानीपूर्वक बाहर निकल जाना चाहिए। इसी तरह सामने यदि मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा, बैल, कुत्ता, व्याघ्र आदि आ जाएँ तो भी उसे उनसे डरकर एक कदम भी पीछे नहीं हटना चाहिये। शीतलता तथा उष्णता के परीषह को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये।

आठवें उद्देशक (दशा) में पर्युषणा कल्प का वर्णन है। पर्युषण शब्द "परि" उपसर्ग पूर्वक वस् धातु से 'अन:' प्रत्यय लगकर बना है। इसका अर्थ है—आत्मा के समीप रहना, परभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, आत्ममज्जन, आत्मरमण या आत्मस्थ होना। पर्युषणा कल्प का दूसरा अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। यह सालंबन या निरावलंबन रूप दो प्रकार का है। सालंबन का अर्थ है सकारण और निरावलंबन का अर्थ है कारणरहित। निरावलंबन के जघन्य और उत्कृष्ट दो भेद हैं।

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं—(१) परियाय वत्थवणा (२) पज्जोसमणा (३) पागइया (४) परिवसना (५) पज्जुसणा (६) वासावास (७) पढमसमोसरण (८) ठवणा और (९) जेट्ठोग्गह।

ये सभी नाम एकार्थक हैं, तथापि व्युत्पत्ति-भेद के आधार पर किंचित् अर्थभेद भी है और यह अर्थभेद पर्युषणा से सम्बन्धित विविध परम्पराओं एवं उस नियत काल में की जाने वाली क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण निदर्शन कराता है। इन अर्थों से कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी व्यक्त होते हैं। पर्युषणा काल के आधार से कालगणना करके दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता व कनिष्ठता गिनी जाती है। पर्युषणाकाल एक प्रकार का वर्षमान गिना जाता है। अतः पर्युषणा को दीक्षा पर्याय की अवस्था का कारण माना है। वर्षावास में भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी कुछ विशेष क्रियाओं का आचरण किया जाता है अतः पर्युषण का दूसरा नाम पज्जोसमणा है।

तीसरा, गृहस्थ आदि के लिए समानभावेन आराधनीय होने से यह 'पागइया' यानि प्राकृतिक कहलाता है।

इस नियत अवधि में साधक आत्मा के अधिक निकट रहने का प्रयत्न करता है अतः वह परिवसना भी कहा जाता है। पर्युषणा का अर्थ सेवा भी है। इस काल में साधक आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुणों की सेवा-उपासना करता है अतः उसे पज्जुसणा कहते हैं।

इस कल्प में श्रमण एक स्थान पर चार मास तक निवास करता है अतएव इसे वासावास—वर्षावास कहा गया है।

कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट् (वर्षा) काल में ही चातुर्मास व्यतीत करने योग्य क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है अतः इसे प्रथमसमवसरण कहते हैं।

ऋतुबद्ध काल की अपेक्षा से इसकी मर्यादाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं अतएव यह ठवणा (स्थापना) है।

ऋतुबद्ध काल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षा-काल में चार मास का होता है अतएव इसे जेट्ठोग्गह (ज्येष्ठावग्रह) कहा है।

अगर साधु आषाढ़ी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षावास की घोषणा कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पंचमी से ही वर्षावास प्रारम्भ हो जाता है। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्णा दशमी को, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण कृष्णा पंचदशमी—अमावस्या को वर्षावास प्रारम्भ करना चाहिए। इतने पर भी योग्य क्षेत्र न मिले तो

पाँच-पाँच दिन बढ़ाते हुए अन्ततः भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक तो वर्षावास प्रारम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हुआ हो तो वृक्ष के नीचे ही पर्युषणा कल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी परिस्थिति में उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

वर्तमान में जो पर्युषणा कल्पसूत्र है, वह दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवाँ अध्ययन है। दशाश्रुतस्कन्ध की प्राचीनतम प्रतियाँ, जो चौदहवीं शताब्दी से पूर्व की हैं, उनमें आठवें अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र आया है। जो यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि कल्पसूत्र स्वतन्त्र रचना नहीं किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवाँ अवयवन है।

दूसरी बात दशाश्रुतस्कन्ध पर जो द्वितीय भद्रबाहु की निर्युक्ति है, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है, उसमें और उस निर्युक्ति के आधार से निर्मित चूर्णि में, दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन में जो वर्तमान में पर्युषणा कल्पसूत्र प्रचलित है, उसके पदों की व्याख्या मिलती है। मुनि श्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि लगभग सोलह सौ वर्ष पुरानी है।

कल्पसूत्र के पहले सूत्र में 'तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे''''''और अंतिम सूत्र में''''''''''भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ' पाठ हैं। वही पाठ दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें उद्देशक (दशा) में हैं। यहाँ पर शेष पाठ को 'जाव' शब्द के अन्तर्गत संक्षेप कर दिया है। वर्तमान में जो पाठ उपलब्ध है उसमें केवल पंचकल्याण का ही निरूपण है जिसका पर्युषणा कल्प के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः स्पष्ट है कि पर्युषणा कल्प इस अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र था। कल्पसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध इन दोनों के रचयिता भद्रबाहु हैं। इसलिए दोनों एक ही रचनाकार की रचना होने से यह कहा जा सकता है कि कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन ही है। वृत्ति, चूर्णि, पृथ्वीचंद टिप्पण और अन्य कल्पसूत्र की टीकाओं से यह स्पष्ट प्रमाणित है।

नवें उद्देशक में ३० महामोहनीय स्थानों का वर्णन है। आत्मा को आवृत्त करने वाले पुद्गल कर्म कहलाते हैं। मोहनीयकर्म उन सब में प्रमुख है। मोहनीयकर्मबंध के कारणों की कोई मर्यादा नहीं है, तथापि शास्त्रकार ने मोहनीय कर्मबंध के हेतुभूत कारणों के तीस भेदों का उल्लेख किया है। इनमें दुरध्यवसाय की तीव्रता और क्रूरता इतनी मात्रा में होती है कि

कभी-कभी महामोहनीयकर्म का बन्ध हो जाता है जिससे आत्मा ७० कोटा-कोटि सागरोपम तक संसार में परिभ्रमण करता है। आचार्य हरिभद्र तथा जिनदासगणी महत्तर केवल मोहनीय शब्द का प्रयोग करते हैं। उत्तराध्ययन, समवायांग और दशाश्रुतस्कन्ध में भी मोहनीय स्थान कहा है।[1] किन्तु भेदों के उल्लेख में 'महामोहं पकुव्वइ' शब्द का प्रयोग हुआ है। वे स्थान जैसे कि —त्रस जीवों को पानी में डुबाकर मारना, उनको श्वास आदि रोक कर मारना, मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बाँधकर मारना, गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना, मिथ्या कलंक लगाना, बालब्रह्मचारी न होते हुए भी बालब्रह्मचारी कहलाना, केवलज्ञानी की निन्दा करना, बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत कहलाना, जादू-टोना आदि करना, कामोत्पादक विकथाओं का बार-बार प्रयोग करना, आदि हैं।

दशवें उद्देशक (दशा) का नाम 'आयतिस्थान' है। इसमें विभिन्न निदानों का वर्णन है। निदान का अर्थ है—मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिमूलक संकल्प। जब मानव के अन्तर्मानस में मोह के प्रबल प्रभाव से वासनाएं उद्भूत होती हैं तब वह उनकी पूर्ति के लिए दृढ़ संकल्प करता है। यह संकल्पविशेष ही निदान है। निदान के कारण मानव की इच्छाएं भविष्य में भी निरन्तर बनी रहती हैं जिससे वह जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त नहीं हो पाता। भविष्य-कालीन जन्म-मरण की दृष्टि से प्रस्तुत उद्देशक का नाम आयतिस्थान रखा गया है। आयति का अर्थ जन्म या जाति है। निदान जन्म का कारण होने से आयतिस्थान माना गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो आयति में से 'ति' पृथक् कर लेने पर 'आय' अवशिष्ट रहता है। आय का अर्थ लाभ है। जिस निदान से जन्म-मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है।

इस दशा में वर्णन है कि भगवान महावीर राजगृह पधारे। राजा श्रेणिक व महारानी चेलना भगवान के वन्दन हेतु पहुँचे। राजा श्रेणिक के दिव्य व भव्य रूप और महान् समृद्धि को निहार कर श्रमण सोचने लगे—श्रेणिक तो साक्षात् देवतुल्य प्रतीत हो रहा है। यदि हमारे तप,

---

१ तीसं मोह-ठाणाइं-अभिक्खणं-अभिक्खणं आयारेमाणे वा समायारेमाणे वा मोह-णिज्जताए कम्मं पकरेइ—

—दशाश्रुतस्कन्ध, पृ० ३२१—उपा० आत्मारामजी महाराज

नियम और संयम आदि का फल हो तो हम भी इस जैसे बनें। महारानी चेलना के सुन्दर सलौने रूप व ऐश्वर्य को देखकर श्रमणियों के अन्तर्मानस में यह संकल्प हुआ कि हमारी साधना का फल हो तो हम आगामी जन्म में चेलना जैसी बनें। अन्तर्यामी महावीर ने उनके संकल्प को जान लिया और श्रमण-श्रमणियों से पूछा कि क्या तुम्हारे मन में इस प्रकार का संकल्प हुआ है ? उन्होंने स्वीकृति-सूचक उत्तर दिया—'हाँ, भगवन् ! यह बात सत्य है।' भगवान ने कहा—'निर्ग्रन्थ-प्रवचन सर्वोत्तम है, परिपूर्ण है, संपूर्ण कर्मों को क्षीण करने वाला है। जो श्रमण या श्रमणियाँ इस प्रकार धर्म से विमुख होकर ऐश्वर्य आदि को देखकर लुभा जाते हैं और निदान करते हैं वे यदि बिना प्रायश्चित्त किए आयु पूर्ण करते हैं तो देवलोक में देवलोक में उत्पन्न होते हैं और वहाँ से वे मानवलोक में पुन: जन्म लेते हैं। निदान के कारण उन्हें केवली धर्म की प्राप्ति नहीं होती। वे सादा सांसारिक विषयों में ही मुग्ध बने रहते हैं।' शास्त्रकार ने ९ प्रकार के निदानों का वर्णन कर यह बताया कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सब कर्मों से मुक्ति दिलाने वाला एकमात्र साधन है। अत: निदान नहीं करना चाहिए और किया हो तो आलोचना-प्रायश्चित्त करके मुक्त हो जाना चाहिए।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में भगवान महावीर की जीवनी विस्तार से आठवीं दशा में मिलती है। चित्त-समाधि एवं धर्म चिन्ता का सुन्दर वर्णन है। उपासक प्रतिमा व भिक्षु प्रतिमाओं के भेद-प्रभेदों का भी वर्णन है।

□

२. बृहत्कल्प

बृहत्कल्प का छेदसूत्रों में गौरवपूर्ण स्थान है। अन्य छेदसूत्रों की तरह इस सूत्र में भी श्रमणों के आचार-विषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप, प्रायश्चित्त आदि पर चिन्तन किया गया है। इसमें छह उद्देशक हैं; ८१ अधिकार हैं; ४७३ श्लोकप्रमाण उपलब्ध मूलपाठ है। २०६ सूत्र संख्या है।

प्रथम उद्देशक में ५० सूत्र हैं। पहले के पांच सूत्र तालप्रलंब विषयक है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के लिए ताल एवं प्रलंब ग्रहण करने का निषेध है। इसमें अखण्ड एवं अपक्व तालफल व तालमूल ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु विदारित, पक्व ताल प्रलंब लेना कल्प्य है, ऐसा प्रतिपादित किया गया है, आदि-आदि।

मासकल्प विषयक नियम में श्रमणों के ऋतुबद्ध काल—हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु के ८ महिनों में एक स्थान पर रहने के अधिकतम समय का विधान किया है। श्रमणों को सपरिक्षेप अर्थात् सप्राचीर एवं प्राचीर से बाहर निम्नोक्त १६ प्रकार के स्थानों में वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में एक साथ एक मास से अधिक ठहरना नहीं कल्पता।

१. ग्राम (जहाँ राज्य की ओर से १८ प्रकार के कर लिये जाते हों)
२. नगर (जहाँ १८ प्रकार के कर न लिए जाते हों)
३. खेट (जिसके चारों ओर मिट्टी की दीवार हो)
४. कर्बट (जहाँ कम लोग रहते हों)
५. मडम्ब (जिसके बाद ढाई कोस तक कोई गाँव न हो)
६. पत्तन (जहाँ सब वस्तुएँ उपलब्ध हों)
७. आकर (जहाँ धातु की खानें हों)
८. द्रोणमुख (जहाँ जल और स्थल को मिलाने वाला मार्ग हो, जहाँ समुद्री माल आकर उतरता हो)
९. निगम (जहाँ व्यापारियों की वसति हो)
१०. राजधानी (जहाँ राजा के रहने के महल आदि हों)

११. आश्रम (जहाँ तपस्वी आदि रहते हों)
१२. निवेश सन्निवेश (जहाँ सार्थवाह आकर उतरते हों)
१३. सम्बाध-संबाह (जहां कृपक रहते हों अथवा अन्य गाँव के लोग अपने गाँव से धन आदि की रक्षा के निमित्त पर्वत, गुफा आदि में आकर ठहरे हुए हों)
१४. घोष (जहाँ गाय आदि चराने वाले गूजर लोग—ग्वाले रहते हों)
१५. अंशिका (गाँव का अर्ध, तृतीय अथवा चतुर्थ भाग)
१६. पुटभेदन (जहाँ पर गाँव के व्यापारी अपनी चीजें बेचने आते हों)

नगर की प्राचीर के अन्दर और बाहर एक-एक मास तक रह सकते हैं। अन्दर रहते समय भिक्षा अन्दर से लेनी चाहिए और बाहर रहते समय बाहर से। श्रमणियां दो मास अन्दर और दो मास बाहर रह सकती हैं। जिस प्राचीर का एक ही द्वार हो वहाँ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को एक साथ रहने का निपेध किया है, पर अनेक द्वार हों तो रह सकते हैं।

जिस उपाश्रय के चारों ओर अनेक दुकानें हों, अनेक द्वार हों वहाँ साध्वियों को नहीं रहना चाहिए किन्तु साधु यतनापूर्वक रह सकता है। जो स्थान पूर्णरूप से खुला हो, द्वार न हों वहाँ पर साध्वियों को रहना नहीं कल्पता। यदि अपवादरूप में उपाश्रय—स्थान न मिले तो परदा लगाकर रह सकती हैं। निर्ग्रन्थों के लिए खुले स्थान पर भी रहना कल्पता है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को कपड़े की मच्छरदानी (चिलिमिलिका) रखने व उपयोग करने की अनुमति प्रदान की गई है।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को जलाशय के सन्निकट खड़े रहना, बैठना, लेटना, सोना, खाना-पीना, स्वाध्याय आदि करना नहीं कल्पता।

जहाँ पर विकारोत्पादक चित्र हों वहाँ पर श्रमण-श्रमणियों को रहना नहीं कल्पता।

मकान मालिक की बिना अनुमति के रहना नहीं कल्पता। जिस मकान के मध्य में होकर रास्ता हो—जहाँ गृहस्थ रहते हों, वहाँ श्रमण-श्रमणियों को नहीं रहना चाहिए।

किसी श्रमण का आचार्य, उपाध्याय, श्रमण या श्रमणी से परस्पर कलह हो गया हो तो परस्पर क्षमायाचना करनी चाहिए। जो शांत होता है वह आराधक है। श्रमणधर्म का सार उपशम है—'उवसमसारं सामण्णं'।

वर्षावास में विहार का निषेध है किन्तु हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में विहार का विधान है। जो प्रतिकूल क्षेत्र हों वहाँ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को बार-बार विचरना निषिद्ध है क्योंकि संयम की विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए प्रायश्चित्त का विधान है।

गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए या शौचादि के लिए श्रमण बाहर जाय उस समय यदि कोई गृहस्थ वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि के लिए निमंत्रित करे तो उसे वस्त्रादि उपकरण लेकर आचार्य के सन्निकट उपस्थित होना चाहिए और आचार्य की अनुमति प्राप्त होने पर उसे रखना चाहिए। वैसे ही श्रमणी के लिए प्रवर्त्तिनी की आज्ञा आवश्यक है।

श्रमण-श्रमणियों के लिए रात्रि के समय या असमय में आहारादि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। इसी तरह वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण ग्रहण का निषेध है। अपवादरूप में यदि तस्कर श्रमण-श्रमणियों के वस्त्र चुराकर ले गया हो और वे पुनः प्राप्त हो गये हों तो रात्रि में ले सकते हैं। यदि वे वस्त्र तस्करों ने पहने हों, स्वच्छ किये हों, रंगे हों या धूपादि सुगन्धित पदार्थों से वासित किये हों तो भी ग्रहण कर सकते हैं।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को रात्रि के समय या विकाल में विहार का निषेध किया गया है। यदि उच्चार-भूमि आदि के लिए अपवाद रूप में जाना ही पड़े तो अकेला न जाय किन्तु साधुओं को साथ लेकर जाय।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों के विहार क्षेत्र की मर्यादा पर चिन्तन किया गया है। पूर्व में अंगदेश एवं मगध देश तक, दक्षिण में कौसाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा तक व उत्तर में कुणाला तक—ये आर्यक्षेत्र हैं। आर्यक्षेत्र में विचरने से ज्ञान-दर्शन की वृद्धि होती है। यदि अनार्यक्षेत्र में जाने पर रत्नत्रय की हानि की सम्भावना न हो तो जा सकते हैं।

द्वितीय उद्देशक में उपाश्रय विषयक १२ सूत्रों में बताया है कि जिस उपाश्रय में शाली, व्रीहि, मूंग, उड़द आदि बिखरे पड़े हों वहाँ पर श्रमण-श्रमणियों को किंचित् समय भी न रहना चाहिए किन्तु एक स्थान पर ढेर रूप में पड़े हुए हों तो वहाँ हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में रहना कल्पता है। यदि कोष्ठागार आदि में सुरक्षित रखे हुए हों तो वर्षावास में भी रहना कल्पता है।

जिस स्थान पर सुराविकट, सौवीरविकट आदि रखे हों वहाँ

किंचित् समय भी साधु-साध्वियों को नहीं रहना चाहिए।[1] यदि कारण-वशात् अन्वेषणा करने पर भी अन्य स्थान उपलब्ध न हो तो श्रमण दो रात्रि रह सकता है, अधिक नहीं। अधिक रहने पर छेद या परिहार का प्रायश्चित्त आता है।[2]

इसी तरह शीतोदकविकटकुंभ, उष्णोदकविकटकुंभ, ज्योति, दीपक, आदि से युक्त उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए।

इसी तरह एक या अनेक मकान के अधिपति से आहारादि नहीं लेना चाहिए। यदि एक मुख्य हो तो उसके अतिरिक्त शेष के यहाँ से ले सकते हैं। यहाँ पर शय्यातर मुख्य है जिसकी आज्ञा ग्रहण की है। शय्यातर के विविध पहलुओं पर चिन्तन किया गया है।

निर्ग्रंथ-निर्ग्रन्थियों को जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक और तिरिपट्टक ये पाँच[3] प्रकार के वस्त्र लेना कल्पता है और औणिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चकचिप्पक, मूंजचिप्पक ये पांच प्रकार के[4] रजोहरण रखना कल्पता है।

तृतीय उद्देशक में निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में बैठना, सोना, खाना, पीना, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता। इसी प्रकार निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थों के उपाश्रय आदि में बैठना, खाना-पीना आदि नहीं कल्पता। आगे के चार सूत्रों में चर्मविषयक, उपभोग आदि के सम्बन्ध में कल्पाकल्प की चर्चा है।

वस्त्र के सम्बन्ध में कहा है कि वे रंगीन न हों, किन्तु श्वेत होने

---

१. सुराविकटं पिष्टनिष्पन्नम्, सौवीरविकटं तु पिष्टवर्जगुडादिद्रव्यैर्निष्पन्नम्।
—क्षेमकीर्तिकृत वृत्ति, पृ० ६५२

२ 'छेदो वा' पंचरात्रिन्दिवादिः 'परिहारो वा' मासलघुकादिस्तपोविशेषो भवतीति सूत्रार्थः। —वही

३ जंगमाः त्रसाः तदवयवनिष्पन्नं जांगमिकम्, 'भंगा अतसी तन्मयं भांगिकम्, सनसूत्रमयं सानकम्, पोतकं कार्पासिकम् तिरीटः वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कल क्षणस्तन्निष्पन्नं तिरीटपट्टकं नाम पञ्चमम्। —उ० २, सू० २४

४ 'औणिकं' ऊरणिकानामूर्णाभिर्निर्वृत्तम्, 'औष्ट्रिकं' उष्ट्ररोमभिनिर्विवृत्तम्, 'सानकं' सनवृक्षवल्काद् जातम्, 'वच्चकः' तृणविशेषस्तस्य 'चिप्पकः' कुट्टितः त्वग्रूपः तेन निष्पन्नं वच्चकचिप्पकम् 'मुञ्जः' शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकाद् जातं मुञ्जचिप्पकं नाम पञ्चममिति। —उ० २, सू० २५

चाहिए। कौनसी-कौनसी वस्तुएँ धारण करना या न करना—इसका विधान किया गया है। दीक्षा लेते समय वस्त्रों की मर्यादा का भी वर्णन किया गया है। वर्षावास में वस्त्र लेने का निषेध है किन्तु हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में आवश्यकता होने पर वस्त्र लेने में बाधा नहीं है और वस्त्र के विभाजन का इस सम्बन्ध में भी चिन्तन किया है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घरों में बैठना, सोना आदि नहीं कल्पता किन्तु रोगी, वृद्ध, तपस्वी या मूर्च्छित आदि विशेष कारण हों तो बैठने आदि में आपत्ति नहीं किन्तु प्रवचनादि नहीं कर सकता। एक गाथा का खड़े-खड़े अर्थ कर सकता है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को प्रातिहारिक वस्तुएँ उसके मालिक को विना दिये अन्यत्र विहार करना नहीं कल्पता। यदि किसी वस्तु को कोई चुरा ले तो उसकी अन्वेषणा करनी चाहिये और मिलने पर शय्यातर को दे देनी चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो उसकी आज्ञा होने पर उपयोग कर सकता है।

चतुर्थ उद्देशक में अब्रह्मसेवन तथा रात्रि-भोजन आदि व्रतों के सम्बन्ध में दोष लगने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

पंडक, नपुंसक एवं वातिक प्रव्रज्या के लिए अयोग्य है। यहाँ तक कि उनके साथ संभोग (एक साथ भोजन-पानादि) करना भी निषिद्ध है।

अविनीत, रसलोलुपी व क्रोधी को शास्त्र पढ़ाना अनुचित है। दुष्ट, मूढ और दुर्विदग्ध ये तीन प्रव्रज्या और उपदेश के अनधिकारी हैं।

निर्ग्रन्थी रुग्ण अवस्था में या अन्य किसी कारण से अपने पिता, भाई, पुत्र आदि का सहारा लेकर उठती या बैठती हो और साधु के सहारे की इच्छा करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इसी तरह निर्ग्रन्थ माता, पत्नी, पुत्री आदि का सहारा लेते हुए तथा साध्वी के सहारे की इच्छा करे तो उसे भी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इसमें चतुर्थ व्रत के खंडन की सम्भावना होने से प्रायश्चित्त का विधान किया है।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को कालातिक्रान्त, क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि ग्रहण करना नहीं कल्पता। प्रथम पौरुषी का लाया हुआ आहार चतुर्थ पौरुषी तक रखना नहीं कल्पता। यदि भूल से रह जाय तो परठ देना चाहिए। उपयोग करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। यदि भूल से अनेषणीय, स्निग्ध, अशनादि भिक्षा में आ गया हो तो अनुपस्थापित श्रमण—

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को परस्पर मोक (पेशाब या थूक) का आचमन करना अकल्प्य है किन्तु रोगादि कारणों से ग्रहण किया जा सकता है।

परिहार कल्प में स्थित भिक्षु को स्थविर आदि के आदेश से अन्यत्र जाना पड़े तो शीघ्र जाना चाहिए और कार्य करके पुनः लौट आना चाहिए। यदि चारित्र में किसी प्रकार का दोष लगे तो प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

छठे उद्देशक में यह बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अलीक (झूठ) वचन, हीलितवचन, खिंसितवचन, परुषवचन, गार्हस्थिकवचन, व्यवशमितोदीरणवचन (शांत हुए कलह को उभारनेवाला वचन) ये छह प्रकार के वचन नहीं बोलना चाहिए।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अविरति-अब्रह्म, नपुंसक, दास आदि का आरोप लगाने वाले को प्रायश्चित्त आता है।

निर्ग्रन्थ के पैर में कांटा लग गया हो और वह निकालने में असमर्थ हो तो उसे अपवादरूप में निर्ग्रन्थिनी निकाल सकती है। इसी प्रकार नदी आदि में डूबने, गिरने, फिसलने आदि का प्रसंग आये तो साधु साध्वी का हाथ पकड़कर बचाये। इसी प्रकार विक्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी को अपने हाथ से पकड़कर उसके स्थान पर पहुँचा दे, वैसे ही विक्षिप्त साधु को भी साध्वी हाथ पकड़कर पहुँचा दे तो दोष नहीं लगता। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि ये अपवादिक सूत्र हैं। इसमें विकारभावना नहीं किन्तु परस्पर के संयम की सुरक्षा की भावना है।

साधु की मर्यादा का नाम कल्पस्थिति है। यह छह प्रकार की है। सामायिक-संयतकल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीय संयतकल्पस्थिति, निर्विशमान कल्पस्थिति, निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, जिनकल्पस्थिति और स्थविर-कल्पस्थिति।

इस प्रकार बृहत्कल्प में श्रमण-श्रमणियों के जीवन और व्यवहार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला है। यही इस शास्त्र की विशेषता है।

३. व्यवहारसूत्र

बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। व्यवहार भी छेदसूत्र है जो चरणानुयोगमय है। इसमें दश उद्देशक हैं। ३७३ अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है। २६७ सूत्र संख्या है।

प्रथम उद्देशक में मासिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष का सेवन कर उस दोष की आचार्य आदि के पास कपटरहित आलोचना करने वाले श्रमण को एक मासिक प्रायश्चित्त आता है जबकि कपटसहित करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। द्विमासिक प्रायश्चित्त के योग्य साधक निष्कपट आलोचना करता है तो उसे द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और कपट सहित करने से तीन मास का। इस प्रकार तीन, चार, पाँच और छह मास के प्रायश्चित्त का विधान है। अधिक से अधिक छह मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिसने अनेक दोषों का सेवन किया हो उसे क्रमशः आलोचना करनी चाहिए और फिर सभी का साथ में प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करते हुए भी यदि पुनः दोष लग जाय तो उसका पुनः प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले श्रमण को स्थविर आदि की अनुज्ञा लेकर ही अन्य साधुओं के साथ उठना-बैठना चाहिए। आज्ञा की अवहेलना कर किसी के साथ यदि वह बैठता है तो उतने दिन की उसकी दीक्षापर्याय कम होती है जिसे आगमिक भाषा में छेद कहा गया है। परिहारकल्प में स्थित साधु अपने आचार्य की अनुमति से बीच में ही परिहारकल्प का परित्याग कर स्थविर आदि की सेवा के लिए दूसरे स्थल पर जा सकता है।

कोई श्रमण गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है और यदि वह अपने को शुद्ध आचार के पालन करने में असमर्थ अनुभव करता है तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करवानी चाहिए। जो नियम सामान्य रूप से एकलविहारी श्रमण के लिए है वही नियम एकलविहारी गणावच्छेदक आचार्य व शिथिलाचारी श्रमण के लिए है।

आलोचना आचार्य, उपाध्याय के समक्ष कर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिए। यदि वे अनुपस्थित हों तो अपने संभोगी, सार्धमिक, बहुश्रुत आदि के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। यदि वे पास में न हों तो अन्य समुदाय के संभोगी, बहुश्रुत आदि श्रमण जहाँ हों वहाँ जाकर आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। यदि वह भी न हों तो सारूपिक (सदोषी) किन्तु बहुश्रुत साधु हों तो वहाँ जाकर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यदि वह भी न हों तो बहुश्रुत श्रमणोपासक के पास और उसका भी अभाव हो तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के पास जाकर प्रायश्चित्त करना चाहिए। इन सबके अभाव में गाँव या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा के सन्मुख खड़े होकर दोनों हाथ जोड़कर अपने अपराध की आलोचना करे।

द्वितीय उद्देशक में कहा है कि एक समान सामाचारी वाले दो सार्धमिक साथ में हों और उनमें से किसी एक ने दोष का सेवन किया हो तो दूसरे के सन्मुख प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करने वाले की सेवा आदि का भार दूसरे श्रमण पर रहता है। यदि दोनों ने दोषस्थान का सेवन किया हो तो परस्पर आलोचना कर प्रायश्चित्त लेकर सेवा करनी चाहिए। अनेक श्रमणों में से किसी एक श्रमण ने अपराध किया हो तो एक को ही प्रायश्चित्त दे। यदि सभी ने अपराध किया है तो एक के अतिरिक्त शेष सभी प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण करें और उनका प्रायश्चित्त पूर्ण होने पर उसे भी प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।

परिहारकल्पस्थित श्रमण कदाचित् रुग्ण हो जाय तो उसे गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता। जब तक वह स्वस्थ न हो जाय तब तक वैयावृत्य करवाना गणावच्छेदक का कर्त्तव्य है और स्वस्थ होने पर उसने सदोषावस्था में सेवा करवाई अत: उसे प्रायश्चित्त लेना चाहिए। इसी तरह अनवस्थाप्य एवं पारांचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था में गच्छ से बाहर नहीं करना चाहिए।

विक्षिप्तचित्त को भी गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता और जब तक उसका चित्त स्थिर न हो जाय तब तक उसकी पूर्ण सेवा करनी चाहिए तथा स्वस्थ होने पर नाममात्र का प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी प्रकार दीप्तचित्त (जिसका चित्त अभिमान से उद्दीप्त हो गया है), उन्माद-प्राप्त, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण, सप्रायश्चित्त आदि को गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता।

नवाँ अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त करने वाले साधु को गृहस्थलिंग धारण कराये बिना संयम में पुनः स्थापित नहीं करना चाहिए क्योंकि उसका अपराध इतना महान् होता है कि बिना वैसा किये उसका पूरा प्रायश्चित्त नहीं हो पाता और न अन्य श्रमणों के अन्तर्मानस में उस प्रकार के अपराध के प्रति भय ही उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार दसवें पारञ्चित प्रायश्चित्त वाले श्रमण को भी गृहस्थ का वेष पहनाने के पश्चात् पुनः संयम में स्थापित करना चाहिए। यह अधिकार प्रायश्चित्तदाता के हाथ में है कि उसे गृहस्थ का वेष न पहनाकर अन्य प्रकार का वेष भी पहना सकता है।

पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमण एक साथ आहार करें, यह उचित नहीं है। पारिहारिक श्रमणों के साथ बिना तप पूर्ण हुए अपारिहारिक श्रमणों को आहारादि नहीं करना चाहिए क्योंकि जो तपस्वी हैं उनका तप पूर्ण होने के पश्चात् एक मास के तप पर पाँच दिन और छह महीने के तप पर एक महीना व्यतीत हो जाने के पूर्व उनके साथ कोई आहार नहीं कर सकता क्योंकि उन दिनों में उनके लिए विशेष प्रकार के आहार की आवश्यकता होती है जो दूसरों के लिए आवश्यक नहीं।

तृतीय उद्देशक में बताया है कि किसी श्रमण के मानस में अपना स्वतंत्र गच्छ बनाकर परिभ्रमण करने की इच्छा हो पर वह आचारांग आदि का परिज्ञाता नहीं हो तो शिष्य आदि परिवारसहित होने पर भी पृथक् गण बनाकर स्वच्छन्दी होना योग्य नहीं। यदि वह आचारांग आदि का ज्ञाता है तो स्थविर से अनुमति लेकर विचर सकता है। स्थविर की बिना अनुमति के विचरने वाले को जितने दिन इस प्रकार विचरा हो उतने ही दिन का छेद या पारिहारिक प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।

उपाध्याय वही बन सकता है जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला है; निर्ग्रन्थ के आचार में निष्णात है; संयम में प्रवीण है; आचारांग आदि प्रवचनशास्त्रों में पारंगत है, प्रायश्चित्त देने में पूर्ण समर्थ है, संघ के लिए क्षेत्र आदि का निर्णय करने में दक्ष है, चारित्रवान है, बहुश्रुत है, आदि।

आचार्य वह बन सकता है जो श्रमण के आचार में कुशल, प्रवचन में पटु, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प-बृहत्कल्प-व्यवहार का ज्ञाता है और कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षित है।

असंस्पृष्ट हैं, अपने दोषों की आलोचना कर शुद्धि करते हैं, तो उनके साथ समानता का व्यवहार करना कल्पता है। नहीं तो नहीं।

सातवें उद्देशक में यह विधान है कि साधु स्त्री को और साध्वी पुरुष को दीक्षा न दे। यदि किसी ऐसे स्थान में किसी स्त्री को वैराग्य भावना जाग्रत हुई हो जहाँ सन्निकट में साध्वी न हो तो वह इस शर्त पर दीक्षा देता है कि वह यथाशीघ्र किसी साध्वी को सिपुर्द कर देगा। इसी तरह साध्वी भी पुरुष को दीक्षा दे सकती है।

जहाँ पर तस्कर, बदमाश या दुष्ट व्यक्तियों का प्राधान्य हो वहाँ श्रमणियों को विचरना नहीं कल्पता क्योंकि वहाँ पर वस्त्रादि के अपहरण व व्रतभंग आदि का भय रहता है। श्रमणों के लिए कोई बाधा नहीं है।

किसी श्रमण का किसी ऐसे श्रमण से वैर-विरोध हो गया है जो विकट दिशा (चोरादि का निवास हो ऐसा स्थान) में है तो वहाँ जाकर उससे क्षमायाचना करनी चाहिए, किन्तु स्वस्थान पर रहकर नहीं। किन्तु श्रमणी अपने स्थान से भी क्षमायाचना कर सकती है।

साधु-साध्वियों को आचार्य, उपाध्याय के नियंत्रण के बिना स्वच्छन्द रूप से परिभ्रमण करना नहीं कल्पता।

आठवें उद्देशक में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि साधु एक हाथ से उठाने योग्य छोटे-मोटे शय्या संस्तारक, तीन दिन में जितना मार्ग तय कर सके उतनी दूर से लाना कल्पता है। किसी वृद्ध निर्ग्रन्थ के लिए आवश्यकता पड़ने पर पाँच दिन में जितना चल सके उतनी दूरी से लाना कल्पता है। स्थविर के लिए निम्न उपकरण कल्पनीय हैं। दंड, भाण्ड, छत्र, मात्रिका, लाष्टिक (पीठ के पीछे रखने के लिए तकिया या पाटा) भिसि (स्वाध्यायादि के लिये बैठने का पाटा), चेल (वस्त्र), चेल-चिलिमिलिका (वस्त्र का पर्दा), चर्म, चर्मकोश (चमड़े की थैली), चर्म-पलिछ (लपेटने के लिए चमड़े का टुकड़ा)। इन उपकरणों में से जो साथ में रखने के योग्य न हों उन्हें उपाश्रय के समीप किसी गृहस्थ के यहाँ रखकर समय-समय पर उनका उपयोग किया जा सकता है।

किसी स्थान पर अनेक श्रमण रहते हों उनमें से कोई श्रमण किसी गृहस्थ के वहाँ पर कोई उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण वहाँ पर गया हो तो गृहस्थ श्रमण से कहे कि यह उपकरण आपके समुदाय के संत का है तो संत उस उपकरण को लेकर स्वस्थान पर आये और जिसका उप-

करण हो उसे दे दे। यदि वह उपकरण किसी संत का न हो तो न स्वयं उसका उपयोग करे और न दूसरों को उपयोग के लिए दे किन्तु निर्दोष स्थान पर उसका परित्याग कर दे। यदि श्रमण वहाँ से विहार कर गया हो तो उसकी अन्वेषणा कर स्वयं उसे उसके पास पहुँचावे। यदि उसका सही पता न लगे तो एकान्त स्थान पर प्रस्थापित कर दे।

आहार की चर्चा करते हुए बताया है कि आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्प-आहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धावमौदरिक, सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभागप्राप्त, चौवीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमौदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी एवं बत्तीस ग्रास से एक भी ग्रास कम खाने वाला अवमौदरिक कहलाता है।

नवें उद्देशक में बताया है कि शय्यातर का आहारादि पर स्वामित्व हो या उसका कुछ अधिकार हो तो वह आहार श्रमण-श्रमणियों के लिए ग्राह्य नहीं है। इसमें भिक्षु प्रतिमाओं का भी उल्लेख है जिसकी चर्चा हम दशाश्रुतस्कन्ध के वर्णन में कर चुके हैं।

दसवें उद्देशक में यवमध्यचन्द्रप्रतिमा या वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जो यव (जौ) के कण समान मध्य में मोटी और दोनों ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्रप्रतिमा है। जो वज्र के समान मध्य में पतली और दोनों ओर मोटी हो वह वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा है। यवमध्यचन्द्रप्रतिमा का धारक श्रमण एक मास पर्यन्त अपने शरीर के ममत्व को त्याग कर देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की, द्वितीया को दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाता हुआ पूर्णिमा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष में क्रमशः एक-एक दत्ति कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। इसे यवमध्यचन्द्रप्रतिमा कहते हैं।

वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं। उसे प्रतिदिन कम करते हुए यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ग्रहण

की जाती है। शुक्लपक्ष में क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। इस प्रकार ३० दिन की प्रत्येक प्रतिमा के प्रारम्भ के २९ दिन दत्ति के अनुसार आहार और अन्तिम दिन उपवास किया जाता है।

व्यवहार के आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार—ये पाँच प्रकार हैं। इनमें आगम का स्थान प्रथम है और फिर क्रमशः इनकी चर्चा विस्तार से भाष्य में है।

स्थविर के जातिस्थविर, सूत्रस्थविर और प्रव्रज्यास्थविर—ये तीन भेद हैं। ६० वर्ष की आयु वाला श्रमण जातिस्थविर या वयःस्थविर कहलाता है। *ठाणांग, समवायांग का ज्ञाता* सूत्रस्थविर और दीक्षा धारण करने के २० वर्ष पश्चात् की दीक्षा वाले निर्ग्रन्थ प्रव्रज्यास्थविर कहलाते हैं।

शैक्ष भूमियाँ तीन प्रकार की हैं—सप्त-रात्रिंदिनी, चातुर्मासिकी और षण्मासिकी। आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिकाओं को दीक्षा देना नहीं कल्पता। जिनकी उम्र लघु है वे आचारांगसूत्र के पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले साधु को आचारांग पढ़ाना कल्प्य है। चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को सूत्रकृतांग, पाँच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग और समवायांग, दस वर्ष की दीक्षा वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ग्यारह वर्ष की दीक्षा वाले को लघुविमान-प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वंगचूलिका और विवाह-चूलिका, बारह वर्ष की दीक्षा वाले को अरुणोपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक और वैलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षा वाले को उपस्थानश्रुत, समुपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका (नागपरियावणिआ), चौदह वर्ष की दीक्षा वाले को स्वप्न भावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षा वाले को चारणभावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनी शतक, सत्रह वर्ष की दीक्षा वाले को आशीविषभावना, अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविष भावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षा वाले को सब प्रकार के शास्त्र पढ़ाना कल्प्य है।

वैयावृत्य (सेवा) दस प्रकार की कही गई है—१. आचार्य की वैयावृत्य, २. उपाध्याय की वैयावृत्य उसी प्रकार, ३. स्थविर की, ४. तपस्वी की,

५. शैक्ष-छात्र की, ६. ग्लान-रुग्ण की, ७. साधर्मिक की, ८. कुल की, ९. गण की, और १०. संघ की वैयावृत्य ।

उपर्युक्त दस प्रकार की वैयावृत्य से महानिर्जरा होती है ।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की अनेक विशेषताएँ हैं । इसमें स्वाध्याय पर विशेष रूप से बल दिया गया है । साथ ही अयोग्यकाल में स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है । अनध्याय काल की विवेचना की गई है । श्रमण-श्रमणियों के बीच अध्ययन की सीमाएँ निर्धारित की गई हैं । आहार का कवलाहारी, अल्पाहारी और ऊनोदरी का वर्णन है । आचार्य, उपाध्याय के लिए विहार के नियम प्रतिपादित किए गए हैं । आलोचना और प्रायश्चित्त की विधियों का इसमें विस्तृत विवेचन है । साध्वियों के निवास, अध्ययन, चर्या व उपधान, वैयावृत्य तथा संघ-व्यवस्था के नियमोपनियम का विवेचन है । इसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं ।

□

४. निशीथसूत्र

छेदसूत्रों में निशीथ का प्रमुख स्थान है। निशीथ का अर्थ अप्रकाश[1] है। यह सूत्र अपवादबहुल है अतः यह हर किसी को नहीं पढ़ाया जाता। तीन प्रकार के पाठक होते हैं—(१) अपरिणामक—जिनकी बुद्धि अपरिपक्व होती है, (२) परिणामक—जिनकी बुद्धि परिपक्व होती है। (३) अतिपरिणामक जिनकी बुद्धि तर्कपूर्ण होती है। अपरिणामक और अतिपरिणामक ये दोनों पाठक निशीथ पढ़ने के अयोग्य हैं।[2] जो आजीवन रहस्य को धारण कर सकता हो वही उसके पढ़ने का अधिकारी है।[3] यहाँ पर जो 'रहस्य' शब्द है वह इसकी गोपनीयता को प्रगट करता है। निशीथ का अध्ययन वह साधु कर सकता है जो तीन वर्ष का दीक्षित हो और गांभीर्य आदि गुणों से युक्त हो। प्रौढ़ता की दृष्टि से कक्षा में बालवाला १६ वर्ष का साधु ही निशीथ का वाचक हो सकता है।[4] निशीथ का ज्ञाता हुए बिना कोई भी श्रमण अपने संबंधियों के यहाँ भिक्षा के लिए नहीं जा सकता[5] और न वह उपाध्याय आदि पद के योग्य ही माना जा सकता है।[6] श्रमण-मंडली का अगुआ होने

---

१ जं होति अप्पगासं तं तु णिसीहं ति लोग संसिद्धं ।
जं अप्पगासधम्मं अण्णे पि तयं निसीधं ति ॥

—निशीथभाष्य, श्लोक ६४

२ पुरिसो तिविहो परिणामगो, अपरिणामगो, अतिपरिणामगो, तो एत्थ अपरिणामग-अतिपरिणामगाणं पडिसेहो ।

—निशीथचूर्णि, पृ० १६५

३ निशीथभाष्य ६७०२-३
४ (क) निशीथचूर्णि गा० ६२६५
(ख) व्यवहारभाष्य, उद्देशक ७, गा० २०२-३
(ग) व्यवहारसूत्र, उद्देशक १०, गा० २०-२१
५ व्यवहारसूत्र, उद्देशक ६, सू० २, ३
६ वही, उद्देशक ३, सू० ३

में और स्वतंत्र विहार करने में भी निशीथ का ज्ञान आवश्यक है[1] क्योंकि बिना निशीथ के ज्ञाता हुए कोई साधु प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं हो सकता। इसीलिए व्यवहारसूत्र में निशीथ को एक मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

दिगम्बर ग्रन्थों में निसीह के स्थान में निसीहिया शब्द का व्यवहार किया गया है।[2] गोम्मटसार में भी यही शब्द प्राप्त होता है।[3] गोम्मटसार की टीका में निसीहिया का संस्कृत रूप निषीधिका किया गया है।[4] आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में निशीथ के लिए 'निषद्यक' शब्द का व्यवहार किया है।[5] तत्त्वार्थभाष्य में निसीह शब्द का संस्कृत रूप निशीथ माना है। निर्युक्तिकार को भी यही अर्थ अभिप्रेत है। इस प्रकार श्वेतांवर साहित्य के अभिमतानुसार निसीह का संस्कृत रूप निशीथ और उसका अर्थ अप्रकाश है। दिगंबर साहित्य की दृष्टि से निसीहिया का संस्कृतरूप निशीधिका है और उसका अर्थ प्रायश्चित्त-शास्त्र या प्रमाददोष का निषेध करने वाला शास्त्र है। पश्चिमी विद्वान् वेवर ने निसीह के निषेध अर्थ को सही और निशीथ अर्थ को भ्रान्त माना है।[6]

शास्त्र-दृष्टि से निसीह शब्द पर चिन्तन किया जाय तो निसीह शब्द के संस्कृतरूप निशीथ और निशीध दोनों हो सकते हैं क्योंकि 'थ' और 'ध' दोनों को प्राकृत भाषा में हकार आदेश होता है। अतः णिसिहिया या णिसीहिया शब्द के संस्कृत निषिधिका और निशीथिका अर्थ की दृष्टि से चिन्तन करें तो निषिध या निषिधिका की अपेक्षा निशीथ या निशीथिका

---

१ व्यवहारसूत्र, उद्देशक ३, सूत्र १

२ षट्खण्डागम, प्रथम खण्ड, पृ० ९६

३ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ३६७

४ वही, जीवकाण्ड ३६७
निषेधनं प्रमाददोषनिराकरणं निषिद्धिः संज्ञायां 'क' प्रत्यये निषिद्धिका तच्च प्रमाददोषविशुद्ध्यर्थं बहुप्रकारं प्रायश्चित्तं वर्णयति।

५ निषद्यकाख्यमाख्याति प्रायश्चित्तविधिं परम्। —हरिवंशपुराण १०।१३८

६ इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २१, पृ० ९७
This name (निसीह) is explained strangely enough by Nishitha though the character of the contents would lead us to expect Nishedha (निषेध)।

अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। क्योंकि यह आगम विधि-निषेध का प्रतिपादन करने वाला नहीं अपितु प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करने वाला है। इस कथन में श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों आचार्य एकमत हैं।[१]

चूर्णि में निशीथ को प्रतिषेधसूत्र या प्रायश्चित्तसूत्र का प्रतिपादक बताया है।[२] निशीथभाष्य में लिखा है कि आयारचूला में उपदिष्ट क्रिया का अतिक्रमण करने पर जो प्रायश्चित्त आता है उसका निशीथ में वर्णन है।[३] निशीथसूत्र में अपवादों का बाहुल्य है। इसलिए सभा आदि में इसका वाचन नहीं करना चाहिए। अनधिकारी के सन्मुख उसका प्रकाश्य न हो अतः रात्रि या एकान्त में पठनीय होने से निशीथ का अर्थ संगत होता है। निसिहिया का जो निषेधपरक अर्थ है उसकी संगति भी इस प्रकार हो सकती है कि जो अनधिकारी हैं उनको पढ़ाना निषेध है और जन से आकुल स्थान में पढ़ना निषिद्ध है। यह केवल स्वाध्याय भूमि में ही पठनीय है।

हरिवंशपुराण में 'निषद्यक' शब्द आया है। संभव है कि यह सूत्र विशेष प्रकार की निषद्या में पढ़ाया जाता होगा इसीलिए इसका नाम निषद्यक रखा गया हो। आलोचना करते समय आलोचक आचार्य के लिए निषद्या की व्यवस्था करता था।[४] संभव है प्रस्तुत अध्ययन के समय में भी निषद्या की व्यवस्था की जाती होगी। इसलिए निशीथभाष्य में इसका उल्लेख मिलता है।[५]

---

१ (क) आयारपकप्पस्स उ इमाइं गोण्णाइं णामधिज्जाइं।
आयारमाइयाइं पायच्छित्तेणउहीगारो॥

—निशीथभाष्य गा० २

(ख) णिसिहियं बहुविहपायच्छित्तविहाणवण्णणं कुणइ।

—षट्खण्डागम, भा० १, पृ० ९८

२ तत्र प्रतिषेधः चतुर्थचूडात्मके आचारे यत् प्रतिषिद्धं तं सेवंतस्स पच्छित्तं भवति त्ति काउं। —निशीथचूर्णि, भा० १, पृ० ३

३ आयारे चउसु य, चूलियासु उवएसवितहकारिस्स।
पच्छित्त मिहज्झयणे भणियं अण्णेसु य पदेसु॥

—निशीथभाष्य ७१

४ वही ६३८६

५ सुत्तत्थतदुभयाणं गहणं बहुमाणविणयमच्छेरं।
उक्कुडु-णिसेज्ज-अंजलि-गहितागहियम्मि य पणामो॥

—वही, सूत्र ६६७३

निशीथ के आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका ये पर्याय नाम हैं।[१] प्रायश्चित्तसूत्र का संबंध चरणकरणानुयोग के साथ है। अतः इसका नाम आचार है। आचारांगसूत्र के पाँच अग्र हैं। चार आचारचूलाएँ और निशीथ ये पाँच अग्र हैं इसलिए निशीथ का नाम अग्र है।[२] निशीथ की नवें पूर्व आचारप्राभृत से रचना की गई है इसलिए इसका नाम प्रकल्प है। प्रकल्पन का द्वितीय अर्थ छेदन करने वाला भी है।[३] आगम साहित्य में निशीथ का आयारपकप्प यह नाम मिलता है। अग्र और चूला समान अर्थ वाले शब्द हैं।

निशीथ के रचयिता अर्थ की दृष्टि से भगवान महावीर हैं और सूत्र के रचयिता के संबंध में अनेक अभिमत हैं। आचारांगचूर्णि में रचयिता के संबंध में चर्चा करते हुए स्थविर शब्द का प्रयोग किया है और स्थविर का अर्थ गणधर किया है।[४] आचार्य शीलांक ने श्रुतवृद्ध चतुर्दश पूर्वधर को ही स्थविर कहा है।[५] पंचकल्पभाष्य की चूर्णि में लिखा है कि आचारप्रकल्प का प्रणयन भद्रबाहु स्वामी ने किया।[६] निशीथसूत्र की कितनी ही प्रशस्तिगाथाओं के अनुसार उसके रचयिता विशाखाचार्य हैं।[७] श्वेतांबर पट्टावलियों

---

१ आयारो अग्गं चिय, पकप्प तह चूलिका णिसीहंति। —निशीथभाष्य ३

२ वही ५७

३ निशीथचूर्णि, पृ० ३०

४ एयाणि पुण आयारग्गाणि आयार चेव निज्जूढाणि।
केण णिज्जूढाणि ? थेरेहिं (२८७) थेरा-गणधराः॥
—आचारांगचूर्णि पृ० ३२६

५ स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भि —आचारांगनिर्युक्ति गा० २८७

६ तेण भगवता आयार पकप्प-दसा-कप्प व्यवहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।
—पंचकल्पचूर्णि, पत्र १; बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठ विभाग, प्रस्तावना पृ० ३

७ दंसण चरित्त जुत्तो, जुत्तो गुत्तीसु सज्जणहिएसी।
नामेण विसाहगणी महत्तरओ णाण-मंजूसा ॥१॥
कित्ती-कंति-पिणद्धो जसपत्तो पडहो तिसागरनिरुद्धो।
पुणरुत्तं ममति महिं, ससिव्व गगणं गणं तस्स ॥२॥
तस्स लिहियं निसीहं धम्म-धुरा-धरण-पवर-पुव्वस्स।
आरोग्गं धारणिज्जं सिस्सपसिस्सोवभोज्जं च ॥३॥
—निशीथसूत्र, चतुर्थ विभाग, पृ० ३९५

भगवान महावीर के शासन में छह महीने से अधिक तपस्या का विधान नहीं है एतदर्थ आरोपणा द्वारा जो प्रायश्चित्त का विधान किया गया है वह भी ६ महिने से अधिक नहीं है।[1]

हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि निशीथ गोपनीय है। इसलिए हम उसका सार यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। उसमें संक्षेप में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति व अन्य संयमी जीवन में जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उसके शुद्धिकरण के उपाय वर्णित हैं।

□

---

१ जम्हा जियकप्पो इमो। जस्स तित्यकरस्स जं उक्कोस्सं तवकरणं तस्स तित्थे तमेव उक्कोसं पच्छित्तदाणं सेससापूर्णं भवति।

—निशीथचूर्णि, भाग ४, पृ० ३०७

५. आवश्यकसूत्र

आवश्यक जैनसाधना का मूल प्राण है। वह जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन का महासूत्र है। साधक चाहे कितना भी अभ्यासी हो किन्तु यदि उसे आवश्यक का परिज्ञान नहीं है तो समझना चाहिए कि उसे कुछ भी ज्ञान नहीं है। आवश्यक साधक की अपनी आत्मा को परखने का, निरखने का एक महान उपाय है। जैसे वैदिक परम्परा में संध्या है, बौद्ध परम्परा में उपासना है और ईसाई धर्म में प्रार्थना है; इस्लाम धर्म में जैसे नमाज है वैसे ही जैनधर्म में दोषशुद्धि और गुणवृद्धि हेतु आवश्यक है।

जो चतुर्विध संघ के लिए प्रतिदिन अवश्य करने योग्य है वह आवश्यक है। अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यक के आवश्यक, अवश्य करणीय, ध्रुव निग्रह, विशोधि, अध्ययन षट्कवर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग आदि ये पर्याय बताए हैं।

जैन साधना पद्धति में द्रव्य और भाव पर गंभीर चिन्तन किया है। प्रत्येक क्रिया द्रव्य और भाव रूप से की जाती है। बहिर्दृष्टि वाले द्रव्यप्रधान होते हैं जबकि अन्तर्दृष्टि वाले भावप्रधान। आवश्यक के भी द्रव्य और भाव ये दो रूप हैं। द्रव्यआवश्यक का अर्थ है अन्तरंग उपयोग के बिना केवल परम्परा की दृष्टि से साधना करना। उसमें मन बिना लगाम के घोड़े की तरह या चंचल बन्दर की तरह इधर-उधर भटकता रहता है और विवेकहीन साधना चलती रहती है। वह द्रव्य-साधना अन्तर्जीवन को प्रकाश प्रदान नहीं कर सकती अतः केवल द्रव्य-साधना, साधना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह प्राणरहित मुर्दे के सदृश है, उसमें प्राणों का परिस्पंदन नहीं है। किन्तु सामायिक आदि भावआवश्यक विवेकपूर्वक बिना किसी कामना के केवल विशुद्ध जिनाज्ञा के अनुसार मन, वचन और काया को एकाग्र बनाकर आवश्यक सम्बन्धी मूल पाठों के अर्थों पर चिन्तन-मनन के साथ निजात्मा को कर्ममल से दूर करने के लिए दोनों समय करना चाहिए। बिना भाव-आवश्यक के आत्म-शुद्धि कथमपि संभव नहीं है।

आवश्यक के छह प्रकार बताये गये हैं—(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान। ये छह प्रकार ही आवश्यक के छह अध्ययन हैं। आवश्यक का १०० श्लोक प्रमाण मूलपाठ है और ९१ गद्यसूत्र हैं व ९ पद्यसूत्र हैं।

प्रथम अध्ययन में सामायिक का वर्णन है। यह प्रतिज्ञासूत्र है। इसके प्रत्येक शब्द में त्याग-वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा है। जितने भी तीर्थङ्कर होते हैं वे साधना के पथ में बढ़ने के समय इस मंगल पाठ का उच्चारण करते हैं।

सामायिक उत्कृष्ट साधना है। जैसे अनन्त आकाश समस्त चर-अचर वस्तुओं का आधार है वैसे ही समस्त आध्यात्मिक साधना का आधार सामायिक है। मधुमक्खी के छत्ते में जब तक रानीमक्खी रहती है तब तक हजारों मक्षिकाएँ रहती हैं। उसके चले जाने पर पीछे कोई मक्खी नहीं रहती। वैसे ही समभाव की रानीमक्खी रहने पर सभी सद्गुणरूपी मक्षिकाएँ आ जाती हैं।

सामायिक का अर्थ समता है। सामायिक में साधक को विषमभाव से हटकर समभाव में स्थिर होना चाहिए। रागद्वेष को त्यागकर आत्मस्वरूप में रमण करना चाहिए। साधक जब सावद्ययोग से विरत होता है, छहकाय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन-वचन-काया को एकाग्र करता है, स्व-स्वरूप में विचरण करता है तब सामायिक की साधना सम्पन्न होती है। सामायिक की साधना महान् साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएँ हैं उनका मूल सामायिक में है। एतदर्थ ही उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का सार कहा है और जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक को १४ पूर्व का अर्थपिण्ड कहा है। वह आवश्यक का आदिमंगल है।

सामायिक के सम्बन्ध में वर्तमान में भ्रान्त धारणाएँ चल रही हैं पर उन भ्रान्त धारणाओं का मूल साधना करने वाले की उपयोगशून्यता है। सामायिक में सावद्ययोग का त्याग कर स्व-स्वरूप में रमण करने के साथ ध्यान व स्वाध्याय में तल्लीन रहना चाहिए। किन्तु किसी की निन्दा व विकथा नहीं करनी चाहिए। समभाव ही योग का मूल मंत्र है। गीता में भी कृष्ण ने 'समत्वम् योगमुच्यते' कहा है।

आवश्यकसूत्र का दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव है। सामायिक में

सावद्ययोग से विरति होती है तो उसे किस कार्य में प्रवृत्ति करनी चाहिए ? इसके लिए चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक बताया है। जो सामायिक साधना के लिए आलंबन स्वरूप है।

चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति से साधक को महान् आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है। उसका मिथ्या अहंकार नष्ट हो जाता है और वर्षों से संचित कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्नि की नन्ही-सी प्रज्वलित चिन-गारी घास के विराट ढेर को भस्म कर देती है। तीर्थंकरों की स्तुति अन्तः-करण का स्नान है। उससे स्फूर्ति, पवित्रता व बल प्राप्त होता है। भौतिक व आध्यात्मिक दृष्टि से तीर्थंकर महान् हैं, उनकी स्तुति करने का अर्थ है—उनके सद्गुणों को, उनके उच्च आदर्शों को अपने जीवन में मूर्तरूप देना।

तृतीय अध्ययन 'वन्दन' आवश्यक है। द्वितीय अध्ययन में तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन किया है क्योंकि तीर्थंकर देव हैं। देव के बाद गुरु का नम्बर है, अतः तृतीय आवश्यक में गुरुदेव को वन्दन किया है। मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार जिससे सद्गुरुदेव के प्रति भक्ति व बहुमान प्रगट हो, 'वन्दन' है। आवश्यकनिर्युक्ति में वन्दन के चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्याय दिये हैं।

यह स्मरण रहना चाहिए कि मानव का महान् मस्तक हर किसी के चरणों में झुकाने के लिए नहीं है। जैनधर्म गुणों का उपासक है। सद्गुणी के चरणों में सिर झुकाने को वह उपादेय मानता है और गुणहीन व्यक्ति के चरणों में झुकाने को हेय। असंयमी, पतित व दुराचारी को वन्दन करने का अर्थ है असंयम को प्रोत्साहन देना। इसीलिए निर्युक्तिकार ने कहा है जो मानव गुणहीन, अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करता है, तो न तो उसके कर्मों की निर्जरा होती है और न कीर्ति की ही प्राप्ति; बल्कि असंयम का, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का बन्ध ही होता है। जैसे अवंद्य को वन्दन करने से दोष लगता है वैसे ही वन्दन कराने वाले को भी दोष लगता है। अतः भद्रबाहु स्वामी ने कहा है—यदि अवंदनीय व्यक्ति गुणी पुरुषों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असंयम में और भी वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है।

जिसका जीवन त्याग-वैराग्य से ओतप्रोत है, निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से जिसका जीवन पवित्र व निर्मल है वह सद्गुरु है। उसको भक्तिभाव से विभोर होकर वन्दन करना चाहिए। जिस वन्दन की पृष्ठभूमि

में भय का भूत नाच रहा हो; लज्जा, प्रलोभन व स्वार्थ अंगड़ाइयाँ लेते हों वह सच्चे अर्थ में वन्दन नहीं है। वन्दन तो आत्मशुद्धि का मार्ग है। वन्दन के भी द्रव्य और भाव ये दो रूप हैं। द्रव्यवन्दन के साथ भाववन्दन होने से जीवन में अभिनव चेतना का प्रादुर्भाव होता है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम 'प्रतिक्रमण' है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—शुभयोगों से अशुभयोगों में गयी हुई अपनी आत्मा को पुनः शुभयोगों में लौटाना। अशुभयोग से निवृत्त होकर निशल्यभाव से उत्तरोत्तर शुभयोगों में प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग ये अत्यधिक भयंकर माने गये हैं। प्रत्येक साधक को इन दोषों का प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना चाहिए। मिथ्यात्व का परित्याग कर सम्यक्त्व में आना चाहिए। अविरति को त्यागकर विरति को स्वीकार करना चाहिए। प्रमाद के बदले में अप्रमाद, कषाय का परिहार कर क्षमादि को धारण करना चाहिए और संसार की वृद्धि करने वाले अशुभयोगों के व्यापार को त्याग कर शुभयोगों में रमण करना चाहिए।

काल विशेष की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच भेद माने गये हैं—(१) दैवसिय, (२) रात्रिक, (३) पाक्षिक, (४) चातुर्मासिक, और (५) सांवत्सरिक।

पाँचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग का वर्णन है। कायोत्सर्ग का अनुयोगद्वारसूत्र में दूसरा नाम व्रणचिकित्सा है। धर्म की साधना करते समय प्रमादवश अहिंसा, सत्य प्रभृति व्रतों में जो अतिचार लग जाते हैं, स्खलनाएँ हो जाती हैं वे संयमरूपी शरीर के घाव हैं। कायोत्सर्ग में उन घावों पर मरहम लगाया जाता है। कायोत्सर्ग वह औषधि है जो घावों को भर कर संयम को पुष्ट करती है। कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है जो पुराने पापों को धोकर साफ करता है, इसीलिए शास्त्रकार ने कहा कि संयमी जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्धि करने के लिए, आत्मा को शल्यरहित बनाने के लिए, पापकर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

भगवान महावीर ने पापकर्मों को भार की उपमा दी है। किसी के सिर पर भार हो तो वह कितने कष्ट का अनुभव करता है और भारमुक्त होने पर कैसी शान्ति का अनुभव करता है! वैसे ही कायोत्सर्ग पाप के भार

को दूर कर देता है; आत्मा उस भार से हल्का हो जाता है और अपने को स्वस्थ, सुखमय और आनन्दमय अनुभव करता है।

कायोत्सर्ग में 'काय' और 'उत्सर्ग' ये दो शब्द हैं जिनका अर्थ है शरीर की ममता को त्याग कर अंतर्मुख होना। शरीर की ममता साधना में सबसे बड़ी बाधक है जो कि साधक के लिए विष समान है। कायोत्सग शरीर और आत्मा को अलग समझने की कला है। यह शरीर अलग है और मैं अलग हूँ। शरीर विनाशी और पौद्‌गलिक है जबकि आत्मा अजर, अमर, अविनाशी और चैतन्यस्वरूप है। कायोत्सर्ग के भी द्रव्य और भाव ये दो भेद हैं। द्रव्य की अपेक्षा भाव का अधिक महत्त्व है। द्रव्य और भाव को समझाने के लिए चार रूप बताये हैं। **उत्थित उत्थित**—वह साधक शरीर से भी खड़ा रहता है और धर्म व शुक्ल ध्यान में भी रमण करता है। जैसे गजसुकुमाल मुनि। **उत्थित निविष्ट**—जो साधक द्रव्य रूप से तो खड़ा होता है किन्तु आर्त्तरौद्र ध्यान में लगा रहने से बैठ जाता है अर्थात् शरीर से खड़ा है किन्तु आत्मा से बैठा है। **उपविष्ट उत्थित**—शारीरिक अस्वस्थता के कारण खड़ा नहीं होता व भाव से वह धर्म व शुक्ल ध्यान में रमण कर रहा है इसलिए शरीर से बैठा है किन्तु आत्मा से खड़ा है। **उपविष्ट निविष्ट**—जो साधक आलसी, कर्तव्यशून्य है वह शरीर से भी बैठा है और सांसारिक विषय-भोगों की कल्पना में ही उलझा रहने से उपविष्ट निविष्ट है। यह कायोत्सर्ग नहीं किन्तु कायोत्सर्ग का दम्भ है।

छठा अध्ययन 'प्रत्याख्यान आवश्यक' का है। संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं उन्हें एक व्यक्ति भोग नहीं सकता। भोग के पीछे पागल बनकर मानव कदापि शांति नहीं पा सकता। वास्तविक आंनन्द भोगों के त्याग में है। अतः प्रत्याख्यान में साधक भोगों को व पदार्थों को त्याग करता है। अन्न, वस्त्र आदि त्यागना द्रव्यप्रत्याख्यान है और मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम का त्याग भावप्रत्याख्यान है। द्रव्यप्रत्याख्यान की आधारभूमि भाव-प्रत्याख्यान है।

अनुयोगद्वार में प्रत्याख्यान का दूसरा नाम 'गुणधारण' है। गुण-धारण का अर्थ है व्रतरूप गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा मन, वचन, काया को दुष्ट प्रवृत्तियों से रोककर शुभ प्रवृत्तियों में केन्द्रित करता है। जैसे इच्छानिरोध, तृष्णात्याग आदि सद्‌गुणों की प्राप्ति।

प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद हैं—(१) मूलगुणप्रत्याख्यान और (२) उत्तरगुणप्रत्याख्यान। मूलगुणप्रत्याख्यान के सर्व मूलगुणप्रत्याख्यान और देशगुणप्रत्याख्यान दो भेद होते हैं। साधुओं के ५ महाव्रत सर्व मूलगुण-प्रत्याख्यान है और गृहस्थों के ५ अणुव्रत देशगुणप्रत्याख्यान हैं। मूलगुण प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिए होता है और उत्तरगुणप्रत्याख्यान कुछ दिनों के लिए होता है। उसके भी देशउत्तरगुणप्रत्याख्यान और सर्वउत्तर-गुणप्रत्याख्यान ये दो भेद हैं। ३ गुणव्रत व ४ शिक्षाव्रत देशउत्तरगुण-प्रत्याख्यान हैं और अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियंत्रित, साकार, निराकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक, अद्धासमय ये १० प्रकार का प्रत्याख्यान सर्व उत्तरगुणप्रत्याख्यान है जो साधु और श्रावक दोनों के लिए है।

प्रत्याख्यान आवश्यक संयम की साधना में दीप्ति पैदा करता है। त्याग-वैराग्य को दृढ़ करता है अतः प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि वह प्रत्याख्यान स्वीकार कर अपनी आत्मा की शुद्धि करे।

आवश्यक से जहाँ आध्यात्मिक शुद्धि होती है वहाँ लौकिक जीवन में भी समता, नम्रता, क्षमाभाव आदि सद्‌गुणों की वृद्धि होने से आनंद के निर्मल झरने बहने लगते हैं।

□

प्रकीर्णक आगम साहित्य

- चतुःशरण
- आतुरप्रत्याख्यान
- महाप्रत्याख्यान
- भक्तपरिज्ञा
- तन्दुलवैचारिक
- संस्तारक
- गच्छाचार
- गणिविज्जा
- देवेन्द्रस्तव
- मरणसमाधि
- चन्द्रवेध्यक
- महानिशीथ
- जीतकल्प
- ओघनिर्युक्ति
- पिण्डनिर्युक्ति
- उपसंहार

प्रकीर्णक

नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते हैं। अथवा श्रुत का अनुसरण करके वचनकौशल से धर्मदेशना आदि के प्रसंग से श्रमणों द्वारा कथित जो रचनायें हैं वे भी प्रकीर्णक कहलाती हैं। श्रमण भगवान महावीर के तीर्थ में प्रकीर्णकों की संख्या १४००० मानी गई है। वर्तमान में प्रकीर्णकों की मुख्य संख्या दस है। वे ये हैं—

(१) चतुःशरण, (२) आतुरप्रत्याख्यान, (३) महाप्रत्याख्यान, (४) भक्तपरिज्ञा, (५) तन्दुलवैचारिक, (६) संस्तारक, (७) गच्छाचार (८) गणिविद्या, (९) देवेन्द्रस्तव, (१०) मरणसमाधि।

किन्तु इन नामों में भी एकरूपता नहीं है। किन्हीं ग्रन्थों में मरण-समाधि और गच्छाचार के स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव को गिना है तो किन्हीं ग्रन्थों में देवेन्द्रस्तव और वीरस्तव को सम्मिलित कर दिया गया है किन्तु संस्तारक की परिगणना न कर उसके स्थान पर गच्छाचार और मरणसमाधि का उल्लेख करते हैं।

(१) चतुःशरण

चतुःशरण का अपरनाम कुशलानुबन्धि अध्ययन भी है। इसमें ६३ गाथाएँ हैं।

इस विराट् विश्व में सर्वत्र अशान्ति का साम्राज्य है। झोंपड़ियाँ कष्ट से आकुल-व्याकुल हैं तो भव्य-भवन के निवासी भी दुःख की ज्वालाओं में झुलस रहे हैं। दरिद्र भी दुःखी है तो धनवान का हृदय भी दुःख से प्रकंपित है। सभी असहाय हैं, निरुपाय हैं। संसार में जितने भी भौतिक पदार्थ हैं वे मानव को शरण नहीं दे सकते। तन, धन, जन, परिजन, अशन, वसन, भवन, सभी जीवन के अन्तिम क्षणों में शरणभूत नहीं होते, पर मानव दीवाना बनकर इनके पीछे रात-दिन लगा हुआ है। जिस समय क्रूर काल के काले कजराले बादल मंडराते हैं उस समय न धन शरण देता

है, न परिजन और न पत्नी ही उसे शरण दे पाती है। उस समय मानव अपने आपको असहाय अनुभव करता है अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में कहा है कि 'मानव तू भयभीत न बन। तू अन्य किसी की भी शरण में मत जा किन्तु अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म की शरण को ग्रहण कर। यही सच्चा और अच्छा शरण है।'[1] इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम चतुःशरण है। चतुःशरण ही कुशल का कारण है अतः इसे कुशलानुबंधि कहा है।[2]

प्रारम्भ में षडावश्यक पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि सामायिक आवश्यक से चारित्र की शुद्धि होती है, चतुर्विंशति जिनस्तवन से दर्शन की विशुद्धि होती है, वन्दन से ज्ञान में निर्मलता आती है। प्रतिक्रमण से ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों में विशुद्धि होती है। कायोत्सर्ग से तप की शुद्धि होती है और पच्चक्खाण से वीर्य की विशुद्धि होती है।

ग्रन्थ के अन्त में वीरभद्र का उल्लेख होने से प्रस्तुत प्रकीर्णक के रचयिता वीरभद्र माने जाते हैं।[3] इस पर भुवनतुंग की वृत्ति और गुणरत्न की अवचूरि भी प्राप्त होती है।

(२) आतुरप्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण)

आतुरप्रत्याख्यान मरण से सम्बन्धित है। इसके कारण इसे अन्त-काल प्रकीर्णक भी कहा गया है। इसका दूसरा नाम 'बृहदातुरप्रत्याख्यान' भी है। इस प्रकीर्णक में ७० गाथाएँ हैं। दस गाथा के पश्चात् कुछ भाग गद्य में है।

प्रथम बालपण्डितमरण की व्याख्या की है। देशयति की व्याख्या करते हुए पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, संलेखना, बालपंडित का वैमानिकों में उपपात और उनकी सात भव से सिद्धि बताई है।

पण्डितमरण में अतिचारों की शुद्धि, जिनवन्दना, गणधरवन्दना, सर्वप्राणातिपात, सर्वमृषावाद, सर्वअदत्तादान, सर्वअब्रह्म और सर्वपरिग्रह-विरति, संथारे की प्रतिज्ञा, सामायिक, सर्वबाह्याभ्यन्तर उपधि, अठारह

---

१ अरिहंत सिद्ध साहू केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो।
एए चउरो चउगइहरणा, सरणं लहइ धन्नो ॥११॥

— चतुश्शरण, गा० ११

२ वही, गा० ६

३ वही, गा० ६३

पापस्थानकों का त्याग, केवल आत्मा का अवलम्बन, निश्चयदृष्टि से केवल आत्मा ही ज्ञान-दर्शनादि रूप है, एकत्व भावना, प्रतिक्रमण-आलोचना, क्षमायाचना।

आचार्य ने मरण के बाल, बालपण्डित और पण्डित ये तीन प्रकार बताये हैं।[1] बालमरण मरने वाला विराधक होता है, उसे बोधि दुर्लभ होती है, अनन्त संसार बढ़ जाता है। पण्डितमरण में जीव आहारादि का त्याग कर, जिन-वचन पर दृढ़ श्रद्धा रखते हुए, मरण के भय से मुक्त होकर कालधर्म प्राप्त करते हैं और आराधक होकर तीन भव में मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

शीलवान और शीलरहित की मृत्यु में, धीर और अधीर की मृत्यु में दिन-रात का अन्तर होता है। इस प्रकार इसमें बाल और पण्डित मरण का विस्तृत वर्णन है। इसमें प्रत्याख्यान को शाश्वत गति का साधक बताया है।[2] इसके रचयिता वीरभद्र माने जाते हैं।

(३) महाप्रत्याख्यान

महाप्रत्याख्यान (महापच्चक्खाण) प्रकीर्णक में त्याग का विस्तृत वर्णन है। इसमें १४२ गाथाएँ हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीर्थंकर, जिन, सिद्ध और संयतों को नमस्कार किया है और पाप व दुश्चरित्र की निन्दा करते हुए उनके प्रत्याख्यान पर बल दिया है। ममत्व-त्याग को महत्त्व दिया है। निश्चयदृष्टि से आत्मा ही ज्ञान, दर्शन व चारित्र रूप है। साधक को मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिक्रमण करना चाहिए, पापों की आलोचना, निन्दा और गर्हा करनी चाहिए। जो निश्शल्य होता है उसी की शुद्धि होती है। सशल्य की शुद्धि नहीं होती। सर्वविरत की आराधना व प्रत्याख्यान शुद्ध होता है। पण्डित-मरण मरने वाला जानता है कि संसार अशरणभूत है, कामभोगों से कदापि तृप्ति नहीं हो सकती अतः पंचमहाव्रत की रक्षा करता हुआ, निदानरहित होकर मरण की प्रतीक्षा करता है। कर्मों को क्षय करता है। ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मक्षय में महान अन्तर है। अन्तिम समय में

---

१ तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
सइयं पंडितमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥३५॥ —आउर० गाथा ३५

२ वही, गा० ६८-७०

द्वादशाङ्गश्रुत का चिन्तन असम्भव है अतः उस समय संवेग की वृद्धि करता हुआ साधक चार मंगल, चार शरण को ग्रहण कर एवं सर्व पाप का प्रत्याख्यान कर तप की आराधना व साधना करता हुआ कर्मों को क्षय करता है। यदि उत्कृष्ट आराधना होती है तो वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है, जघन्य व मध्यम आराधना से सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

ग्रन्थ में सर्वत्र प्रत्याख्यान का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। वास्तविक आनन्द व अक्षय शान्ति के लिए भोगों का त्याग आवश्यक है। प्रत्याख्यान से साधना प्रदीप्त होती है। त्याग-वैराग्य दृढ़ होता है।

(४) भक्तपरिज्ञा

प्रस्तुत प्रकीर्णक में भक्तपरिज्ञा नामक मरण का विवेचन मुख्य रूप से होने के कारण इसका नाम भक्तपरिज्ञा है। इसमें १७२ गाथाएं हैं।

वास्तविक सुख की उपलब्धि जिनाज्ञा की आराधना से होती है। पण्डितमरण से आराधना पूर्णतया सफल होती है। पण्डितमरण (अभ्युद्यत मरण) के भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादपोपगमन ये तीन भेद किये हैं।[१]

भक्तपरिज्ञा मरण के भी सविचार और अविचार ये दो भेद किये हैं। भक्तपरिज्ञा का वर्णन करते हुए कहा है कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है उसकी मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन से जो युक्त है वही मुक्ति का अधिकारी है।[२] सम्यग्दर्शन मुक्ति में भी साथ रहता है। सम्यग्दर्शन से रहित साधक उत्कृष्ट चारित्र की साधना करने के बावजूद भी कर्मों की उतनी निर्जरा नहीं कर पाता जितनी सम्यग्दृष्टि साधक स्वल्प साधना से कर लेता है। संसाररूपी भव-समुद्र को तिरने के लिए सम्यग्दर्शनपूर्वक अणुव्रत, महाव्रत रूप चारित्र की आराधना आवश्यक है। मन को वश में करने के लिए अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं। मन को वन्दर की उपमा देते हुए कहा है कि जैसे वन्दर एक क्षणमात्र के लिए भी शान्त नहीं बैठ सकता वैसे

---

१ तं अब्भुज्जअमरणं अमरणधम्मेहिं वन्निअं तिविहं।
मत्तपरिन्ना इंगिणि पाओवगमं च धीरेहिं॥

—भक्तपरिज्ञा, गा० ६

२ दंसणमट्ठो मट्ठो दंसणमट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरणरहिआ दंसणरहिआ न सिज्झंति॥

—वही, गा० ६६

ही मन भी कभी निर्विषय नहीं होता। चंचल मन को वश में करने के लिए हिंसा का त्याग करना चाहिए, दयाधर्म की आराधना करनी चाहिए। जीव हिंसा करना अपने आपकी हिंसा करने के समान है। हिंसा का फल सदा कटु है अतः अहिंसा का आचरण करना चाहिए। असत्य भाषण से भी जीवन में संक्लेश प्राप्त होता है, अतः असत्य भाषण को त्याग कर सत्य को धारण करना चाहिए। अदत्तादान, अब्रह्म और परिग्रह को त्याग कर तथा शल्य रहित होकर इन्द्रियनिग्रह करना चाहिए। इन्द्रियों का जो विषय-सुख है वह विष के समान भयंकर है। कषाय पर विजय वैजयन्ती फहराते हुए जिनेश्वर देवों की आज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए दृढ़ संकल्प करना चाहिए। भक्तपरिज्ञा के समय वेदना को शान्त भाव से सहन करना चाहिए, प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन कर नमस्कार महामंत्र का जाप करना चाहिए।

भक्तपरिज्ञा का फल है कि साधक जघन्य सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट गृहस्थ साधक अच्युत कल्प में पैदा होता है। श्रमण सर्वार्थसिद्ध में या निर्वाण को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत प्रकीर्णक के कर्ता वीरभद्र हैं।[१] गुणरत्न ने इस पर अवचूरि भी लिखी है।[२]

(५) तन्दुलवैचारिक

प्रस्तुत ग्रन्थ में सौ वर्ष की आयु वाला व्यक्ति कितना तन्दुल यानि चावल खाता है इस संख्या पर विशेष रूप से चिन्तन करने के कारण उपलक्षण से इसका नाम तन्दुलवैचारिक (तन्दुलवेयालिय) रखा गया है। इस प्रकीर्णक में १३६ गाथाएँ हैं। बीच-बीच में कुछ गद्यसूत्र भी हैं। इसमें मुख्य रूप से गर्भविषयक वर्णन है।

सर्वप्रथम भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् जिसकी आयु सौ वर्ष की है, परिगणना करने पर उसकी जिस प्रकार दस अवस्थाएँ होती हैं, और उन दस अवस्थाओं को संकलित कर निकाल देने पर उसकी जितनी आयु अवशेष रहती है उसका वर्णन किया गया है।

---

१ इअ जोइसरजिणवीरभद्दभणिआणुसारिणीमिणमो।
भत्तपरिन्नं धन्ना पढंति निसुणंति भावेंति॥ —वही, १७१

२ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० १२५।

यह जीव दो सौ साढ़े सतहत्तर दिन-रात तक गर्भ में रहता है। ये दिन-रात सामान्य-तौर पर गर्भवास में लगते हैं। विशेप परिस्थिति में इससे न्यून या अधिक समय भी लग सकता है।

गर्भस्थ जीव के मुहूर्त, उनके श्वासोच्छ्वास, योनि का स्वरूप, गर्भ में स्थित जीवों की संख्या अधिक से अधिक नौ लाख होती है। स्त्री-पुरुष का अबीजकाल, बारह मुहूर्त में जीवों की उत्पत्ति, बारह वर्ष पर्यन्त गर्भस्थ जीव की उत्कृष्ट पितृ-संख्या, स्त्री, पुरुप और नपुंसक का कुक्षि स्थान, तिर्यंच का उत्कृष्ट गर्भ-स्थिति काल, गर्भस्थ जीव का सर्वप्रथम आहार, गर्भस्थ जीव का वृद्धिक्रम, गर्भस्थ जीव के मल-मूत्र का अभाव, उसका आहार का परिणाम, वह कवलाहार नहीं किन्तु ओज आहार लेता है, गर्भस्थ जीव के तीन माता के अंग होते हैं और तीन पिता के अंग होते हैं। गर्भस्थ जीव की नरकगति आदि के बंध का वर्णन किया गया है।

गर्भावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि रक्तोत्कट स्त्री के गर्भ में एक साथ अधिक से अधिक नौ लाख जीव उत्पन्न होते हैं, बारह मुहूर्त तक वीर्य सन्तान पैदा करने के योग्य रहता है। उत्कृष्ट नौ सौ पिता की एक सन्तान हो सकती है। गर्भ की स्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।

दक्षिण कुक्षि में जो जीव रहता है वह पुरुप होता है, वाम कुक्षि में जो जीव रहता है वह स्त्री, और जो जीव दोनों कुक्षियों के मध्य में रहता है वह नपुंसक होता है। तिर्यंचों की उत्कृष्ट गर्भस्थिति आठ वर्ष मानी गई है।

जब वीर्य की मात्रा स्वल्प होती है और रक्त को बहुलता होती है तो स्त्री पैदा होती है। जब रक्त की मात्रा अल्प और वीर्य की मात्रा बहुत होती है तब पुरुप पैदा होता है। जब दोनों की मात्रा समान होती है तब नपुंसक पैदा होता है। जब स्त्री का शोणित जम जाता है तब मांसपिण्ड उत्पन्न होता है उसमें पिता के अंग नहीं होते। प्रसव की पीड़ा, जन्म और मरण के दुःख पर भी चिन्तन किया गया है।

गर्भज जीव की दश दशाओं के नाम इस प्रकार बताये हैं—(१) बाल दशा, (२) क्रीड़ा दशा, (३) मन्दा दशा, (४) बला दशा, (५) प्रज्ञा दशा (६) हायनी दशा, (७) प्रपंचा दशा, (८) प्राग्भारा दशा, (९) मुन्मुखी दशा, (१०) शायनी दशा।

(७) गच्छाचार (गच्छायार)

इसमें गच्छ अर्थात् समूह में रहने वाले श्रमण-श्रमणियों के आचार का वर्णन है। इस प्रकीर्णक में १३७ गाथाएं हैं। यह प्रकीर्णक महानिशीथ, बृहत्कल्प व व्यवहार सूत्रों के आधार पर लिखा गया है।[1] इस पर आनन्द-विमलसूरि के शिष्य विजयविमलगणि की टीका है। इसमें गच्छ में रहने वाले आचार्य तथा श्रमण और श्रमणियों के आचार का वर्णन है। असदाचारी श्रमण गच्छ में रहता है तो वह संसार परिभ्रमण को बढ़ाता है जबकि सदाचारी श्रमण गच्छ में रहता है तो धर्मानुष्ठान की प्रवृत्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती है। जो श्रमण आध्यात्मिक-साधना से अपने जीवन का उत्कर्ष करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि जीवन पर्यन्त वे गच्छ में ही रहें, क्योंकि गच्छ में रहने से उनकी साधना विना बाधा के हो सकती है।[2]

जो गुरु शिष्य के द्वारा श्रमणाचार के विरुद्ध कार्य करने पर भी प्रायश्चित्त आदि देकर उसका शुद्धिकरण नहीं करता है, उस शिष्य को हितमार्ग पर नहीं लगाता है वह गुरु शिष्य के लिये शत्रु के समान है। इसी तरह यदि गुरु साधना के महामार्ग से च्युत होकर असद्मार्ग की ओर जाता है तो शिष्य का कर्तव्य है कि वह उन्हें सन्मार्ग यानि धर्ममार्ग की ओर बढ़ाये यदि वह नहीं बढ़ाता है तो वह शिष्य भी शत्रु के समान है।[3]

आचार्य संघ का पिता है। उसका स्वयं का जीवन आचार की सुमधुर सौरभ से महकता है और जो उसके नेतृत्व में रहते हैं उन्हें भी वह आचारमार्ग पर चलने की प्रबल प्रेरणा देता है। किन्तु जो आचार्य स्वयं साधना से भ्रष्ट हैं, भ्रष्टाचारी हैं, संघ में भ्रष्टाचारियों की उपेक्षा करता है और उन्मार्गस्थित है ऐसा आचार्य मोक्षमार्ग को नष्ट करने वाला है।[4]

---

१ महानिसीहकप्पाओ, ववहाराओ तहेव य।
साहुसाहुणिअट्ठाए, गच्छायारं समुद्धियं ॥ —गच्छाचार, गा० १३५

२ तम्हा निउणं निहालेउं, गच्छं सम्मग्गपट्ठियं।
वसिज्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा ! संजए मुणी ॥ —गच्छाचार, गा० ७

३ जीहाए विलिहंतो न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि।
डंडेण वि ताडंतो स भद्दओ सारणा जत्थ ॥
सीसो वि वेरिओ सो उ, जो गुरुं न विबोहए।
पमायमइराघत्थं, सामायारी विराहयं ॥ —गच्छाचार, गा० १७-१८

४ भट्ठायारो सूरि, भट्ठायाराणुवेक्खओ सूरि।
उम्मग्गठिओ सूरि, तिन्नि वि मग्गं पणासंति ॥ —वही, गा० २८

गच्छ के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि गच्छ महान् प्रभावशाली है, उसमें रहने से महान् निर्जरा होती है। सारणा, वारणा और प्रेरणा होने से साधक के पुराने दोष नष्ट होते हैं और नूतन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती।[1] वह सुगच्छ है जिस गच्छ में दान, शील, तप और भावना इन चार प्रकार के धर्मों का आचरण करने वाले गीतार्थ श्रमण अधिक मात्रा में हों।[2]

श्रमणियों की मर्यादा का वर्णन करते हुए बताया है कि जिस गच्छ में स्थविरा महासती के पश्चात् युवा महासती रात्रि में शयन करती हो, और युवा महासती के पश्चात् स्थविरा महासती शयन करती हो। इस प्रकार जिस संघ में श्रमणियों के सोने की व्यवस्था हो वह संघ ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आधारभूत श्रेष्ठ गच्छ है।[3]

श्रमणों को श्रमणियों से अधिक परिचय नहीं करना चाहिए क्योंकि उनका परिचय अग्नि और विष के समान है। सम्भव है स्थविर का चित्त पूर्ण स्थिर हो तथापि अग्नि के समीप में घी रहने से वह पिघल जाता है वैसे ही स्थविर के संसर्ग से आर्या का चित्त पिघल सकता है। यदि उस समय कदाचित् स्थविर को भी अपनी संयम साधना की विस्मृति हो जाये तो उसकी भी वैसी ही स्थिति होती है जैसे श्लेष्म में लिपटी हुई मक्खी की होती है। एतदर्थ श्रमण को बाला, वृद्धा, नातिन, दुहिता और भगिनी तक के शरीर का स्पर्श करने का निषेध है।[4]

(८) गणिविद्या (गणिविज्जा)

गणिविद्या यह ज्योतिष का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें केवल ८२ गाथाएँ हैं। इसमें (१) दिवस, (२) तिथि, (३) नक्षत्र, (४) करण, (५) ग्रह-

---

१ गच्छो महाणुभावो तत्थ वसंताण निज्जरा विउला।
सारणवारणचोअणमाईहिं न दोसपडिवत्ती॥ —गच्छाचार, गा० ५१

२ सीलतवदाणभावण चउव्विहधम्मंतरायभयभीए।
जत्थ बहू गीअत्थे गोअम ! गच्छं तयं भणियं॥ —वही, गा० १००

३ जत्थ य थेरी तरुणी थेरी तरुणीय अंतरे सुयइ।
गोअम ! तं गच्छवरं वरनाणचरित्तआहारं॥ —वही, गा० १२३

४ तुलना कीजिए—
मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ —मनुस्मृति, २।२१५

दिवस, (६) मुहूर्त, (७) शकुन, (८) लग्न और (९) निमित्त—इन नौ विषयों का विवेचन है। दिवस से तिथि, तिथि से नक्षत्र, नक्षत्र से करण, करण से ग्रह-दिवस, ग्रहदिवस से मुहूर्त, मुहूर्त से शकुन, शकुन से लग्न, और लग्न से निमित्त बलवान होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में विहार के लिए शुभाशुभ तिथियाँ, शिष्य का निष्क्रमण, तिथियों के नाम एवं दीक्षा के लिए श्रेष्ठ तिथियाँ बताई हैं। नौ नक्षत्रों में गमन करना शुभ माना गया है। प्रस्थान के लिए उपयुक्त नक्षत्रों का वर्णन करने के उपरांत निषिद्ध नक्षत्रों में गमन करने का निषेध किया है। पादपोपगमन संथारा के लिए कौनसा नक्षत्र उपयुक्त है। दीक्षा में कौन-से नक्षत्र निषिद्ध हैं, ज्ञान वृद्धि और लोच के लिए कौन-से नक्षत्र श्रेष्ठ हैं। गणी और वाचक पद के लिए, स्थिर कार्य के लिए, ज्ञान सम्पादन के लिए, मृदु कार्यों के लिए, तप व संथारा और संघ के कार्यों के लिए कौन-सा नक्षत्र श्रेष्ठ है—उस पर प्रकाश डाला है।

करण के नाम, शुभ कार्यों के लिए कौनसा करण उपयुक्त है। छाया मुहूर्त, अच्छे कार्यों के लिए शुभ योग, तीन प्रकार के शकुन, तीन प्रकार के शकुनों में किया जाने वाला कार्य, प्रशस्त और अप्रशस्त लग्न, मिथ्या और सत्य निमित्त, तीन प्रकार के निमित्त, निमित्त की सत्यता, प्रशस्त निमित्तों में सभी कार्य करने चाहिए और अप्रशस्त निमित्तों में सभी शुभ कार्य करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में होरा का भी वर्णन है।

(९) देवेन्द्रस्तव (देविंदथव)

देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक में बत्तीस देवेन्द्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें ३०७ गाथाएँ हैं।

ग्रन्थ के प्रारंभ में बताया है कि कोई श्रावक भगवान ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर तक की स्तुति करता है। तीर्थंकर बत्तीस इन्द्रों से पूजित है। श्राविका अपने पति से जिज्ञासा प्रस्तुत करती है कि बत्तीस इन्द्र कौन-कौन से हैं? बत्तीस इन्द्रों के रहने का स्थान कौन सा है? बत्तीस इन्द्रों की स्थिति, बत्तीस इन्द्रों के अधिकार में भवन या विमान, भवनों और विमानों की लम्बाई-चौड़ाई, ऊँचाई, वर्ण आदि, बत्तीस इन्द्रों के अवधिज्ञान का क्षेत्र आदि छह प्रश्न पूछती है।

श्रावक उसका समाधान करते हुए सर्वप्रथम भवनवासी देवों का

वर्णन करता है। बीस भवनेन्द्रों के नाम, भवन संख्या, भवनेन्द्रों की स्थिति, भवनेन्द्रों के नगर और भवन, त्रायस्त्रिशक देव, लोकपाल, परिषद और सामानिक देव, सब इन्द्रों के सामानिक देवों की संख्या में समानता, भवनेन्द्रों की अग्रमहिषियाँ, भवनेन्द्रों के आवासस्थान, उपपात, भवनेन्द्रों का बल-वीर्य आदि पर प्रकाश डालता है।

उसके पश्चात् आठ प्रकार के व्यन्तर देव, व्यन्तर देवों के महर्द्धिक सोलह इन्द्र, तीनों लोक में व्यन्तरेन्द्रों का स्थान, व्यन्तरेन्द्रों का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विस्तार और उनकी स्थिति का चित्रण किया गया है।

उसके बाद ज्योतिषी देवों का वर्णन है। पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव हैं। ज्योतिषी देवों के विमानों का संस्थान, पृथ्वी से ज्योतिषी देवों की ऊँचाई, ज्योतिषी देवों के मण्डल, मण्डलों का आयाम, विष्कम्भ, बाहल्य, परिधि, ज्योतिषी देवों के विमानों को वहन करने वाले देवों की संख्या, ज्योतिषी देवों की गति और ऋद्धि, सर्वआभ्यन्तर, सर्वबाह्य, सबसे ऊपर और सबसे नीचे भ्रमण करने वाले नक्षत्र, ताराओं का अन्तर, चन्द्र और सूर्य के साथ योग करने वाले नक्षत्र, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोद समुद्र, पुष्करवरद्वीप, पुष्करार्धद्वीप, मनुष्यलोक के चन्द्र आदि पाँच ज्योतिषी देव। मनुष्यलोक के बाहर चन्द्र आदि पाँच ज्योतिषी देव। ज्योतिषी देवों की गति का संस्थान, ज्योतिषी देवों की पंक्तियाँ, चन्द्र सूर्य और मण्डलों में दक्षिणावर्त गति, नक्षत्र और ताराओं के अवस्थिति मण्डल, ज्योतिषी देवों की गति का मनुष्यों पर प्रभाव, चन्द्र सूर्य का ताप क्षेत्र, चन्द्र की हानि-वृद्धि का कारण, चर और स्थिर ज्योतिषी देव, मनुष्य क्षेत्र के चन्द्र सूर्य, चन्द्र सूर्य का नक्षत्रों से योग, चन्द्र सूर्य का अन्तर, एक चन्द्र का परिवार, ज्योतिषी देवों की स्थिति, आदि का वर्णन है।

उसके पश्चात् वैमानिक देवों का वर्णन है। बारह देवलोकों के बारह इन्द्र बताये हैं।[1] अहमिन्द्र ग्रैवेयक देव, ग्रैवेयक देवों के उपपात, बारह देवलोकों की विमान संख्या, वैमानिक देवों की स्थिति, ग्रैवेयक देव और अनुत्तर देवों की स्थिति, विमानों के संस्थान, उनका आधार, देवताओं में लेश्या, उनकी अवगाहना, उनमें प्रविचार (मैथुन), देवताओं की गंध, उनके विमानों की अवस्थिति, भवनों और विमानों का अल्प-बहुत्व, अनुत्तर देवों का

---

१ देवेन्द्रस्तव, गाथा १६३-१६५

वर्णन, देवताओं की आहारेच्छा और श्वासोच्छ्वास, देवताओं के अवधिज्ञान का क्षेत्र, विमानों की ऊँचाई, देवताओं का सामान्य रूप से परिचय दिया गया है।

अन्त में ईषत् प्राग्भारा का वर्णन किया है और औपपातिक के सदृश सिद्धों का वर्णन कर जिनेन्द्रदेव की महिमा और गरिमा का वर्णन कर कहा कि भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की स्तुति पूर्ण हुई।[1]

प्रस्तुत प्रकीर्णक के रचयिता वीरभद्र माने जाते हैं। इस प्रकरण में बत्तीस इन्द्रों पर प्रकाश डालने की बात कह कर भी अधिक इन्द्रों के सम्बन्ध में चर्चा की है। जबकि अन्य स्थानों पर भवनपति के बीस, वाणव्यंतर के बत्तीस, ज्योतिषी के दो और वैमानकों के दस इन्द्रों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार कुल ६४ इन्द्र होते हैं।

(१०) मरणसमाधि (मरणसमाही)

मरणसमाधि का अपर नाम मरणविभक्ति है। यह प्रकीर्णक सभी प्रकीर्णकों में बड़ा है—(१) मरणविभक्ति, (२) मरणविशोधि, (३) मरण समाधि, (४) संलेखनाश्रुत, (५) भक्तपरिज्ञा, (६) आतुरप्रत्याख्यान, (७) महाप्रत्याख्यान, (८) आराधना—इन आठ प्राचीन श्रुतग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत प्रकीर्णक की रचना हुई है।[2]

शिष्य ने आचार्य से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवन्! समाधिमरण किस प्रकार प्राप्त होता है?

आचार्य ने समाधिमरण के कारणभूत (१) आलोचना, (२) संलेखना, (३) क्षमापना, (४) काल, (५) उत्सर्ग, (६) उद्ग्रास (७) संथारा,

---

१ भोमेज्जवणयराणं जोइसियाणं विमाणवासीणं।
देवनिकायाणं थवो समत्तो अपरिसेसो॥
—देवेन्द्रस्तव, गा० ३०७

२ एयं मरणविभत्ति मरणविसोहिं च नाम गुणरयणं।
मरणसमाही तइयं संलेहणसुयं चउत्थं च॥
पंचम भत्तपरिण्णा, छट्ठं आउरपच्चक्खाणं च।
सत्तम महपच्चक्खाणं अट्ठम आराहणपइण्णो॥
इमाओ अट्ठ सुयाओ भावा उ गहियंमि लेस अत्थाओ।
मरणविभत्ती रइयं बिय नाम मरणसमाहिं च॥
—मरणसमाधि, गा० ६६१-६६३

(८) निसर्ग, (९) वैराग्य, (१०) मोक्ष, (११) ध्यान विशेष, (१२) लेश्या, (१३) सम्यक्त्व, (१४) पादोपगमन—ये चौदह द्वार बताये हैं।[१]

निःशल्य होकर आलोचना करनी चाहिए। आलोचना के दस दोष[२] हैं—

(१) **आकंपयित्ता**—आलोचना लेने वाला यह विचार करे कि जिनके पास आलोचना कर रहा हूँ, उनकी मैं पहले खूब सेवा करलूँ जिससे वे प्रसन्न होकर मुझे बहुत कम प्रायश्चित्त देंगे।

(२) **अणुमाणइत्ता**—पहले लघु दोषों की आलोचना करके यह अनुमान करने का प्रयास करे कि आचार्य किस प्रकार का दण्ड देते हैं। या प्रायश्चित्त के भेदों को पूछकर पहले यह अनुमान करना कि मुझे कितना दण्ड मिलेगा, उसके पश्चात् आलोचना करना।

(३) **दिट्ठं**—जिस दोष को किसी ने देख लिया हो उसी की आलोचना करना, शेष की नहीं।

(४) **बायरं**—सिर्फ स्थूल-स्थूल दोषों की आलोचना करना।

(५) **सुहुमं**—लघु-लघु दोषों की आलोचना करना।

इसमें साधक की यह मनोवृत्ति होती है कि जो बड़े दोषों की आलोचना करते हुए संकोच नहीं करता वह लघु दोषों को क्यों छिपायेगा अथवा जो लघु-लघु दोषों की भी आलोचना करता है वह बड़े दोष किस प्रकार छिपायेगा? इस प्रकार इसमें माया की प्रधानता होती है।

(६) **छन्नं**—लज्जा का प्रदर्शन करते हुए एकान्त में इतना अस्पष्ट व मन्दस्वर से आलोचना करता है कि आलोचना प्रदाता भी उसे पूर्णरूप से न सुन सके।

(७) **सद्दाउलयं**—दूसरे व्यक्तियों को सुनाने के लिए कि मैं आलोचना कर रहा हूँ अतः जोर-जोर से बोलना।

(८) **बहुजन**—लोगों के सामने अपनी पापभीरुता का प्रदर्शन करने के लिए एक ही दोष की अनेकों के सामने आलोचना करना जिससे कि लोग प्रशंसा करें।

---

१ वही, गा० ८१-८२

२ तुलना कीजिए—
(क) भगवतीसूत्र २५।७
(ख) स्थानांगसूत्र ८

(९) अव्वत्त—ऐसे अगीतार्थ श्रमण के पास जाकर आलोचना करना जिसे यह ज्ञात न हो कि किस अतिचार का कौन-सा प्रायश्चित्त आता है।

(१०) तत्सेवी—जिस दोप की आलोचना करनी हो, उसी दोप का सेवन करने वाले आचार्य के पास जाकर इस भावना से आलोचना करे कि उन्होंने भी इस दोप का सेवन किया है अत: मुझे वे इसका प्रायश्चित्त न्यून देंगे।

आलोचक को इन दोपों से बच कर सरल व निष्कपट भाव से आलोचना करनी चाहिए। बारह प्रकार के तप का आचरण करना चाहिए।

संलेखना के आभ्यन्तर और बाह्य ये दो प्रकार बताये हैं। कपायों को कृश करना यह आभ्यन्तर संलेखना है और काया को कृश करना यह बाह्य संलेखना है।[1] संलेखना की विधि पर भी प्रकाश डाला है। साधक को उपधि का त्याग कर आत्मा का अवलम्बन लेना चाहिए। पण्डितमरण आदि का विवेचन किया गया है। धर्म का उपदेश देने के लिए अनेक दृष्टान्त भी दिये हैं। परीपह-सहन करते हुए पादोपगमन संथारा करके सिद्धगति प्राप्त करने वालों के दृष्टान्त भी दिये हैं।[2] अन्त में अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं पर भी प्रकाश डाला है।[3]

(११) चन्द्रवेध्यक (चन्दाविज्झय)

चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक का अर्थ है राधावेद। जैसे सुसज्जित होने पर भी अन्तिम समय में किञ्चित्‌मात्र भी प्रमाद करने वाला वेधक राधावेद का वेध नहीं कर सकता उसी प्रकार जीवन की अन्तिम घड़ियों में किञ्चित्‌-मात्र भी प्रमाद का आचरण करने वाला साधक सिद्धि का वरण नहीं कर पाता। अत: आत्मार्थी साधक को सदा-सर्वदा अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए।[4]

प्रस्तुत प्रकीर्णक में विनय, आचार्यगुण, शिष्यगुण, विनयनिग्रहगुण,

---

१ संलेहणा य दुविहा अब्भिंतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भिंतरिय कसाए बाहिरिमा होइ य सरीरे॥

—मरणसमाहि, गा० १७६

२ वही, गा० ४२३-५२२

३ वही, गा० ५७२-६३८

४ चन्द्रवेध्यक, गा० १२९-१३०

ज्ञानगुण, चरणगुण, मरणगुण—इन सात विषयों का विस्तार से विवेचन है।[1] इस प्रकीर्णक में १७५ गाथाएँ हैं।

(१२) वीरस्तव (वीरत्थव)

इसमें श्रमण भगवान महावीर की स्तुति की गई है। महावीर के अनेक नामों का उल्लेख भी हुआ है। इसमें ४३ गाथाएँ हैं।

इन प्रकीर्णकों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकीर्णकों की रचनाएँ हुई हैं। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

तित्थोगाली, अजीवकल्प, सिद्धपाहुड (सिद्धप्राभृत), आराहणपडाआ (आराधनापताका) दीवसायरपण्णत्ति (द्वीपसागरप्रज्ञप्ति), जोइसकरंडक (ज्योतिष्करण्डक), अंगविज्जा (अंगविद्या), तिहिपइण्णग, सारावलि, पज्जंताराहणा (पर्यन्ताराधना), जीवविहत्ति (जीवविभक्ति), कवचप्रकरण जोणिपाहुड आदि।

इन सभी प्रकीर्णकों में जीवन-शोधन की विविध प्रक्रियाएँ बताई गई हैं। जीवन में निर्मलता और पवित्रता किस प्रकार आ सकती है इस पर चिन्तन किया गया है, साथ ही कुछ ग्रन्थों में ज्योतिष और निमित्त सम्बन्धी बातों पर भी प्रकाश डाला गया है।

□

---

१ विणयं आयरियगुणे सीसगुणे विणयनिग्गह गुणे य।
नाणगुणे चरणगुणे मरणगुणे इत्थ वच्छामि॥ —चन्द्रवेध्यक, गा० ३

महानिशीथ

भाषाशास्त्र की दृष्टि से एवं विषय की दृष्टि से भी प्रस्तुत आगम की रचना अर्वाचीन आगमों में की जाती है, क्योंकि इसमें अनेक स्थलों पर आगमेतर ग्रन्थों के उल्लेख व उद्धरण प्राप्त होते हैं। इसमें छह अध्ययन हैं और दो चूलाएँ हैं। ग्रन्थ का श्लोक प्रमाण ४५५४ है।[1]

प्रथम अध्ययन का नाम शल्योद्धरण (सल्लुधरण) है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीर्थ और अर्हन्तों को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् 'सुयं मे' वाक्य से विषय का प्रारम्भ होता है किन्तु शीघ्र ही ऐसा वर्णन है कि छद्मस्थ श्रमण और श्रमणियाँ महानिशीथ के अनुसार आचरण करने वाले हों तो एकाग्रचित्त होकर आत्मा में रमण करते हैं।

उसके बाद वैराग्य की अभिवृद्धि करने वाली गाथाएँ हैं। जिनमें साधक को शल्यरहित होना चाहिए इस बात पर बल दिया है। जब तक पापरूपी शल्य जीवन में से नहीं निकलता तब तक साधक के जीवन में आनन्द की बंशी नहीं बज सकती। इसमें 'हयं नाणं' आदि आवश्यक निर्युक्ति की गाथाएं उद्धृत की गई हैं।

शास्त्रोद्धार की विधि पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि श्रुत देवता विद्या का लेखन कर उससे मंत्रित होकर सोने पर स्वप्न की सफलता प्राप्त होती है।

निःशल्य होकर सभी से क्षमा-याचना करनी चाहिए। इससे केवलज्ञान की उपलब्धि होती है। दूषित आलोचना के दृष्टान्त दिये गये हैं। मोक्ष प्राप्त करने वाली अनेक निःशल्य श्रमणियों के नाम दिये गये हैं। अपने अपराध को छुपाने वाले की दुर्गति होती है यह भी बताया गया है।

अध्ययन के अन्त में लिखा है कि मैंने अच्छा नहीं लिखा है, ऐसा

---

१ प्रस्तुत ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। आगम प्रभाकर स्वर्गीय मुनिप्रवर श्री पुण्यविजयजी महाराज ने इसकी प्रेस कापी तैयार की थी उसी के आधार से यह विवरण प्रस्तुत है।

विज्ञ मुझ पर दोपारोपण न करें क्योंकि मेरे समक्ष जो आदर्श प्रति है वह खण्डित है।

द्वितीय अध्ययन में कर्मविपाक का विवेचन है। इसमें शारीरिक आदि दुःखों का वर्णन है। आस्रव द्वार के निरोध से दुःखों का अन्त बताया गया है। इस अध्ययन के सातवें उद्देशक में स्त्री वर्जन का उपदेश दिया गया है। गौतम और महावीर के संवाद के माध्यम से यह बताया गया है कि जो अधम साधक होते हैं वे ही स्त्रियों के काम-राग में आसक्त होते हैं। परिग्रह से जीवन दूपित होता है।

तृतीय अध्ययन के प्रारम्भ में लिखा है कि प्रथम और द्वितीय अध्ययन का समावेश सामान्य वाचना में है। इसके पश्चात् के चार अध्ययन का अधिकारी योग्य व्यक्ति ही है, अयोग्य नहीं। चार अध्ययनों के लिए निर्दिष्ट तपस्या का वर्णन है। ये चार अध्ययन सम्पूर्ण श्रुत का सार हैं। सभी श्रेय कार्यों में विघ्न होता है अतः मंगल करणीय है। मंत्र, तंत्र आदि अनेक विद्याओं के नाम बताये हैं। नमस्कार मंत्र, उपधान, अनुकम्पा आदि का वर्णन है। यहाँ पर यह भी बताया है कि वज्रस्वामी ने व्युच्छिन्न पंचमंगल की निर्युक्ति आदि का उद्धार करके इसे मूलसूत्र में स्थान दिया। आचार्य हरिभद्र ने खण्डित प्रति के आधार से इसका उद्धार किया है।[1] बाद में सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, जक्खसेण (यक्षसेन), देवगुप्त, यशोवर्धन क्षमाश्रमण के शिष्य रविगुप्त, नेमिचन्द्र, जिनदासगणी क्षमाश्रमण, सत्यश्री प्रमुख आदि युगप्रधान आचार्यों ने महानिशीथ का अत्यधिक सन्मान किया है।

पंचनमस्कार के पश्चात् इरियावही का निर्देश है। द्वादश अंगों की तपस्या विधि और उससे होने वाले लाभ का उल्लेख किया है।

चतुर्थ अध्ययन में कुसंग के दृष्टान्त में सुमति की कथा दी गई है। शिथिल आचार की परिगणना की गई है। प्रश्नव्याकरण वृद्ध विवरण का

---

१ एत्थ य जत्थ जत्थ पयंपयेणाऽणुलग्गं सुत्तलावगं ण संपज्जइ तत्थ तत्थ सुयहरेहिं कुलिहियदोसो ण दायव्वो त्ति। किंतु जो सो एयस्सं अचिंतचिंतामणिकप्पभूयस्स महानिसीहसुयक्खंधस्स पुव्वायरिसो आसि तहिं चेव खंडाखंडीए उद्देहिया एहिं हेर्कहिं बहवे पण्णगा परिसडिया तहावि अच्चंतसमुहत्थाइसयं ति इमं महानिसीहसुयक्खंधं कसिणपवयणस्स परमसारभूयं परं तत्तं महत्थं ति कलिऊण पवयणवच्छल्लत्तणेण।

निरूपण है। शिथिल आचार का समर्थन करना ही दोष है। उससे व्रत भंग होता है। कुशील के संसर्ग से अनन्त संसार की अभिवृद्धि होती है और उसके संसर्ग का जो परित्याग करता है उसे सिद्धि मिलती है।

आचार्य हरिभद्र का यह अभिमत है कि चतुर्थ अध्ययन के कितने ही आलापक श्रद्धा के योग्य नहीं है तथापि वृद्धवाद के अनुसार शंका करना भी योग्य नहीं है। उन्होंने यह भी लिखा है कि प्रस्तुत अध्ययनगत मूल बात का समर्थन स्थानांग आदि से भी नहीं होता है।[1]

पंचम अध्ययन का नाम नवनीत सार है। इसमें गच्छ के स्वरूप का विवेचन किया गया है। विज्ञों का ऐसा मानना है कि गच्छाचार नामक प्रकीर्णक का मूल आधार प्रस्तुत अध्ययन है।

गच्छ में किस प्रकार रहना चाहिए इस पर चिन्तन करते हुए बताया है कि गच्छ की मर्यादा दुप्पसह नामक आचार्य तक रहेगी। पंचम आरे के अन्त में होने वाले श्रमण-श्रमणी, श्रावक और श्राविका इन चारों द्वारा मर्यादा का पालन किया जायेगा। शय्यंभव को आसन्न-कालीन बताया है। कल्की के समय में "सिरिप्पभ" नामक अनगार होंगे। इसमें दस आचार्यों का भी वर्णन है। द्रव्यस्तव करने वाले को असंयत बताया है। जिनालयों के संरक्षण और उनके जीर्णोद्धार की भी चर्चा की गई है।

इसमें सावद्याचार्य का निरूपण है। किसी समय किसी श्रमणी ने नमस्कार करते समय उनका स्पर्श किया था जिसके कारण वे महानिशीथ की तिरानवें गाथा का अर्थ करते समय हिचकिचाते थे। अयोग्य के समक्ष उत्सर्ग और अपवाद का निरूपण करने से सावद्याचार्य ने अनन्त संसार बढ़ा दिया था। जिससे वे अनेक भवों तक संसार में परिभ्रमण करेंगे।

छठे अध्ययन का नाम 'गीयत्थ विहार' है। दशपूर्वी नन्दिषेण के द्वारा दोष सेवन होने प्रायश्चित्त करने का उल्लेख है। प्रायश्चित्त की विधि बताई है। मेघमाला का दृष्टान्त दिया है। आरम्भ-समारम्भ के त्याग का उपदेश दिया गया है। आरम्भत्याग की अशक्यता के सम्बन्ध में ईश्वर का दृष्टान्त दिया गया है। रज्जा आर्यिका का दृष्टान्त है। अगीतार्थ के विषय में लक्षणार्या का दृष्टान्त दिया गया है। इस अध्ययन में प्रायश्चित्त के दस

---

१ वही, पृ० १०२

और आलोचना के चार भेदों का निरूपण है। इसमें आचार्य भद्र के एक गच्छ में पाँचसौ साधु व बारहसौ साध्वियाँ होने का उल्लेख है।

चूलाएँ

इसमें दो चूलाएँ हैं। द्वितीय चूला में विधिपूर्वक धर्माचरण की प्रशंसा की गई है। चैत्यवन्दन सम्बन्धी प्रायश्चित्त का निरूपण है। स्वाध्याय में बाधा उपस्थित करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। प्रतिक्रमण तथा 'पच्चुप्पेहा' के प्रायश्चित्त, परिस्थापनिका और मुहणंतग के प्रायश्चित्त, ज्ञानग्रहण सम्बन्धी प्रायश्चित्त, भिक्षा सम्बन्धी प्रायश्चित का वर्णन है। इसमें प्रायश्चित्तसूत्र विच्छिन्न हो गया है—इसकी चर्चा भी की गई है। विद्या मन्त्रों की चर्चा है जो जलादि से रक्षा करता है। प्रायश्चित्त की विशेष रूप से चर्चा की गई है। आलोचनादि प्रायश्चित्त का भी निरूपण है। हिंसा के सम्बन्ध में सुसढ़ की भी कथाएँ हैं। इसमें सती-प्रथा और राजा के पुत्रहीन पर कन्या को राजगद्दी पर बैठाने का उल्लेख है। कीमिया वनाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

गढ़ जालोर में पं० मुनि श्रीकल्याणविजयजी के शास्त्र संग्रह में मैंने ताडपत्र पर लिखी हुई प्राचीन पुस्तक भण्डारों की सूची देखी थी। उसमें महानिशीथ की कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन वाचनाओं का उल्लेख था। कनिष्ठ वाचना के ३४००, मध्यम वाचना के ४२०० और उत्कृष्ट वाचना के ४५०० श्लोकों की संख्या लिखी थी। वर्तमान में महानिशीथ की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हैं। उनका श्लोक परिमाण ४५०० या ४५४४ श्लोक प्राप्त होता है।

इतिहासवेत्ता पं० मुनि श्रीकल्याणविजयजी गणी का मन्तव्य है कि महानिशीथ का उल्लेख नन्दी व पाक्षिक सूत्र में है पर वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथसूत्र एक भेदी कृति है। प्रस्तुत कृति के उद्धारक प्रसिद्ध आचार्य हरिभद्रसूरि माने जाते हैं और इस उद्धृत सूत्र का सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवगुप्त, यशोवर्धन क्षमाश्रमण के शिष्य रविगुप्त, नेमिचन्द्र, जिनदासगणी क्षपक, सत्यश्री प्रमुख युगप्रधान श्रुतधरों से समर्थन कराया है जो सन्देहास्पद है क्योंकि जिन श्रुतधरों द्वारा इसे प्रमाणित करने का उल्लेख किया गया है वे श्रुतधर आचार्य हरिभद्र के समकालीन नहीं थे। वृद्धवादी और सिद्धसेन दिवाकर हरिभद्रसूरि से ३०० वर्ष पूर्व हुए हैं

अतः वे हरिभद्रसूरि की कृति का समर्थन कैसे कर सकते हैं। यक्षसेन, रविगुप्त, देवगुप्त ये अप्रसिद्ध नाम हैं। हरिभद्र के समय या कुछ परवर्ती काल में उक्त नाम के आचार्यों के अस्तित्व का इतिहास से समर्थन नहीं होता। ऊकेशगच्छ में प्रति चौथे आचार्य का नाम देवगुप्त सूरि दिया जाता था परन्तु इस प्रकार के नामों के निर्देश मात्र से किसी के समय का निर्णय नहीं हो सकता। नेमिचन्द्र और जिनदासगणी क्षपक के नाम भी परस्पर समसामयिक नहीं हैं। नेमिचन्द्र का समय विक्रम की ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध में पड़ता है, तब जिनदासगणी क्षपक को यदि निशीथ की विशेष चूर्णि का निर्माता जिनदासगणी महत्तर मान लिया जाय तो इनका सत्ता समय विक्रम की आठवीं शती के उत्तरार्ध में पड़ेगा जो संगत हो सकता है परन्तु एक दो का समर्थन मिल जाने मात्र से महानिशीथ का हरिभद्रसूरि द्वारा उद्धार होना प्रमाणित नहीं हो सकता क्योंकि हमने हरिभद्र सूरि के लगभग ६० ग्रन्थ पढ़े हैं किन्तु उनमें महानिशीथ के उद्धार की बात का कहीं भी निर्देश नहीं है। अतः महानिशीथसूत्र दीमक से खण्डित कर दिया गया और आचार्य हरिभद्र ने इसको अन्यान्य शास्त्र पाठों से व्यवस्थित किया और सिद्धसेन आदि आठ श्रुतधर, युगप्रधान आचार्यों ने इसे प्रमाणित ठहराया, आदि दन्तकथा सत्य नहीं है।[1]

मुनिश्री ने अपने निबन्ध में आगे लिखा है कि महानिशीथ के उपधान के प्रसंग में पञ्चमंगल महाश्रुतस्कन्ध के उद्देश्य तथा अनुज्ञा के प्रसंग में दिन, लग्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिससे महानिशीथ के निर्माण का समय का पता लगता है। वर्तमान में जो महानिशीथसूत्र है उसकी रचना विक्रमीय नौवीं शती या उसके पश्चात् के समय को सूचित करती है। वर्तमान पद्धति के भारतीय पंचाङ्ग विक्रम की नौवीं शती के उत्तरार्ध में बनने लगे और इस समय के बाद के लेखों, प्रशस्तियों में 'लग्न' 'वार' 'दिन' शब्द प्रयुक्त होने लगे थे, पहले नहीं। आज का महानिशीथ नन्दी सूत्र निर्दिष्ट महानिशीथ नहीं है। इसमें सैकड़ों ऐसी बातें और परिभाषाएँ उपलब्ध हैं जो इस कृति को विक्रम की नौवीं शती से पहले की प्रमाणित नहीं होने देती। साथ ही इस आगम में ऐसी अनेक बातें हैं जिसका मेल

---

१ प्रबन्ध पारिजात, पृ० ७१-७२

अंग साहित्य से नहीं होता, अतः यह महानिशीथ एक स्वतंत्र कृति है, जिसके कर्ता का नाम अज्ञात है।[1]

महानिशीथ के छठे अध्ययन में दस पूर्वी नन्दीषेण की कथा है। दश पूर्वधरों की गणना आगम व्यवहारियों में की गई है। वह नन्दीषेण श्रामण्य पर्याय का परित्याग कर गणिका के चंगुल में किस प्रकार फँस सकता है? यह प्रश्न विज्ञों के लिए चिन्तनीय है। आवश्यकचूर्णि[2] और त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र[3] में जो नन्दीषेण की कथा है उसका मेल महानिशीथ की कथा से नहीं बैठता है।

महानिशीथ के तृतीय अध्ययन में वर्णन है कि 'तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् शोक से आकुल-व्याकुल होकर इन्द्र तीर्थंकर के शरीर का अग्नि संस्कार करते हैं। क्षीर समुद्र में उनकी अस्थियों को प्रक्षालन कर स्वर्ग में ले जाते हैं। श्रेष्ठ चन्दन रस से उसका विलेपन कर मन्दार, पारिजात, शतपत्र, सहस्रपत्र कमल पुष्पों से उनका अर्चन कर देव पुनः अपने विमान स्थानों में चले जाते हैं। इन अस्थि आदि की अर्चना और स्वप्न आदि का सविस्तृत वर्णन जो जिनचरिताधिकार अन्तकृद्दशांग में दिया गया है वहाँ से जानना चाहिए।[4]

निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकरों की दाढें इन्द्र ले जाते हैं यह वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[5] व त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र[6] आदि में आया है

---

१ वही, पृ० ७६।

२ आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्ध, पत्र ५५६।

३ त्रिषष्टि, १०-६।

४ काऊणं सोगत्ता, सुण्णे दस दिसि वहे पलोयंता।
जह खीरसागरे जिण-वराण अट्ठी परवालिऊणं च॥
सुरलोए नेऊणं, आलिपिऊण पवरचंदणरसेणं।
मन्दर-पारियाय - सयवत्त सहस्सपत्तेहिं॥
जह अच्चेऊण सुरा, नियनियभवणेसु जह व ते थुणंति।
तं सव्वं महया वित्थरेण अरहंतचरियामिहाणे अंतकडदसाणं मज्झाओ कसिणं विन्नेयं। —महानिशीथ ३।५६-५७

५ तएणं से सक्के देविंदे देवराया भगवओ तित्थगरस्स उवरिल्लं दाहिणं सकहं गेण्हइ, ईसाणें देविंदे देवराया उवरिल्लंवामं सकहं गेण्हइ, चमरे असुरिंदे असुरराया हिट्ठिलं दाहिणं सकहं गेण्हइ, वल्ली वइरोआणिंदे वैरेआणिराया हिट्ठिलंवामं सकहं गेण्हइ। —जम्बू० वक्षस्कार २, सूत्र ३३

६ त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग १३

पर इन्द्र द्वारा अस्थियाँ ले जाने का वर्णन नहीं आया है। अन्तकृद्दशाङ्ग सूत्र में तीर्थंकरों का चरित्र नहीं है वहाँ तो मोक्ष प्राप्त करने वाले मुनियों का पवित्र-चरित्र है। समवायांग व नन्दी में जहाँ पर अन्तकृतदशांग की विषय सूची दी गई है वहाँ पर भी तीर्थंकर चरित्र की बात नहीं है अतः महानिशीथ का प्रस्तुत कथन प्रमाणभूत नहीं है।

महानिशीथ के पञ्चम अध्ययन में महावीर के शासन के आचार्यों की संख्या लिखी है[1] कि पचपन करोड़ लाख, पचपन करोड़ हजार, पचपन सौ करोड़ और पचपन करोड़ आचार्य होंगे। इनमें से कितने ही गुणाकीर्ण और निर्वृत्तिगामी होंगे। जो आचार्य सर्वोत्तम होते हैं उन्हीं की गणना तीर्थंकर के पश्चात् की जाती है। आचार्यों की जो संख्या दी गई है उसका मूल स्रोत अङ्ग और अङ्गबाह्य आगम जो महानिशीथ से पूर्व रचित हैं उनमें प्राप्त नहीं होता है। यह उल्लेख सर्वप्रथम महानिशीथ में ही मिलता है उसके पश्चात् रचे हुए युगप्रधान स्तवों में प्रस्तुत संख्या मिलती है।

इस प्रकार महानिशीथ में ऐसी अनेक बातें हैं जिनका समर्थन प्रमाणभूत आगम साहित्य से नहीं होता है।

□

---

१ एएयं आयरियाणं, पणपन्नं होंति कोडिलक्खाओ।
कोडिसहस्से कोडिसएय तह एत्तिए चेव॥
एतेसि मज्झाओ, एगे निव्वुइ गुणगणाइन्ने।
सव्वुत्तमभंगेणं, तित्थयरस्साणुसरिसगुरु॥

—महानिशीथ ५।९२

जीतकल्प

श्रमण जीवन का आधार व्यवहार है। मुमुक्षु साधकों की प्रवृत्ति और निवृत्ति को व्यवहार कहा गया है। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना व्यवहार है और वही चारित्र भी है।

साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति और निवृत्ति में ज्ञान की प्रधानता होती है। ज्ञानयुक्त प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही उपादेय हैं और ज्ञानरहित दोनों ही हेय हैं। ज्ञान की मूलभित्ति पर ही चारित्र का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। व्यवहार के पाँच प्रकार हैं। उसमें पाँचवें व्यवहार का नाम जीत व्यवहार है। 'जो व्यवहार परम्परा से प्राप्त हो एवं श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत हो वह जीत व्यवहार कहलाता है।[1] प्रस्तुत आगम में श्रमण-श्रमणियों के भिन्न-भिन्न अपराधस्थान विषयक प्रायश्चित्त का जीत व्यवहार के आधार पर निरूपण किया गया है।

जीतकल्प के रचयिता सुप्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। इसमें १०३ गाथाएँ हैं। कल्पकार ने प्रथम प्रवचन को नमस्कार किया है। आत्मा की विशुद्धि के लिए जीत व्यवहारगत प्रायश्चित्त दान का संक्षिप्त निरूपण है।

संवर और निर्जरा से मोक्ष होता है। तप संवर और निर्जरा का मुख्य हेतु है। तप में प्रायश्चित्त प्रधान है। एतदर्थ प्रायश्चित्त का मोक्ष-मार्ग की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

प्रायश्चित्त दो शब्दों के योग से बना है। प्रायः का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना। अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त और दण्ड में यह अन्तर है कि प्रमादवश अनुचित कार्य करने पर मन में पश्चाताप होना और उसकी शुद्धि के लिए गुरुवर्य के समक्ष स्वयं के दोप को प्रकट करना, उसकी शुद्धि के लिए प्रार्थना करना

---

१ जीतकल्पभाष्य, गा० ६७५

और गुरुवर्य जो शुद्धि बतायें उसके अनुसार तप आदि का आचरण करना प्रायश्चित्त है। राजनीति में अपराधी को दण्ड दिया जाता है। पहले तो वह अपराध को स्वीकार ही नहीं करता और परिस्थितिवश स्वीकार भी कर ले तो उसके मन में उसके प्रति पश्चाताप और ग्लानि नहीं होती। यदि उसे दण्ड प्राप्त भी हो जाता है तो वह उसका प्रसन्नतापूर्वक पालन नहीं करता।

प्रायश्चित्त में हृदय परिवर्तन होता है। अपराध की गुरुता व लघुता को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त के भेद किये गये हैं। वे दस हैं—आलोचनार्ह, प्रतिक्रमणार्ह, तदुभयार्ह, विवेकार्ह, व्युत्सर्गार्ह, तपार्ह, छेदार्ह, मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह, पाराञ्चिकार्ह।

आलोचना

दस प्रायश्चित्तों में पहला प्रायश्चित्त आलोचना है। यहाँ पर दूसरों की नुक्ताचीनी करना, टीका-टिप्पणी करना इष्ट नहीं है। यहाँ आलोचना का अर्थ है—संयम में जो दोष लग गया हो, उसको गुरुजनों के समक्ष निष्कपट मन से प्रकट कर देना कि गुरुदेव मुझसे यह दोष हो गया है। इस प्रकार प्रकट रूप से दोष को स्वीकार करना आलोचना है।[1]

आलोचना आत्म-निन्दा है, स्वयं के दोषों को प्रकट करना है। पर-निन्दा सरल है परन्तु स्वयं के दोषों की निन्दा करना कठिन है। जैसे बालक उचित या अनुचित जो भी कार्य कर लेता है वह सरल हृदय से माता-पिता से कह देता है, उसमें किसी भी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं होता वैसे ही शिष्य को गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट कर देने चाहिए। जब तक कृत पापों की आलोचना नहीं की जाती तब तक हृदय शल्य-मुक्त नहीं होता। बिना आलोचना किये यदि मृत्यु हो जाती है तो साधक विराधक हो जाता है।

दोष लग जाना उतना बुरा नहीं है जितना बुरा है दोष को दोष न समझना और उसे छुपाने का प्रयास करना। अलोचना से जीवन में उल्लास आता है, मन में हलकापन का अनुभव होता है और हृदय में निर्मलता आती है।

---

१ आ—अभिविधिना सकलदोषाणां, लोचना—गुरुपुरतः प्रकाशना आलोचना।
—भगवती २५।७ टीका

आलोचना वही करता है जो जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी, अपश्चातापी (बाद में पश्चाताप न करने वाला) हो।

जैसे कुशल वैद्य अपनी बीमारी दूसरे वैद्य से कहता है, उससे चिकित्सा करवाता है, उसके अनुसार कार्य करता है वैसे ही निपुण साधक को भी पाप की विशुद्धि दूसरों की साक्षी से करनी चाहिए। आलोचना बहुश्रुत गंभीर श्रमण के समक्ष करनी चाहिए।

आलोचना जिनके समक्ष की जाय वह आचारवान हो, आधारवान—अवधारणायुक्त हो, व्यवहारवान—पाँचों व्यवहारों का ज्ञाता हो। अप्रवीडक—मधुरवचनों से अपराधी की लज्जा दूर कर उससे सही आलोचना कराये। प्रकुर्वक—अपराधी अपने दोषों का प्रायश्चित्त मांगता हो उस समय उसे अविलम्ब प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे। अपरिस्रावी—आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के समक्ष प्रकट करने वाला न हो। निर्यापक—यदि किसी ने महान दोष का सेवन किया हो किन्तु उसका शरीर अशक्त व रुग्ण है तो थोड़ा-थोड़ा प्रायश्चित्त देकर उसकी शुद्धि कराये। अपायदर्शी—दोष का सेवन करके भी यदि वह आलोचना करने में संकोच का अनुभव करता है तो उसका दुष्परिणाम समझाकर आलोचना कराये।

आलोचना का जैन साहित्य में गहराई से विश्लेषण किया गया है। छद्मस्थ को आहारादिग्रहण, बहिर्निर्गम, मलोत्सर्ग आदि क्रियाओं में अनेक दोष लगते हैं उनकी आलोचना करना।[१]

प्रतिक्रमण

आलोचना के पश्चात् दूसरा प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण जैन साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। जीवन में जो पाप स्वयं करते हैं, दूसरों से करवाते हैं और दूसरों के द्वारा किये गये पापों का अनुमोदन करते हैं उन सभी पापों की निवृत्ति के लिए अन्तःकरण से जो पश्चाताप किया जाता है वह प्रतिक्रमण है। शुभ योग से आत्मा जो अशुभ योग में गई है उसे पुनः शुभ योग में लौटा लाना प्रतिक्रमण है। एकान्त शान्त क्षणों में बैठकर प्रातः व संध्या के समय साधक अन्तर्निरीक्षण करता है और जिन दोषों से आत्मा दूषित होती है उन्हें न करने का वह दृढ़ता से संकल्प करता है। इस प्रकार प्रति-

---

१ जीतकल्प गा० ५-८

हैं। यह प्रायश्चित्त मानव के अहंकार पर सीधी चोट करता है। यह प्रायश्चित्त देने पर दीक्षा में छोटे साधु भी बड़े बन जाते हैं। जो तप के गर्व से उन्मत्त हैं या जो तप के लिए सर्वथा असमर्थ हैं अथवा जिनकी तप पर किञ्चित् भी श्रद्धा नहीं है, या जिनका तप से दमन करना कठिन है उनके लिए छेद का विधान किया गया है।[१]

मूलार्ह

प्रायश्चित्त का आठवाँ प्रकार मूलार्ह है। मूलार्ह का अर्थ नई दीक्षा है। छद्मस्थ श्रमण या श्रमणी कभी-कभी इतने महान् अपराध का सेवन कर लेता है जिसकी शुद्धि आलोचना व तप से संभव नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि से महाव्रतों के भंग से वह चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है। उस दोष की विशुद्धि के लिए चारित्र पर्याय का सर्वथा छेद कर नई दीक्षा देनी पड़ती है।[२] महाव्रतों का फिर से आरोपण करना पड़ता है। एतदर्थ इसे मूलार्ह प्रायश्चित्त कहा है।

अनवस्थाप्यार्ह

प्रायश्चित्त का नौवाँ प्रकार अनवस्थाप्यार्ह है। जिस महानतम दोष की शुद्धि के लिए अनवापित होना पड़ता है अर्थात् श्रमण संघ से पृथक् होकर गृहस्थ का वेश धारण किया जाय और साथ ही विशेष तप की आराधना की जाय। इस प्रकार दोनों आचरणों के पश्चात् पुनः नई दीक्षा ग्रहण करनी होती है—इस विधि से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहा जाता है। तीव्र क्रोध आदि से प्रदुष्ट चित्त वाले निरपेक्ष घोरपरिणामी श्रमण के लिए प्रस्तुत प्रायश्चित्त का विधान है।[३]

पाराञ्चिकार्ह

दसवाँ प्रायश्चित्त पाराञ्चिकार्ह प्रायश्चित्त है। श्रमण जीवन में सबसे गुरुतर महादोष के लिए प्रस्तुत प्रायश्चित्त का विधान है। इस प्रायश्चित्त में वेष और क्षेत्र का परित्याग कर उत्कृष्ट तप की साधना करनी होती है। स्थानांगसूत्र में पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पाँच कारण बताये हैं।[४] वे ये हैं—

---

१ जीत० गा० ८०-८२
२ वही, गा० ८३-८५
३ वही, गा० ८७-९३
४ स्थानांग ५।१

(१) गण में फूट डालना।
(२) फूट डालने की योजना बनाना, उसके लिए सदा प्रयास करना।
(३) श्रमण आदि को मारने की भावना रखना।
(४) मारने की योजना बनाना।
(५) पुनः-पुनः असंयम के स्थान रूप सावद्य अनुष्ठान की अन्वेषणा करते रहना अर्थात् अंगुष्ठ, कुड्य प्रभृति प्रश्नों का प्रयोग करना। इन प्रश्नों से दीवार या अंगूठे में देवता को बुलाया जाता है।

इनके अतिरिक्त श्रमणी या महारानी का शील भंग करने पर भी यह प्रायश्चित्त दिया जाता था। तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर आदि की अभिनिवेशवश बार-बार आशातना करने वाले को भी यह प्रायश्चित्त दिया जाता था। इसी तरह कषायदुष्ट, विषयदुष्ट, स्त्यानर्द्धिनिद्रा-प्रमत्त एवं अन्योन्यकारी पारांचिक-प्रायश्चित्त के अधिकारी हैं।[1]

उपर्युक्त दस प्रायश्चित्तों में से अन्तिम दो प्रायश्चित्त—अनवस्थाप्य और पारांचिक—ये चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी तक रहे। उसके पश्चात् लुप्त हो गये।

आचार्य अभयदेव के अभिमतानुसार दसवाँ प्रायश्चित्त विशेष पराक्रम वाले आचार्य को दिया जाता था, उपाध्याय को ९वें प्रायश्चित्त तक और सामान्य श्रमण के लिए आठवें प्रायश्चित्त तक का विधान है। वर्तमान में अधिक से अधिक आठवाँ प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।

विज्ञों का ऐसा अभिमत है कि यतिजीतकल्प और श्राद्धजीतकल्प भी जीतकल्प के अन्तर्गत ही गिने जा सकते हैं। यतिजीतकल्प में श्रमणाचार का निरूपण है, इसके रचयिता सोमप्रभ सूरि हैं और साधुरत्न ने इस पर वृत्ति लिखी है। श्राद्धजीतकल्प में श्रावकाचार का विश्लेषण है। इसके रचयिता धर्मघोष हैं और सोमतिलक ने इस पर वृत्ति भी लिखी है।

□

---

१. जीतकल्प ९४-९६

ओघनिर्युक्ति

ओघ का अर्थ सामान्य या साधारण है। इसमें बिना विस्तार किये केवल सामान्य कथन किया गया है अतः इसका नाम ओघनिर्युक्ति है। इसमें सामान्य सामाचारी का वर्णन है। पिण्डनिर्युक्ति की भाँति इसमें भी श्रमणों के आचार-विचार का प्रतिपादन होने से इसे कहीं पर निर्युक्ति के स्थान पर मूलसूत्र माना है और कहीं पर इसे छेदसूत्रों के अन्तर्गत गिना है। इस निर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु माने जाते हैं। विज्ञों का ऐसा मत है कि यह आवश्यकनिर्युक्ति का ही एक अंश है। इसमें उदाहरण के माध्यम से विषय को स्पष्ट किया गया है। इसमें ८११ गाथाएँ हैं। पिण्डनिर्युक्ति की भाँति इसमें भी भाष्य और निर्युक्ति की गाथाएँ परस्पर मिल गई हैं। द्रोणाचार्य ने इस पर चूर्णि की भाँति प्राकृत प्रधान टीका लिखी है। आचार्य मलयगिरि ने इस पर वृत्ति लिखी है। बृहद्भाष्य व अवचूरि भी प्राप्त होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिलेखनाद्वार, पिण्डद्वार, उपधिनिरूपण, अनायतन-वर्जन, प्रतिसेवनाद्वार, आलोचनाद्वार और विशुद्धिद्वार का निरूपण हुआ है।

प्रतिलेखना

स्थान आदि का सम्यक् प्रकार निरीक्षण करना प्रतिलेखना कहलाती है। प्रतिलेखना के (१) अशिव, (२) दुर्भिक्ष, (३) राजभय, (४) क्षोभ, (५) अनशन, (६) मार्गभ्रष्ट, (७) मन्द, (८) अतिशययुक्त, (९) देवता, (१०) आचार्य ये दस द्वार हैं। श्रमण अशिव के समय देशान्तर में गमन कर जाते थे, वे अशिवोपद्रव से ग्रसित कुलों से भिक्षा ग्रहण नहीं करते थे। दुर्भिक्ष की विकट संकट की स्थिति उपस्थित होने पर गणभेद करके कम श्रमण को अपने साथ रखना चाहिए, ऐसा विधान किया गया है। किन्हीं कारणों से यदि राजा श्रमण पर कुपित हो जाये और वह श्रमण का अशन-पान या उपकरण अपहरण करने के लिए प्रस्तुत हो तो ऐसी परिस्थिति में श्रमण गच्छ के साथ रहे। यदि राजा उसका जीवन और चारित्र ही नष्ट करना चाहता है तो वह गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करे। किसी नगर

में आकस्मिक उपसर्ग या कष्ट उपस्थित होने पर श्रमण एकाकी विहार करे। अनशन करने के लिए यदि अन्य संघाडे का अभाव है तो भी एकाकी गमन करे। रुग्ण होने पर अन्य सन्त के अभाव में औषधि आदि लाने के लिए एकाकी गमन करे। देवता का उपसर्ग होने पर एकाकी विहार कर सकता है। आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य कर एकान्त में विहार किया जा सकता है।

विहार विधि का निरूपण करते हुए वताया है कि श्रमण को मार्ग पूछना चाहिए। मार्ग में पृथ्वीकाय आदि हो तो प्रमार्जन करना। मार्ग में यदि नदी आ जाये तो उसे पार करने की विधि वताई है। भयंकर जंगल को पार करते समय यदि आग लग गई है तो पाँवों में चर्म या पादत्राण आदि को धारण कर मार्ग को पार करे। तेज वायु का प्रकोप होने पर कम्वल आदि से शरीर को ढककर विहार करे। इसी प्रकार वनस्पति व त्रसद्वार का वर्णन है।

संयम-साधना के लिए आत्मरक्षा आवश्यक है। यह सत्य-तथ्य है कि सर्वत्र संयम की रक्षा करनी चाहिए किन्तु आत्म-रक्षा के विना संयम-पालन संभव नहीं है क्योंकि जीवित रहने पर, संयम से भ्रष्ट होने पर भी तप आदि के द्वारा उन दोषों की विशुद्धि की जा सकती है अन्त में परिणामों की विशुद्धता ही मोक्ष का कारण है।[1] संयम के लिए देह धारण की जाती है, देह के अभाव में संयम का पालन कहाँ से हो सकता है, इसलिए संयम की वृद्धि के लिए देह का पालन करना उचित है।[2] ईर्यापथ आदि जितनी भी हलन-चलन की क्रियाएँ हैं वे अविवेकी श्रमण के लिए कर्मवंधन का कारण हैं और विवेकी श्रमण के लिए मोक्ष में सहायक होती है।[3]

यदि कोई श्रमण रुग्ण है तो तीन, पाँच या सात श्रमण निर्मल वस्त्र धारण कर शुभ शकुन को देखकर वैद्य के पास जायें। यदि उस समय वैद्य किसी के फोड़े का ऑपरेशन कर रहा हो, तो उस समय उससे वात न करें,

---

१ सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याविरई॥ —ओघनिर्युक्ति, गा० ४६

२ संयमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे?
संयमफाइनिमित्तं देहपरिपालणा इट्ठा॥ —वही, गा० ४७

३ वही, गा० ५४

वह उससे निवृत्त होकर पवित्र स्थान में बैठा हो तब रोगी श्रमण की स्थिति उसे सुनायें और वह जो उपचारविधि कहे उसे ध्यानपूर्वक श्रवण करें। यदि वैद्य रुग्ण श्रमण को देखने के लिए आये तो रोगी श्रमण के सन्निकट का वातावरण पूर्ण स्वच्छ रखें।[१] ग्लान श्रमण की परिचर्या करें।[२]

श्रमण भिक्षा के लिए जाये उस समय उपस्थित होने वाली बाधाएँ, भिक्षा के दोष, श्रमण की परीक्षा, स्थान विधि, गण की आज्ञा लेकर जाना, पर प्रस्तुत कार्य के लिए बाल, वृद्ध, रुग्ण श्रमण को नहीं प्रेषित करना चाहिए। जिस वसति को पसन्द किया जाये वहाँ पर उच्चार-प्रस्रवणभूमि, पानी का स्थल, विश्रामस्थल, भिक्षास्थल प्रभृति मार्गों को भली-भाँति देखना चाहिए। किस दिशा विशेष में मकान आदि रहने से शुभ होता है और किस में रहने से अशुभ होता है आदि विषयों पर भी विचार किया गया है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना हो तो शय्यातर की अनुमति लेनी चाहिए। वह शय्यातर को कहे कि अब इक्षु बाड़ को लांघ चुके हैं। तुम्बी के फल आ चुके हैं। बैलों में भी बल का संचार हो चुका है। कीचड़ भी सूख गया है, जल कम हो गया है अतः श्रमणों के विहार का समय आ चुका है।[३]

शय्यातर—आप इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हैं ?

आचार्य—क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि श्रमण, पक्षी, भ्रमर, गाय और शरत्कालीन मेघ एक स्थान पर नहीं रहते।[४] अतः हम लोग कल यहाँ से प्रस्थान करेंगे। प्रस्थान के पूर्व वे शय्यातर के परिवार को धर्मोपदेश प्रदान करते हैं।[५]

विहार करते समय शुभ शकुन देखना चाहिए, अशुभ शकुन में गमन

---

१ ओघनिर्युक्ति, गा० ७०

२ वही, गा० ७१-८३

३ उच्छू वोलिंति वइं, तुंबीओ जायपुत्तभंडा य।
वसभा जायत्थामा गामा पव्वायचिक्खल्ला॥
अप्पोदगा य मग्गा वसुहा वि पक्कमट्टिआ जाया।
अण्णक्कंता पंथा साहूणं विहरिउं कालो॥१७०-१॥

४ समणाणं सउणाणं भमरकुलाणं च गोउलाणं च।
अनियाओ वसहीओ सारइयाणं च मेहाणं॥१७२॥

५ वही, १७०-५

करना योग्य नहीं माना गया है। शुभ और अशुभ शकुनों की सूची भी दी गई है।[१]

श्रमण किन-किन उपकरणों को लेकर विहार करे ? किस समय गमन करे, कहाँ पर ठहरे ? रात्रि गमन और एकाकी गमन का निषेध किया गया है। गच्छ के विहार की विधि—जो मार्ग ज्ञाता श्रमण हो उसे साथ में रखे। स्थान पर पहुँचने के उपरान्त उसके प्रमार्जन का विधान किया गया है। विकाल में प्रवेश करने पर वन-पशु, तस्कर, कुत्ते, बैल, वेश्या आदि का भय रहता है। उच्चार, प्रस्रवण और वमन को रोकने से जो हानि होती है उस पर भी प्रकाश डाला गया है।

वसति में प्रवेश करने के पश्चात् संथारा लगाने की विधि, तस्करादि का भय हो तो कैसे रहना चाहिए। आचार्य से कहकर भिक्षा के लिए जाये। यदि कोई श्रमण बिना कहे ही चला गया हो तो, और समय पर पुनः न आया हो तो उसकी चारों दिशाओं में अन्वेषणा करे। यदि तस्कर उठाकर ले जायें तो उस समय क्या करना चाहिए—इन बातों पर भी प्रकाश डाला गया है। उत्तर और पूर्व दिशा की ओर पीठ करके मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए और न पवन, गाँव व सूर्य की ओर पीठ करके ही मल-मूत्र का त्याग करे।

पिण्ड

द्वितीय पिण्डेषणाद्वार में गवेषणा, ग्रहणैषणा, ग्रासैषणा से विशुद्ध पिण्ड को श्रमण ग्रहण करे। द्रव्यपिण्ड के सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन भेद किये हैं। सचित्त और मिश्र के ९ भेद किये हैं व अचित्त के दस भेद किये हैं।

वस्त्र प्रक्षालन कब व किस समय करना चाहिए। रुग्ण श्रमणों के वस्त्र पुनः-पुनः धोये, यदि न धोये जायेंगे तो जन-मन में जुगुप्सा होगी। पात्र लेप का विधान, न करने में दोष, लेप की विधि, लेप के प्रकार आदि पर प्रकाश डाला गया है। यदि चतुर्थ महाव्रत के खण्डित होने का प्रसंग उपस्थित हो जाये तो श्रमण प्राणों को न्यौछावर करदे पर व्रतभंग न करे।

ग्रहणैषणा में आत्म-विराधना, संयम-विराधना, और प्रवचन-विराधना नामक दोषों का वर्णन है। पिण्डनिर्युक्ति में जिन बातों पर प्रकाश

---

१ वही, भाष्य ८२-८५

डाला गया है उन्हीं का प्रकारान्तर से यहाँ वर्णन किया गया है। भिक्षा की अच्छी तरह से प्रतिलेखना करनी चाहिए। गुरुजनों को भिक्षा दिखाकर जहाँ से भिक्षा लाया हो उसकी आलोचना करनी चाहिए।

ग्रासैषणा का वर्णन करते हुए बताया है कि गुरु के समीप बैठकर प्रकाशयुक्त स्थान में भोजन करे। यदि भिक्षा सदोष आगई हो तो उसके परिस्थापन की विधि भी बताई गई है।

उपधिद्वार में जिनकल्पिक श्रमणों के (१) पात्र, (२) पात्रबंध, (३) पात्र-स्थापन, (४) पात्रकेसरिका, (५) पटल, (६) रजस्त्राण, (७) गोच्छक, (८—१०) तीन प्रच्छादन (वस्त्र), (११) रजोहरण, (१२) मुख-वस्त्रिका—ये बारह उपकरण हैं। इन १२ उपकरणों में मात्रक और चोल-पट्टक मिला देने से स्थविरकल्पिकों के चौदह उपकरण होते हैं।[१]

श्रमणियों के पच्चीस उपकरणों का वर्णन है। बारह उपकरणों के अतिरिक्त तेरह उपकरण उनके विशेष होते हैं।

पात्र के लक्षण, ग्रहण करने की आवश्यकता, दण्ड, यष्टिचर्म, चिलि-मिली आदि की आवश्यकता पर भी ग्रहण करने के सम्बन्ध में विचार किया है। लाठियों के भेद-प्रभेदों का उल्लेख करते हुए एक, तीन व सात पोरीवाली लाठी शुभ मानी है।[२]

उपधि को धारण करने में यदि परिग्रहवृत्ति आ जाती है तो वह उपधि उपाधिरूप हो जाती है। जहाँ पर प्रमत्तभाव आता है वहाँ हिंसा है और जहाँ पर अप्रमत्तभाव है वहाँ पर अहिंसा है।[३]

इसके पश्चात् अनायतन-वर्जन द्वार है। जहाँ पर ज्ञान, दर्शन और

---

१ पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च गुच्छओ पायनिज्जगो॥
तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाणं॥
एए चेव दुवालस मत्तग अइरेगचोलपट्टो य।
एसो चउद्दसविहो उवही पुण थेरकप्पम्मि॥
—ओघनिर्युक्ति, गा० ६६८-६७०

२ वही, गा० ७३१-७३८

३ वही, गा० ७५०-७५३

चारित्र का उपघात होता है उस अनायतन स्थान को पापभीरु श्रमण परित्याग करदे।[1]

अनायतनद्वार के बाद प्रतिसेवनाद्वार है। मूलगुण प्रतिसेवना और उत्तरगुण प्रतिसेवना के भेद-प्रभेदों की चर्चा की गई है। मूलगुण प्रतिसेवना के पंचमहाव्रत और छठा रात्रि-भोजन ये छह स्थान हैं और उत्तरगुण प्रतिसेवना के उद्गम, उत्पादना, एषणा ये तीन स्थान हैं। प्रतिसेवना, मइलणा, भङ्ग, विराधना, स्खलना, उपघात, अशुद्धि, सबलीकरण ये सभी पर्यायवाची हैं।

आलोचना के भी मूलगुण और उत्तरगुण ये दो भेद हैं। मूलगुण और उत्तरगुण आलोचना भी चतुष्कर्ण वाली होती है—आलोचना करने वाले के दो कर्ण और आलोचना सुनने वाले के दो कर्ण। आलोचना के विकटना, शुद्धि, सद्भावदलना, निन्दना, गरहणा, विउट्टण शल्युद्धरणा—ये एकार्थक नाम बताये हैं। आलोचना बालक के समान सरल होकर करनी चाहिए। जो सरल होकर आलोचना करता है उसी की विशुद्धि होती है। विशुद्धि द्वार में इसी पर चिन्तन किया गया है। शल्यरहित होकर जो गुरु के समक्ष आलोचना करता है वह आराधक होकर मुक्ति का वरण करता है।

□

---

१ णाणस्स दंसणस्स य चरणस्स य जत्थ होइ उवघातो।
वज्जेज्जऽवज्जभीरू अणाययण वज्जओ खिप्पं॥

—ओघनिर्युक्ति, गा० ७७८

पिण्डनिर्युक्ति

पिण्ड शब्द 'पिडि संघाते' धातु से बना है। अन्वयार्थ की दृष्टि से सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं के एकत्रित होने को पिण्ड कहा जाता है। सामयिक दृष्टि से तरल वस्तु को पिण्ड कहा गया है। आचारांग में पानी की एषणा के अर्थ में पिण्डैषणा शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] पिण्ड-निर्युक्ति में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन सभी के लिए पिण्ड शब्द व्यवहृत हुआ है।[2] श्रमण के ग्रहण करने योग्य आहार को पिण्ड कहा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका विवेचन है। उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण—इसमें ये आठ अधिकार हैं। इसमें ६७१ गाथाएँ हैं। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ परस्पर मिल चुकी हैं। जिनका पृथक्करण करना कठिन हो गया है। प्रस्तुत निर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु माने जाते हैं। दशवैकालिकसूत्र के पाँचवें अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। प्रस्तुत अध्ययन पर भद्रबाहु ने जो निर्युक्ति लिखी वह बहुत ही विस्तृत हो जाने से उसे आचार्यों ने पृथक् आगम के रूप में मान्यता दे दी। इस पर आचार्य मलयगिरि ने बृहद्वृत्ति और वीराचार्य ने लघुवृत्ति का निर्माण किया है।

पिण्ड के नौ प्रकार हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इन नौ के सचित्त, अचित्त और मिश्र भेद किये गये हैं। इनमें सीपी, शंख व सर्पदंश के जहर को शमन करने के लिए दीमकों के गृह की मिट्टी; वमन की उपशान्ति हेतु मक्खी की विष्टा; टूटी हुई हड्डी को जोड़ने के लिए चर्म, अस्थि, दाँत, नख; पथभ्रष्ट श्रमण को बुलाने के लिए सींग और कुष्ठ आदि रोगों के निवारणार्थ गोमूत्र आदि का उपयोग श्रमण के लिए विहित बताया है।

---

१ आचारांग, उद्देशक ७

२ पिण्डनिर्युक्ति, गा० ६

उद्गम दोष

गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दोष उद्गम कहलाते हैं। ये आहार की उत्पत्ति के दोष हैं। उनके सोलह प्रकार हैं :—

(१) आधाकर्म—साधु का उद्देश्य रख कर बनाना।

(२) औद्देशिक—सामान्य याचकों का उद्देश्य रखकर बनाना या निर्ग्रन्थ को दान देने के उद्देश्य से बनाना।

ऐसी वस्तु या आहार श्रमण के लिए अग्राह्य होता है। अतः श्रमण दाता से कहता है कि इस प्रकार का आहार मुझे नहीं कल्पता।[१] दशवैकालिक,[२] प्रश्नव्याकरण,[३] सूत्रकृताङ्ग,[४] उत्तराध्ययन[५] आदि आगम साहित्य में भी औद्देशिक ग्रहण का वर्णन किया है। जो भिक्षु औद्देशिक आहार की गवेषणा करता है वह उद्दिष्ट-आहार बनाने में होने वाली त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा का अनुमोदन करता है।[६]

विनयपिटक के अनुसार बौद्ध भिक्षु अपने उद्देश्य से बनाये हुए आहार का उपयोग करते थे और वे अपने लिए बनवा भी लेते थे।[७]

(३) पूति कर्म—शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना।

जिस प्रकार अशुचि-गंध के परमाणु वातावरण को विपाक्त बना देते हैं उसी प्रकार आधाकर्म-आहार का किञ्चित् अंश भी शुद्ध आहार में मिलकर उसे सदोष बना देता है। जिस घर में आधाकर्म आहार बनता है वह तीन दिन तक पूतिदोष युक्त होता है अतः श्रमण उस घर से चार दिन तक भिक्षा नहीं ले सकता।[८]

(४) मिश्रजात—अपने लिए व श्रमण के लिए एक साथ बनाना।

इसके यावदर्थिक-मिश्र, पाखण्डि-मिश्र और साधु-मिश्र ये तीन प्रकार हैं। भिक्षाचर और कुटुम्ब के लिए एक साथ पकाया जाने वाला

---

१ दशवैकालिक ५।१।४७-५४

२ दशवैकालिक ५।१।५५, ६।४८-४६, ८-२३, १०-४.

३ प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार १।५

४ सूत्र० १।६।१४

५ उत्तरा० २०।४७

६ दशवै० ६।४८

७ विनयपिटक महावग्ग ६।४।३, पृ० २३४

८ पिण्डनिर्युक्ति, पृ० २६८

है। यक्ष के रूप में ये भूमि पर विचरण करते हैं। श्रमणभक्त के सम्मुख दान की प्रशंसा करके उससे दान प्राप्त करने की इच्छा वाला श्रमण-वनीपक कहलाता है। श्रमण के निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, परिव्राजक और आजीवक ये पाँच भेद किये हैं।

(६) चिकित्सा—औषधि आदि बताकर आहार लेना।

(७) क्रोध—क्रोध करना या शापादि का भय दिखाना।

(८) मान—अपना प्रभुत्व जमाकर आहार लेना।

(९) माया—छल-कपट से आहार लेना।

(१०) लोभ—सरस भिक्षा के लिए अधिक घूमना। क्रोध, मान, माया और लोभ से भिक्षा प्राप्त करने वाले श्रमणों के उदाहरण भी इसमें दिये गये हैं।

(११) पूर्व पश्चात्संस्तव—दान देने वालों के माता-पिता अथवा सास-ससुर प्रभृति का परिचय प्रदान कर तथा भिक्षा के पूर्व या बाद में उनकी यशोगाथा गाकर भिक्षा प्राप्त करना।

(१२) विद्या—भिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्या का प्रयोग करना।

(१३) मंत्र—भिक्षा प्राप्त करने के लिए मंत्र का प्रयोग करना। प्रतिष्ठानपुर के राजा मुरुण्ड की भयंकर सिर-वेदना को दूर करने वाले पादलिप्त सूरि का यहाँ पर उदाहरण दिया गया है।

(१४) चूर्ण—चूर्ण आदि वशीकरण का प्रयोग करके आहार ग्रहण करना। आँखों में इस प्रकार का अंजन लगा देना, जिससे दाता मुग्ध होकर उदार भावना से दान दे। दो क्षुल्लक मुनियों का यहाँ उदाहरण दिया है।

(१५) योग—पादलेप आदि योग-विद्या का प्रदर्शन कर आहार आदि ग्रहण करना। इसमें समित सूरि का उदाहरण दिया गया है।

(१६) मूलकर्म—गर्भ स्तंभन, रक्षण, पतन आदि बताकर आहारादि प्राप्त करना। इसके लिए जंघापरिजित नामक श्रमण का उदाहरण दिया गया है।

ग्रहणैषणा के दोष

गृहस्थ और श्रमण दोनों के निमित्त से जो दोष लगता है वह ग्रहणैषणा दोष कहलाता है। उसके दस प्रकार हैं—

(१) शङ्कित—आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी लेना। शंकासहित लिया हुआ आहार शुद्ध होने पर भी कर्मबन्ध का हेतु होने से

अशुद्ध हो जाता है। अपनी ओर से सम्यक् जाँच करने के पश्चात् लिया हुआ आहार यदि अशुद्ध भी है तो भी वह कर्मबन्ध का हेतु नहीं बनता।

(२) म्रक्षित—सचित्त का संघट्टा होने पर भी आहार लेना।

(३) निक्षिप्त—सचित्त पर रखा हुआ आहार लेना। निक्षिप्त दो प्रकार का होता है—अनन्तर निक्षिप्त और परम्पर निक्षिप्त। मक्खन आदि जल में रखा जाता है वह अनन्तर निक्षिप्त है। सम्पातिम जीवों के भय से दही आदि का वर्तन जलकुण्ड में रखा जाता है यह परम्पर निक्षिप्त है। जहाँ जल, उत्तिग, पनक का अशन से सीधा सम्बन्ध है वह अशन अनन्तर निक्षिप्त है और जहाँ पर सीधा सम्बन्ध नहीं है वहाँ परम्पर निक्षिप्त है। दोनों प्रकार के निक्षिप्त अशनादि श्रमण के लिए वर्ज्य है।

(४) पिहित—सचित्त से ढका हुआ आहार लेना।

(५) संहृत्य—पात्र में पहले से रक्खे हुए अकल्पनीय पदार्थों को निकालकर उसी पात्र से देना।

(६) दायक—बाल, वृद्ध, मत्त, उन्मत्त, काँपते हुए शरीर वाला, ज्वर से पीड़ित, अंधा, कुष्ठ रोगी, खड़ाऊं पहने हुए, हाथों व पाँवों में बेड़ी पहने हुए, हाथ-पाँव रहित, नपुंसक, सगर्भा स्त्री, जिसकी गोद में शिशु हो, भोजन करती हुई, दही मथती हुई, आटा पीसती हुई, रुई आदि धुनती हुई, छहकाय के जीवों को भूमि पर रखती हुई, उनको स्पर्श व उन पर गमन करती हुई, जिनके हाथ दही आदि से सने हुए हों, ऐसे अनधिकारी व्यक्तियों से आहार ग्रहण करना। इसमें छहकाय के जीवों की विराधना होने की सम्भावना रहती है।

(७) उन्मिश्र—साधु को देने योग्य आहार हो, उसे न देने योग्य आहार से मिलाकर दिया जाए। अथवा जो अचित्त आहार सचित्त या मिश्र वस्तु से सहज ही मिला हुआ हो वह उन्मिश्र कहलाता है।

संहृत्य और उन्मिश्र में यह अन्तर है कि संहृत्य में अदेय-वस्तु को सचित्त वस्तु से लगे हुए पात्र में या सचित्त पर रखा जाता है और उन्मिश्र में सचित्त और अचित्त का मिश्रण किया जाता है।

(८) अपरिणत—अपक्व शाक आदि ग्रहण करना।

(९) लिप्त—भिक्षा देने के निमित्त जो हस्त-पात्र आदि आहार से लिप्त हों, उन्हें गृहस्थ सचित्त जल से धोता है अतः पश्चात् कर्म होने की

सम्भावना से असंस्पृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का निषेध किया है और संस्पृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का विधान है। रोटी आदि सूखी वस्तु जिसका लेप न लगे और जिसे देने के पश्चात् हाथ आदि धोना न पड़े। सामान्य विधि यह है कि मुनि अलेप-कर आहार ले, किन्तु शरीर अस्वस्थ हो, संयम-योग की वृद्धि के लिए शक्ति संचय करना आवश्यक हो तो दूध, दही, घृत, तेल, मिष्ठान आदि विकृतियाँ भी ले सकता है।

(१०) छर्दित—नीचे बूंदें गिर रही हों ऐसा आहार लेना।

ग्रासैषणा के पाँच दोष

श्रमण और श्रमणियाँ जब आहार करने बैठते हैं तब जो आहार करते समय दोष लगते हैं वे ग्रासैषणा या परिभोगैषणा के दोष कहलाते हैं। वे पाँच हैं :—

(१) संयोजना—रस लोलुपता के कारण दूध और शक्कर आदि द्रव्यों को परस्पर में मिलाना।

(२) अप्रमाण—मात्रा से अधिक खाना। जिस व्यक्ति का जितना आहार है उससे किञ्चित् मात्र भी स्वाद आदि के लिए खाना अप्रमाण है।

(३) अङ्गार—सुस्वादु भोजन की प्रशंसा करते हुए खाना।

भगवतीसूत्र में भगवान ने कहा है—जो साधु या साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, ग्रहण कर उसमें मूच्छित, गृद्ध, स्नेहाबद्ध और एकाग्र होकर आहार करता है वह अंगार दोषयुक्त है। यह दोष चारित्र को जलाकर कोयला स्वरूप निस्तेज बना देता है अतः अंगार है।

(४) धूम—नीरस आहार की निन्दा करते हुए खाना।

(५) अकारण—साधु के लिए छह कारणों से भोजन करना विहित है। वे छह कारण ये हैं—(१) क्षुधानिवृत्ति (२) वैयावृत्य—आचार्य आदि की वैयावृत्य करने के लिए। (३) ईर्यार्थ—मार्ग को देख-देखकर चलने के लिए। (४) संयमार्थ—संयम पालन के लिए। (५) प्राण-धारणार्थ संयम-जीवन की रक्षा के लिए। (६) धर्म-चिन्तनार्थ—शुभ ध्यान करने के लिए। इन छह कारणों के अतिरिक्त आहार करना अकारण आहार है।

इस प्रकार पिण्डनिर्युक्ति में श्रमणों के आहारादि के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। अतः इस निर्युक्ति को मूलसूत्र के रूप में भी माना गया है।

उपसंहार

आगम साहित्य अत्यन्त विशाल है। उसमें प्रसंगानुसार नाना विषयों की चर्चाएँ हैं। उसमें केवल धर्म, दर्शन, आचार-विचार की ही चर्चाएँ नहीं अपितु सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि अनेक जीवनोपयोगी विषयों की चर्चाएँ हैं तथापि कुछ आगम ऐसे हैं जिनमें एक ही विषय की प्रमुखता है। प्रसंगानुसार अन्य विषय भी आये हैं पर वे गौणरूप से और वे उस मूल विषय को पुष्ट करने की दृष्टि से ही आये हैं।

आचारांग, दशवैकालिक में मुख्यरूप से साध्वाचार का निरूपण है। उत्तराध्ययन में साध्वाचार के साथ अन्य वर्णन भी आया है। इनमें मुख्य रूप से उत्सर्ग मार्ग का ही विधान है, कहीं-कहीं पर आपवादिक सूत्र हैं। छेदसूत्रों में भी साध्वाचार का विश्लेषण है पर उनमें उत्सर्ग और अपवाद दोनों मार्गों का वर्णन है। यदि प्रमाद और मोह वश दोष लग जाये तो उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान है। उपासकदशांग में श्रावकाचार का विश्लेषण है।

अन्तकृतदशा और अनुत्तरोपपातिक में उन महान विभूतियों का वर्णन है जिनका जीवन त्याग, तप व संयम से जगमगाया था।

ज्ञाताधर्मकथा में घटनाओं के माध्यम से आत्म-साधना की पवित्र प्रेरणा दी गई है। विपाकसूत्र में शुभाशुभ कर्मों के फल पर कथानकों के माध्यम से प्रकाश डाला गया है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में उस युग के भूगोल और खगोल का निरूपण है।

सूत्रकृतांग, स्थानांग, प्रज्ञापना, समवायांग, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, भगवती, नन्दी और अनुयोगद्वार आदि आगमों में दार्शनिक विषयों की गंभीर चर्चाएँ हैं।

सूत्रकृतांग में उस समय में प्रचलित दार्शनिक मतों का निराकरण किया गया है। भूताद्वैतवाद का निरसन कर आत्मा की अलग संसिद्धि की गई है। ब्रह्माद्वैतवाद के स्थान पर नानात्मवाद की स्थापना की गई है। कर्म और उसके फल की सिद्धि बताई गई है। जगत की उत्पत्ति विषयक ईश्वर-वाद का खण्डन कर संसार अनादि अनन्त है यह प्रतिपादित किया गया है। क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद आदि अनेक वाद जो

उस समय प्रचलित थे उनका तर्कयुक्त खण्डन कर सम्यक्-क्रियावाद की स्थापना की गई है।

प्रज्ञापना में जीव के विविध भावों का निदर्शन कर आत्मा और परलोक आदि को विविध युक्तियाँ देकर समझाया गया है।

भगवतीसूत्र में नय, प्रमाण, सप्तभंगी, अनेकान्तवाद, कर्म, आत्मा आदि दार्शनिक विषयों का सुन्दर विश्लेषण है।

नन्दीसूत्र में ज्ञान के स्वरूप व उसके भेद-प्रभेदों का अच्छा विवेचन किया है।

स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग में आत्मा, पुद्गलादि षट्द्रव्य, ज्ञान प्रभृति विषयों की चर्चा है।

अनुयोगद्वार में शब्दार्थ की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है। प्रसंगोपात इसमें प्रमाण, नय आदि का भी विश्लेषण है।

दस प्रकीर्णकों में साधक को आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए मंगलमय प्रेरणा दी गई है। जीव की गर्भस्थिति के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है और आगे चलकर जब वह साधना-पथ पर बढ़ता है तो किस प्रकार विवेक एवं भक्तिपूर्वक जीवनयापन करता हुआ अन्तिम समय में समाधिपूर्वक प्राण-त्याग करे—इन सभी विषयों की विस्तार के साथ चर्चा की गई है। कुछ प्रकीर्णकों में ज्योतिष सम्बन्धी विचार भी हैं।

महानिशीथ में साधक के अपवादमार्ग की विचारणा है। जीत व्यवहार में शंकास्पद स्थिति में कर्त्तव्य का निर्णय करने के नियामक तत्त्वों का वर्णन है।

ओघनिर्युक्ति एवं पिण्डनिर्युक्ति में श्रमण की सामान्य सामाचारी का वर्णन है। यद्यपि ये दोनों निर्युक्तियाँ हैं, तथापि इनकी परिगणना पैंतालीस आगमों में की गई है।

इस प्रकार आगम साहित्य में संपूर्ण जीव, जगत्, भौतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों की समस्त विधियों, घटनाओं, कर्तव्यों और नियामक नियमों पर विस्तार के साथ विश्लेषण प्राप्त होता है। मानव जीवन की सूक्ष्मतम समस्याओं के साथ-साथ समस्त प्राणिजगत देव-नारक-तिर्यंच, भूगोल, खगोल, आदि हजारों विषयों पर चिन्तन किया गया है, जो हमें कर्तव्य-बोध के साथ ही ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में दूर, बहुत दूर तक सोचने की प्रेरणा देता है, आलोक देता है। □

चतुर्थ खण्ड

आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य

- ☐ निर्युक्तियाँ
- ☐ भाष्य
- ☐ चूर्णियाँ
- ☐ टीकाएँ
- ☐ टब्बा आदि

निर्युक्ति साहित्य : एक विश्लेषण

- निर्युक्ति तथा निर्युक्तिकार
- आवश्यकनिर्युक्ति
- दशवैकालिकनिर्युक्ति
- उत्तराध्ययननिर्युक्ति
- आचारांगनिर्युक्ति
- सूत्रकृतांगनिर्युक्ति
- दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति
- बृहत्कल्पनिर्युक्ति
- व्यवहारनिर्युक्ति
- अन्य निर्युक्तियाँ

निर्युक्ति साहित्य : एक विश्लेषण

आगम साहित्य के गुरु-गंभीर रहस्यों के उद्घाटन के लिए विविध व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ। उस विराट् आगमिक व्याख्या साहित्य को हम पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) निर्युक्तियाँ (निज्जुत्ति)
(२) भाष्य (भास)
(३) चूर्णियाँ (चुण्णि)
(४) संस्कृत टीकाएँ
(५) लोकभाषा में लिखित व्याख्या साहित्य।

संक्षेप में आगमों के विषयों का परिचय प्रदान करने वाली अनेक संग्रहणियाँ हैं। पञ्चकल्पमहाभाष्य के अभिमतानुसार संग्रहणियों के रचयिता आर्य कालक माने गए हैं।

निर्युक्तियाँ

जैन आगम साहित्य पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में जो पद्यबद्ध टीकाएं लिखी गईं वे निर्युक्तियों के नाम से विश्रुत हैं। निर्युक्तियों में मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की है। निर्युक्तियों की व्याख्या शैली निक्षेप पद्धति है। निक्षेप-पद्धति में किसी एक पद के संभावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। यह पद्धति जैन न्यायशास्त्र में बहुत ही प्रिय रही है। भद्रबाहु ने प्रस्तुत पद्धति निर्युक्ति के लिए उपयुक्त मानी है। वे लिखते हैं—'एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त है। श्रमण भगवान महावीर के उपदेश के समय कौन-सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है। प्रभृति सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए, सही दृष्टि से अर्थ निर्णय करना और उस अर्थ का मूलसूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का

प्रयोजन है।[१] दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बतलाने वाली व्याख्या को निर्युक्ति कहते हैं।[२] अथवा निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति को निर्युक्ति कहते हैं।[३]

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान शारपेन्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इंडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।'[४]

अनुयोगद्वारसूत्र में निर्युक्तियों के तीन प्रकार बताये गये हैं—

(१) निक्षेप-निर्युक्ति

(२) उपोद्घात-निर्युक्ति

(३) सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति

ये तीनों भेद विषय की व्याख्या पर आधृत हैं।

डा० घाटके[५] ने निर्युक्तियों को निम्न तीन विभागों में विभक्त किया है—

(१) मूल निर्युक्तियाँ—जिसमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचारांग और सूत्रकृताङ्ग की निर्युक्तियाँ।

(२) जिसमें मूलभाष्यों का संमिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र की निर्युक्तियाँ।

(३) वे निर्युक्तियाँ जिन्हें आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य कहते हैं। जिनमें मूल और भाष्य में इतना संमिश्रण हो गया है कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकते, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

यह विभाग वर्तमान में प्राप्त निर्युक्ति साहित्य के आधार पर किया गया है। इनके काल निर्णय के सम्बन्ध में विज्ञों का एक मत नहीं है पर यह सत्य है कि वीर-निर्वाण की आठवीं-नौवीं सदी के पूर्व इनकी रचना हो चुकी थी।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ८८

२ सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः।
—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ८३

३ निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्तिनिर्युक्तिः। —आचारांगनि० १।२।१

४ उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ० ५०-५१

५ Indian Historical Quarterly, Vol. 12, p. 270.

नियुक्तिकार कौन ?

जिस प्रकार यास्क महर्षि ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए निघण्टु भाष्य रूप निरुक्त लिखा है इसी प्रकार जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए आचार्य भद्रबाहु ने नियुक्तियाँ लिखी हैं।

नियुक्तिकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। ये चतुर्दश-पूर्वधर छेदसूत्रकार भद्रबाहु से पृथक् हैं, क्योंकि नियुक्तिकार भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कन्धनियुक्ति, पञ्चकल्पनियुक्ति में छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है।[1] यदि छेदसूत्रकार और नियुक्तिकार एक ही भद्रबाहु होते तो नमस्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। नियुक्तियों में इतिहास की दृष्टि से भी ऐसी अनेक बातें आई है जो श्रुतकेवली भद्रबाहु के बहुत काल बाद घटित हुई।

यह सत्य तथ्य है कि नियुक्तियों में कुछ गाथाएँ बहुत ही प्राचीन हैं तो कुछ गाथाएँ अर्वाचीन हैं। आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज का मन्तव्य है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने भी नियुक्तियों की रचना की थी। उसके पश्चात् गोविन्द वाचक जैसे अन्य आचार्यों ने नियुक्तियाँ लिखीं। उन सभी नियुक्ति गाथाओं का संग्रह कर तथा अपनी ओर से कुछ नवीन गाथाएँ बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने नियुक्तियों को अन्तिम रूप दिया।[2]

हमारी दृष्टि से 'समवायाङ्ग, स्थानाङ्ग एवं नन्दी में जहाँ पर द्वादशाङ्गी का परिचय प्रदान किया गया वहाँ पर 'संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' यह पाठ प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि नियुक्तियों की परम्परा आगमकाल में भी थी। प्रत्येक आचार्य या उपाध्याय अपने शिष्यों को आगम के रहस्य हृदयंगम कराने के लिए अपनी-अपनी दृष्टि से नियुक्तियों की रचना करते रहे होंगे। जैसे वर्तमान प्रोफेसर विद्यार्थियों को नोट्स लिखवाते हैं वैसे ही नियुक्तियाँ रही होंगी। उन्हीं को मूल आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने अन्तिम रूप दिया होगा।

नियुक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के भ्राता थे। जो अष्टाङ्ग निमित्त और मंत्रविद्या के निष्णात विद्वान थे। जिन्होंने उपसर्गहरस्तोत्र, भद्रबाहुसंहिता और दस नियुक्तियाँ लिखी हैं। विज्ञों का

---

१ वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे॥

२ ज्ञानाञ्जलि, तथा मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ

ऐसा मन्तव्य है कि भद्रबाहुसंहिता जो वर्तमान में उपलब्ध है वह कृत्रिम है। असली भद्रबाहुसंहिता वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय विक्रम सम्वत् ५६२ के लगभग है और निर्युक्तियों का रचना समय विक्रम-संवत् ५००-६०० के मध्य का है।

इन दस आगमों पर निर्युक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

(१) आवश्यक, (२) दशवैकालिक (३) उत्तराध्ययन
(४) आचारांग (५) सूत्रकृताङ्ग (६) दशाश्रुतस्कन्ध
(७) बृहत्कल्प (८) व्यवहार (९) सूर्यप्रज्ञप्ति
(१०) ऋषिभाषित

इन दस निर्युक्तियों में से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियाँ उपलब्ध नहीं हैं। ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, पञ्चकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक हैं।

डा० घाटके के अनुसार 'ओघनिर्युक्ति' और पिण्डनिर्युक्ति क्रमशः दशवैकालिकनिर्युक्ति और आवश्यकनिर्युक्ति की उपशाखाएँ हैं किन्तु इस बात से आचार्य मलयगिरि सहमत नहीं है। उनके विचार से पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक अंश है, ऐसा पिण्डनिर्युक्ति की टीका से स्पष्ट है। आचार्य मलयगिरि दशवैकालिकनिर्युक्ति को चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृति मानते हैं। किन्तु पिण्डैषणा नामक पाँचवें अध्ययन पर बहुत विस्तृत निर्युक्ति हो जाने से उसको पृथक् व स्वतन्त्र 'पिण्डनिर्युक्ति यह नाम दिया गया। इससे यह सिद्ध होता है कि पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विस्तार से लिखा गया अंश है। मलयगिरि ने लिखा है—'पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति के अन्तर्गत होने के कारण ही इस ग्रन्थ के आदि में नमस्कार नहीं किया गया है और दशवैकालिकनिर्युक्ति के मूल के आदि में निर्युक्तिकार ने नमस्कार पूर्वक ग्रन्थ को प्रारम्भ किया है।'[1]

---

१ दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैषणाभिधापञ्चमाध्ययन निर्युक्तिरति-प्रभूतग्रन्थत्वात् पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नामकृतं....अतएव चादावत्र नमस्कारोऽपि न कृतोदशवैकालिकनिर्युक्त्यन्तरगतत्वेन दोषा तु निर्युक्तिर्दशवैकालिक-निर्युक्तिरिति स्थापिता।

आचार्य मलयगिरि का प्रस्तुत तर्क अधिक वजनदार नहीं है कि नमस्कार न करने के कारण ही यह निर्युक्ति दशवैकालिक का एक अंश है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन करने पर ऐसा परिज्ञात होता है कि नमस्कार करने की परम्परा बहुत प्राचीन नहीं है। छेदसूत्र और मूलसूत्रों का प्रारम्भ भी नमस्कारपूर्वक नहीं हुआ है। टीकाकारों ने खींचातान कर आदि, मध्य और अन्त मंगल की संयोजना की। मंगल वाक्यों की परम्परा विक्रम की तीसरी शती के पश्चात् की है। विषय की दृष्टि से दोनों में समानता है किन्तु पिण्डनिर्युक्ति भद्रबाहु की रचना है यह उल्लेख आचार्य मलयगिरि के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं पर भी नहीं मिलता।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान "विन्टरनित्स"[1] का मन्तव्य है कि ओघनिर्युक्ति जिस पर द्रोणाचार्य की टीका है वह प्रथम भद्रबाहु की कृति है पर निर्युक्ति की प्रथम गाथा में ही 'दशपूर्वधर' को नमस्कार किया गया है। स्वयं टीकाकार ने भी यह प्रश्न उपस्थित किया है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य दशपूर्वधर को क्यों नमस्कार करते हैं? पुनः उन्होंने ही स्वयं समाधान किया कि 'गुणाहिए वंदयणं" पर यह समाधान तर्कसंगत नहीं है। अन्तिम दशपूर्वधर वज्र स्वामी थे। द्वितीय भद्रबाहु उनके पश्चात् हुए। अतः उनके द्वारा दशपूर्वधरों को नमस्कार करना संगत है।

संसक्तनिर्युक्ति इन निर्युक्तियों के बहुत समय पश्चात् लिखी गई है। गोविन्दनिर्युक्ति जिसके रचयिता गोविन्दाचार्य माने जाते हैं यह निर्युक्ति भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

आवश्यकनिर्युक्ति

भद्रबाहु की दस निर्युक्तियों में आवश्यकनिर्युक्ति का स्थान प्रथम है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसके बाद की निर्युक्तियों में उन विषयों की चर्चा न कर आवश्यकनिर्युक्ति को देखने का संकेत किया गया है। अन्य निर्युक्तियों को समझने के लिए सर्वप्रथम इस निर्युक्ति को समझना आवश्यक है।

इसमें सर्वप्रथम उपोद्घात है जो भूमिका के रूप में है। उसमें ८८० गाथाएँ हैं। प्रथम पांच ज्ञानों का निरूपण है। आभिनिबोधिक ज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार भेद हैं। अवग्रह का काल एक

---

१ Winternitz—op. cit. p. 465

समय है। ईहा अवाय का अन्तर्मुहूर्त और धारणा का संख्येय समय, असंख्येय समय और अन्तर्मुहूर्त है।[1] ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा ये आभिनिबोधिक के पर्यायवाची हैं। इसके परचात् आभिनिबोधिक ज्ञान के स्वरूप की चर्चा गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परीत, पर्याप्तक, सूक्ष्म, संज्ञी, भव और चरम इन सभी दृष्टियों से की है।

उसके पश्चात् श्रुतज्ञान पर चिन्तन करते हुए इसके अक्षर, संज्ञी आदि चौदह प्रकार बताये हैं। इसके बाद अवधिज्ञान के असंख्य भेदों का प्रतिपादन कर फिर भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो भेद किये हैं। फिर स्वरूप, क्षेत्र, संस्थान, आनुगामिक, अवस्थित, चल, तीव्रमन्द, प्रतिपातोत्पाद, ज्ञान, दर्शन, विभंग, देश, क्षेत्र और गति—इन चौदह निक्षेपों की दृष्टि से विचार किया गया है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन सात निक्षेपों से अवधिज्ञान की चर्चा की गई है। सबसे अधिक विस्तार अवधिज्ञान का किया गया है। मनःपर्यवज्ञान मानव क्षेत्र तक सीमित है वह गुणप्रात्ययिक और चारित्रवानों की निधि है। केवलज्ञान समस्त द्रव्य और पर्यायों को जानता है, वह अप्रतिपाती है।

ज्ञान के वर्णन के पश्चात् षडावश्यक का निरूपण है। उसमें सर्वप्रथम सामायिक है। सामायिक के अध्ययन के पश्चात् ही अन्य आगम साहित्य के पढ़ने का विधान है—सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ।[2] चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है। मुक्ति के लिए ज्ञान और चारित्र ये दोनों आवश्यक हैं। ज्ञानरहित चारित्र अंधा है तो चारित्ररहित ज्ञान पंगु है जो अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। सामायिक का अधिकारी श्रुतज्ञानी होता है वह क्षय, उपशम, क्षयोपशम कर केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करता है। उपशम व क्षपकश्रेणी पर भी चिन्तन किया गया है। सामायिक श्रुत का अधिकारी ही तीर्थंकर जैसे गौरवशाली पद को प्राप्त करता है। तीर्थंकर केवलज्ञान होने के पश्चात् जिस श्रुत का उपदेश प्रदान करते हैं वही जिन प्रवचनश्रुत है। श्रुत के ही प्रवचन, धर्म, तीर्थ और मार्ग ये पर्यायवाची हैं। सूत्र, तन्त्र, ग्रन्थ, पाठ और शास्त्र ये एकार्थक हैं।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, १-४
२ अन्तकृतदशांग, प्रथम वर्ग

अनुयोग, नियोग, भाष्य, विभाषा और वार्तिक ये पर्यायवाची हैं किन्तु भाषा, विभाषा और वार्तिक का भेद स्पष्ट किया गया है। उसके पश्चात् सामायिक पर विवेचन उद्देश्य, निर्देश, निर्गम आदि छब्बीस बातों के द्वारा किया गया है।

मिथ्यात्व का निर्गमन किस प्रकार किया जाता है इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए भगवान महावीर के पूर्व भवों का वर्णन किया है। उसमें कुलकर की चर्चा, भगवान ऋषभदेव और उनके जीवन पर प्रकाश डाला है। भगवान ऋषभ का जीवन विस्तार से यहाँ पर उट्टङ्कित किया गया है। भगवान महावीर के जीव मरीचि ने परीषहों से घबराकर त्रिदण्डी मत की संस्थापना की। कुल मद से उस समय उनके जीव ने नीच गोत्र का उपार्जन किया और उत्सूत्र की प्ररूपणा करने के कारण उसे कोटाकोटि सागरोपम तक संसार में भटकना पड़ा। उन सभी भवों का वर्णन भी किया गया है। अन्त में मरीचि का जीव भगवान महावीर बना। उनके जीवन से सम्बन्धित स्वप्न, गर्भापहार, अभिग्रह, जन्म, अभिषेक, वृद्धि, जातिस्मरणज्ञान, भयोत्पाटन, विवाह, अपत्यदान, सम्बोध और महाभिनिष्क्रमण आदि तेरह घटनाओं का वर्णन है। केवलज्ञान होने के पश्चात् ग्यारह गणधरों के मस्तिष्क में जीव का अस्तित्व, कर्म का अस्तित्व, जीव और शरीर का अभेद, भूतों का अस्तित्व, इहभव-परभवसादृश्य, बंध-मोक्ष, देवों का अस्तित्व, नरक का अस्तित्व, पुण्य-पाप, परलोक की सत्ता, निर्वाणसिद्धि आदि शंकाएँ थीं। भगवान महावीर ने उनकी शंकाएँ निरसन कीं और उन सभी ने अपने शिष्यों के साथ भगवान महावीर के पास दीक्षाएँ ग्रहण कीं। भगवान महावीर ने सामायिक का उपदेश दिया। गणधरों ने उस उपदेश को सुना और उस पर श्रद्धा की। नयद्वार में सप्त नय पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि जिनशासन में एक भी ऐसा सूत्र नहीं है जिसका अर्थ नयदृष्टि से न हो। इस समय कालिक सूत्र में नयावतारणा नहीं होती है—इस प्रश्न का समाधान करते हुए लिखा है कि पहले कालिक का अनुयोग अपृथक था पर आर्य वज्र के पश्चात् कालिक का अनुयोग पृथक् कर दिया गया। आर्य वज्र के जीवन प्रसंग को देकर अनुयोगों के पृथक्कर्त्ता आर्यरक्षित के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। आर्यरक्षित का मातुल गोष्ठामाहिल सातवाँ निह्नव था। उसके पूर्व भगवान महावीर के शासन में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गंगसूरि, षडुलूक, ये छह निह्नव हो चुके थे। जिन्होंने क्रमशः

चातुर्मासिक में पांच सौ और सांवत्सरिक में एक हजार आठ[1] उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करना चाहिए। इसी तरह नियत कायोत्सर्ग में 'लोगस्सुज्जोयगरे' के पाठ की संख्या के सम्बन्ध में लिखा है कि दैवसिक कायोत्सर्ग में चार, रात्रिक में दो, पाक्षिक में बारह, चातुर्मासिक में बीस और साम्वत्सरिक में चालीस[2] लोगस्स का पाठ करना चाहिए। श्रमण को अपनी सामर्थ्य के अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिए। यदि शक्ति से अधिक समय तक कायोत्सर्ग किया जायेगा तो अनेक प्रकार के दोष समुत्पन्न हो सकते हैं। कायोत्सर्ग के समय कपटपूर्वक निद्रा लेना, सूत्र और अर्थ की प्रतिपृच्छा करना, काँटा निकालना और लघुशंका आदि करने के लिए चले जाना उचित नहीं है। इससे उस कार्य के प्रति उपेक्षा प्रगट होती है। कायोत्सर्ग के घोटकदोष, लतादोष प्रभृति उन्नीस दोष बताये हैं। जो वासी और चन्दन दोनों को समान समझता है, जीने और मरने में जो समबुद्धि है और देह की बुद्धि से परे है वही व्यक्ति कायोत्सर्ग का सच्चा अधिकारी है।

आवश्यक का छठा अध्ययन प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान, प्रत्याख्याता, प्रत्याख्येय, पर्षद, कथनविधि और फल इन छह दृष्टियों से प्रत्याख्यान का विवेचन किया गया है।

प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा, प्रतिषेध और भाव ये छह प्रकार हैं। प्रत्याख्यान की विशुद्धि श्रद्धा, ज्ञान, विनय, अनुभाषणा, अनुपालना और भाव इन छह प्रकार से होती है। प्रत्याख्यान से आस्रव का निरुन्धन होता है। समता की सरिता में अवगाहन किया जाता है। चारित्र की आराधना करने से कर्मों की निर्जरा होती है, अपूर्वकरण कर क्षपकश्रेणि से केवलज्ञान प्राप्त होता है और अन्त में मोक्ष का अव्याबाध सुख प्राप्त होता है।

प्रत्याख्यान द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार का है। द्रव्यप्रत्याख्यान

---

१ आव० नि० गा १५२४-२५

२ आवश्यकनिर्युक्ति गा० १५२६

नोट—स्थानकवासी जैन परम्परा में विभिन्न परम्पराएँ थीं अतः संगठन की दृष्टि से दैवसिक रात्रिक चार, पाक्षिक आठ, चातुर्मासिक बारह और साम्वत्सरिक बीस लोगस्स की परम्परा अजमेर बृहद्साधु सम्मेलन में प्रारम्भ की जो आज प्रचलित है। —लेखक

में अशन आदि का त्याग किया जाता है और भावप्रत्याख्यान में अज्ञान आदि का। प्रत्याख्यान का अधिकारी वही साधक है जो व्यक्षिप्त व अविनीत न हो।

श्रमण जीवन को महान व तेजस्वी बनाने के लिए श्रमण जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों की चर्चाएँ प्रस्तुत निर्युक्ति में की गई हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस निर्युक्ति का अत्यधिक महत्त्व है। ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य इसमें उजागर हुए हैं जो इससे पूर्व की रचनाओं में कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

दशवैकालिकनिर्युक्ति

दशवैकालिक में 'दश' शब्द का प्रयोग दस अध्ययन की दृष्टि से हुआ है और काल का प्रयोग इसलिए हुआ है कि इसकी रचना उस समय पूर्ण हुई जबकि पौरुषी व्यतीत हो चुकी थी अर्थात् अपराह्न का समय हो चुका था।

प्रथम अध्ययन का नाम द्रुमपुष्पिका है। इसमें धर्म की प्रशंसा करते हुए उसके लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद बताए हैं। लौकिक धर्म के ग्रामधर्म, देशधर्म, राज्यधर्म आदि अनेक भेद हैं और लोकोत्तर धर्म के श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म ये दो भेद हैं। श्रुतधर्म स्वाध्याय रूप है और चारित्रधर्म श्रमणधर्म रूप है। अहिंसा, संयम और तप की सुन्दर परिभाषा प्रस्तुत की गई है। प्रतिज्ञा, हेतु, विभक्ति, विपक्ष, प्रतिबोध, दृष्टान्त, आशंका, तत्प्रतिषेध, निगमन आदि दस अवयवों से प्रथम अध्ययन का परीक्षण किया गया है।

द्वितीय अध्ययन में धृति की संस्थापना की गई है। प्रारम्भ में निक्षेप-पद्धति 'श्रामण्य पूर्वक' की व्याख्या की गई है। श्रामण्य की चार निक्षेप से और 'पूर्वक' की तेरह प्रकार से विवेचना की गई है। श्रमण के प्रव्रजित, अनगार, पासण्डी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्य, मुनि, क्षान्त, दान्त, विरत, रूक्ष, तीरार्थी ये पर्यायवाची दिये हैं। भावश्रमण का संक्षेप में सारग्राही चित्र प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्ययन में क्षुल्लिका अर्थात् लघु आचार कथा का अधिकार है। क्षुल्लक, आचार और कथा इन तीनों का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन है। क्षुल्लक का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव इन आठ भेदों की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। आचार का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए नामन, धावन, वासन, शिक्षापन आदि को द्रव्याचार कहा

है और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य को भावाचार कहा है। कथा के अर्थ, काम, धर्म और मिश्र रूप से चार भेद किये गये हैं एवं उनके अवान्तर भेद भी किये गये हैं। श्रमण क्षेत्र, काल, पुरुष, सामर्थ्य प्रभृति को संलक्ष्य में रखकर अनवद्य कथा करे ऐसा विधान किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन में षड्जीवनिकाय का निरूपण है। इसमें एक, षड्, जीवनिकाय और शास्त्र का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। जीव के लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए कहा है आदान, परिभोग, योग, उपयोग, कषाय, लेश्या, आन, आपान, इन्द्रिय, बन्ध, उदय, निर्जरा, चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, धारणा, बुद्धि, ईहा, मति, वितर्क से जीव को पहचाना जा सकता है। शस्त्र के द्रव्य और भाव रूप ये दो भेद किए हैं। द्रव्यशस्त्र स्वकाय, परकाय और उभयकाय रूप होता है। भावशस्त्र असंयम रूप है।

पञ्चम अध्ययन भिक्षा विशुद्धि से सम्बन्धित है। पिण्डैषणा में पिण्ड और एषणा ये दो पद हैं। इन पर निक्षेप पूर्वक चिन्तन किया गया है। गुड़, ओदन आदि द्रव्यपिण्ड हैं तथा क्रोध, मान, माया और लोभ ये भावपिण्ड हैं। द्रव्यैषणा सचित्त, अचित्त और मिश्र रूप से तीन प्रकार की है। भावैषणा प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार की है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि प्रशस्त भावैषणा है और क्रोध आदि अप्रशस्त भावैषणा है। किन्तु यहाँ पर द्रव्यैषणा का ही वर्णन किया गया है क्योंकि भिक्षा विशुद्धि से तप और संयम का पोषण होता है।

षष्ठम अध्ययन में बृहद् आचार कथा का प्रतिपादन है। महत् की नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव इन आठ भेदों से चिन्तन किया है। धान्य और रत्न के २४-२४ प्रकार बताये गये हैं।

सप्तम अध्ययन का नाम 'वाक्यशुद्धि' है। वाक्य, वचन, गिरा, सरस्वती, भारती, गो, वाक्, भाषा, प्रज्ञापनी, देशनी, वाग्योग, योग ये सभी एकार्थक शब्द हैं। जनपद आदि के भेद से सत्यभाषा दस प्रकार की होती है। क्रोध आदि के भेद से मृषाभाषा भी दस प्रकार की होती है। उत्पन्न होने के प्रकार से मिश्रभाषा अनेक प्रकार की है और असत्यामृषा आमंत्रणी आदि के भेद से अनेक प्रकार की है। शुद्धि के भी नाम आदि चार निक्षेप हैं। भावशुद्धि तद्भाव, आदेशभाव और प्राधान्यभाव रूप से तीन प्रकार की है।

अष्टम अध्ययन आचारप्रणिधि है। प्रणिधि द्रव्यप्रणिधि और भाव-

प्रणिधि रूप से दो प्रकार की है। निधान आदि द्रव्यप्रणिधि है। इन्द्रिय-प्रणिधि और नोइन्द्रियप्रणिधि ये भावप्रणिधि है जो प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार की है।

नवम अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। भावविनय के लोकोपचार, अर्थनिमित्त, कामहेतु, भयनिमित्त और मोक्षनिमित्त ये पाँच भेद किये गये हैं। मोक्षनिमित्तक विनय के दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार सम्बन्धी ये पाँच भेद किये गये हैं।

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु है। प्रथम नाम, क्षेत्र आदि निक्षेप की दृष्टि से 'स' पर चिन्तन किया है उसके पश्चात् 'भिक्षु' का निक्षेप की दृष्टि से विचार किया है। भिक्षु के तीर्ण, तायी, द्रव्य, व्रती, क्षान्त, दान्त, विरत, मुनि, तापस, प्रज्ञापक, ऋजु, भिक्षु, बुद्ध, यति, विद्वान, प्रव्रजित, अनगार, पासण्डी, चरक, ब्राह्मण, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, साधु, रूक्ष, तीरार्थी आदि पर्यायवाची दिये हैं। पूर्व श्रमण के जो पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं उसमें भी कुछ ये शब्द आ गये हैं।

चूलिका का निक्षेप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से चार प्रकार का है। यहाँ पर भावचूडा ही अभिप्रेत है जो क्षायोपशमिक है।

इस प्रकार दशवैकालिकनिर्युक्ति की ३७१ गाथाओं में अनेक लौकिक और धार्मिक कथाओं एवं सूक्तियों के द्वारा सूत्र के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। हिंगुशिव, गंधर्विका, सुभद्रा, मृगावती, नलदाम, और गोविन्दवाचक आदि की कथाओं का संक्षेप में नामोल्लेख हुआ है। सम्राट् कूणिक ने गणधर गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! चक्रवर्ती मर कर कहाँ पर उत्पन्न होते हैं? समाधान दिया गया—सातवीं नरक में। पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत हुई—भगवन्! मैं कहाँ पर उत्पन्न होऊँगा? गौतम ने समाधान दिया—छठी नरक में। प्रश्नोत्तर के रूप में कहीं-कहीं पर तार्किक शैली के भी दर्शन होते हैं।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

दशवैकालिकनिर्युक्ति की भाँति इस निर्युक्ति में भी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है और अनेक शब्दों के विविध पर्यायवाची शब्द भी दिये हैं।

सर्वप्रथम उत्तराध्ययन शब्द की निक्षेप दृष्टि से व्याख्या की गई है। अध्ययन की भाव निक्षेप से व्याख्या करते हुए लिखा है प्राग्बद्ध या वध्यमान

कर्मों के अभाव से आत्मा का जो अपने स्वभाव में आनयन—ले जाना—ही अध्ययन है। जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है वह अध्ययन है क्योंकि अध्ययन से अनेक भवों से आते हुए अष्ट प्रकार के कर्म रज का क्षय होता है इसलिए इसे भावाध्ययन कहा गया है।

श्रुत, स्कन्ध, संयोग, गलि, आकीर्ण, परीपह, एकक, चतुष्क, अंग, संयम, प्रमाद, संस्कृत, करण, उरभ्र, कपिल, नमि, वहुश्रुत, पूजा, प्रवचन, साम, मोक्ष, चरण, विधि, मरण आदि पदों पर निक्षेप की दृष्टि से व्याख्या की गई है। यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक दिये गये हैं। जैसे गंधार श्रावक, तोसलिपुत्र, आचार्य स्थूलभद्र, स्कन्दकपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, करकंडू आदि प्रत्येकबुद्ध, हरिकेश, मृगापुत्र आदि की कथाओं का उल्लेख है। निह्नवों के जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है। भद्रवाहु के चार शिष्य राजगृह के वैभार पर्वत की गुफा में शीत परीपह से और मुनि सुवर्णभद्र के मच्छरों के घोर उपसर्ग से कालगत होने का वर्णन है। इसमें अनेक उक्तियाँ सूक्तियों के रूप में हैं जैसे—

राई सरिसवमित्ताणि परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासंतोऽवि न पाससि॥

राई के समान तू दूसरों के दोषों को देखता है पर बेल के समान स्वयं के दोषों को देखकर भी नहीं देखता है।

सुखी मनुष्य प्राय: जल्दी नहीं जाग पाता—

सुहिओ हु जणो न बुज्झई

हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुतः भावप्रव्रज्या है।

"भावंमि उ पव्वज्जा आरम्भपरिग्गहच्चाओ"

प्रस्तुत निर्युक्ति में ६०७ गाथाएँ हैं।

आचारांगनिर्युक्ति

आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों पर निर्युक्ति प्राप्त होती है, जिसमें ३४७ गाथाएँ हैं। प्रस्तुत निर्युक्ति उत्तराध्ययननिर्युक्ति के पश्चात् और सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति के पूर्व रची गई है।

सर्वप्रथम सिद्धों को नमस्कार कर आचार, अंग, श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्रपरिज्ञा, संज्ञा और दिशा इन पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। चरण के छह निक्षेप हैं, दिशा के सात निक्षेप हैं और शेष के चार-चार निक्षेप हैं।

आचार के आचाल, आगाल, आकर, आश्वास, आदर्श, अंग, आचीर्ण, आजाति, आमोक्ष ये एकार्थक शब्द हैं। आचार का प्रारम्भ सभी तीर्थंकरों ने तीर्थ-प्रवर्तन के प्रारम्भ में किया था। अन्य एकादश अंग उसके बाद में रचे गये हैं। आचारांग द्वादशाङ्गी में प्रथम क्यों है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए कहा है कि इसमें मोक्ष के उपाय का प्रतिपादन किया गया है जो सम्पूर्ण प्रवचन का सार है। आचारांग के अध्ययन से श्रमणधर्म का परिज्ञान होता है अतः वह आद्य गणिस्थान है। अंगों का सार आचार है। आचार का सार अनुयोगार्थ है, अनुयोगार्थ का सार प्ररूपणा है, प्ररूपणा का सार चरण है, चरण का सार निर्वाण है, निर्वाण का सार अव्यावाध है, जो साधक का अन्तिम ध्येय है।

आचारांग के नौ अध्ययनों का नाम बता कर कहा है कि प्रथम अध्ययन का अधिकार जीव संयम है, द्वितीय का कर्मविजय है, तृतीय का सुख-दुःख तितिक्षा है, चतुर्थ का सम्यक्त्व की दृढ़ता है, पंचम का लोकसार रत्नत्रयाराधना है, षष्ठ का निःसंगता है, सप्तम का मोहसमुत्थ परीषहोपसर्गसहनता है, अष्टम का निर्वाण अर्थात् अन्तक्रिया है और नवम का जिनप्रतिपादित अर्थश्रद्धान है।

शस्त्र और परिज्ञा ये दो शब्द हैं। नाम आदि निक्षेप से उस पर चिन्तन किया गया है। खड्ग, अग्नि, विप, स्नेह, अम्ल, क्षार आदि द्रव्यशस्त्र हैं और विकृत भाव भावशस्त्र है। परिज्ञा भी द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार की है। द्रव्य में ज्ञाता उपयोगशून्य होता है किन्तु भाव में ज्ञाता उपयोगयुक्त होता है। वह भी ज्ञ और प्रत्याख्यान परिज्ञा के रूप में दो प्रकार की है।

इसके पश्चात् संज्ञा और उसके भेदों का तथा दिशाओं के द्रव्य और भाव भेद किये हैं। भावदिशा के अठारह प्रकार हैं—चार प्रकार के मनुष्य (समूर्च्छनज, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तरद्वीपज), चार प्रकार के तिर्यंच (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) चार प्रकार के काय (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु), चार प्रकार के बीज (अग्र, मूल, स्कन्ध, पर्व), देव और नारक। जीव इन अठारह भावों से सहित होता है अतः उन्हें भावदिशाएँ कहा गया है।

द्वितीय उद्देशक में पृथ्वी आदि का निक्षेप पद्धति से विचार किया है और उनके विविध भेद-प्रभेदों की चर्चाएँ की गई हैं। जैसे मानव के अंग-

प्रत्यंग का छेदन करने से उसे अपार वेदना होती है उसी प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों का छेदन-भेदन करने से उन्हें भी वेदना होती है। वध कृत, कारित और अनुमोदित रूप से तीन प्रकार का है। श्रमण न स्वयं हिंसा करता है, न करवाता है और न अनुमोदन ही करता है।

इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय और वायुकाय के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। लोक और विजय ये दो पद हैं। लोक का आठ प्रकार के निक्षेप से और विजय का छह प्रकार के निक्षेप से विचार किया है। भावलोक का अर्थ कषाय है। कषायविजय ही लोकविजय है।

तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय है। शीत और उष्ण पदों का नाम आदि निक्षेपों से चिन्तन किया है। स्त्री परीषह और सत्कार परीषह ये दो परीषह शीत हैं शेष बीस उष्ण परीषह हैं। इसमें भावसुप्त के दोषों पर चिन्तन कर उसके दुःखों पर विचार किया है। केवल दुःख सहने से कोई भी श्रमण नहीं बन सकता, श्रमण की क्रिया करने से ही श्रमण बनता है। संयम की साधना से ही कर्मक्षय होकर मुक्ति प्राप्त होती है।

चतुर्थ अध्ययन में सम्यक्त्व का निरूपण है। चार उद्देशकों में क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र का विश्लेषण किया गया है। दर्शन और चारित्र के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं। ज्ञान के क्षायोपशमिक और क्षायिक ये दो भेद हैं।

पञ्चम अध्ययन में 'लोकसार' का वर्णन है। 'लोक' और 'सार' शब्द पर भी निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। सम्पूर्ण लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण है।

षष्ठम अध्ययन का नाम धूत ह। वस्त्र आदि का प्रक्षालन द्रव्यधूत है और आठ प्रकार के कर्मों को क्षय करना भावधूत है।

सप्तम अध्ययन में महापरिज्ञा का निरूपण है और अष्टम अध्ययन में विमोक्ष का वर्णन है। विमोक्ष का नाम आदि छह प्रकार के निक्षेपों से चिन्तन किया है। भावविमोक्ष देशविमोक्ष और सर्वविमोक्ष रूप से दो प्रकार का है। श्रमण देशविमुक्त होता है और सिद्ध सर्वविमुक्त हैं।

नवम् अध्ययन में उपधानश्रुत का निरूपण है। अन्य तीर्थंकरों का तप: कर्म निरुपसर्ग था किन्तु भगवान महावीर का तप:कर्म सोपसर्ग था। उपधान और श्रुत पर भी निक्षेप दृष्टि से विचार किया है। तकिया द्रव्य-उपधान है, तप और चारित्र यह भावउपधान हैं। जैसे मलिन वस्त्र उदकादिक द्रव्यों से साफ होता है वैसे ही भावउपधान से अष्ट प्रकार के कर्म नष्ट होकर आत्मा शुद्ध होता है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

प्रथम श्रुतस्कन्ध में जिन विषयों पर चिन्तन किया गया है, उन विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ अवशेष रह गया उसका वर्णन द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध को अग्रश्रुतस्कन्ध भी कहा है। अग्र शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए उसके आठ प्रकार बताये हैं—(१) द्रव्याग्र, (२) अवगाहनाग्र (३) आदेशाग्र, (४) कालाग्र, (५) क्रमाग्र, (६) गणनाग्र, (७) संचयाग्र, (८) भावाग्र। भावाग्र के भी प्रधानाग्र, प्रभूताग्र और उपकाराग्र ये तीन भेद हैं। यहाँ पर उपकाराग्र का वर्णन है।

प्रथम चूलिका के सात अध्ययन हैं। उनकी नामादि निक्षेप से व्याख्या की गई है। द्वितीय सप्तसप्तिका, तृतीय भावना और चतुर्थ विमुक्ति चूलिका की भी विशेप व्याख्या की गई है। पांचवीं निशीथ चूलिका की व्याख्या 'मैं बाद में करूंगा' यह सूचन किया गया है। इसमें वल्गुमती और गौतम नाम के नैमित्तिक की कथा आती है।

सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति

प्रारम्भ में 'सूत्रकृताङ्ग' शब्द की व्याख्या की गई है। इसमें भी अनेक पदों की निक्षेप-पद्धति से व्याख्या की गई है। पन्द्रह प्रकार के परम अधार्मिक देवों के नाम गिनाये गये हैं। ये नरकवासियों को विविध यातनाएं देते हैं। इसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिक ये चार मुख्य भेद बताकर क्रमश: एक सौ अस्सी, चौरासी, सड़सठ और बत्तीस भेद किये हैं। इस प्रकार तीन सौ त्रेसठ मतान्तरों का निर्देश किया गया है। शिष्य और गुरु के भेद-प्रभेदों पर भी चिन्तन किया गया है। साथ ही गाथा, पोडश श्रुत, स्कन्ध, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, आदान, ग्रहण, अध्ययन, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र आदि शब्दों पर नाम आदि निक्षेपों से चिन्तन किया गया है। आर्द्रककुमार की कथा दी गई है। अन्त में नालन्दा शब्द पर भी चिन्तन किया गया है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है फिर दश अध्ययनों के अधिकारों का वर्णन है। प्रथम असमाधिस्थान में द्रव्य और भाव समाधि के सम्बन्ध में चिन्तन कर, स्थान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अद्धा, ऊर्ध्व, चर्या, वसति, संयम, प्रग्रह, योध, अचल, गणन, संस्थान, (संधाण) और भाव इन पन्द्रह निक्षेपों का वर्णन है।

द्वितीय अध्ययन में शवल का नाम आदि चार निक्षेप से विचार किया है। तृतीय अध्ययन में आशातना का विश्लेपण है। चतुर्थ अध्ययन में 'गणि' और 'सम्पदा' पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा गया है कि गणि और गुणी ये दोनों एकार्थक हैं। आचार ही प्रथम गणिस्थान है। सम्पदा के द्रव्य और भाव ये दो भेद हैं। शरीर द्रव्यसम्पदा है और आचार भावसम्पदा है। पञ्चम अध्ययन में चित्तसमाधि का निक्षेप की दृष्टि से विचार किया गया है। समाधि के चार प्रकार हैं। जब चित्त रागद्वेष से मुक्त होता है, प्रशस्त ध्यान में तल्लीन होता है तब भावसमाधि होती है। षष्ठम अध्ययन में उपासक और प्रतिमा पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। उपासक के द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक और भावोपासक ये चार प्रकार हैं। भावोपासक वही हो सकता है जिसका जीवन सम्यग्दर्शन के आलोक से जगमगा रहा हो। यहाँ पर श्रमणोपासक की एकादश प्रतिमाओं का निरूपण है। सप्तम अध्ययन में श्रमण प्रतिमाओं पर चिन्तन करते हुए भावश्रमण प्रतिमा के समाधिप्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसंलीनप्रतिमा और विवेकप्रतिमा ये पाँच प्रकार बताये हैं। अष्टम अध्ययन में पर्युषणा कल्प पर चिन्तन कर परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम समवसरण, स्थापना और ज्येष्ठग्रह को पर्यायवाची बताया है। श्रमण वर्षावास में एक स्थान पर स्थित रहता है और आठ माह तक वह परिभ्रमण करता है। नवम अध्ययन में मोहनीयस्थान पर विचार कर उसके पाप, वर्ज्य, वैर, पंक, पनक, क्षोभ, असात, संग, शल्य, क्षतर, निरति, धूर्त्य ये मोह के पर्यायवाची बताये गए हैं। दशम अध्ययन में जन्म-मरण के मूल कारणों पर चिन्तन कर उससे मुक्त होने का उपाय बताया गया है।

बृहत्कल्पनिर्युक्ति

सर्वप्रथम तीर्थंकरों को नमस्कार कर ज्ञान के विविध भेदों पर चिन्तन कर इस बात पर प्रकाश डाला है कि ज्ञान और मंगल में कथंचित् अभेद

है। अनुयोग पर नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन और भाव इन सात निक्षेपों से चिन्तन किया है। जो पश्चाद्भूत योग है वह अनुयोग है अथवा जो स्तोक रूप योग है वह अनुयोग है। कल्प के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोगद्वार हैं। कल्प और व्यवहार का अध्ययन चिन्तन करने वाला मेधावी सन्त बहुश्रुत, चिरप्रव्रजित, कल्पिक, अचंचल, अवस्थित, अपरिश्रावी, विज्ञ, प्राप्तानुज्ञात और भावपरिणामक होता है।

इसमें ताल-प्रलम्ब का विस्तार से वर्णन है और उसके ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त का भी विधान है। ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अंशिका आदि पदों पर भी निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक पर भी प्रकाश डाला है। आर्य पद पर विचार करते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, भाषा, शिल्प, ज्ञान, दर्शन, चारित्र—इन बारह निक्षेपों से चिन्तन किया है। आर्य क्षेत्र में विचरण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि होती है। अनार्य क्षेत्रों में विचरण करने से अनेक दोषों के लगने की संभावना रहती है। स्कन्दकाचार्य के दृष्टांत को देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। साथ ही ज्ञानदर्शन-चारित्र की वृद्धि हेतु अनार्य क्षेत्र में विचरण करने का आदेश दिया है और उसके लिए राजा सम्प्रति का दृष्टान्त भी दिया गया है।

श्रमण और श्रमणियों के आचार-विचार, आहार-विहार का संक्षेप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। सर्वत्र निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। यह निर्युक्ति स्वतन्त्र न रहकर बृहत्कल्पभाष्य में मिश्रित हो गई है।

व्यवहारनिर्युक्ति

बृहत्कल्प में श्रमण-जीवन की साधना का जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया—उत्सर्ग और अपवाद का जो विवेचन किया गया है, उन्हीं विषयों पर व्यवहारनिर्युक्ति में भी चिन्तन किया गया है। कल्प और व्यवहार का निर्युक्ति परस्पर शैली, भाव और भाषा की दृष्टि से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। दोनों में साधना के तथ्य व सिद्धान्त प्रायः समान हैं। यह निर्युक्ति भी भाष्य में विलीन हो चुकी है।

संसक्तनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति किस आगम पर लिखी गई है, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कितने ही विद्वान इसे भद्रबाहु की रचना मानते हैं, तो कितने ही विद्वानों का यह मानना है कि भद्रबाहु के बाद में हुए किसी आचार्य की रचना है। चौरासी आगमों में इसका उल्लेख है।

निशीथनिर्युक्ति

इसमें सूत्र-गत शब्दों की व्याख्या निक्षेप पद्धति से की गई है। यह निर्युक्ति भी भाष्य में मिल गई है। जहाँ पर चूर्णिकार संकेत करते हैं वहीं पर यह पता चलता है कि यह निर्युक्ति की गाथा है और यह भाष्य की गाथा है। इसमें भी मुख्य रूप से श्रमणाचार का ही निरूपण हुआ है।

गोविन्दनिर्युक्ति

प्रस्तुत निर्युक्ति को दर्शनशास्त्र भी कहा जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि दर्शन सम्बन्धी तथ्यों पर प्रकाश डाला गया होगा। आचार्य गोविन्द ने एकेन्द्रिय जीवों की संसिद्धि के लिए इसका निर्माण किया था। यह किसी एक आगम पर न होकर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रचना है। बृहत्कल्पभाष्य, आवश्यकचूर्णि व निशीथचूर्णि में इसका उल्लेख मिलता है, पर यह निर्युक्ति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

आराधना निर्युक्ति

यह निर्युक्ति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। चौरासी आगमों में 'आराधनापताका' नाम का एक आगम है। सम्भव है यह निर्युक्ति उसी पर हो। मूलाचार में वट्टकेर ने इस निर्युक्ति का उल्लेख किया है।

ऋषिभाषित

चौरासी आगमों में ऋषिभाषित का भी नाम है। प्रत्येकबुद्धों द्वारा भाषित होने से यह ऋषिभाषित के नाम से विश्रुत है। इस पर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थी, पर वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति

यह निर्युक्ति भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है पर आचार्य मलयगिरि की वृत्ति में इसका नाम निर्देश हुआ है। इसमें सूर्य की गति आदि तथा ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी तथ्यों का बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है।

उपसंहार

जैन परम्परा के महत्त्वपूर्ण विशिष्ट शब्दों की स्पष्ट व्याख्या जो निर्युक्ति साहित्य में हुई है वह अपूर्व है। उन्हीं व्याख्याओं के आधार पर बाद में भाष्यकार, चूर्णिकार और वृत्तिकारों ने अपने ग्रन्थों का सृजन किया है। निर्युक्तियों की रचना करके भद्रबाहु ने जैन साहित्य की जो सेवा की वह सदा अमर रहेगी।

□

भाष्य-साहित्य : एक चिन्तन

- भाष्य एवं भाष्यकार
- विशेषावश्यकभाष्य
- दशवैकालिकभाष्य
- उत्तराध्ययनभाष्य
- बृहत्कल्पभाष्य
- पंचकल्पभाष्य
- व्यवहारभाष्य
- निशीथभाष्य
- जीतकल्पभाष्य
- ओघनिर्युक्तिभाष्य
- पिण्डनिर्युक्तिभाष्य

भाष्य-साहित्य : एक चिन्तन

निर्युक्तियों की व्याख्या शैली अत्यन्त गूढ़ व संक्षिप्त थी। उनमें विषय-विस्तार का अभाव था। उनका मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। निर्युक्तियों के गंभीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए विस्तार से निर्युक्तियों के समान ही प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गईं वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तियों के शब्दों में छिपे हुए अर्थ-बाहुल्य को अभिव्यक्त करने का श्रेय सर्वप्रथम भाष्यकारों को है। भाष्यों में अनेक स्थलों पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। मुख्य छन्द आर्या है। भाष्य साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथाएँ और परम्परागत श्रमणों के आचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन किया गया है।

जैसे प्रत्येक आगम ग्रन्थ पर निर्युक्तियाँ नहीं लिखी गईं वैसे ही प्रत्येक निर्युक्ति पर भी भाष्य नहीं लिखा गया। कुछ भाष्य निर्युक्तियों पर और कुछ भाष्य मूलसूत्रों पर लिखे गये हैं। निम्न आगम-ग्रन्थों पर भाष्य उपलब्ध होते हैं—

(१) आवश्यक
(२) दशवैकालिक
(३) उत्तराध्ययन
(४) बृहत्कल्प
(५) पंचकल्प
(६) व्यवहार
(७) निशीथ
(८) जीतकल्प
(९) ओघनिर्युक्ति
(१०) पिण्डनिर्युक्त

भाष्यकारों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और संघदासगणी ये दो मूर्धन्य हैं। विशेपावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य के रचयिता जिनभद्र हैं एवं बृहत्कल्पलघुभाष्य, पंचकल्पमहाभाष्य के निर्माता संघदासगणी हैं। व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्पबृहद्भाष्य के रचयिता आचार्यो का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। चिन्तकों का ऐसा मानना है कि इन दोनों भाष्यों के रचयिता अन्य आचार्य होने चाहिए। बृहद्भाष्य के लेखक बृहत्कल्पचूर्णिकार और बृहत्कल्पविशेपचूर्णिकार के बाद में हुए

हैं। यह सम्भव है कि ये आचार्य हरिभद्र के समकालीन या उससे कुछ समय पहले हुए हों। व्यवहारभाष्य के निर्माता आचार्य जिनभद्र से पूर्व होने चाहिए।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

जैन साहित्य के इतिहास में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी जन्मस्थली, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में कुछ भी सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। मूर्धन्य मनीषियों का ऐसा अभिमत है कि उन्हें अपने जीवन काल में कोई विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला था। उनके स्वर्गस्थ होने के पश्चात् उनकी महनीय मौलिक कृतियाँ देखकर सद्गुणग्राही आचार्यों ने आचार्य परम्परा में उन्हें शीर्षस्थ स्थान देना चाहा, पर सत्यतथ्य के अभाव में उन विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत मिलते हैं। यहाँ तक कि परस्पर विरोधी उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। आश्चर्य तो यह है कि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में निर्मित पट्टावलियों में उन्हें आचार्य हरिभद्र का पट्टधर शिष्य लिखा है जबकि आचार्य हरिभद्र जिनभद्र से सौ वर्ष के पश्चात् हुए हैं।

वलभी के जैन भण्डार में शक सं० ५३१ में लिखी हुई विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति प्राप्त हुई है जिससे यह अनुमान होता है कि जिनभद्र का वलभी के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य ही रहा होगा।

आचार्य जिनप्रभ ने विविधतीर्थकल्प में लिखा है कि जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने पन्द्रह दिन तक तप-साधना कर मथुरा में देव निर्मित स्तूप के देव की आराधना की और उस देव की सहायता से दीमकों द्वारा नष्ट किये गये महानिशीथसूत्र का उद्धार किया। इससे भी परिज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध मथुरा से भी था।[1]

डा. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को अंकोट्टक—अकोटा ग्राम में ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन पर यह लिखा है 'ॐ देवधर्मोयं निवृतिकुले जिनभद्र वाचनाचार्यस्य' एवं 'ॐ निवृतिकुले जिनभद्र वाचनाचार्यस्य'।[2]

इन उत्कीर्णों में जिनभद्र को निवृति कुल का और वाचनाचार्य लिखा है। गणधरवाद की प्रस्तावना में पं० दलसुखभाई मालवणिया ने

---

१ विविधतीर्थकल्प, पृ० १९

२ जैन सत्यप्रकाश, अंक १९६

लिखा है कि "प्रारम्भ में 'वाचक' शब्द शास्त्र विशारद के लिए प्रचलित था पर जब वाचकों में क्षमाश्रमणों की संख्या में अभिवृद्धि होती गई तब 'क्षमाश्रमण' शब्द भी वाचक के पर्याय के रूप में व्यवहृत होने लगा। अथवा 'क्षमाश्रमण' शब्द आवश्यकसूत्र के सामान्य गुरु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। इसलिए सम्भव है कि शिष्य विद्यागुरु को क्षमाश्रमण के नाम पुकारता रहा हो। अत: क्षमाश्रमण और वाचक ये एकार्थक बन गये। जैन समाज में जब वादियों को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तब शास्त्र विशारद होने के कारण वाचकों को 'वादी' कहा होगा और कुछ समय के पश्चात् वादी वाचक का ही पर्यायवाची बन गया। आचार्य सिद्धसेन को शास्त्र-विशारद होने से दिवाकर की उपाधि प्रदान की गई। अत: वाचक का पर्यायवाची दिवाकर भी है। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणों का युग था अत: उनके पश्चात् के लेखकों ने उनके लिए वाचनाचार्य के स्थान पर क्षमाश्रमण शब्द का प्रयोग किया हो।"[१] इस तरह वाचक, वाचनाचार्य, क्षमाश्रमण प्रभृति शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण निवृति कुल के थे। निवृति कुल के उद्‌भव के सम्बन्ध में पट्टावलियों में लिखा है कि भगवान महावीर के सत्रहवें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन हुए। उनके उपदेश से प्रभावित होकर जिनदत्त (जिनदास) के नागेन्द्र, चन्द्र, निवृतिं और विद्याधर इन चार पुत्रों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की, उन्हीं के नाम से चार मुख्य कुल प्रचलित हुए।[२]

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के जीवन के सम्बन्ध में इन तथ्यों के अतिरिक्त अन्य कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। जीतकल्पचूर्णि में सिद्धसेनगणी ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के गुणों का उत्कीर्तन इस प्रकार किया है—

जो अनुयोगधर, युगप्रधान, प्रधान ज्ञानियों से बहुमत, सर्वश्रुति

---

१ गणधरवाद प्रस्तावना, पृ० ३१

२ (क) नागेन्द्र, चन्द्र, निवृति, विद्याधराख्यान चतुरः सकुटुम्बान् इभ्यपुत्रान्-प्रव्राजितकानतेभ्यश्च स्व-स्व नामांकितानि चत्वारि कुलानि संजातानीति।
—तपागच्छ पट्टावली, भाग १, स्वोपज्ञवृत्ति—पं० कल्याणविजयजी, पृ० ७१

(ख) जैन साहित्य संशोधक, खण्ड २, अ० ४, पृ० १०

(ग) जैन गुर्जर कविओ, भाग २, पृ० ६६६

और शास्त्र में कुशल तथा दर्शन-ज्ञानोपयोग के मार्ग-दर्शक हैं। जिस प्रकार कमल की सुमधुर सौरभ से आकर्षित होकर भ्रमर कमल की उपासना करते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूप मकरंद के पिपासु श्रमण जिनके मुखरूप निर्झर से प्रवाहित ज्ञानरूप अमृत का सर्वथा सेवन करते हैं। स्व-समय तथा पर-समय के आगम, लिपि, गणित, छन्द और शब्दशास्त्रों पर किये गये व्याख्यानों से निर्मित जिनका अनुपम यश-पटह दसों दिशाओं में बज रहा है। जिन्होंने अपनी अनुपम बुद्धि के प्रभाव से ज्ञान, ज्ञानी, हेतु, प्रमाण तथा गणधरवाद का सविशेष विवेचन विशेषावश्यकभाष्य ग्रन्थ में निबद्ध किया है। जिन्होंने छेदसूत्रों के अर्थ के आधार पर पुरुष विशेष के पृथक्करण के अनुसार प्रायश्चित्त की विधि का विधान करने वाले जीतकल्पसूत्र की रचना की है। ऐसे पर-समय के सिद्धान्तों में निपुण संयमशील श्रमणों के मार्ग के अनुगामी और क्षमाश्रमणों में निधानभूत जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को नमस्कार हो।[1]

प्रस्तुत वर्णन से यह स्पष्ट है कि जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आगम साहित्य के एक मर्मज्ञ विद्वान थे। उनके लिए बाद के आचार्यों ने अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है।

जैसलमेर भण्डार से पुरातत्त्ववेत्ता मुनिश्री जिनविजयजी को विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति प्राप्त हुई, उस प्रति के अन्त में ये दो गाथाएँ हैं—

पंचसता इगतीसा सगणिव कालस्स वट्टमाणस्स।
तो चेत्तपुण्णिमाए बुधदिण सातिमि णक्खत्ते॥
रज्जे णु पालणपरे सी (लाइ) च्चम्मि णरवरिन्दम्मि।
वलभीणगरीए इमं महवि..........मि जिणभवणे॥

इन गाथाओं के आधार से मुनिजी ने भाष्य का रचनाकाल विक्रम सं० ६६६ माना है। इन गाथाओं का अर्थ इस प्रकार है—शक संवत् ५३१ (विक्रम सं० ६६६) में वलभी में जिस समय शीलादित्य राज्य करता था, उस समय चैत्र शुक्ला पूर्णिमा, बुधवार और स्वाति नक्षत्र में विशेषावश्यक भाष्य की रचना पूर्ण हुई।

पं० दलसुख मालवणिया मुनि जिनविजयजी के प्रस्तुत कथन से

---

१ जीतकल्पचूर्णि, गा० ५-१०

सहमत नहीं हैं। उनका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि उपर्युक्त गाथाओं में रचना के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं है। यदि हम खण्डित अक्षरों को किसी मन्दिर विशेष का नाम मानलें तो इन गाथाओं में कोई भी क्रिया-पद नहीं रहता है अतः निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि इसकी रचना शक सं० ५३१ में ही हुई। यह अधिक संभव है कि उस समय यह प्रति लिखकर किसी मन्दिर को भेंट की गई हो, क्योंकि ये गाथाएँ जैसलमेर की प्रति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राचीन प्रति में उपलब्ध नहीं है। यदि ये गाथाएं मूल भाष्य की होतीं तो अन्य सभी प्रतियों में होनी चाहिए थीं। यदि इन गाथाओं को रचनाकाल सूचक मानें तो यह भी मानना चाहिए कि इनकी रचना जिनभद्र ने की। यदि जिनभद्र ने की है तो इनकी टीकाएं भी मिलनी चाहिए। कोट्याचार्य और मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यक की टीकाओं में इन गाथाओं पर कोई टीका नहीं है और न उन टीका ग्रन्थों में ये गाथाएँ ही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इन गाथाओं में जो समय बताया गया है वह रचना का नहीं अपितु प्रति के लेखन का है।[१]

विशेषावश्यक की जैसलमेर की प्रति के आधार से उसका लेखन शक संवत् ५३१ अर्थात् विक्रम सं ६६६ है तो इसका रचना-समय इससे पहले का होना चाहिए। विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम रचना है। उन्होंने इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु पूर्ण होने के पहले ही उनका आयुष्य पूर्ण हो गया जिससे वह अपूर्ण ही रह गई। इस प्रकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का उत्तरकाल विक्रम सं० ६५०-६६० के आस-पास होना चाहिए।

आचार्य जिनभद्र की निम्न ९ रचनाएँ प्राप्त होती हैं[२]—

(१) विशेषावश्यकभाष्य—प्राकृत पद्य में
(२) विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति—अपूर्ण संस्कृत गद्य
(३) बृहत्संग्रहणी—प्राकृत पद्य
(४) बृहत्क्षेत्र समास—प्राकृत पद्य
(५) विशेषणवती—प्राकृत पद्य
(६) जीतकल्प—प्राकृत पद्य

---

१ गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ० ३२-३३
२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० १३५

(७) जीतकल्पभाष्य—प्राकृत पद्य
(८) अनुयोगद्वारचूर्णि—प्राकृत गद्य
(९) ध्यानशतक—प्राकृत पद्य

ध्यानशतक के सम्बन्ध में विज्ञों में एकमत नहीं है।

विशेषावश्यकभाष्य

विशेषावश्यकभाष्य जिनदासगणी की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं—(१) मूलभाष्य, (२) भाष्य और (३) विशेषावश्यकभाष्य। पहले के दो भाष्य बहुत ही संक्षेप में लिखे गये हैं, और उनकी बहुत सी गाथाएं विशेषावश्यकभाष्य में मिल गई हैं अतः विशेषावश्यकभाष्य तीनों भाष्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला है। यह भाष्य केवल प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। इसमें ३६०३ गाथाएँ हैं।

प्रस्तुत भाष्य में जैन आगम साहित्य में वर्णित जितने भी महत्त्वपूर्ण विषय हैं उन सभी पर चिन्तन किया गया है। ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मसिद्धान्त पर विराट् सामग्री का संकलन-आकलन किया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैन दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के साथ की गई है। इसमें जैन आगम साहित्य की मान्यताओं का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। आगम के गहन रहस्यों को समझने के लिए यह भाष्य अत्यधिक उपयोगी है। परवर्ती आचार्यों ने विशेषावश्यकभाष्य की विचार सामग्री और शैली का अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है।

सर्वप्रथम प्रवचन को नमस्कार किया है। उसके पश्चात् आवश्यक के फल के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आवश्यक स्वयं ज्ञान-क्रिया-मय है उससे सिद्धि संप्राप्त होती है। जैसे कुशल वैद्य बालक के लिए योग्य आहार की अनुमति देता है वैसे ही भगवान ने साधकों के लिए आवश्यक की अनुमति प्रदान की है।

श्रेष्ठ कार्य में विविध विघ्न उपस्थित होते हैं। उनको शान्ति के लिए मंगल का विधान है। ग्रन्थ में मंगल तीन स्थानों पर होता है। आदि मंगल अविघ्नपूर्वक ग्रन्थ समाप्ति के लिए है। मध्य मंगल प्रयोजन की स्थिरता के लिए है और अन्त मंगल शिष्य-प्रशिष्य आदि वंश परम्परा तक चलता रहे उसके लिए किया जाता है। मंगल वह है जिससे हित की सिद्धि होती

हो। अथवा मंगल वह है जो धर्म का समादान कराता हो।[1] मंगल शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है।

ज्ञान भावमंगल है अतः पाँच ज्ञानों का विश्लेषण किया गया है। पाँच ज्ञानों में मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष हैं और अवधि, मनःपर्यव और केवल ये तीन प्रत्यक्ष हैं। यहाँ पर 'अक्ष' शब्द का अर्थ जीव है। जो ज्ञान सीधा जीव से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान द्रव्यइन्द्रिय और द्रव्यमन की सहायता से होता है वह परोक्ष है। जो इन्द्रिय, मन को अक्ष मानते हैं और उनसे समुत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं, यह उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियाँ भी घट आदि की तरह अचेतन हैं। उनसे किस प्रकार ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। जो ज्ञान अनुमान आदि से उत्पन्न होता है वह परोक्ष ही है।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करते हुए लिखा है—जो ज्ञान इन्द्रिय मनोनिमित्तक व श्रुतानुसारी है वह भावश्रुत है और शेप मति है। मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद-प्रभेदों के साथ तार्किक दृष्टि से इस सम्बन्ध में चिन्तन किया है। अवग्रह एक समय पर्यन्त रहता है। ईहा और अवाय अन्तर्मुहूर्त तक रहता है और धारणा अन्तर्मुहूर्त व संख्येय-असंख्येय काल तक रहती है। प्रस्तुत प्रसंग में भापा, शरीर, समुद्घात प्रभृति विपयों पर भी प्रकाश डाला गया है।

श्रुतज्ञान पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि लोक में जितने भी अक्षर हैं उसके उतने ही संयोग होते हैं, उतनी ही श्रुतज्ञान की प्रकृतियाँ होती हैं। संयुक्त और असंयुक्त एकाक्षरों के अनन्त संयोग होते हैं और उनमें से प्रत्येक संयोग के अनन्त पर्याय होते हैं। अक्षर, अनक्षर, संज्ञी, असंज्ञी, सम्यक्, असम्यक्, सादिक, अनादिक, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य—इन चौदह प्रकार के निक्षेपों से श्रुतज्ञान पर विचार किया है और साथ ही उनके भेद-प्रभेदों पर भी चिन्तन किया गया है।

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो मुख्य भेद हैं। उन पर चौदह प्रकार के निक्षेपों की दृष्टि से चिन्तन किया है। नारक और देव के जीवों को उस स्थान में जन्म लेते ही अवधिज्ञान हो जाता है। जैसे पक्षियों

---

१ 'मंग्यतेऽधिगम्यते येन हितं तेन मंगलं भवति' अथवा 'मंगो धर्मस्तं लाति तकं समादत्ते'।

के बच्चे जन्म लेते ही उड़ने के स्वभाव वाले होते हैं वैसे ही भवप्रत्यय अवधिज्ञान वाले होते हैं। किन्तु मनुष्य और तिर्यंच में क्षयोपशम के कारण अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।

मनःपर्यवज्ञान में मानव के अन्तर्मानस में जो चिन्तन चलता है उसका उसे प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् मनःपर्यवज्ञानी चिन्तित मनोद्रव्य को तो प्रत्यक्ष देखता है किन्तु उसमें प्रतिभासित बाह्य पदार्थ को अनुमान से जानता है मनःपर्यवज्ञान श्रमण को ही होता है। केवलज्ञान सर्वद्रव्य और सर्वपर्यायों को जानता है।

समुदायार्थ द्वार में बताया है कि मति, अवधि, मनःपर्यव व केवलज्ञान परबोध में असमर्थ हैं किन्तु श्रुतज्ञान जगमगाते हुए दीपक की तरह स्वप्रकाशन व परबोधन में समर्थ है अतः उसी का अनुयोग यहाँ पर विवक्षित है। आवश्यक का अधिकार श्रुतरूप है। आवश्यक पर नाम आदि निक्षेपों से चिन्तन किया गया है। द्रव्यआवश्यक आगम और नोआगम रूप से दो प्रकार का है। अधिकाक्षर पाठ के लिए राजपुत्र कुणाल का उदाहरण दिया है। हीनाक्षर पाठ के लिए विद्याधर का उदाहरण दिया है। उभय के लिए बाल और आतुर के लिए अतिमात्रा में भोजन और भेषज-विपर्यय के उदाहरण दिये गये हैं। लोकोत्तर नोआगम रूप द्रव्यावश्यक के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए साध्वाभास का दृष्टान्त देकर समझाया है। भावआवश्यक भी आगम रूप और नोआगम रूप से दो प्रकार का है। आवश्यक के अर्थ का जो उपयोग रूप परिणाम है वह आगम रूप भावावश्यक है। ज्ञानक्रिया उभय रूप जो परिणाम है वह नोआगम रूप भावावश्यक है। षडावश्यक के पर्याय और उसके अर्थाधिकार पर विचार किया है।

सामायिक पर चिन्तन करते हुए कहा है—समभाव ही सामायिक का लक्षण है। जैसे अनन्त आकाश सभी द्रव्यों का आधार है वैसे ही सभी सद्गुणों का आधार सामायिक है। सामायिक के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भेद हैं। किसी महानगर में प्रवेश के लिए अनेक द्वार होते हैं वैसे ही सामायिक अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार द्वार हैं। इन चारों द्वारों का विस्तार से निरूपण किया गया है।

इसके पश्चात् उपोद्घात है। तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है। तीर्थ की परिभाषाएँ की गई हैं। तीर्थंकरों के पराक्रम, ज्ञान, गति आदि विषयों पर प्रकाश डाला है। भगवान महावीर व गणधरों को नमस्कार कर

निर्युक्ति की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की कि सूत्र के निश्चित अर्थ की व्याख्या करना निर्युक्ति है। जिन अर्थभापक हैं, गणधर सूत्र रचयिता हैं। शासन के हितार्थ सूत्र की प्रवृत्ति है। सूत्र में अर्थ-विस्तार विशेष है अतः वह महार्थ है।

सामायिक श्रुत का सार चारित्र है। चारित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। ज्ञान से वस्तु का यथार्थ परिज्ञान होने से चारित्र की विशुद्धि होती है। केवलज्ञान होने पर भी जीव मुक्त नहीं होता जब तक उसे सर्व-संवर का लाभ न हो जाये। चारित्र ही मोक्ष का मुख्य हेतु है।

सामायिक का लाभ जीव को कब उपलब्ध होता है इस पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि आठों कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के रहते हुए जीव को सामायिक का लाभ नहीं हो सकता। नाम-गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम है। मोहनीय की सत्तर कोटाकोटी साग-रोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की तीस कोटा-कोटी सागरोपम है। आयुकर्म की तेतीस सागरोपम है। मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बँधती है। किन्तु आयुकर्म की स्थिति के लिए निश्चित नियम नहीं है, उत्कृष्ट और मध्यम किसी भी प्रकार की स्थिति बँध सकती है पर जघन्य स्थिति नहीं बंधती। मोहनीय के अतिरिक्त ज्ञानावरणादि किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होने पर मोहनीय या अन्य कर्म की उत्कृष्ट या मध्यम स्थिति का बंध होता है किन्तु आयुकर्म की जघन्य स्थिति भी बँध सकती है। सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत और सर्वव्रत इन चार सामायिकों में से जिसने उत्कृष्ट कर्मस्थिति का बंध किया है वह एक भी सामायिक को प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु उसे पूर्वप्रतिपन्न विकल्प से होती भी है और नहीं भी होती है, जैसे अनुत्तरविमानवासी देव में पूर्व-प्रतिपन्न सम्यक्त्व श्रुत होते हैं, शेष में नहीं। जिनकी ज्ञानावरणादि की जघन्य स्थिति है उनको भी इन चार सामायिकों में से एक का भी लाभ नहीं होता क्योंकि उसे पहले ही प्राप्त हो गई है अतः पुनः प्राप्त करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। आयुकर्म की जघन्य स्थिति वाले को न यह पहले प्राप्त होती है और न वह प्राप्त ही कर सकता है।

इसके पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्ति के कारणों पर चिन्तन करते हुए ग्रन्थिभेद का स्वरूप स्पष्ट किया है। आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों

की स्थिति देशन्यून कोटाकोटी सागरोपम की अवशेष रहती है तब आत्मा सम्यक्त्व के अभिमुख होता है, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उसमें से पल्योपम पृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति—श्रावकत्व की प्राप्ति होती है। उसमें से भी संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर सर्वविरति-चारित्र की उपलब्धि होती है। उसमें से संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपशम-श्रेणी प्राप्त होती है। उसमें से भी संख्यात सागरोपम का क्षय होने पर क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है।

कषाय के उदय के कारण दर्शन आदि सामायिक प्राप्त नहीं हो सकती। यदि कदाचित् प्राप्त भी हो गयी है तो वह पुनः नष्ट हो जाती है। कषाय में कष् और आय ये दो शब्द हैं। जिससे कर्मों का लाभ हो वह कषाय है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यानी चतुष्क, प्रत्याख्यानी चतुष्क इन बारह प्रकार के कषायों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से चारित्र की प्राप्ति होती है। प्रथम चारित्र सामायिक है। सामायिक में सावद्ययोग का त्याग होता है। वह इत्वर और यावत्कथिक के रूप में दो प्रकार की है। इत्वर सामायिक अल्पकालीन होती है और यावत्कथिक-जीवन पर्यन्त के लिए होती है। भाष्यकार ने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय और यथाख्यात चारित्र का विस्तार से विवेचन किया है।

सामायिकचारित्र का उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविधि, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन और निरुक्ति—इन छब्बीस द्वारों से वर्णन किया है। सामायिक सम्बन्धी जितनी भी महत्त्वपूर्ण बातें हैं वे सभी इन द्वारों में समाविष्ट हो गई हैं।

तृतीय निर्गम द्वार में सामायिक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए आचार्य ने भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों की चर्चा की है। ग्यारह गणधरों के नाम ये हैं-इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, माण्डिक, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। ये सभी वेदों के पारंगत विद्वान थे। उन्होंने भगवान से निम्न विषयों पर चर्चाएँ कीं—

आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व, कर्म की सत्ता, आत्मा और देह का भेद, शून्यवाद का निरसन, इहलोक और परलोक की विचित्रता, बंध और मोक्ष का स्वरूप, देवों का अस्तित्व, नारकों का अस्तित्व, पुण्य-पाप का स्वरूप, पर-

लोक का अस्तित्व, निर्वाण की सिद्धि।[1] सभी विज्ञों के संशय नष्ट होने पर वे सभी अपने शिष्यों के साथ भगवान के शिष्य हो गये। वे ग्यारह ही प्रमुख शिष्य गणधर के नाम से विश्रुत हुए। भाष्य में यह चर्चा बहुत ही विस्तार से की गई है।

सामायिक के ग्यारहवें द्वार समवतार पर विवेचन करते हुए आचार्य ने चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानयोग के पृथक्करण की चर्चा की और इस बात पर प्रकाश डाला कि आर्य वज्र के पश्चात् आर्य रक्षित ने भविष्य में होने वाले श्रमणों की मति, मेधा-धारणा क्रमशः कम होगी अतः अनुयोगों का पृथक्करण किया। उन्होंने सूत्रों का निश्चित विभाजन कर दिया। चरणकरणानुयोग में कालिकश्रुत रूप ग्यारह अंग महाकल्पश्रुत और छेदसूत्र रखे। धर्मकथानुयोग में ऋषिभाषित को रखा गया। गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति, और द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद को रखा गया। उसके पश्चात् पुष्यमित्र को आचार्य का महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किया। जिसे गोष्ठामाहिल ने अपना अपमान समझा और संघ से पृथक् होकर अपनी नई मान्यताओं का प्रचार प्रारम्भ किया। यही गोष्ठामाहिल सप्तम निह्नव के रूप में विश्रुत हुआ। जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़भूति, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त षडुलूक, गोष्ठामाहिल इन निह्नवों का वर्णन निर्युक्ति में भी आया है किन्तु भाष्यकार ने आठवें निह्नव शिवभूति बोटिक का भी वर्णन किया है।

अभिनिवेश के कारण आगम-प्रतिपादित तत्त्व का परम्परा से प्रतिकूल अर्थ करने वाला निह्नव में परिगणित किया गया है। निह्नव मिथ्यादृष्टि का ही एक प्रकार है। बिना अभिनिवेश के जो सूत्रार्थ में वाद-विवाद होता है उसके कारण निह्नव नहीं होता क्योंकि उसके वाद-विवाद का लक्ष्य सत्य-तथ्य का उद्घाटन है न कि अपने मिथ्या अहंकार का पोषण है। सामान्य मिथ्यात्वी और निह्नव में यह अन्तर है कि सामान्य मिथ्यात्वी तो जिनेश्वर देवों के वचनों को मानता ही नहीं है, यदि मानता भी है तो उन्हें मिथ्या मानता है। किन्तु निह्नव जिन प्रवचन को मानता तो है पर अपने अभिनिवेश के कारण किसी एक विषय का परम्परा के विरुद्ध अर्थ करता है।

---

१ देखिये—भगवान महावीर की दार्शनिक चर्चाएँ : लेखक—देवेन्द्र मुनि

प्रथम निह्नव जमालि ने वहुरत मत का प्ररूपण किया। द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त ने जीव प्रादेशिक मत का प्ररूपण किया। तृतीय निह्नव आचार्य आपाढ़ द्वारा अव्यक्तमत की संस्थापना की गई। चतुर्थ निह्नव अश्वमित्र ने सामुच्छेदिक विचारधारा का प्रचार किया। पञ्चम निह्नव गंग ने एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव हो सकता है इसका प्रतिपादन किया। षष्ठ निह्नव रोहगुप्त षडुलूक ने त्रैराशिक मत का प्ररूपण किया। सप्तम निह्नव गोष्ठामाहिल ने कहा—जीव और कर्म का बंध नहीं होता किन्तु स्पर्शमात्र होता है अतः उसने अवद्ध सिद्धान्त का प्ररूपण किया। अष्टम निह्नव बोटिक द्वारा दिगम्बर मत प्रचलित हुआ। भगवान महावीर के केवलज्ञान होने के १४ वर्ष पश्चात् प्रथम निह्नव हुआ, सोलह वर्ष पश्चात् द्वितीय निह्नव हुआ। शेप निह्नव क्रमशः महावीर निर्वाण के २१४, २२०, २२८, ५४४, ५८४ और ६०९ वर्ष पश्चात् हुए।

निह्नववाद के पश्चात् सामायिक के अनुमत आदि द्वारों का वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का व्याख्यान है। इसमें नमस्कार की उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल इन ग्यारह द्वारों से नमस्कार का विवेचन किया है। सिद्धों को नमस्कार करते समय आचार्य ने कर्मस्थिति, समुद्घात, शैलेशी अवस्था, ध्यान और उसके स्वरूप पर चिन्तन किया है। सिद्ध का उपयोग साकार है या निराकार है। साकार का अर्थ ज्ञान है और निराकार का अर्थ दर्शन है। साकार का अर्थ सविकल्प है और निराकार का अर्थ निर्विकल्प है। जो उपयोग वस्तु के विशेप अंश को ग्रहण करता है वह सविकल्प है और जो उपयोग सामान्य अंश को ग्रहण करता है वह निर्विकल्प है। केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद पर चिन्तन किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं या क्रमशः होते हैं। इस प्रश्न पर आगमिक दृष्टि से चिन्तन करते हुए इस मत की पुष्टि की है कि केवली को एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते। केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमशः होते हैं, युगपत् नहीं। सिद्ध सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों पर भी प्रकाश डाला है। आचार्य, उपाध्याय और साधु को भी नमस्कार किया गया है।

विशेषावश्यकभाष्य का भाष्य साहित्य में अनूठा स्थान है। आचार्य की प्रबल तार्किक शक्ति, अभिव्यक्ति कुशलता, प्रतिपादन की पटुता, विवेचन की विशिष्टता सहज रूप से देखी जा सकती है।

जीतकल्पभाष्य

जीतकल्पभाष्य के रचयिता भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। प्रस्तुत भाष्य में बृहत्कल्प-लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, पञ्चकल्पमहाभाष्य, पिण्ड-निर्युक्ति प्रभृति अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। अतः यह एक संग्रह ग्रन्थ है। मूल जीतकल्प में १०३ गाथाएँ हैं और इस स्वोपज्ञ भाष्य में २६०६ गाथाएँ हैं। इसमें जीतव्यवहार के आधार पर जो प्रायश्चित्त दिये जाते हैं उनका संक्षेप में वर्णन है। चारित्र में जो स्खलनाएँ हो जाती हैं उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त एक प्रकार से चिकित्सा है। रोगी को कष्ट देने के लिए चिकित्सा नहीं की जाती अपितु रोग निवारण के लिए की जाती है, इसी प्रकार प्रायश्चित्त भी राग आदि अपराधों के उपशमन के लिए दिया जाता है।

प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं। प्रायश्चित्त के प्राकृत में 'पायच्छित्त' और 'पच्छित्त' ये दो रूप मिलते हैं। जो पाप का छेद करता है वह 'पायच्छित्त' है और उससे चित्त शुद्ध होता है वह 'पच्छित्त' है।

संघ-व्यवस्था की दृष्टि से एक आचारसंहिता का निर्माण किया गया। जिसमें श्रमण के कर्तव्य, अकर्तव्य, प्रवृत्ति और निवृत्ति का निर्देश है। वह आचारसंहिता व्यवहार कहलाती है। जिन व्यक्तियों के द्वारा वे व्यवहार संचालित होते हैं वे भी कार्यकारण की अभेद दृष्टि से व्यवहार कहलाते हैं।

ज्ञानात्मक क्षमता के आधार पर व्यवहार संचालन में उन व्यक्तियों को प्राथमिकता दी गई है। व्यवहार संचालन में प्रथम स्थान आगमपुरुष का है, उसके अभाव में व्यवहार का प्रवर्तन श्रुतपुरुष करता है। उसकी अनुपस्थिति में आज्ञापुरुष, उसकी अनुपस्थिति में धारणापुरुष और उसकी अनुपस्थिति में जीतपुरुष व्यवहार का प्रवर्तन करता है।

आगम व्यवहार के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के तीन प्रकार है—(१) अवधिप्रत्यक्ष, (२) मनःपर्यवप्रत्यक्ष और (३) केवलज्ञान प्रत्यक्ष। परोक्ष के तीन प्रकार हैं—(१) चतुर्दशपूर्वधर, (२) दशपूर्वधर (३) नौपूर्वधर।

आगम व्यवहारी आचार्य के आठ प्रकार की सम्पदा होती है—आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोगमति और संग्रहपरिज्ञा। प्रत्येक के चार-चार प्रकार हैं। इस तरह इसके ३२ प्रकार होते हैं।

चार विनय प्रतिपत्तियाँ हैं—

(१) आचारविनय—आचार सम्बन्धी विनय सिखाना।

(२) श्रुतविनय—सूत्र और अर्थ की वाचना देना।

(३) विक्षेपणाविनय—जो धर्म से दूर हैं, उन्हें धर्म में स्थापित करना, जो स्थित हैं उन्हें प्रव्रजित करना, जो च्युतधर्मा हैं उन्हें पुनः धर्मनिष्ठ बनाना और उनके लिए हित सम्पादन करना।

(४) दोषनिर्घातविनय—क्रोध-विनयन, दोषविनयन तथा कांक्षाविनयन के लिए प्रयत्न करना।

इन ३६ गुणों में कुशल, आलोचनार्ह आठ गुणों से युक्त, अठारह वर्णनीय स्थानों का ज्ञाता, दस प्रकार के प्रायश्चित्तों को जानने वाला, आलोचना के दस दोषों का जानकार, व्रतषट्क, कायषट्क का विज्ञाता तथा जातिसम्पन्न प्रभृति दस गुणों से जो युक्त है वह आगम व्यवहारी है।

प्रायश्चित्त प्रदान करने वाले केवलज्ञानी व पूर्वधर वर्तमान में नहीं हैं और न प्रत्याख्यानप्रवाद नामक पूर्व की तीसरी वस्तु ही है किन्तु उस पूर्व के आधार से निर्मित बृहत्कल्प, व्यवहार आदि वर्तमान में उपलब्ध हैं। उन आगम ग्रन्थों के आधार से प्रायश्चित्त का विधान सहज रूप से किया जा सकता है और चारित्र की विशुद्धि की जा सकती है। बृहत्कल्प और व्यवहार के सूत्र और अर्थ को निपुणता से जानकर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह श्रुत व्यवहार है।

भाष्य में प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में बताया है कि सापेक्ष प्रायश्चित्त दान से लाभ और निरपेक्ष प्रायश्चित्त दान से हानि की संभावना है। जिसे प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति का ध्यान होना चाहिए। यदि ध्यान न रखा गया तो संयम में स्थिर होने के स्थान पर सर्वथा त्याग का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। प्रायश्चित्त देते समय इतना भी दयालु नहीं होना चाहिए कि प्रायश्चित्त का विधान ही नष्ट हो जाए और दोषों की परम्परा निरन्तर बढ़ती ही चली जाय। बिना प्रायश्चित्त के चारित्र की शुद्धि नहीं हो सकती, बिना चारित्र शुद्धि के निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता और निर्वाण प्राप्ति के अभाव में कोई भी श्रमण नहीं बनेगा। बिना श्रमण बने तीर्थ चल

नहीं सकता। इसलिए जहाँ तक तीर्थ की अवस्थिति है वहाँ तक प्रायश्चित्त का भी विधान है।

इसी प्रायश्चित्त के प्रसंग में भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण और पादपोपगमन इन तीन प्रकार की मारणान्तिक साधनाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

आज्ञाव्यवहार के संबंध में बताया है कि दो गीतार्थ आचार्य भिन्न-भिन्न देशों में हों, वे कारणवश मिलने में असमर्थ हों, ऐसी परिस्थिति में कहीं पर प्रायश्चित्त आदि के सम्बन्ध में एक-दूसरे से परामर्श अपेक्षित हो तो वे अपने शिष्यों को गूढ़पदों में पुष्टव्य विषय को निगूहित कर उनके पास भेज देते हैं। वे गीतार्थ आचार्य भी उसी शिष्य के साथ गूढ़पदों में ही उत्तर प्रेषित कर देते हैं। यह आज्ञाव्यवहार है।

धारणाव्यवहार वह है कि किसी गीतार्थ आचार्य ने किसी समय किसी शिष्य के अपराध की शुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्त दिया हो, उसे स्मरण रखकर वैसी ही परिस्थिति में उसी प्रायश्चित्त विधि का उपयोग करना; अथवा वैयावृत्य, आदि विशेष प्रवृत्ति में और अशेष छेदसूत्रों को धारण करने में असमर्थ साधु को कुछ विशेष-विशेष पद उद्धृत कर धारणा करवाने को धारणाव्यवहार कहा जाता है। उद्धारणा, विधारणा, संधारणा, संप्रधारणा ये धारणा के पर्यायवाची हैं।

जीतव्यवहार वह है कि किसी समय किसी अपराध के लिए आचार्यों ने एक प्रकार का प्रायश्चित्त विधान किया है; दूसरे समय में देश-काल, धृति, संहनन, बल आदि देखकर उसी अपराध के लिए दूसरे प्रकार का प्रायश्चित्त-विधान किया जाता है। अथवा किसी आचार्य के गच्छ में किसी कारणवश कोई सूत्रातिरिक्त प्रायश्चित्त का प्रवर्तन हुआ हो और वह बहुतों द्वारा अनेक बार अनुवर्तित हुआ, उस प्रायश्चित्त-विधि को जीत कहा गया है। जिसका आधार आगम, श्रुत, आज्ञा और धारणा न हो वह जीतव्यवहार है। उसका मूल आधार परम्परा होती है। जिस जीतव्यवहार से चारित्र की निर्मलता होती हो उसी का आचरण करना चाहिए। ऐसा भी जीत-व्यवहार हो सकता है जिसका आचरण केवल एक ने ही किया हो, पर जिसने किया हो वह व्यक्ति शान्त, दान्त, गंभीर, संवेग परायण हो, और वह आचार को विशुद्ध करने वाला हो तो उस जीतव्यवहार का अनुसरण किया जा सकता है। यहाँ तक मूलसूत्र की प्रथम गाथा का विवेचन हुआ।

प्रायश्चित्त का महत्त्व प्रतिपादन करने के पश्चात् आलोचना, प्रति-कमण आदि दस प्रायश्चित्तों का निरूपण किया है और उनके पर भी प्रकाश डाला है।

आलोचना छद्मस्थ के लिए है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार प्रकार के कर्मों के बन्धन से जब तक आत्मा मुक्त नहीं होता तब तक वह छद्मस्थ कहलाता है। प्रतिक्रमण के अपराधस्थानों का वर्णन करते हुए जिनदास अर्हन्नक, नन्दिवर्धन और धर्मरुचि आदि के उदाहरण दिये गये हैं।

मिश्र प्रायश्चित्त में आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के संयुक्त अपराध-स्थानों का विवेचन किया है। संभ्रम, भय, आपत्, सहसा, अनाभोग आदि मिश्र कोटि के अपराध हैं। पिण्ड, उपधि, शय्या, कृतयोगी, कालातीत, अध्वातीत आदि विवेक-प्रायश्चित्त के अपराध-स्थान है। गमन, आगमन, विहार, श्रुत, सावद्यस्वप्न, नाव, नदी, सन्तार आदि व्युत्सर्ग के अपराध-स्थान हैं। ज्ञान के आठ, दर्शन के आठ, चारित्र में उद्गम के सोलह, उत्पा-दना के सोलह, ग्रहणैषणा के दस, ग्रासैषणा के पाँच अतिचारों (अपराध-स्थानों) पर प्रकाश डाला है। ये तप के अपराध-स्थान हैं। क्रोध के लिए क्षपक का, मान के लिए क्षुल्लक का, माया के लिए आषाढभूति का, लोभ के लिए सिंह केसर नामक मोदक की इच्छा रखने वाले क्षपक का, विद्या के लिए बौद्ध उपासक का, मंत्र के लिए पादलिप्त और मुरुण्डराज का, चूर्ण के लिए दो भिक्षुओं और योग के लिए ब्रह्मद्वैपिक तापसों के उदाहरण दिये गये हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से तपोदान के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है।

कल्पस्थितिसामायिक, छेद, निर्विशमान, निर्विष्ट, जिनकल्प और स्थविरकल्प ये छह प्रकार की है। कल्प के दस प्रकार ये हैं—(१) आचे-लक्य, (२) औद्देशिक, (३) शय्यातर (४) राजपिण्ड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मास, (१०) पर्युषणा। भाष्यकार ने इन कल्पों पर गंभीरता से प्रकाश डाला है। साथ ही परिहारकल्प, जिनकल्प और स्थविरकल्प के स्वरूप पर भी चिन्तन किया गया है। साथ ही तपविधि का भी विस्तार से वर्णन किया है।

छेद प्रायश्चित्त के अपराध-स्थानों पर प्रकाश डालते हुए उत्कृष्ट तपो-भूमि का निर्देश किया है। आदिजिन की उत्कृष्ट तपोभूमि एक वर्ष की

होती है, मध्यम जिनों की उत्कृष्ट तपोभूमि आठ मास की होती है और अन्तिम जिन की छह मास की।[1] छेद, अनवस्थाप्य, पारांचिक के अपराध-स्थानों का निर्देश किया है। तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य आदि की आशातना करने वाले को पारांचिक-प्रायश्चित्त आता है। अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु तक था। उसके पश्चात् उसका विच्छेद हो गया।

जो सूत्र और अर्थ के मर्म को जानने वाला है वही जीतकल्प का योग्य अधिकारी है। इसमें आचार के नियमों और उसकी स्खलना होने पर उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। इस प्रकार 'जीतकल्प' यह आचार्य जिनभद्र की जैन आचारशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें किञ्चित् मात्र भी सन्देह नहीं है।

संघदासगणी

द्वितीय भाष्यकार संघदासगणी हैं। आचार्य संघदास के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी सामग्री नहीं मिलती है। उनके माता-पिता कौन थे? उनकी जन्मस्थली कहाँ पर थी? उन्होंने किन आचार्य के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की, आदि जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

आगम प्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी का मानना था कि संघदास गणी नामक दो आचार्य हुए हैं। एक ने बृहत्कल्पलघुभाष्य और पञ्चकल्प-महाभाष्य का निर्माण किया और दूसरे आचार्य ने वसुदेवहिंडि-प्रथम खण्ड लिखा। भाष्यकार संघदासगणी का विशेषण क्षमाश्रमण है तो वसुदेव-हिण्डि के रचयिता का विशेषण 'वाचक' है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अपने 'विशेषणवती' नामक ग्रन्थ में वसुदेवहिंडि ग्रन्थ का उल्लेख अनेक बार किया है और वसुदेवहिंडि में जो भगवान ऋषभदेव का जीवन आया है, उन गाथाओं का संग्रहणी के रूप में अपने ग्रन्थ में उपयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है वसुदेवहिंडि के रचयिता संघदासगणी भाष्यकार जिनभद्रगणी से पूर्व हुए हैं।

भाष्यकार संघदासगणी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण से पहले हुए हैं? या बाद में हुए हैं? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर यह निश्चित है कि संघदासगणी जैन आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे। छेद-

---

१ जीतकल्पभाष्य, गा० २२८५-८६

सूत्रों के तलस्पर्शी अनुसंधाता थे। उन्होंने जिस विषय पर कलम उठाई उस विषय की अतल गहराई में उतर गये।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य

बृहत्कल्प-लघुभाष्य संघदासगणी की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें बृहत्कल्पसूत्र के पदों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। लघुभाष्य होने पर भी इसकी गाथा संख्या ६४९० है। यह छह उद्देशों में विभक्त है। भाष्य के प्रारम्भ में एक सविस्तृत पीठिका दी गई है जिसकी गाथा संख्या ८०५ है। इस भाष्य में भारत की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री का संकलन-आकलन हुआ है। इस सांस्कृतिक सामग्री के कुछ अंश को लेकर डा० मोतीचन्द ने अपनी पुस्तक 'सार्थवाह' में 'यात्री और सार्थवाह' का सुन्दर आकलन किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन करने के लिए इसकी सामग्री विशेष उपयोगी है। जैन श्रमणों के आचार का हृदयग्राही, सूक्ष्म, तार्किक विवेचन इस भाष्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

पीठिका में मंगलवाद, ज्ञानपंचक में श्रुतज्ञान के प्रसंग पर विचार करते हुए सम्यक्त्व प्राप्ति का क्रम और औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। अनुयोग का स्वरूप बताकर निक्षेप आदि बारह प्रकार के द्वारों से उस पर चिन्तन किया है। कल्पव्यवहार पर विविध दृष्टियों से चिन्तन करते हुए यत्र-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्तों का भी उपयोग हुआ है।

पहले उद्देशक की व्याख्या में तालवृक्ष से सम्बन्धित विविध प्रकार के दोष और प्रायश्चित्त, ताल-प्रलम्ब के ग्रहण सम्बन्धी अपवाद, श्रमण-श्रमणियों को देशान्तर जाने के कारण और उसकी विधि, श्रमणों की अस्वस्थता के विधि-विधान, वैद्यों के आठ प्रकार बताए हैं। दुष्काल प्रभृति विशेष परिस्थिति में श्रमण-श्रमणियों के एक-दूसरे के अवगृहीत क्षेत्र में रहने की विधि, उसके १४४ भंग और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन, शंकर प्रभृति पदों पर विवेचन किया है। नक्षत्रमास, चन्द्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धित मास का वर्णन है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की क्रियाएँ, समवसरण, तीर्थंकर, गणधर, आहारक शरीरी, अनुत्तर देव, चक्रवर्ती, बलदेव,

वासुदेव, आदि की शुभ और अशुभ कर्म प्रकृतियाँ, तीर्थंकर की भाषा का विभिन्न भाषाओं में परिणमन, आपण-गृह, रथ्यामुख, श्रृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अन्तरापण, आदि पदों पर प्रकाश डाला गया है। और उन स्थानों पर बने हुए उपाश्रयों में रहने वाली श्रमणियों को जिन दोषों के लगने की संभावना है उनकी चर्चा की गई है।

भाष्यकार ने द्रव्य ग्राम के बारह प्रकार बताये हैं। वे ये हैं—(१) उत्तानकमल्लक, (२) अवाङ्मुखमल्लक, (३) सम्पुटमल्लक, (४) उत्तानकखण्डमल्लक, (५) अवाङ्मुखखण्डमल्लक, (६) सम्पुटखण्डमल्लक, (७) भिति (८) पडालि, (९) वलभि, (१०) अक्षाटक (११) रुचक, (१२) काश्यपक।

तीर्थंकर, गणधर और केवली के समय ही जिनकल्पिक मुनि होते हैं। जिनकल्पिक मुनि की सामाचारी का वर्णन सत्ताइस द्वारों से किया है—(१) श्रुत (२) संहनन (३) उपसर्ग, (४) आतंक, (५) वेदना, (६) कतिजन, (७) स्थंडिल, (८) वसति, (९) कियच्चिर, (१०) उच्चार, (११) प्रस्रवण, (१२) अवकाश, (१३) तृणफलक, (१४) संरक्षणता, (१५) संस्थापनता, (१६) प्राभृतिका, (१७) अग्नि, (१८) दीप, (१९) अवधान, (२०) वत्स्यथ, (२१) भिक्षाचर्या, (२२) पानक (२३) लेपालेप, (२४) अलेप, (२५) आचाम्ल (२६) प्रतिमा, (२७) मासकल्प। जिनकल्पिक की स्थिति पर चिन्तन करते हुए—क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्राजना, मुण्डापना, प्रायश्चित्त, कारण, निष्प्रतिकर्म और भक्त इन द्वारों से प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् परिहारविशुद्धिक और यथालन्दिक कल्प का स्वरूप बताया है।

स्थविरकल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति ये सभी जिनकल्पिक के समान है।

श्रमणों के विहार पर प्रकाश डालते हुए विहार का समय, विहार करने से पहले गच्छ के निवास एवं निर्वाह योग्य क्षेत्र का परीक्षण, उत्सर्ग और अपवाद की दृष्टि से योग्य या अयोग्य क्षेत्र, प्रत्युपेक्षकों का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए किस प्रकार गमनागमन करना चाहिए, विहारमार्ग एवं स्थंडिल भूमि, जल, विश्रामस्थान, भिक्षा, वसति, उपद्रव आदि की परीक्षा, प्रतिलेखनीय क्षेत्र में प्रवेश करने की विधि, भिक्षा से वहाँ के मानवों के अन्तर्मानस की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की प्राप्ति में सरलता

व कठिनता का परिज्ञान, विहार करने से पूर्व वसति के अधिपति की अनुमति, विहार करने से पूर्व शुभशकुन देखना आदि का वर्णन है।

स्थविरकल्पिकों की सामाचारी में इन बातों पर प्रकाश डाला है—

(१) **प्रतिलेखना**—वस्त्र आदि की प्रतिलेखना का समय, प्रतिलेखना के दोष और उनका प्रायश्चित्त।

(२) **निष्क्रमण**—उपाश्रय से बाहर निकलने का समय।

(३) **प्राभृतिका**—गृहस्थ के लिए जो मकान तैयार किया है उसमें रहना चाहिए या नहीं रहना चाहिए। तत्सम्बन्धी विधि व प्रायश्चित्त।

(४) **भिक्षा**—भिक्षा के लेने का समय और भिक्षा सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ।

(५) **कल्पकरण**—पात्र को स्वच्छ करने की विधि, लेपकृत और अलेपकृत पात्र, पात्र-लेप से लाभ।

(६) **गच्छशतिकादि**—आधाकर्मिक, स्वगृहयतिमिश्र, स्वगृहपापण्ड-मिश्र, यावदर्थिकमिश्र, क्रीतकृत, पूतिकर्मिक और आत्मार्थकृत तथा उनके अवान्तर भेद।

(७) **अनुयान**—रथयात्रा का वर्णन और उस सम्बन्धी दोष।

(८) **पुरःकर्म**—भिक्षा लेने से पूर्व सचित्त जल से हाथ आदि साफ करने से लगने वाले दोष।

(९) **ग्लान**—ग्लान-रुग्ण श्रमण की सेवा से होने वाली निर्जरा, उसके लिए पथ्य की गवेषणा, चिकित्सा के लिए वैद्य के पास ले जाने की विधि, वैद्य से वार्तालाप करने का तरीका, रुग्ण श्रमण को उपाश्रय, गली आदि में छोड़कर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष, और उनके प्रायश्चित्त का विधान।

(१०) **गच्छ प्रतिबद्ध यथालंदिक**—वाचना आदि कारणों से गच्छ से सम्बन्ध रखने वाले यथालंदिक कल्पधारियों के साथ वन्दन आदि व्यवहार तथा मासकल्प की मर्यादा।

(११) **उपरिदोष**—वर्षाऋतु के अतिरिक्त समय में एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोष।

(१२) **अपवाद**—एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण, श्रमण-श्रमणियों के भिक्षाचर्या की विधि पर भी प्रकाश डाला है। साथ ही यह भी बताया है कि यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर

और बाहर दो भागों में विभक्त हों तो अन्दर और बाहर मिलाकर दो मास तक रह सकते हैं।

श्रमणियों के आचार सम्बन्धी विधि-विधानों पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए बताया है कि निर्ग्रंथी के मासकल्प की मर्यादा, विहार-विधि, समुदाय का प्रमुख और उसके गुण, उसके द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना, बौद्ध श्रावकों द्वारा भडौंच में श्रमणियों का अपहरण, श्रमणियों के योग्य क्षेत्र, वसति, विधर्मी से उपद्रव की रक्षा, भिक्षा हेतु जाने वाली श्रमणियों की संख्या, वर्षावास के अतिरिक्त श्रमणी को एक स्थान पर अधिक से अधिक कितना रहना, उसका विधान है।

स्थविरकल्प और जिनकल्प इन दोनों अवस्थाओं में कौन सी अवस्था प्रमुख है इस पर चिन्तन करते हुए भाष्यकार ने निष्पादक और निष्पन्न इन दोनों दृष्टियों से दोनों की प्रमुखता स्वीकार की है। सूत्र अर्थ आदि दृष्टियों से स्थविरकल्प जिनकल्प का निष्पादक है। जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रभृति दृष्टियों से निष्पन्न है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से गुहासिंह, दो महिलाएँ और दो गोवर्गों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

एक प्राचीर और एक द्वार वाले ग्राम-नगर आदि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को नहीं रहना चाहिए इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है। श्रमण-श्रमणियों को किस स्थान में रहना चहिए इस पर विविध दृष्टियों से चिन्तन किया गया है।

व्यवशमनप्रकृतसूत्र में इस बात पर चिन्तन किया है कि श्रमणों में परस्पर वैमनस्य हो जाये तो उपशमन धारण करके क्लेश को शान्त करना चाहिए। जो उपशमन धारण करता है वह आराधक है; जो नहीं करता है वह विराधक है। आचार्य को श्रमण-श्रमणियों में क्लेश होने पर उसकी उपशान्ति हेतु उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। परस्पर के झगड़े को शान्त करने की विधि प्रतिपादित की गई है।

चारप्रकृतसूत्र में बताया है कि श्रमण-श्रमणियों को वर्षाऋतु में एक गाँव से दूसरे गाँव नहीं जाना चाहिए। यदि गमन करता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है। यदि आपवादिक कारणों से विहार करने का प्रसंग उपस्थित हो तो उसे यतना से गमन करना चाहिए।

अवग्रहसूत्र में बताया है कि भिक्षा या शौचादि भूमि के लिए जाते हुए श्रमण को गृहपति वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि ग्रहण करने की प्रार्थना करे

तो उसे लेकर आचार्य आदि को प्रदान करे और उनकी आज्ञा प्राप्त होने पर उसका उपयोग करे।

रात्रिभक्तप्रकृतसूत्र में बताया है कि रात्रि या विकाल में अशन-पान आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए और न वस्त्र आदि ही ग्रहण करना चाहिए। रात्रि और विकाल में अध्वगमन का भी निषेध किया गया है। अध्व के दो भेद हैं—पंथ और मार्ग। जिसके बीच में ग्राम, नगर आदि कुछ भी न आए वह पंथ है और जिसके बीच ग्राम, नगर आये वह मार्ग है। सार्थ के भंडी, बहिलक, भारवह, औदरिक, कार्पटिक ये पाँच प्रकार हैं। आठ प्रकार के सार्थवाह और आठ प्रकार के सार्थ-व्यवस्थापकों का उल्लेख है। विहार के लिए आर्यक्षेत्र ही विशेष रूप से उपयुक्त है। आर्य पद पर नाम आदि बारह निक्षेपों से विचार किया है। आर्य जातियाँ अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हारित, तन्तुण ये छह हैं और आर्य कुल भी उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात-कौरव और इक्ष्वाकु यह छह प्रकार के हैं। आगे उपाश्रय सम्बन्धी विवेचन में उपाश्रय के व्याघातों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जिसमें शालि व्रीहि आदि सचित्त धान्य कण बिखरे हुए हों उस बीजाकीर्ण स्थान पर श्रमण को नहीं रहना चाहिए और न सुराविकट कुंभ, शीतोदक विकट कुंभ, ज्योति, दीपक, पिण्ड, दुग्ध, दही, नवनीत आदि पदार्थों से युक्त स्थान पर ही रहना चाहिए। सागारिक के आहार आदि के त्याग की विधि, अन्य स्थान से आई हुई भोजन सामग्री के दान की विधि, सागारिक का पिण्ड ग्रहण, विशिष्ट व्यक्तियों के निमित्त बनाया हुआ भक्त, उपकरण आदि का ग्रहण, रजोहरण ग्रहण करने की विधि बताई है। पाँच प्रकार के वस्त्र—(१) जांगिक (२) भांगिक (३) सानक, (४) पोतक (५) तिरीटपट्टक; पाँच प्रकार के रजोहरण—(१) औणिक, (२) औष्ट्रिक, (३) सानक, (४) वच्चक-चिप्पक, (५) मुंजचिप्पक—इनके स्वरूप और ग्रहण करने की विधि बताई गई है।

तृतीय उद्देशक में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के परस्पर उपाश्रय में प्रवेश करने की विधि बतायी है। कृत्स्न और अकृत्स्न, भिन्न और अभिन्न, वस्त्रादि ग्रहण, नवदीक्षित श्रमण-श्रमणियों के उपधि पर चिन्तन किया है। उपधि-ग्रहण की विधि, वन्दन आदि का विधान किया है। वस्त्र फाड़ने में होने वाली हिंसा-अहिंसा पर चिन्तन करते हुए द्रव्यहिंसा और भावहिंसा पर विचार किया है। हिंसा में जितनी अधिक राग आदि की तीव्रता होगी

उतना ही तीव्र कर्मबंधन होगा। हिंसक में ज्ञान और अज्ञान के कारण कर्मबंध, अधिकरण की विविधता से कर्मबंध में वैविध्य आदि पर चिन्तन किया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में हस्तकर्म आदि के प्रायश्चित्त का विधान है। मैथुनभाव रागादि से कभी भी रहित नहीं हो सकता। अतः उसका अपवाद नहीं है। पण्डक आदि को प्रव्रज्या देने का निषेध किया गया है।

पञ्चम उद्देशक में गच्छ सम्बन्धी, शास्त्र स्मरण और तद्विषयक व्याघात, क्लेशयुक्त मन से गच्छ में रहने से अथवा स्वगच्छ का परित्याग कर अन्य गच्छ में चले जाने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त; निःशंक और सशंक रात्रिभोजन, उद्गार-वमन आदि विषयक दोष और उसका प्रायश्चित्त; आहार आदि के लिए प्रयत्न आदि पर प्रकाश डाला गया है। श्रमणियों के लिए विशेष रूप से विधि-विधान बताये गये हैं।

षष्ठम उद्देशक में निर्दोष वचनों का प्रयोग और मिथ्या वचनों का अप्रयोग, प्राणातिपात आदि के प्रायश्चित्त; कण्टक के उद्धरण, विपर्यास-जन्य दोष, प्रायश्चित्त, अपवाद का वर्णन है। श्रमण-श्रमणियों को विषम मार्ग से नहीं जाना चाहिए। जो निर्ग्रन्थी विक्षिप्त चित्त हो गई है उसके कारणों को समझकर, उसके देख-रेख की व्यवस्था और चिकित्सा आदि के विधि-निषेधों का विवेचन किया गया है। श्रमणों के लिये छह प्रकार के परिमन्थु-व्याघात माने गये हैं—(१) कौत्कुचिक, (२) मौखरिक, (३) चक्षुर्लोल, (४) तितिणिक, (५) इच्छालोम, (६) भिज्जानिदानकरण—इनका स्वरूप, दोष और अपवाद आदि पर चिन्तन किया है।

कल्पस्थितिप्रकृत में छह प्रकार की कल्पस्थितियों पर विचार किया है—(१) सामायिक कल्पस्थिति, (२) छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति, (२) निर्विशमानकल्पस्थिति, (४) निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, (५) जिनकल्पस्थिति, (६) स्थविरकल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति के आचेलक्य, ओद्देशिक आदि दस कल्प हैं। उसके अधिकारी और अनधिकारी पर भी चिन्तन किया गया है।

प्रस्तुत भाष्य में यत्र-तत्र सुभाषित बिखरे पड़े हैं, यथा—हे मानवो सदा-सर्वदा जाग्रत रहो, जाग्रत मानव की बुद्धि का विकास होता है जो जागता है वह सदा धन्य है—

'जागरह नरा णिच्चं,
जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि।
सो सुवति ण सो धण्णं,
जो जग्गति सो सया धण्णो॥

शील और लज्जा ही नारी का भूषण है। हार आदि आभूषणों से नारी का शरीर विभूषित नहीं हो सकता। उसका भूषण तो शील और लज्जा ही है। सभा में संस्कार रहित असाधुवादिनी वाणी प्रशस्त नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य में श्रमणों के आचार-विचार का तार्किक दृष्टि से बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थितियों पर भी खासा अच्छा प्रकाश पड़ता है। अनेक स्थलों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुन्दर विश्लेषण हुआ है। जैन साहित्य के इतिहास में ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य में इस ग्रन्थ रत्न का अपूर्व और अनूठा स्थान है।

पञ्चकल्पमहाभाष्य

आचार्य संघदासगणी की दूसरी कृति पञ्चकल्पमहाभाष्य है जो पञ्चकल्पनिर्युक्ति के विवेचन के रूप में है। इसमें कुल २६५५ गाथाएँ हैं। जिसमें भाष्य की २५७४ गाथाएँ हैं।

इसमें पहले जिनकल्प और स्थविरकल्प ये दो भेद किये हैं। श्रमणों के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विविध सम्पदा का वर्णन करते हुए चारित्र के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये पाँच प्रकार बताये हैं। चारित्र—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक रूप से तीन प्रकार का है। ज्ञान—क्षायिक और क्षायोपशमिक के रूप से दो प्रकार का है और दर्शन—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक रूप से तीन प्रकार का है।

चारित्र का पालन निर्ग्रन्थ करते हैं। निर्ग्रन्थ के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच भेद हैं।

कल्प शब्द पर चिन्तन करते हुए उसके निम्न अर्थ बताये हैं—सामर्थ्य, वर्णनाकाल, छेदन, करण, औपम्य और अधिवास।[1]

---

१ सामत्थे वण्णणा काले छेयणे करणे तहा।
ओवम्मे अहिवासे य कप्पसद्दो वियाहिओ॥ —पञ्चकल्पभाष्य, गाथा १५४

प्रस्तुत भाष्य में पाँच प्रकार के कल्प का संक्षिप्त वर्णन है, फिर उसके छह, सात, दस, वीस और बयालीस भेद किये गये हैं।

पहला कल्प मनुजजीवकल्प छह प्रकार का है—प्रव्राजन, मुण्डन, शिक्षण, उपस्थापन, भोग और संवसन। जाति, कुल, रूप और विनय सम्पन्न व्यक्ति ही प्रव्रज्या के योग्य है। बाल, वृद्ध, नपुंसक, जड़, क्लीव, रोगी, स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अदर्शी, दास, दुष्ट, मूढ़, अज्ञानी, जुंगित, भयभीत, पलायित, निष्कासित, गर्भिणी, बालवत्सा स्त्री—ये वीस प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या के लिए अयोग्य माने गये हैं। क्षेत्रकल्प की चर्चा करते हुए साढ़े पच्चीस देशों को आर्य कहा है जिनमें श्रमण आनन्दपूर्वक विचरण कर सकता है। उन जनपदों और राजधानियों के नाम इस प्रकार हैं[1]—

	देश	राजधानी
१	मगध	राजगृह
२	अंग	चम्पा
३	वंग	ताम्रलिप्ति
४	कलिंग	कांचनपुर
५	काशी	वाराणसी
६	कोशल	साकेत
७	कुरु	गजपुर
८	कुशावर्त	सौरिक
९	पांचाल	काम्पिल्य
१०	जांगल	अहिच्छत्रा
११	सौराष्ट्र	द्वारवती
१२	विदेह	मिथिला
१३	वत्स	कौशाम्बी
१४	शांडिल्य	नन्दिपुर
१५	मलय	भद्दिलपुर
१६	मत्स्य	वैराटपुर
१७	वरण	अच्छापुरी
१८	दशार्ण	मृत्तिकावती

१ वही भाष्य गा० ९६९-९७४

१९	चेदि	शौक्तिकावती
२०	सिंधु सौवीर	वीतिभय
२१	शूरसेन	मथुरा
२२	भंगि	पापा
२३	वट्ट	मासपुरी
२४	कुणाल	श्रावस्ती
२५	लाट	कोटिवर्ष
२५½	केकयार्ध	श्वेताम्बिका

क्षेत्रकल्प के पश्चात् कालकल्प का वर्णन करते हुए मासकल्प, पर्युषणाकल्प, वृद्धवासकल्प, पर्यायकल्प, उत्सर्ग, प्रतिक्रमण, कृतिकर्म, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, भिक्षा, भक्त, विकार, निष्क्रमण और प्रवेश पर चिन्तन किया गया है। भावकल्प में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, समिति, गुप्ति प्रभृति का विवेचन किया गया है।

द्वितीय कल्प के सात भेद हैं—स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और सम्भोगकल्प।

तृतीय कल्प के दस भेद हैं—कल्प, प्रकल्प, विकल्प, संकल्प, उपकल्प, अनुकल्प, उत्कल्प, अकल्प, दुष्कल्प और सुकल्प।

चतुर्थ कल्प के बीस भेद हैं—नामकल्प, स्थापनाकल्प, द्रव्यकल्प, क्षेत्रकल्प, कालकल्प, दर्शनकल्प, श्रुतकल्प, अध्ययनकल्प, चारित्रकल्प, आदि।

पञ्चमकल्प के द्रव्य, भाव, तदुभयकरण, विरमण, सदाधार, निर्वेश, अन्तर, नयान्तर, स्थित, अस्थित, स्थान, आदि बयालीस भेद हैं।

इस प्रकार पाँच कल्पों का वर्णन प्रस्तुत भाष्य में हुआ है। इसमें पंचकल्पलघुभाष्य का भी समावेश हो गया है। अन्त में भाष्यकार संघदासगणी के नाम का उल्लेख भी हुआ है।

निशीथभाष्य

निशीथभाष्य के रचयिता भी संघदासगणी माने जाते हैं। इस भाष्य की अनेक गाथाएँ बृहत्कल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य में प्राप्त होती हैं। भाष्य में अनेक रसप्रद सरस कथाएँ भी हैं। श्रमणाचार का विविध दृष्टियों से निरूपण हुआ है। जैसे पुलिंद आदि अनार्य अरण्य में जाते हुए श्रमणों को आर्य समझ कर मार देते थे। सार्थवाह व्यापारार्थ दूर-दूर देशों

में जाते थे। उस युग में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। भाष्य में बृहत्कल्प, नन्दीसूत्र, सिद्धसेन और गोविन्द-वाचक आदि के नामों का उल्लेख हुआ है।

व्यवहारभाष्य

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि व्यवहारभाष्य के रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। बृहत्कल्पभाष्य के समान ही इस भाष्य में भी निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों के आचार-विचार पर प्रकाश डाला है।

सर्वप्रथम पीठिका में व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गई है। व्यवहार में दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त, अध्ययन विशेष, तदर्हपर्षद आदि का विवेचन किया गया है। और विषय को स्पष्ट करने के लिए अनेक दृष्टान्त भी दिये गये हैं। इसके पश्चात् भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। आधाकर्म से सम्बन्धित, अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार के लिए पृथक-पृथक प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण इन दोनों की विशुद्धि प्रायश्चित्त से होती है। अतिक्रम के लिए मासगुरु, व्यतिक्रम के लिए मासगुरु और काललघु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु और अनाचार के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह ये सभी उत्तरगुण में हैं। इनके क्रमशः बयालीस, आठ, पच्चीस, बारह, बारह और चार भेद होते हैं। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान ये दो प्रकार हैं। जो तपोर्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो गये हैं वे निर्गत हैं और जो विद्यमान हैं वे वर्तमान हैं। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं—(१) उभयतर—जो स्वयं तप की साधना करता हुआ भी दूसरों की सेवा कर सकता है। (२) आत्मतर—जो केवल तप ही कर सकता है। (३) परतर—जो केवल सेवा ही कर सकता है। (४) अन्यतर—जो तप और सेवा दोनों में से किसी एक समय में एक का ही सेवन कर सकता है।

आलोचना आलोचनार्ह और आलोचक के बिना नहीं होती। आलोचनार्ह स्वयं आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिश्रावी इन गुणों से युक्त होता है। आलोचक भी

जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चरण-सम्पन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी और अपश्चात्तापी दस गुणों से युक्त होता है। साथ ही आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्य आदि प्रायश्चित्त देने की विधि आदि पर भी भाष्यकार ने चिन्तन किया है।

परिहारतप के वर्णन में सेवा का विश्लेषण किया गया है और सुभद्रा व मृगावती के उदाहरण भी दिये गये हैं। आरोपणा के प्रस्थापनिका स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हाडहडा ये पाँच प्रकार बताये हैं तथा इन पर विस्तार से चर्चा की है।

शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुनः गच्छ में सम्मिलित होने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न और संसक्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

श्रमणों के विहार की चर्चा करते हुए एकाकी विहार का निषेध किया है और उनके लगने वाले दोषों का निरूपण किया है।

विविध प्रकार के तपस्वी व व्याधियों से संत्रस्त श्रमण-श्रमणियों की सेवा का विधान करते हुए क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रकाश डाला है। क्षिप्तचित्त के राग, भय और अपमान ये तीन कारण हैं। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। सम्मान होने पर उसमें मद पैदा होता है। शत्रुओं को पराजित करने के कारण वह मद से उन्मत्त होकर दीप्तचित्त हो जाता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में मुख्य अन्तर यह है कि क्षिप्तचित्त प्रायः मौन रहता है और दीप्तचित्त बिना किसी प्रयोजन के भी बोलता रहता है।

भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियों को धारण करने वाले की योग्यताओं पर विचार किया है। जो ग्यारह अंगों के ज्ञाता हैं, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी हैं, बहुश्रुत हैं, बहुत आगमों के परिज्ञाता हैं, सूत्रार्थ विशारद हैं, धीर हैं, श्रुत निघर्ष हैं, महाजन हैं वे विशिष्ट व्यक्ति ही आचार्य आदि विशिष्ट पदवियों को धारण कर सकते हैं।

श्रमणों के विहार सम्बन्धी नियमोपनियमों पर विचार करते हुए कहा है कि आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीधरों को कम से कम कितने सन्तों के साथ रहना चाहिए, आदि। विविध विधि-विधानों का निरूपण

है। आचार्य, उपाध्याय के पांच अतिशय होते हैं जिनका श्रमणों को विशेष लक्ष्य रखना चाहिए—

(१) उनके बाहर जाने पर पैरों को साफ करना।
(२) उनके उच्चार-प्रस्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना।
(३) उनकी इच्छानुसार वैयावृत्य करना।
(४) उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना।
(५) उनके साथ उपाश्रय के बाहर जाना।

श्रमण किसी महिला को दीक्षा दे सकता है और दीक्षा के बाद उसे साध्वी को सौंप देना चाहिए। साध्वी किसी भी पुरुष को दीक्षा नहीं दे सकती। उसे योग्य श्रमण के पास दीक्षा के लिए प्रेषित करना चाहिए। श्रमणी एक संघ में दीक्षा ग्रहण कर दूसरे संघ में शिष्या बनना चाहे तो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। उसे जहाँ पर रहना हो वहीं पर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए किन्तु श्रमण के लिए ऐसा नियम नहीं है। तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला उपाध्याय और ५ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला आचार्य बन सकता है।

वर्षावास के लिए ऐसा स्थान श्रेष्ठ बताया है जहाँ पर अधिक कीचड़ न हो, द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक भूमि हो, रहने योग्य दो तीन बस्तियाँ हों, गोरस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हों, कोई वैद्य हो, औषधियाँ सरलता से प्राप्त होती हों, धान्य की प्रचुरता हो, राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा का पालन करता हो, पाखण्डी साधु कम रहते हों, भिक्षा सुगम हो और स्वाध्याय में किसी भी प्रकार का विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्ते अधिक हों वहाँ पर श्रमण को विहार नहीं करना चाहिए।

भाष्य में दीक्षा ग्रहण करने वाले के गुण-दोष पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि कुछ व्यक्ति अपने देश-स्वभाव से ही दोषयुक्त होते हैं। आन्ध्र में उत्पन्न व्यक्ति क्रूर होता है, महाराष्ट्र में उत्पन्न हुआ व्यक्ति वाचाल होता है और कोशल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति स्वभाव से ही दुष्ट होता है। इस प्रकार का न होना बहुत ही कम व्यक्तियों में सम्भव है।

आगे भाष्य में शयनादि के निमित्त सामग्री एकत्रित करने और पुनः लौटाने की विधि बताई गई है। आहार की मर्यादा पर प्रकाश डालते हुए कहा है—आठ कौर खाने वाला श्रमण अल्पाहारी, बारह, सोलह,

चौवीस, इकत्तीस और बत्तीस ग्रास ग्रहण करने वाला श्रमण क्रमशः अपार्धाहारी, अर्धाहारी, प्राप्तावमौदर्य, किञ्चिदवमौदर्य और प्रमाणाहारी है।

नवम उद्देशक में शय्यातर के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र, प्रभृति आगन्तुक व्यक्तियों से सम्बन्धित आहार को लेने और न लेने के सम्बन्ध में विचार कर श्रमणों की विविध प्रतिमाओं पर प्रकाश डाला है।

दशम उद्देशक में यवमध्यप्रतिमा और वज्रमध्यप्रतिमा पर विशेष-रूप से चिन्तन किया है। साथ ही पांच प्रकार के व्यवहार, बालदीक्षा की विधि, दस प्रकार की वैयावृत्य आदि विषयों की व्याख्या की गई है।

आर्य रक्षित, आर्य कालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, चिलातपुत्र, अवन्ति सुकुमाल, रोहिणेय, आर्य समुद्र, आर्य मंगु आदि की कथाएं आई हैं। प्रस्तुत भाष्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य

ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य के कर्ता का नाम विज्ञों को ज्ञात नहीं हो सका है। इस भाष्य में ३२२ गाथाएँ हैं। ओघ, पिण्ड, व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैयावृत्य, गुप्ति, तप, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखना, अभिग्रह, अनुयोग, कायोत्सर्ग, औपघातिक, उपकरण प्रभृति विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इन्हीं विषयों पर बृहद्भाष्य में विस्तार से विवेचन है।

ओघनिर्युक्ति-भाष्य

ओघनिर्युक्ति बृहद्भाष्य की एक हस्तलिखित प्रति मुनिश्री पुण्यविजयजी के संग्रह में थी जो लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद में रखी गई है। इसमें २५१७ गाथाएँ हैं। इसमें भाष्य की गाथाओं के साथ निर्युक्ति की गाथाएँ भी मिल गई हैं। निर्युक्ति की गाथाओं के विवेचन के रूप में भाष्य का निर्माण हुआ है। भाष्य में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कहीं पर भी भाष्यकार के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है।

पिण्डनिर्युक्तिभाष्य

पिण्डनिर्युक्तिभाष्य के रचयिता का नाम भी ज्ञात नहीं हो सका है। इसमें ४६ गाथाएँ हैं। 'गौण' शब्द की व्युत्पत्ति, पिण्ड का स्वरूप, लौकिक और सामयिक की तुलना, सद्भावस्थापना और असद्भाव-

स्थापना के रूप में पिण्डस्थापना के दो भेद हैं। पिण्डनिक्षेप और वातकाय, आधाकर्म का स्वरूप, अधःकर्मता हेतु विभागोद्देशक के भेद, मिश्रजात का स्वरूप, स्वस्थान के स्थान, भाजन स्वस्थान आदि भेद; सूक्ष्म प्राभृतिका के दो भेद—अपसर्पण और उत्सर्पण; विशोधि और अविशोधि की कोटियाँ; अदृश्य होने का चूर्ण और दो क्षुल्लक भिक्षुओं की कथाएँ आदि भी हैं।

उत्तराध्ययन भाष्य

उत्तराध्ययन भाष्य स्वतंत्र रूप से नहीं मिलता है। शान्ति सूरि की प्राकृत टीका में भाष्य की गाथाएँ मिलती हैं। कुल गाथाएँ ४५ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य भाष्यों की गाथाओं के समान इस भाष्य की गाथाएँ भी निर्युक्ति के साथ मिल गई हैं। प्रस्तुत भाष्य में बोटिक की उत्पत्ति; पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक आदि निर्ग्रन्थों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

दशवैकालिकभाष्य

दशवैकालिकभाष्य में कुल ६३ गाथाएँ हैं। हारिभद्रीया वृत्ति में इस बात का उल्लेख हुआ है। जिन गाथाओं को हरिभद्र ने भाष्यगत माना है वे गाथाएँ चूर्णि में भी हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार चूर्णिकार से पूर्ववर्ती हैं। इसमें हेतु, विशुद्धि, प्रत्यक्ष-परोक्ष एवं मूलगुण व उत्तरगुणों का प्रतिपादन किया गया है। अनेक प्रमाण देकर जीव की संसिद्धि की गई है।

इस प्रकार आवश्यक, जीतकल्प, वृहत्कल्प, पञ्चकल्प, निशीथ, व्यवहार, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि पर भाष्य प्राप्त होते हैं। इन पर संक्षेप में चिन्तन किया गया है। इनमें से विशेषावश्यकभाष्य, जीतकल्पभाष्य, वृहद्लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य, पिण्डनिर्युक्तिभाष्य, निशीथभाष्य ये प्रकाशित हो गये हैं। कुछ भाष्य अभी तक अप्रकाशित हैं। भाष्य साहित्य में भारतीय संस्कृति, सम्यता, धर्म और दर्शन व मनोविज्ञान का जो सहज रूप से विश्लेपण हुआ है वह वहुत ही अपूर्व और अनूठा है।

□

चूर्णि-साहित्य : एक अध्ययन

- चूर्णि और चूर्णिकार
- नन्दीचूर्णि
- अनुयोगद्वारचूर्णि
- आवश्यकचूर्णि
- दशवैकालिकचूर्णि (अगस्त्यसिंह)
- दशवैकालिकचूर्णि (जिनदास)
- उत्तराध्ययनचूर्णि
- आचारांगचूर्णि
- सूत्रकृतांगचूर्णि
- जीतकल्पचूर्णि
- निशीथविशेषचूर्णि
- दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि
- बृहत्कल्पचूर्णि
- व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) चूर्णि
- व्यवहारचूर्णि
- ओघनिर्युक्तिचूर्णि
- जीवाभिगमचूर्णि
- महानिशीथचूर्णि
- पंचकल्पचूर्णि
- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिचूर्णि

चूर्णि साहित्य : एक अध्ययन

निर्युक्ति साहित्य और भाष्य साहित्य की रचना के पश्चात् जैनाचार्यों के अन्तर्मानस में आगमों पर गद्यात्मक व्याख्या साहित्य लिखने की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्याओं की रचना की जो आज चूर्णि साहित्य के नाम से विश्रुत है। कुछ चूर्णियाँ आगमेतर साहित्य पर भी लिखी गई हैं पर वे संख्या की दृष्टि से आगमों की चूर्णियों की अपेक्षा अल्प हैं—जैसे कर्मप्रकृति, शतक आदि की चूर्णियाँ। निर्युक्ति और भाष्य के ही समान चूर्णियाँ भी सभी आगमों पर नहीं हैं। निम्न आगमों पर चूर्णियाँ लिखी गई हैं :—

१ आचारांग	२ सूत्रकृताङ्ग
३ व्याख्याप्रज्ञप्ति	४ जीवाभिगम
५ निशीथ	६ महानिशीथ
७ व्यवहार	८ दशाश्रुतस्कन्ध
९ बृहत्कल्प	१० पंचकल्प
११ ओघनिर्युक्ति	१२ जीतकल्प
१३ उत्तराध्ययन	१४ आवश्यक
१५ दशवैकालिक	१६ नन्दी
१७ अनुयोगद्वार	१८ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो चूर्णियों की रचना हुई थी किन्तु वर्तमान में दोनों पर एक-एक चूर्णि ही उपलब्ध है। अनुयोगद्वार, बृहत्कल्प और दशवैकालिक पर दो-दो चूर्णियाँ मिलती हैं।

चूर्णि-साहित्य के निर्माताओं में जिनदासगणी महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। जिनदासगणी महत्तर के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री अनुपलब्ध है। निशीथ विशेषचूर्णि के उपसंहार में चूर्णिकार का नाम जिनदास आया है और ग्रन्थ के प्रारंभ में प्रद्युम्न क्षमाश्रमण का विद्यागुरु के रूप में उल्लेख हुआ है। उत्तराध्ययनचूर्णि के अन्त में चूर्णिकार का परिचय है। उनके सद्गुरु का नाम वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपाल-

कथाओं की प्रचुरता है। यह चूर्णि अन्य चूर्णियों से विस्तृत है। ओघनियुँक्तिचूर्णि, गोविन्दनियुँक्ति, वसुदेवहिण्डि प्रभृति अनेक ग्रन्थों का उल्लेख इसमें हुआ है।

सर्वप्रथम मंगल की चर्चा करते हुए भावमंगल की दृष्टि से ज्ञान का विस्तार से निरूपण है। श्रुतज्ञान की दृष्टि से आवश्यक पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। द्रव्यावश्यक और भावावश्यक पर प्रकाश डाला है। श्रुत का प्ररूपण तीर्थंकर भगवान करते हैं। तीर्थंकर कौन होते हैं? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान महावीर का जीव मिथ्यात्व से किस प्रकार मुक्त हुआ इसकी ओर संकेत करते हुए उनके पूर्वभवों की चर्चा की गई है। साथ ही भगवान महावीर का जीव मरीचि के भव में भगवान ऋषभदेव का पौत्र था अत: भगवान ऋषभदेव के भी पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। उनका जन्म, विवाह, अपत्य का विस्तार से वर्णन कर उस समय के शिल्प, कर्म, लेख आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। सम्राट् भरत की दिग्विजय यात्रा का इतना सजीव चित्रण किया गया है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते झूमने लगता है। भरत का राज्याभिषेक, भरत व बाहुबली का युद्ध, बाहुबली को केवलज्ञान तथा ऋषभदेव के अन्य वर्णन के पश्चात् चक्रवर्ती तथा वासुदेव आदि का संक्षेप में परिचय देकर अन्य तीर्थंकरों के जीवन पर संक्षेप में चिन्तन किया है। भगवान महावीर के जीव मरीचि ने परीषहों को सहन न करने के कारण अपनी कमनीय कल्पना से नवीन मत की संस्थापना की।

भगवान महावीर का जीव अनेक भवों में परिभ्रमण करने के पश्चात् अन्त में महावीर बना। उनके जीवन से सम्बन्धित धर्मपरीक्षा, विवाह, अपत्य, दान, सम्बोध, लोकान्तिक देवों का आगमन, इन्द्र का आगमन, दीक्षामहोत्सव, उपसर्ग, इन्द्र-प्रार्थना, अभिग्रहपंचक, अच्छन्दकवृत्त, चण्डकौशिकवृत्त, गोशालकवृत्त, संगम के उपसर्ग, देवी का उपसर्ग, विहार, चन्दनबाला का प्रसंग, गोपालक के द्वारा शलाका का उपसर्ग, केवलज्ञान, समवसरण, गणधर दीक्षा, आदि तथा भगवान के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन भी साहित्यिक दृष्टि से किया गया है।

नयाधिकार में आर्य वज्रस्वामी व आर्य रक्षित का जीवन वृत्त दिया गया है। आर्य रक्षित का मातुल गोष्ठामाहिल सातवाँ निह्नव हुआ।

सातों निह्नवों का परिचय निर्युक्ति की भांति यहां भी दिया गया है और भाष्य की तरह आठवें निह्नव बोटिक का भी वर्णन किया है।

इसके पश्चात् सामायिक, उसके द्रव्य-पर्याय, नय दृष्टि से सामायिक, उसके भेद, उसका स्वामी, उसकी प्राप्ति का क्षेत्र, काल, दिशा, सामायिक करने वाला, उसकी प्राप्ति के हेतु, अपूर्व आनन्द, कामदेव का दृष्टान्त, अनुकम्पा, इन्द्रनाग, पुण्यशाल, शिवराजर्षि, गंगदत्त दशार्णभद्र, इलापुत्र, आदि के दृष्टान्त दिये गये हैं। सामायिक की स्थिति, सामायिक वालों की संख्या, सामायिक का अन्तर, सामायिक का आकर्ष, समभाव की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिए दमदत्त एवं मैतार्य का दृष्टान्त दिया है। समास, संक्षेप और अनवद्य के लिए धर्मरुचि व प्रत्याख्यान के लिए तेतलीपुत्र का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया है।

इसके पश्चात् सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति की चूर्णि है। उसमें नमस्कार महामंत्र, निक्षेप दृष्टि से स्नेह, राग व द्वेष के लिए क्रमशः अरहन्नक, धर्मरुचि तथा जमदग्नि का उदाहरण दिया गया है। अरिहन्तों व सिद्धों को नमस्कार, औत्पातिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि, कर्म, समुद्घात, योग-निरोध, सिद्धों का अपूर्व आनन्द, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार एवं उसके प्रयोजन पर प्रकाश डाला है। उसके बाद सामायिक के पाठ 'करेमि भन्ते' की व्याख्या करके छह प्रकार के करण का विस्तृत निरूपण किया है।

चतुर्विंशतिस्तव में स्तव, लोक, उद्योत, धर्म, तीर्थंकर आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। तृतीय वन्दना अध्ययन में वन्दन के योग्य श्रमण के स्वरूप का प्रतिपादन किया है और चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म, विनयकर्म को दृष्टान्त देकर समझाया गया है। अवंद्य को वन्दन करने का निषेध किया है।

चतुर्थ अध्ययन में प्रतिक्रमण की परिभाषा, प्रतिक्रमक, प्रतिक्रमण, और प्रतिक्रांतव्य इन तीन दृष्टियों से प्रतिक्रमण पर विवेचन किया है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना पर विवेचन करते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, प्रकामशय्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय, आदि में लगने वाले अतिचार, चार विकथा, चार ध्यान, पाँच क्रिया, पाँच कामगुण, पाँच महाव्रत, पाँच समिति आदि का विविध

दृष्टान्तों के द्वारा प्रतिपादन किया है। उपासक की एकादश प्रतिमाएँ, द्वादश भिक्षु प्रतिमाएँ, तेरह क्रियास्थान, चौदह भूतग्राम तथा गुणस्थान, पन्द्रह परम अधार्मिक देव, सोलह सूत्रकृताङ्ग के अध्ययन, सत्रह असंयम, अठारह अब्रह्म, उन्नीस ज्ञाताधर्मकथा के अध्ययन, बीस असमाधिस्थान, इक्कीस शबल, बाईस परीषह, तेईस सूत्रकृतांग के अध्ययन, चौबीस देव, पच्चीस भावनाएँ, छब्बीस—दशाश्रुतस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छह और व्यवहार के दस अध्ययन। सत्ताईस अनगार के गुण, अट्ठाईस प्रकार का आचारकल्प, उनतीस पापश्रुत, तीस मोहनीयस्थान, इकत्तीस सिद्धों के गुण, बत्तीस योगसंग्रह, तेतीस आशातना आदि पर चिन्तन करते हुए शिक्षा के ग्रहण और आसेवन ये दो भेद किये हैं। अभय कुमार का विस्तार से जीवन परिचय दिया है, साथ ही सम्राट् श्रेणिक, चेल्लणा, सुलसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्मनन्द, शकडाल, वररुचि, स्थूलभद्र, आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र भी दिये हैं। अज्ञातोपधानता, अलोभ, तितिक्षा, आर्जव, शुचि, सम्यग्दर्शन, समाधान, आचार, विनय, धृति, संवेग, प्रणिधि, सुविधि, संवर, आत्म-दोष, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, अप्रमाद, ध्यान, वेदना, संग, प्रायश्चित्त, आराधना, आशातना, अस्वाध्यायिक, आदि प्रतिक्रमण सम्बन्धी सभी प्रमुख विषयों पर उदाहरण सहित प्रकाश डाला है। व्रत की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करना श्रेयस्कर है किन्तु व्रत का भंग करना अनुचित है। विशुद्ध कार्य करते हुए मरना श्रेष्ठ है किन्तु शील से स्खलित होकर जीवित रहना अनुचित है।

पञ्चम अध्ययन में कायोत्सर्ग का वर्णन है। कायोत्सर्ग एक प्रकार से आध्यात्मिक व्रण चिकित्सा है। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग ये दो पद हैं। काय का नाम, स्थापना आदि बारह प्रकार के निक्षेपों से वर्णन किया है और उत्सर्ग का छह निक्षेपों से। कायोत्सर्ग के चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग ये दो भेद हैं। गमन आदि में जो दोष लगा हो उसके पाप से निवृत्त होने के लिए चेष्टाकायोत्सर्ग किया जाता है। हूण आदि से पराजित होकर जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह अभिभवकायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के प्रशस्त एवं अप्रशस्त ये दो भेद हैं और फिर उच्छ्रित आदि नौ भेद हैं। श्रुत, सिद्ध की स्तुति पर प्रकाश डाल[illegible] की विधि पर विचार किया है। अन्त में [illegible] दोष, [illegible] पर भी चिन्तन किया गया है।

षष्ठ अध्ययन में प्रत्याख्यान का विवेचन है। इसमें सम्यक्त्व के अतिचार, श्रावक के बारह व्रतों के अतिचार, दस प्रत्याख्यान, छह प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के गुण, आगार आदि पर अनेक दृष्टान्तों के साथ विवेचन किया है।

इस प्रकार आवश्यकचूर्णि जिनदासगणी महत्तर की एक महनीय कृति है। आवश्यकनिर्युक्ति में आये हुए सभी विषयों पर चूर्णि में विस्तार के साथ स्पष्टता की गई है। इसमें अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन उट्टङ्कित किये गये हैं जिनका ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

दशवैकालिक चूर्णि (अगस्त्यसिंह)

दशवैकालिक पर दो चूर्णियाँ प्राप्त हैं। एक के कर्ता अगस्त्यसिंह स्थविर हैं तो दूसरी के कर्ता जिनदासगणी महत्तर हैं।

स्थविर अगस्त्यसिंह ने अपनी वृत्ति को चूर्णि की संज्ञा प्रदान की है "चुण्णिसमासवयणेण दसकालियं परिसमत्तं।"

अगस्त्यसिंह ने एक भी महत्त्वपूर्ण शब्द नहीं छोड़ा है। सभी महत्त्वपूर्ण शब्दों पर उन्होंने व्याख्या की है। इस व्याख्या के लिए उन्होंने अनेक स्थलों पर विभाषा[1] शब्द का प्रयोग किया है। उन्हें अपनी व्याख्या के लिए 'विभाषा' शब्द का प्रयोग अधिक पसन्द है। बौद्ध साहित्य में सूत्र—मूल और विभाषा—व्याख्या के ये दो प्रकार हैं। विभाषा का मुख्य लक्षण है कि शब्दों के जो अनेक अर्थ होते हैं उन सभी अर्थों को बताकर प्रस्तुत में जो अर्थ उपयुक्त हो उसका निर्देश करना चाहिए। प्रस्तुत चूर्णि में यह पद्धति अपनाने के कारण इसे 'विभाषा' कहा गया है जो सर्वथा उचित है।

चूर्णि साहित्य की यह सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि अनेक दृष्टान्त व कथाओं के माध्यम से मूल विषय को स्पष्ट किया जाता है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में अनेक ग्रन्थों के अवतरण दिये हैं जो उनकी बहुश्रुतता को व्यक्त करते हैं।

मूल आगम साहित्य में श्रद्धा की अत्यधिक प्रमुखता थी किन्तु

---

१ विभाषा शब्द का अर्थ देखें 'शाकटायन-व्याकरण, प्रस्तावना पृ० ६६ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

निर्युक्ति साहित्य में अनुमानविद्या या तर्कविद्या को स्थान मिला। उसका विशदीकरण प्रस्तुत चूर्णि में हुआ है। उसके पश्चात् आचार्य अकलंक आदि ने इस विषय को आगे बढ़ाया।

अगस्त्यसिंह के सामने दशवैकालिक की अनेक वृत्तियाँ थीं। सम्भव है वे वृत्तियाँ या व्याख्याएँ मौखिक हों इसलिए 'उपदेश' शब्द का प्रयोग हुआ हो। 'भद्दियायरिओवएस' और "दत्तिलायरिओवएस" की उन्होंने कई बार चर्चा की है। यह सत्य है कि दशवैकालिक की वृत्तियाँ प्राचीनकाल से ही प्रारम्भ हो चुकी थीं। आचार्य अपराजित जो यापनीय थे, उन्होंने दशवैकालिक की विजयोदया नामक टीका लिखी थी।[1] पर यह टीका स्थविर अगस्त्यसिंह के समक्ष नहीं थी। अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्णि में अनेक मतभेद या व्याख्यान्तरों का भी उल्लेख किया है।[2]

ध्यान का सामान्य लक्षण "एगग्ग चिन्ता-निरोहो झाणं" उसकी व्याख्या में कहा है कि एक आलम्बन की चिन्ता करना यह छद्मस्थ का ध्यान है। योग का निरोध यह केवली का ध्यान है क्योंकि केवली को चिन्ता नहीं होती।

ज्ञानाचार का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि प्राकृत भाषा निबद्ध सूत्र का संस्कृत रूपान्तर नहीं करना चाहिए क्योंकि व्यञ्जन में विसंवाद करने पर अर्थ विसंवाद होता है।

'रात्रिभोजनविरमणव्रत' को मूलगुण माना जाय या उत्तरगुण? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि यह उत्तरगुण ही है किन्तु मूलगुण की रक्षा हेतु होने से मूलगुण के साथ कहा गया है। वस्त्रपात्रादि संयम और लज्जा के लिए रखे जाते हैं अतः वे परिग्रह नहीं हैं। मूर्च्छा ही परिग्रह है। चोलपट्टगादि का भी उल्लेख है।

धर्म की व्यावहारिकता का समर्थन करते हुए कहा है—अनन्तज्ञानी भी गुरु की उपासना अवश्य करे। (९।१।११)

'देहदुक्खं महाफलं' की व्याख्या में कहा है 'दुक्खं एवं सहिज्जमाणं

---

१ दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते ॥ —भगवती आराधना टीका विजयोदया गा० ११९५

२ देखिए—२-२६, ३-५, १६-६, २५-५, ६४-४, ७८-२६; ८१-२४, १००-२५, आदि।

मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं'। बौद्धदर्शन ने चित्त को ही नियंत्रण में लेना आवश्यक माना तो उसका निराकरण करते हुए कहा—'काय का भी नियंत्रण आवश्यक है'।

दार्शनिक विषयों की चर्चाएँ भी यत्र-तत्र हुई हैं। प्रस्तुत चूर्णि में तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, कल्पभाष्य, आदि ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है।

दशवैकालिकचूर्णि (जिनदास)

यह चूर्णि दशवैकालिकनिर्युक्ति के आधार से लिखी गई है। प्रथम अध्ययन में एकक, काल, द्रुम, धर्म आदि पदों का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। आचार्य शय्यंभव का जीवन-वृत्त भी दिया है। दस प्रकार के श्रमणधर्म, अनुमान के विविध अवयव आदि पर प्रकाश डाला है। द्वितीय अध्ययन में श्रमण के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए पूर्व, काम, पद, शीलाङ्ग-सहस्र, आदि पदों पर विचार किया है। तृतीय अध्ययन में दृढ़ धृतिक के आचार का प्रतिपादन है। उसमें महत्, क्षुल्लक, आचार—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, मिश्रकथा, अनाचीर्ण आदि का विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन में जीव, अजीव, चारित्र, यतना, उपदेश, धर्मफल आदि का परिचय दिया है। पञ्चम अध्ययन में श्रमण के उत्तरगुण—पिण्ड-स्वरूप, भक्तपानैषणा, गमनविधि, गोचरविधि, पानकविधि, परिष्ठापन-विधि, भोजनविधि आदि पर विचार किया गया है। षष्ठम अध्ययन में धर्म, अर्थ, काम, व्रतषट्क, कायषट्क, आदि का प्रतिपादन है। इसमें आचार्य का संस्कृत भाषा के व्याकरण पर प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है। सप्तम अध्ययन में भाषा सम्बन्धी विवेचना है। भाषा की शुद्धि, अशुद्धि, सत्य, मृषा, सत्यमृषा, असत्यामृषा पर प्रकाश डाला है। अष्टम अध्ययन में इन्द्रियादि प्रणिधियों पर विचार किया है। नौवें अध्ययन में लोकोपचार विनय, अर्थविनय, कामविनय, भयविनय, मोक्षविनय की व्याख्या है। दशम अध्ययन में भिक्षु के गुणों का उत्कीर्तन किया है। चूलिकाओं में रति, अरति, विहार विधि, गृहिवैयावृत्य का निषेध, अनिकेतवास प्रभृति विषयों से सम्बन्धित विवेचना है। चूर्णि में तरंगवती, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों का नाम निर्देश भी किया गया है। भाषा मुख्य रूप से प्राकृत है।

इस चूर्णि के रचयिता जिनदासगणी महत्तर हैं।

उत्तराध्ययनचूर्णि

इस चूर्णि में उत्तराध्ययननिर्युक्ति का अनुसरण किया गया है। संयोग, पुद्गलबंध, संस्थान, विनय, क्रोधनिवारण का उपाय, अनुशासन, परीषह, मरण, निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार, सात भय, ज्ञान-क्रिया आदि पर उदाहरण सहित प्रकाश डाला गया है। स्त्री परीषह के वर्णन में स्त्री के स्वभाव की चंचलता आदि दुर्गुणों पर प्रकाश डाला है।

दशवैकालिक और उत्तराध्ययनचूर्णि ये दोनों एक ही आचार्य की रचना है क्योंकि इस चूर्णि में स्वयं आचार्य ने लिखा है कि 'प्रकीर्ण तप का वर्णन दशवैकालिक चूर्णि में कर चुका हूँ।' अतः यह स्पष्ट है कि दशवैकालिकचूर्णि के पश्चात् ही उत्तराध्ययनचूर्णि की रचना की गई है।

आचारांगचूर्णि

आचारांगनिर्युक्ति में जिन विषयों पर विवेचन किया गया है उन्हीं विषयों पर चूर्णि में भी कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। अनुयोग, अंग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्वी, अप्, तेज, आदि काय, लोक, विजय, गुणस्थान, परिताप, विहार, रति, अरति, लोभ, जुगुप्सा, गोत्र, ज्ञाति, जातिस्मरण, एषणा, देशना, बन्धमोक्ष, शीत-उष्ण परीषह, तत्त्वार्थ-श्रद्धा, जीवरक्षा, अचेलकत्व, मरण-संलेखना, समनोज्ञत्व, तीन याम, तीन-वस्त्र, भगवान महावीर की दीक्षा, देवदूष्य वस्त्र, सवस्त्रता आदि मुख्य विषयों पर व्याख्या की गई है।

निर्युक्तिकार की भाँति चूर्णिकार ने भी निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अग्र, प्राणसंसक्त, पिण्डैषणा, शय्या, ईर्या, भाषा, वस्त्र, पात्र, अवग्रह सप्तक, सप्तसतक, भावना, विमुक्ति आदि विषयों की व्याख्या की गई है। श्रमणाचार की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए प्रत्येक विषय के विश्लेषण में उसी पर ध्यान रखा गया है।

प्रस्तुत चूर्णि में संस्कृत के श्लोक व प्राकृत गाथाएँ अन्य ग्रन्थों से उद्धृत की गई हैं पर उद्धरणों के स्थल का निर्देश नहीं किया गया है। यदि उद्धरणों के स्थलों का निर्देश होता तो सोने में सुगन्ध का कार्य होगा।

सूत्रकृतांगचूर्णि

यह चूर्णि भी सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति के आधार से ही लिखी गई है। इस चूर्णि की भी वही शैली है जो आचारांगचूर्णि की है। यह चूर्णि संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में लिखी गई है तथापि प्राकृत से अधिक संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है।

इस चूर्णि में मंगलचर्चा, तीर्थ की संसिद्धि, संघात, विस्रसाकरण, बन्धन आदि परिणाम, भेदादिपरिणाम, क्षेत्रादिकरण, आलोचना, परिग्रह, ममता, पञ्चमहाभूतिक, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, आत्मवाद, स्कन्धवाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, कर्तृत्ववाद, त्रिराशिवाद, लोकचिन्तन, प्रतिजुगुप्सा, वस्त्र आदि का प्रलोभन, भगवान महावीर के गुण, उनकी गुणस्तुति, कुशीलता, सुशीलता, पराक्रम निरूपण, समाधि, दान, समवसरण, वैनयिकवाद, नास्तिकमत, सांख्यमत, ईश्वरकर्तृत्व, नियतिवाद, आदि की चर्चाएँ, भिक्षु, आहार, वनस्पति व पृथ्वीकायादि भेद, स्याद्वाद, आजीवकमत, गोशालकमत, बौद्धमत, जातिवाद आदि मतों का निरसन किया गया है।

विषय-विवेचन संक्षेप में होने पर भी बहुत ही स्पष्ट है।

जीतकल्प-बृहच्चूर्णि

जीतकल्प-वृहच्चूर्णि के रचयिता सिद्धसेन सूरि माने जाते हैं। इस चूर्णि से यह भी परिज्ञात होता है कि इस पर एक दूसरी चूर्णि और भी थी।[1]

चूर्णि के प्रारम्भ में भगवान महावीर, गणधर और विशिष्ट श्रुतधर आचार्यों को नमस्कार किया गया है। उन आचार्यों के नामों में आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के नाम का भी उल्लेख हुआ है।

जीतकल्पभाष्य में जिन विषयों पर विस्तार से विवेचन है उन्हीं विषयों पर प्रस्तुत चूर्णि में संक्षेप से विचार किया गया है। इसमें आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। दस प्रकार के प्रायश्चित्त, नौ प्रकार के व्यवहार, मूलगुण, उत्तरगुण आदि पर भी विवेचन हुआ है।

चूर्णि में प्रारम्भ से अन्त तक प्राकृत भाषा का ही प्रयोग हुआ है,

---

१ अहवा वितियचुन्निकाराभिपाएण चत्तारि... —जीतकल्पचूर्णि, पृ० २३

संस्कृत भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है। विषय को स्पष्ट करने के लिए अन्य अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ उट्टङ्कित की गई हैं पर उन स्थलों का नाम निर्देश नहीं किया गया है।

निशीथविशेषचूर्णि

निशीथचूर्णि के रचयिता जिनदासगणी महत्तर हैं। इस चूर्णि को विशेषचूर्णि कहा गया है। इस चूर्णि में मूल सूत्र, निर्युक्ति व भाष्य गाथाओं का विवेचन है। इस चूर्णि की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है।

चूर्णिकार ने प्रथम अरिहन्त, सिद्ध और साधुओं को नमस्कार किया है और अर्थ प्रदाता प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को भी नमस्कार किया गया है। आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका और निशीथ इन सबका निक्षेप-पद्धति से चिन्तन किया गया है। निशीथ का अर्थ है, अप्रकाश-अंधकार। अप्रकाशित वचनों के सही निर्णय हेतु निशीथसूत्र है। लोक व्यवहार में भी निशीथ का प्रयोग रात्रि के अंधकार के लिए होता है। निशीथ के अन्य अर्थ भी दिये गये हैं। जिससे आठ प्रकार के कर्मपंक शान्त किये जायें वह निशीथ है।

प्रथम पुरुष प्रतिसेवक का वर्णन है उसके पश्चात् प्रतिसेवना और प्रतिसेवितव्य का स्वरूप बताते हुए अप्रमादप्रतिसेवना, सहसात्करण, प्रमादप्रतिसेवना, क्रोध आदि कषाय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विराधना, विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विवेचन किया गया है। आलस्य, मैथुन, निद्रा, क्षुधा और आक्रोश इन पाँचों का जितना सेवन किया जाय उतना ही वे द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ते रहते हैं।

स्त्यानर्द्धि निद्रा वह है जिसमें तीव्र दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। जिस निद्रा में चित्त स्त्यान-कठिन या जम जाय वह स्त्यानर्द्धि है। उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए चूर्णिकार ने पुद्गल, मोदक, कुम्भकार और हस्तीदन्त के उदाहरण दिये हैं।

षट्जीवनिकाय की यतना, उसमें लगने वाले दोष, अपवाद और प्रायश्चित्त का पीठिका में विवेचन किया गया है। असन, पान, वसन, वसति, हलन-चलन, शयन, भ्रमण, भाषण, गमन, आगमन आदि पर विचार किया गया है।

प्राणातिपात का विवेचन करते हुए मृषावाद को लौकिक और लोकोत्तर इन दो भागों में विभक्त किया गया है। लौकिक मृषावाद में शशक, एलाषाढ, मूलदेव, खण्डपाणा इन चार धूर्तों के आख्यान हैं। इस

धूर्ताख्यान का मूल आधार आचार्य हरिभद्र कृत धूर्ताख्यान की प्राचीन कथा है। इसके बाद लोकोत्तर मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन का वर्णन है, जो दर्पिका सम्बन्धी और कल्पिका सम्बन्धी दो भागों में विभक्त है। दर्पिका में उन विषयों में लगने वाले दोषों का वर्णन है और उन दोषों के सेवन का निषेध किया गया है। कल्पिका में उनके अपवादों का वर्णन है। मूलगुण प्रतिसेवना के पश्चात् उत्तरगुण प्रतिसेवना का वर्णन है। उसमें पिण्डविशुद्धि आदि का वर्णन है। पीठिका के उपसंहार में इस बात पर प्रकाश डाला है कि निशीथ पीठिका का सूत्रार्थ बहुश्रुत को ही देना चाहिए, अयोग्य पुरुष को नहीं।

प्रथम उद्देशक में चतुर्थ महाव्रत पर विस्तार से विश्लेषण है। इसमें पांच प्रकार की चिलिमिलिकाओं को ग्रहण करना, उनका प्रमाण, उपयोग पर प्रकाश डाला है। लाठी और उसकी उपयोगिता पर भी विचार किया है। वस्त्र फाड़ने, सीने आदि के नियमोपनियम भी बताये हैं।

द्वितीय उद्देशक में पादप्रोंच्छन के ग्रहण, सुगन्धित पदार्थों के सूंघने, कठोर भाषा का उपयोग करने तथा स्नान आदि करने का निषेध है और दाता की पूर्व व पश्चात् स्तुति का भी निषेध किया गया है। द्रव्य संस्तव ६४ प्रकार का है। उसमें जव, गोधूम, शालि आदि २४ प्रकार के धान्य; सुवर्ण, तवु, तंब, रजत, लौह, शीशक, हिरण्य, पाषाण, वेर, मणि, मौक्तिक प्रवाल, शंख, तिनिश, अगरु, चन्दन, अभिलात वस्त्र, काष्ठ, दन्त, चर्म, वाल, गंध, द्रव्य, औषध ये २४ प्रकार के रत्न; भूमि, घर, तरु ये तीन प्रकार के स्थावर; शकट आदि और मनुष्य ये दो प्रकार के द्विपद; गौ, उष्ट्री, महिषी, अज,मेष, अश्व, अश्वतर, घोटक, गर्दभ, हस्ती ये दस प्रकार के चतुष्पद और ६४ वां कुप्य उपकरण है।

शय्यातर का पिण्ड अग्राह्य है। उसे ग्रहण करने पर मास लघु का प्रायश्चित्त है। (१) सागारिक कौन होता है, (२) वह शय्यातर कब बनता है, (३) उसके पिण्ड के प्रकार, (४) अशय्यातर कब बनता है, (५) सागारिक किस संयत द्वारा परिहर्तव्य है, (६) सागारिक-पिण्ड के ग्रहण से दोष, (७) किस परिस्थिति में सागारिक पिण्ड ग्रहण किया जा सकता है। (८) यतना से ग्रहण करना, (९) एक या अनेक सागारिकों से ग्रहण करना; आदि विषयों पर चिन्तन किया गया है। सागारिक के सागारिक, शय्यातर,

अयोग्य दीक्षा का निषेध करते हुए कहा है कि अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ और दस प्रकार के नपुंसक ये अयोग्य हैं। बाल दीक्षा के तीन भेद किये हैं—(१) सात-आठ वर्ष का बालक उत्कृष्ट बाल है, (१) पाँच-छह वर्ष की आयु वाला मध्यम बाल है और (३) चार वर्ष तक की आयु वाला जघन्य बाल है। ये सभी दीक्षा के अयोग्य हैं। आठ वर्ष से अधिक आयु वाला बालक ही दीक्षा के योग्य माना गया है। वृद्ध, रोगी, उन्मत्त, मूढ़ आदि जो दीक्षा के अयोग्य हैं उनका भी विविध भेदों से वर्णन किया है। प्रसंगानुसार सोलह प्रकार के रोग, आठ प्रकार की व्याधियों का भी निरूपण है। व्याधि और रोग में यही अन्तर है कि व्याधि का नाश शीघ्र होता है किन्तु रोग का नाश लम्बे समय में होता है। बाल-मरण और पण्डितमरण पर भी विस्तार से विश्लेपण किया गया है।

बारहवें उद्देशक में त्रस प्राणी सम्बन्धी बन्धन व मुक्ति, प्रत्याख्यान, भंग आदि का वर्णन हुआ है। तेरहवें उद्देशक में स्निग्ध पृथ्वी, शिला आदि पर कायोत्सर्ग, गृहस्थ को कटुक वचन, मंत्र, लाभ व हानि; धातु का स्थान आदि बताना; वमन-विरेचन प्रतिकर्म करना, पार्श्वस्थ, कुशील की प्रशंसा व वन्दन; धात्रीपिण्ड, दूतीपिण्ड, निमित्तपिण्ड, चिकित्सापिण्ड, क्रोधादिपिण्ड का भोग करना ये सभी चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य हैं। चौदहवें उद्देशक में पात्र सम्बन्धी दोषों का निरूपण कर उससे मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

पन्द्रहवें उद्देशक में श्रमण-श्रमणियों को सचित्त आम खाने का निषेध किया है। द्रव्य आम के उस्सेतिम, संसेतिम, उवक्खड और पालिय ये चार भेद हैं और पलित आम के चार प्रकार बताये हैं। श्रमण-श्रमणियों की दृष्टि से तालप्रलम्ब के ग्रहण की विधि पर भी प्रकाश डाला है।

सोलहवें उद्देशक में श्रमण को देहविभूषा और अत्युज्ज्वल उपधिधारण का निषेध किया है। श्रमण-श्रमणियों को ऐसे स्थान पर रहना चाहिए जहाँ पर रहने से उनके ब्रह्मचर्य की विराधना न हो।

जुगुप्सित यानि घृणित कुल में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। जुगुप्सित इत्वरिक और यावत्कथिक रूप में दो प्रकार है। सूतक आदि वाले घर कुछ समय के लिए जुगुप्सित होते हैं। लुहार, कलाल, चर्मकार ये यावत्कथिक-जुगुप्सित कुल हैं।

पूर्व में मगध से लेकर पश्चिम में [illegible] पर्यन्त और दक्षिण में

कौशाम्बी से लेकर उत्तर में कुणाला पर्यन्त आर्य देश है, जहाँ पर श्रमण को विचरना चाहिए। भाष्यकार की भी यही मान्यता रही है।

सत्रहवें उद्देशक में गीत, हास्य, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि का स्वरूप बताकर श्रमण के लिए उनका आचरण करना योग्य नहीं माना गया है, और प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

अठारहवें उद्देशक में नौका सम्बन्धी दोषों पर चिन्तन किया गया है। नौका पर आरूढ़ होना, नौका खरीदना, नौका को जल से स्थल और स्थल से जल में लेना, नौका में पानी भरना या खाली करना, नौका को खेना, नाव से रस्सी बाँधना आदि के प्रायश्चित्त का वर्णन है।

उन्नीसवें उद्देशक में स्वाध्याय और अध्यापन के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। स्वाध्याय का काल, अकाल, विषय, अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से लगने वाले दोष, अयोग्य व्यक्ति को, पार्श्वस्थ व कुशील को अध्ययन कराने से लगने वाले दोष, और योग्य व्यक्ति को न पढ़ाने से लगने वाले दोषों पर प्रकाश डाला है।

बीसवें उद्देशक में मासिक आदि परिहार स्थान, प्रतिसेवन, आलोचन, प्रायश्चित्त आदि पर चिन्तन किया गया है।

चूर्णि के उपसंहार में लेखक ने अपना नाम जिनदासगणी महत्तर बताया है और चूर्णि का नाम विशेषचूर्णि लिखा है।

प्रस्तुत चूर्णि का चूर्णि साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। इसमें आचार के नियमोपनियम की सविस्तृत व्याख्या है। भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक, दार्शनिक प्राचीन सामग्री का इसमें अनूठा संग्रह है। अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं का सुन्दर संकलन है। धूर्ताख्यान, तरंगवती, मलयवती, मगधसेन, आर्य कालक, आदि की कथाएं प्रेरणात्मक हैं।

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का मूल आधार दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति है। प्रथम मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् दस अध्ययनों के अधिकारों का विवेचन किया गया है, जो सरल और सुगम है। मूल पाठ में और चूर्णि सम्मत पाठ में किञ्चित् अन्तर है। यह चूर्णि मुख्य रूप से प्राकृत भाषा में है, यत्र-तत्र संस्कृत शब्दों व वाक्यों के प्रयोग भी दिखलाई देते हैं।

टीका साहित्य : एक विवेचन

मूल आगम, निर्युक्ति और भाष्य साहित्य प्राकृत भाषा में निर्मित है। चूर्णि साहित्य में प्रधानरूप से प्राकृत भाषा है पर गौण रूप से संस्कृत भाषा का भी प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् संस्कृत-टीकाओं का युग आया। यह युग जैन साहित्य में स्वर्णिमयुग के रूप में प्रसिद्ध है। इस युग में आगमों पर तो टीकाएँ लिखी ही गईं परन्तु साथ ही साथ निर्युक्तियों, भाष्यों और टीकाओं पर टीकाएँ रची गई हैं।

निर्युक्ति साहित्य में आगमों के शब्दों की व्याख्या व व्युत्पत्ति है। भाष्य साहित्य में विस्तार से आगमों के गम्भीर भावों का विवेचन है। चूर्णि साहित्य में निगूढ़ भावों को लोककथाओं के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीका साहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाकारों ने प्राचीन निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य का अपनी टीकाओं में प्रयोग किया ही है किन्तु नये-नये हेतुओं द्वारा उन्हें और भी अधिक पुष्ट किया है। संक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार की टीकाएँ निर्मित हुई हैं। टीकाओं के लिए विविध नामों का प्रयोग आचार्यों ने किया है, यथा— टीका, वृत्ति, विवृत्ति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पण, टिप्पनक, पर्याय, स्तवक, पीठिका, अक्षरार्थ।

आगम के व्याख्यात्मक ग्रन्थों में टीकाओं का अपना महत्त्व है। सभी टीकाएँ संस्कृत भाषा में लिखी गई हैं। संस्कृत साहित्य में इनका गौरवपूर्ण स्थान है। इन टीकाओं में केवल आगमिक तत्त्वों पर विवेचन ही नहीं है अपितु अन्यान्य जैन व जैनेतर परम्पराओं का भी इसमें समुचित आकलन हुआ है। इनके अध्ययन और परिशीलन से उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। टीका साहित्य के रचयिता साहित्य, व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्हें सामाजिक परम्पराओं का भी गूढ़ ज्ञान था। साथ ही इतिहास, भूगोल, रसायनशास्त्र, शरीर विज्ञान, औषधि विज्ञान का

उन्हें अच्छा परिचय था। जंत्र-मंत्र और तंत्र के रहस्यों के भी ज्ञाता थे जिसकी स्पष्ट झांकी हमें टीका साहित्य में मिलती है।

टीका साहित्य का युग संस्कृत भाषा के उत्कर्ष का काल था। कुछ स्थलों पर तो संस्कृत-भाषा जन-भाषा के रूप में मान्य कर ली गई थी। जैनाचार्य इस क्षेत्र में कहाँ पीछे रहने वाले थे? उन्होंने अनेकानेक ग्रन्थों का संस्कृत भाषा में प्रणयन कर जो साहित्य की सेवा की वह अद्वितीय थी। उन्होंने आगमों पर ही नहीं आगमेतर ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखीं। महाकवि वाण रचित 'कादम्बरी' पर भी उनकी टीका है। जो अन्य सभी टीकाओं से सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है।

टीका साहित्य का युग संक्रान्ति काल था। जैनेतर दार्शनिक जैन धर्म के उन्मूलन का प्रयत्न कर रहे थे। शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया जाता था और जैनाचार्य उनके तर्कों का अकाट्य उत्तर देते थे। उन्होंने न्यायग्रन्थों का प्रणयन किया। आगम की टीकाओं में भी अन्य दर्शनों की टीकाओं के निरसन का सफल प्रयास किया गया।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की स्वोपज्ञवृत्ति

आगम साहित्य पर सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में टीका लिखने वाले जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। उन्होंने अपने विशेषावश्यकभाष्य पर स्वोपज्ञ-वृत्ति लिखी, पर यह वृत्ति वे अपने जीवन काल में पूर्ण न कर सके। वे छठे गणधर व्यक्त तक ही टीका लिख सके। उनकी शैली संक्षिप्त, सरल, सरस व प्रसादगुण युक्त थी। उनकी प्रस्तुत टीका उनके पश्चात् कोट्याचार्य ने पूर्ण की। इसका संकेत कोट्याचार्य ने छठे गणधरवाद के अन्त में दिया है।

जिनभद्र का भाष्य, चूर्णि और टीका के व्याख्याकार के रूप में अपूर्व योगदान रहा है। भाष्यकार के रूप में उनकी ख्याति सर्वविदित है। अनुयोगद्वार के अंगुलपद पर भी उनकी चूर्णि है। विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति में उनका टीकाकार रूप भी निखरा है।

आचार्य हरिभद्र की वृत्तियाँ

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम सर्वप्रथम आता है। ये संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड-पण्डित थे। उनका सत्ता समय वि० सं० ७५७ से ८२७ का है। प्रभावकचरित्र के अनुसार उनके दीक्षागुरु आचार्य जिनभट थे

नन्दीवृत्ति

इस वृत्ति में नन्दीचूर्णि का ही रूपान्तर किया गया है। इसमें उन्हीं विषयों पर प्रकाश डाला गया है जो नन्दीचूर्णि में हैं। टीकाकार ने केवलज्ञान और केवलदर्शन के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसके यौगपद्य के समर्थन हेतु सिद्धसेन का नाम बताया है, क्रमिकत्व के लिए जिनभद्र का और अभेद के समर्थन के लिए वृद्धाचार्यों का नाम निर्देश किया है। विज्ञों का ऐसा मन्तव्य है कि इसमें जिन सिद्धसेन का नाम आया है वे सिद्धसेन दिवाकर से पृथक् हैं, क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर तो अभेदवाद के प्रवर्तक हैं। केवलज्ञान-केवलदर्शन को युगपत् मानने की परम्परा दिगम्बरों की है।

अनुयोगद्वारवृत्ति

अनुयोगद्वारवृत्ति का निर्माण भी अनुयोगद्वारचूर्णि के आधार से हुआ है। प्रथम भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है। आवश्यक शब्द पर निक्षेप पद्धति से चिन्तन किया है। श्रुत पर निक्षेप पद्धति से विचार कर टीकाकार ने चतुर्विध श्रुत के स्वरूप को आवश्यक विवरण से समझाने का

---

१ सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोः अल्पमतेः आचार्यहरिभद्रस्य।

—आवश्यकनिर्युक्ति टीका का अन्त

सूचन किया है। स्कन्ध, उपक्रम आदि को भी निक्षेप की दृष्टि से समझाने के पश्चात् विस्तार के साथ आनुपूर्वी का प्रतिपादन किया है। आनुपूर्वी के अनुक्रम, अनुपरिपाटी, ये पर्यायवाची बताये हैं। आनुपूर्वी के पश्चात् द्विनाम से लेकर दशनाम तक का व्याख्यान किया गया है। प्रमाण पर चिन्तन करते हुए विविध अंगुलों के स्वरूप का प्रतिपादन किया है और समय से लेकर पल्योपम-सागरोपम तक का वर्णन किया गया है। भाव प्रमाण के वर्णन में प्रत्यक्ष, अनुमान औपम्य, आगम, दर्शन, चारित्र, नय और संख्या पर विचार किया है। ज्ञाननय और क्रियानय के समन्वय की उपयोगिता सिद्ध की गई है। इस वृत्ति का निर्माण नन्दीवृत्ति के पश्चात् हुआ है।

दशवैकालिकवृत्ति

दशवैकालिक वृत्ति के निर्माण का मूल आधार दशवैकालिकनिर्युक्ति है। इस वृत्ति का नाम शिष्यबोधिनीवृत्ति या बृहद्वृत्ति भी कहा गया है।

दशवैकालिक का निर्माण कैसे हुआ? इस प्रश्न के समाधान में शय्यम्भवाचार्य का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त दिया गया है। तप के वर्णन में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का निरूपण किया गया है। अनेक प्रकार के श्रोता होते हैं। उनकी दृष्टि से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण विभिन्न अवयवों की उपयोगिता, उनके दोषों की शुद्धि का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय अध्ययन की वृत्ति में श्रमण, पूर्व, काम, पद आदि शब्दों पर चिन्तन करते हुए तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच स्थावर, दस श्रमणधर्म, अठारह शीलांगसहस्र का निरूपण किया गया है।

तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत् क्षुल्लक पदों की व्याख्या है। पाँच आचार, चार कथाओं का उदाहरण सहित विवेचन है।

चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में जीव के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। पाँच महाव्रत, छठा रात्रिभोजन विरमणव्रत, श्रमणधर्म की दुर्लभता का चित्रण है। पञ्चम अध्ययन की वृत्ति में आहार विषयक विवेचन है। छठे अध्ययन की वृत्ति में व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प, गृहिभाजन, पर्यङ्क, निषद्या, स्नान और शोभा वर्जन इन अष्टादश स्थानों का निरूपण है। जिसके परिज्ञान से ही श्रमण अपने आचार का निर्दोष पालन कर सकता है। सातवें अध्ययन की व्याख्या में भाषा शुद्धि पर चिन्तन किया है। आठवें अध्ययन की व्याख्या में आचारप्रणिधि की प्रक्रिया और उसके फल पर प्रकाश डाला है। नौवें अध्ययन में विनय के विविध प्रकार और उससे होने

वाले फल का प्रतिपादन किया है। दसवें अध्ययन की वृत्ति में सुभिक्षु का स्वरूप बताया है। चूलिकाओं में भी धर्म के रतिजनक, अरतिजनक कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत वृत्ति में अनेक प्राकृत कथानक व प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के उद्धरण भी आये हैं। दार्शनिक चिन्तन भी यत्र-तत्र मुखरित हुआ है।

प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या

प्रस्तुत वृत्ति प्रज्ञापनासूत्र के पदों पर है। यह वृत्ति संक्षिप्त, सारपूर्ण और सरल है। यत्र-तत्र संस्कृत और प्राकृत भाषा के उद्धरणों का भी प्रयोग किया गया है। प्रथम मंगल का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और उसके विशेष विवरण के लिए आवश्यक टीका को देखने का निर्देश किया गया है। प्रसंगानुसार भव्य और अभव्य का स्वरूप भी बताया है।

प्रज्ञापना का विषय जीवप्रज्ञापना और अजीवप्रज्ञापना का वर्णन कर एकेन्द्रियादि जीवों का विस्तार से वर्णन किया है। द्वितीय पद की व्याख्या में पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय आदि स्थानों का वर्णन है। तृतीय पद की व्याख्या में काया आदि के अल्पबहुत्व, वेद, लेश्या, इन्द्रियों की दृष्टि से जीव विचार, लोक की दृष्टि से अल्प-बहुत्व, आयु के बंध की दृष्टि से, पुद्गल की दृष्टि से, द्रव्य की दृष्टि से, अवगाढत्व की दृष्टि से अल्पबहुत्व का वर्णन है। चतुर्थ पद में नारकीय जीवों की स्थिति का वर्णन है। पञ्चम पद में नारक-पर्याय, अवगाह षट्स्थानक, कर्मस्थिति, जीवपर्याय पर विचार किया गया है। छठे और सातवें पद में नारक के विरह काल का वर्णन है। आठवें पद में संज्ञाओं का विश्लेषण है। संज्ञा का अर्थ आभोग या मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान की दृष्टि से संज्ञा का महत्त्व विशेष रूप से है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि हम चिन्तन करें तो संज्ञा को ज्ञान और संवेदन में एवं क्रिया को अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति में समाविष्ट कर सकते हैं। ओघसंज्ञा को दर्शनोपयोग और लोकसंज्ञा को ज्ञानोपयोग कहा जा सकता है। नवम पद की व्याख्या में विविध योनियों पर चिन्तन किया है। दशम पद में रत्नप्रभा प्रभृति पृथ्वियों का चरम और अचरम की दृष्टि से विवेचन है। ग्यारहवें पद में भाषा के स्वरूप पर विचार व्यक्त किया गया है। बारहवें पद की व्याख्या में औदारिक आदि शरीर के स्वरूप पर सामान्य विवेचन है। तेरहवें पद में जीव-अजीव के अनेकविध परिणामों पर चिन्तन

है। गति, इन्द्रिय, कपाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वेद ये जीव के परिणाम हैं।

अगले पदों की व्याख्या में कपाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, अन्तक्रिया, अवगाहना, संस्थान आदि, क्रियाएँ, कर्मप्रकृति, कर्मबंध, आहार परिणाम, उपयोग, पश्यता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रवीचार, वेदना, समुद्घात आदि पर विवेचन किया गया है।

आवश्यकवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति आवश्यकनिर्युक्ति पर की गई है। किन्तु आवश्यकचूर्णि के पदों का इसमें अनुसरण न करके सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से विपय का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत वृत्ति को देखकर विज्ञों ने यह अनुमान किया है कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकसूत्र पर दो वृत्तियाँ लिखी थीं। वर्तमान में जो टीका उपलब्ध नहीं है वह टीका उपलब्ध टीका से बड़ी थी क्योंकि आचार्य ने स्वयं लिखा है 'व्यासार्थस्तु विशेपविवरणादवगन्तव्य इति।' अन्वेपणा करने पर भी वह टीका अभी तक मिल नहीं सकी है।

वृत्ति में ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आभिनिबोधिक ज्ञान का छह दृष्टियों से विवेचन किया है। श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान का भी भेद आदि की दृष्टि से विवेचन किया गया है।

सामायिक आदि के २३ द्वारों का विवेचन निर्युक्ति के अनुसार किया गया है। सामायिक के निर्गम-द्वार में कुलकरों की उत्पत्ति और उनके पूर्वभवों के सम्बन्ध में भी सूचन किया गया है। भगवान ऋपभ के पूर्वभव, उनके संवत्सर के पश्चात् पारणे का कथानक देकर विशेप जिज्ञासुओं को वसुदेवहिंडि देखने का निर्देश किया है।

अरिहन्त प्रत्यक्षरूप से सामायिक के अर्थ की अनुभूति करते हैं। उनकी अभिव्यक्ति को सुनकर गणधरों की समस्त शंकाएँ नप्ट हो जाती हैं। उन्हें उनकी सर्वज्ञता में पूर्ण विश्वास हो जाता है।

निर्युक्ति और चूर्णि में जिन विपयों का संक्षेप में संकेत किया गया है उन्हीं का इसमें अत्यधिक विस्तार किया गया है। ध्यान के प्रसंग में ध्यान शतक की समस्त गाथाओं पर विवेचन किया है। परिस्थापना विधि पर प्रकाश डालते हुए सम्पूर्ण परिस्थापना निर्युक्ति उद्धृत की गई है।

प्रस्तुत वृत्ति में प्राकृत भापा में दृप्टान्त भी विपय को स्पप्ट करने के लिए दिये गये हैं और इस वृत्ति का नाम शिप्यहिता है। इसका ग्रन्थमान

२२००० श्लोक प्रमाण है। लेखक ने अन्त में अपना संक्षेप में परिचय भी दिया है।

कोट्याचार्य का विवरण

कोट्याचार्य ने आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अपूर्ण स्वोपज्ञ भाष्य को पूर्ण किया और विशेषावश्यकभाष्य पर एक नवीन वृत्ति भी लिखी है पर उन्होंने वृत्ति में आचार्य हरिभद्र का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि ये हरिभद्र के समकालीन या पूर्ववर्ती होंगे। कोट्याचार्य ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का श्रद्धास्निग्ध स्मरण किया है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति में कोट्याचार्य का प्राचीन टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है। प्रभावकचरित्रकार ने आचार्य शीलांक और कोट्याचार्य को एक माना है परन्तु शीलांक और कोट्याचार्य दोनों का समय एक नहीं है। कोट्याचार्य का समय विक्रम की आठवीं शती है तो शीलांक का समय विक्रम की नौवीं-दसवीं शती है अतः वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

कोट्याचार्य का प्रस्तुत विशेषावश्यकभाष्य पर जो विवरण है वह न अति संक्षिप्त है और न अति विस्तृत ही है। विवरण में जो कथायें उट्टङ्कित की हैं वे प्राकृत भाषा में हैं। विवरण का ग्रन्थमान १३७०० श्लोक प्रमाण है।

आचार्य गन्धहस्ती का विवरण

आचार्य शीलांक ने अपने आचारांग विवरण में लिखा है कि 'आचार्य गंधहस्ती ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा पर विवरण लिखा था जो अत्यन्त क्लिष्ट था।' वर्तमान में वह अनुपलब्ध है।[1] तत्त्वार्थभाष्य पर वृहद्वृत्ति लिखने वाले सिद्धसेन जिनका अपर नाम गंधहस्ती था—वे और आचारांग के विवरणकार सिद्धसेन ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इनका समय विक्रम की सातवीं और नौवीं शती के मध्य का है। ये आगम के मर्मज्ञ विद्वान थे। आगम विरुद्ध मान्यताओं के खण्डन करने में ये अतिनिपुण थे। अतः इन्हें गंधहस्ती कहा गया हो। शस्त्रपरिज्ञा-विवरण अनुपलब्ध होने से उस सम्बन्ध में कुछ भी लिखना संभव नहीं है।

---

१ निर्वृतिकुलीन श्री शीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति। —आचारांगटीका प्र० श्रु०स्क० का अन्त

आचार्य शीलांक की वृत्तियाँ

आचार्य शीलाङ्क का विशेष परिचय अनुपलब्ध है। उनका अपर नाम शीलाचार्य व तत्त्वादित्य भी था।[1] प्रभावकचरित्र के अनुसार उन्होंने नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थीं किन्तु इस समय आचारांग और सूत्रकृतांग, इन दो आगमों पर ही टीकाएँ संप्राप्त होती हैं। शीलांक का समय विक्रम की नौवीं-दसवीं शताब्दी माना गया है। उनका कुल निर्वृत्ति था।

आचारांगवृत्ति

यह वृत्ति मूलपाठ और उसकी निर्युक्ति पर की गई है। इसमें प्रत्येक विषय की विस्तार से व्याख्या है। प्रारम्भ में आचार्य ने यह बताया है कि 'गन्धहस्ती कृत शस्त्र-परिज्ञा-विवरण कठिनतर है अतः मैं सुगम विवरण लिखूंगा'। भाषा, शैली, सामग्री सभी दृष्टि से विवरण सुबोध लिखने का संकल्प किया गया है। छठे अध्ययन के अन्त में यह बताया है कि सातवें महा-परिज्ञा अध्ययन का व्यवच्छेद हो गया है। विमोक्ष नाम के अष्टम अध्ययन के षष्ठ उद्देशक की वृत्ति में ग्राम, नगर आदि का विवरण दिया गया है। विवरण कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। टीका का शब्द-शरीर जितना भी व्याख्या साहित्य है उसमें सबसे बड़ा है। प्रस्तुत प्रथम श्रुतस्कन्ध की वृत्ति गुप्त सं ७७२ भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन गम्भूता में पूर्ण हुई।[2]

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की व्याख्या करते हुए अग्रश्रुतस्कन्ध यह नाम क्यों रखा गया है इस प्रश्न पर चिन्तन किया गया है।

सूत्रकृतांगवृत्ति

आचार्य शीलाङ्क ने सूत्रकृताङ्ग पर भी वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति मूल और निर्युक्ति पर है। इसमें दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता है। स्वमत और परमत की मान्यताओं का निरूपण करके स्वमत की महत्ता का प्रतिपादन

---

१ ब्रह्मचर्याख्यश्रुतस्कन्धस्य निर्वृतिकुलीनशीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरि-साधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्ता। —आचारांगवृत्ति पत्र २८७

२ द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम्।
संवत्सरेषु मासि च, भाद्रपदे शुक्लपञ्चम्याम्॥
शीलाचार्येणकृता गम्भूतायां स्थितेन टीकैषा।
सम्यगुपयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरार्यैः॥

—आचारांगवृत्ति पत्र २८७

किया गया है। वृत्ति में यत्र-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए अन्य श्लोक व गाथाओं का भी उपयोग किया है किन्तु उसके रचयिता का कहीं पर भी नाम निर्देश नहीं किया है।

इस वृत्ति के लेखन के समय आचार्य शीलांक को वाहरिगणी का मधुर सहयोग संप्राप्त हुआ जिसका वृत्तिकार ने निर्देश किया है। प्रस्तुत टीका का ग्रन्थमान १२८५० श्लोक प्रमाण है।

वादिवेताल शान्तिसूरि कृत वृत्ति

शान्तिसूरि एक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उनका जन्म राधनपुर के सन्निकट उण—उन्नतायु गाँव में हुआ था। गृहस्थाश्रम में इनका नाम भीम था। इन्होंने विजयसिंह सूरि जो थारापद गच्छीय थे उनके पास दीक्षा ग्रहण की। पाटण के राजा भीमराव की सभा में ये कवि तथा वादिचक्रवर्ती के रूप में विश्रुत थे। महाकवि धनपाल के अत्याग्रह पर महाराजा भोज की सभा में भी गये थे और वहाँ पर ८४ वादियों को पराजित किया था जिससे राजा भोज ने उन्हें 'वादिवेताल' की उपाधि से समलंकृत किया। उन्होंने महाकवि धनपाल की तिलकमंजरी का संशोधन किया था, अन्त में विक्रम संवत् १०९६ में २५ दिन के अनशन के पश्चात् समाधिपूर्वक गिरनार पर स्वर्गस्थ हुए।

शान्तिसूरि ने तिलकमंजरी पर एक टिप्पण लिखा था। जीवविचार प्रकरण, चैत्य वन्दन महाभाष्य और उत्तराध्ययनवृत्ति इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मानी जाती हैं।

उत्तराध्ययन की टीका का नाम 'शिष्यहितावृत्ति' माना जाता है। इसका अपर नाम 'पाइअटीका' भी है क्योंकि इस टीका में प्राकृत की कथाओं व उद्धरणों की अत्यधिक बहुलता है। टीका मूल सूत्र व निर्युक्ति इन दोनों पर है। टीका भाषा व शैली की दृष्टि से मधुर व सरस है। विषय की पुष्टि के लिए भाष्यगाथाएँ भी प्रयुक्त हुई हैं। पाठान्तर भी दिये गये हैं।

प्रथम अध्ययन की व्याख्या में नय का स्वरूप बताया है। नय की संख्या पर चिन्तन करते हुए कहा है कि पूर्वविदों ने सकलनयसंग्राही सात-सौ नयों का विधान किया है। उस समय 'सप्तशतारनयचक्र' विद्यमान था। तत्संग्राही विधि आदि का प्ररूपण करने वाला बारह प्रकार के नयों का 'द्वादशारनयचक्र' संप्रति भी उपलब्ध है।

द्वितीय अध्ययन में वैशेपिक दर्शनकार कणाद ने ईश्वर की जो कल्पना की है और वेदों को अपौरुपेय कहा है उस कल्पना को असंगत बताकर उसका तार्किक दृष्टि से निराकरण किया है। अचेलक परीपह का विवेचन करते हुए कहा—वस्त्र धर्म-साधना में एकान्त रूप से बाधक नहीं है। धर्म का वास्तविक बाधक तत्त्व कपाय है। कपाययुक्त धारण किया गया वस्त्र बाधक है। जो धार्मिक साधना के लिए वस्त्र धारण करता है वह साधक है। जैसे पात्र आदि।

चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में जीवकरण पर विचार करते हुए जीवभावकरण के श्रुतकरण और नोश्रुतकरण ये दो भेद हैं। पुन: श्रुतकरण के बद्ध और अबद्ध ये दो भेद हैं। बद्ध के निशीथ और अनिशीथ ये दो भेद हैं। उनके भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये गये हैं। निशीथ आदि लोकोत्तर निशीथ है और बृहदारण्यक आदि लौकिक निशीथ है। आचारांग आदि लोकोत्तर अनिशीथश्रुत हैं। पुराण आदि लौकिक अनिशीथ श्रुत हैं। लौकिक और लोकोत्तर भेद से अबद्धश्रुत के भी दो प्रकार हैं। अबद्धश्रुत के लिये कई कथाएं भी दी गई हैं।

प्रस्तुत टीका में विशेपावश्यकभाष्य, उत्तराध्ययनचूर्णि, आवश्यक चूर्णि, सप्तशतारनयचक्र, निशीथ, बृहदारण्यक, उत्तराध्ययनभाष्य, स्त्रीनिर्वाण सूत्र, आदि ग्रन्थों का निर्देश है। साथ ही जिनभद्र, भर्तृहरि, वाचक सिद्धसेन, वाचक अश्वसेन, वात्स्यायन, शिवशर्मन्, हारिल वाचक, गंधहस्तिन्, जिनेन्द्रबुद्धि आदि व्यक्तियों के नाम भी टीका में आये हैं।

द्रोणाचार्यकृत वृत्ति

द्रोणाचार्य के सम्बन्ध में विशेप जानकारी प्राप्त नहीं होती है। वे पाटण जैन संघ के प्रमुख थे। उन्होंने नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव सूरि की टीकाओं का संशोधन किया था। उनका समय विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शती है।

उन्होंने ओघनिर्युक्ति व लघुभाष्य पर वृत्ति लिखी है। उसमें भाषा की सरलता और शैली की मधुरता का मधुर संगम है। मूल पदों के शब्दार्थ के साथ, उन सभी विपयों पर संक्षेप में विवेचन भी किया गया है। प्राकृत और संस्कृत भाषा के उद्धरणों का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है।

प्रथम पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। सामायिक का वर्णन करते हुए उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोगद्वार हैं। उसमें

निर्युक्त्यनुगम और सूत्रानुगम ये दो भेद अनुगम के किये हैं। निक्षेप, उपोद्घात और सूत्रस्पर्श ये तीन निर्युक्त्यनुगम के भेद हैं। उद्देश, निर्देश आदि छब्बीस प्रकार उपोद्घात निर्युक्त्यनुगम के किये गये हैं। उनमें से काल के, नाम, स्थापना, द्रव्य, अद्धा, यथायुष्क, उपक्रम, देश, काल, प्रमाण, वर्ण, भाव आदि भेद हैं। इनमें से उपक्रमकाल के सामाचारी और यथायुष्क ये दो प्रकार हैं। सामाचारी-उपक्रमकाल के ओघ, दशधा और पदविभाग ये तीन प्रकार हैं। जो ओघसामाचारी है उसी का निरूपण ओघनिर्युक्ति में भी किया गया है।

आचार्य अभयदेव और उनकी वृत्तियाँ

नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेव एक महान प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। प्रभावकचरित्र के अनुसार इनकी जन्मस्थली धारा नगरी है। वर्ण की दृष्टि से ये वैश्य थे। पिता का नाम महीधर और माता का नाम धनदेवी था। ये जिनेश्वर सूरि के शिष्य बने। वि० सं० ११२० में इन्होंने सर्वप्रथम स्थानाङ्गसूत्र पर वृत्ति लिखी और वि० सं० ११२८ में अन्तिम रचना भगवतीसूत्र की वृत्ति है जो उन्होंने अनहिल पाटण में पूर्ण की। इस प्रकार उनका वृत्ति काल वि० सं० ११२० से ११२८ है।

प्रस्तुत अवधि में आचार्य अभयदेव मुख्य रूप से पाटण में रहे हैं। वि० सं० ११२४ में धोलका ग्राम में उन्होंने आचार्य हरिभद्र के पंचाशक ग्रन्थ पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी। इससे यह सिद्ध होता है कि वे पाटण को छोड़कर सन्निकट के क्षेत्रों में भी विचरण करते रहे थे।

टीकाओं के निर्माण में चैत्यवासियों के नेता द्रोणाचार्य का उन्हें गहरा सहयोग मिला था जिसका उन्होंने अपनी वृत्तियों में उल्लेख भी किया है। द्रोणाचार्य ने अभयदेव की वृत्तियों को आदि से अन्त तक पढ़ा और उनका संशोधन कर अपने विराट हृदय का परिचय दिया। यह सत्य तथ्य है कि द्रोणाचार्य का सहयोग यदि अभयदेव को प्राप्त न होता तो वे उस विराट् कार्य को संभवतः इतनी शीघ्रता से सम्पादित नहीं कर सकते थे।

अभयदेव के उर्जस्वित व्यक्तित्व का वास्तविक परिचय हमें उनकी कृतियों से प्राप्त होता है। उनमें उनके विचारों का मूर्त रूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अपनी टीकाओं में विन्दु में सिन्धु भरने का प्रयास किया है। उनकी पांडित्यपूर्ण विवेचना शक्ति सचमुच ही प्रेक्षणीय है। उन्होंने आगम रहस्यों को जिस सरलता व सुगमता से अभिव्यक्त किया है

वह उनके अत्यधिक उच्च कोटि के सैद्धान्तिक ज्ञान का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

आचार्य अभयदेव के सामने वृत्ति लिखते समय अनेक कठिनाइयाँ थीं जिनकी चर्चा उन्होंने स्थानाङ्गवृत्ति की प्रशस्ति में की है।[1] वे ये थीं—

(१) सत् सम्प्रदाय का अभाव—अर्थबोध की सम्यक् गुरु परम्परा उपलब्ध नहीं है।

(२) सत्तऊह—अर्थ की आलोचनात्मक स्थिति प्राप्त नहीं है।

(३) आगम की अनेक वाचनाएँ अर्थात् अध्यापन पद्धतियाँ हैं।

(४) जो पुस्तकें उपलब्ध हैं वे अशुद्ध हैं।

(५) कृतियाँ सूत्रात्मक होने के कारण अत्यधिक गंभीर हैं।

(६) अर्थ विषयक विविध भेद हैं।

इन सारी कठिनाइयों के बावजूद भी उन्होंने अपना प्रयास नहीं छोड़ा और जमकर टीकाएँ लिखीं।

प्रभावकचरित्रकार ने अभयदेव के स्वर्गवास का समय नहीं दिया है। उन्होंने इतना ही लिखा है कि वे पाटन में कर्णराज के राज्य में स्वर्गस्थ हुए। पट्टावलियों के अध्ययन से यह परिज्ञात होता है कि अभयदेव के स्वर्गवास का समय वि० सं० ११३५ और दूसरे अभिमत के अनुसार वि० सं० ११३९ हैं। पट्टावलियों में पाटन के स्थान पर कपडवंज का उल्लेख है।

स्थानाङ्गवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति मूलसूत्रों पर है, जो शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसमें सूत्र से सम्बन्धित प्रत्येक विषय पर गहराई से विवेचन भी हुआ है। विवेचन में दार्शनिक दृष्टि यत्र-तत्र स्पष्ट हुई है। प्रारंभ में श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है। मंगल पर चिन्तन करने के पश्चात् "एगे आया" पर आत्मा की एकता-अनेकता की दृष्टि से अनुचिंतन किया गया है। आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विशेषावश्यक भाष्य की गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं। अनुमान से आत्मा की

---

१ सत्सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥१॥
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥

—स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति १-२

सिद्धि करते हुए लिखा है—प्रस्तुत शरीर का कर्ता कोई न कोई अवश्य ही होना चाहिए क्योंकि यह शरीर भोग्य है। जो भोग्य होता है उसका अवश्य ही कोई न कोई कर्ता होता है। जैसे-भोजन का निर्माता रसोइया है। जिसका कोई कर्ता नहीं वह भोग्य भी नहीं हो सकता जैसे—'आकाश कुसुम'। प्रस्तुत शरीर का कर्ता आत्मा है। यदि कोई यह तर्क करे कि रसोइये के समान आत्मा की भी मूर्तता सिद्ध होती है तो ऐसी स्थिति में प्रस्तुत हेतु साध्य विरुद्ध हो जाता है जो उचित नहीं। संसारी आत्मा कथञ्चित् मूर्त भी है। यत्र-तत्र वृत्ति में निक्षेप पद्धति का भी उपयोग हुआ है, जो निर्युक्तियों और भाष्यों का सहज स्मरण कराती है। विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त दृष्टान्तों का भी उपयोग किया गया है। वृत्ति का ग्रन्थमान १४२५० श्लोक प्रमाण है।

समवायाङ्गवृत्ति

स्थानाङ्ग की भाँति आचार्य ने समवायाङ्ग पर भी वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति न बहुत संक्षिप्त है और न बहुत विस्तृत ही। प्रारम्भ में श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है और उन्होंने विज्ञों से यह अभ्यर्थना की है वे परम्परागत अर्थ के अभाव में अथवा मेरी अज्ञान वृत्ति के कारण वृत्ति में यदि विपरीत प्ररूपणा हुई हो तो उसे अन्वेषणा करने का कष्ट करें।[१]

वृत्तिकार ने 'समवाय' के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए कहा कि समवाय में तीन पद हैं—'सम', 'अव' और 'आय'। सम का अर्थ सम्यक्, अव् का अर्थ 'आधिक्य' और 'आय' का अर्थ परिच्छेद है। समवाय वह है जिसमें जीव, अजीव आदि नाना पदार्थों का विस्तार के साथ सम्यक् विवेचन है। अथवा समवाय वह है जिसमें आत्मा आदि विविध प्रकार के भावों का अभिधेय रूप से सम्मिलन है। अथवा समवाय वह है जो प्रवचन पुरुष का अङ्ग रूप है।[२]

---

१ श्री वर्धमानमानम्य समवायांगवृत्तिका।
विधीयतेऽन्यशास्त्राणां, प्रायः समुपजीवनात् ॥१॥
दुःसम्प्रदायादसदूहनाद्वा, भणिष्यते यद्वितथं मयेह।
तद्धीधनैर्मामनुकम्पयद्भिः, शोध्यं मतार्थक्षतिरस्तु मैव ॥२॥
—समवायांगवृत्ति १-२,

२ समवायांगवृत्ति, पृ० १२०

वृत्ति में प्रज्ञापना का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। एक स्थान पर गंधहस्ती के भाष्य का भी उल्लेख है। यह वृत्ति विक्रम सं० ११२० में अणहिल पाटण में पूर्ण हुई। इसका श्लोक प्रमाण ३५७५ है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति

व्याख्याप्रज्ञप्ति की प्रस्तुत वृत्ति मूलानुसार ही है। यह संक्षिप्त व शब्दार्थ प्रधान है। सर्वप्रथम जिनेश्वरदेव को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् भगवान महावीर, सुधर्मा, अनुयोग, वृद्धजन एवं सर्वज्ञ प्रवचन को नमस्कार कर प्राचीन टीका-चूर्णि आदि के सहयोग से इस पर विवेचन लिखने का निश्चय किया गया है। वृत्तिकार ने व्याख्याप्रज्ञप्ति के विविध दृष्टियों से दस अर्थ बताये हैं। जो उनकी प्रतिभा का स्पष्ट परिचायक है। इसी प्रकार व्याख्या में यत्र-तत्र अर्थ वैविध्य दृष्टिगोचर होता है तथा उद्धरण उपलब्ध होते हैं। पाठान्तर एवं व्याख्या-भेदों की भी विविधता का प्रतिपादन किया है। विज्ञों का ऐसा मानना है कि प्राचीन टीका का जो उल्लेख किया है वह टीका आचार्य शीलाङ्क की होनी चाहिए जो आज अनुपलब्ध है। आचार्य ने कहीं पर भी उस प्राचीन टीकाकार के नाम का निर्देश नहीं किया है। प्रस्तुत वृत्ति के उपसंहार में स्वयं आचार्य अभयदेव ने अपनी गुरु-परम्परा का संक्षेप में परिचय दिया। इस वृत्ति का श्लोक प्रमाण १८६१६ है और यह अणहिल पाटण में वि० सं० ११२८ में पूर्ण हुई है।

ज्ञाताधर्मकथावृत्ति—

यह वृत्ति भी मूल सूत्र को स्पर्श कर लिखी गई है। इस वृत्ति में शब्दार्थ की प्रधानता है। प्रारंभ में श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार है और इसके पश्चात् चम्पा नगरी का परिचय देकर पूर्णभद्र चैत्य का परिचय दिया गया है। श्रेणिक सम्राट के पुत्र कोणिक का परिचय देकर गणधर सुधर्मा का परिचय दिया गया है। ज्ञाताधर्मकथा दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम 'ज्ञात' है जिसका अर्थ है उदाहरण। इसमें आचार आदि की शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से कथाओं के रूप में विविध उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का नाम 'धर्मकथा' है। उसमें धर्म-प्रधान कथाओं को प्रधानता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १९ अध्ययनों के कठिन शब्दों का अर्थ स्पष्ट करके प्रत्येक अध्ययन के अन्त में होने वाले विशेष अर्थ को प्रकट किया गया है। प्रथम अध्ययन का सार बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—'अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले शिष्य को सही मार्ग पर लाने हेतु

सिद्धि करते हुए लिखा है—प्रस्तुत शरीर का कर्ता कोई न कोई अवश्य ही होना चाहिए क्योंकि यह शरीर भोग्य है। जो भोग्य होता है उसका अवश्य ही कोई न कोई कर्ता होता है। जैसे–भोजन का निर्माता रसोइया है। जिसका कोई कर्ता नहीं वह भोग्य भी नहीं हो सकता जैसे—'आकाश कुसुम'। प्रस्तुत शरीर का कर्ता आत्मा है। यदि कोई यह तर्क करे कि रसोइये के समान आत्मा की भी मूर्तता सिद्ध होती है तो ऐसी स्थिति में प्रस्तुत हेतु साध्य विरुद्ध हो जाता है जो उचित नहीं। संसारी आत्मा कथञ्चित् मूर्त भी है। यत्र-तत्र वृत्ति में निक्षेप पद्धति का भी उपयोग हुआ है, जो निर्युक्तियों और भाष्यों का सहज स्मरण कराती है। विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त दृष्टान्तों का भी उपयोग किया गया है। वृत्ति का ग्रन्थमान १४२५० श्लोक प्रमाण है।

समवायाङ्गवृत्ति

स्थानाङ्ग की भाँति आचार्य ने समवायाङ्ग पर भी वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति न बहुत संक्षिप्त है और न बहुत विस्तृत ही। प्रारम्भ में श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है और उन्होंने विज्ञों से यह अभ्यर्थना की है वे परम्परागत अर्थ के अभाव में अथवा मेरी अज्ञान वृत्ति के कारण वृत्ति में यदि विपरीत प्ररूपणा हुई हो तो उसे अन्वेषणा करने का कष्ट करें।[1]

वृत्तिकार ने 'समवाय' के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए कहा कि समवाय में तीन पद हैं—'सम', 'अव' और 'आय'। सम का अर्थ सम्यक्, अव् का अर्थ 'आधिक्य' और 'आय' का अर्थ परिच्छेद है। समवाय वह है जिसमें जीव, अजीव आदि नाना पदार्थों का विस्तार के साथ सम्यग् विवेचन है। अथवा समवाय वह है जिसमें आत्मा आदि विविध प्रकार के भावों का अभिधेय रूप से सम्मिलन है। अथवा समवाय वह है जो प्रवचन पुरुष का अङ्ग रूप है।[2]

---

१ श्री वर्धमानमानम्य समवायांगवृत्तिका।
विधीयतेऽन्यशास्त्राणां, प्रायः समुपजीवनात् ॥१॥
दुःसम्प्रदायादसदूहनाद्वा, भणिष्यते यद्वितथं मयेह।
तद्धीधनैर्मामनुकम्पयद्भिः, शोध्यं मतार्थक्षतिरस्तु मैव ॥२॥
—समवायांगवृत्ति १-२,

२ समवायांगवृत्ति, पृ० १३०

वृत्ति में प्रज्ञापना का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। एक स्थान पर गंधहस्ती के भाष्य का भी उल्लेख है। यह वृत्ति विक्रम सं० ११२० में अणहिल पाटण में पूर्ण हुई। इसका श्लोक प्रमाण ३५७५ है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति

व्याख्याप्रज्ञप्ति की प्रस्तुत वृत्ति मूलानुसार ही है। यह संक्षिप्त व शब्दार्थ प्रधान है। सर्वप्रथम जिनेश्वरदेव को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् भगवान महावीर, सुधर्मा, अनुयोग, वृद्धजन एवं सर्वज्ञ प्रवचन को नमस्कार कर प्राचीन टीका-चूर्णि आदि के सहयोग से इस पर विवेचन लिखने का निश्चय किया गया है। वृत्तिकार ने व्याख्याप्रज्ञप्ति के विविध दृष्टियों से दस अर्थ बताये हैं। जो उनकी प्रतिभा का स्पष्ट परिचायक है। इसी प्रकार व्याख्या में यत्र-तत्र अर्थ वैविध्य दृष्टिगोचर होता है तथा उद्धरण उपलब्ध होते हैं। पाठान्तर एवं व्याख्या-भेदों की भी विविधता का प्रतिपादन किया है। विज्ञों का ऐसा मानना है कि प्राचीन टीका का जो उल्लेख किया है वह टीका आचार्य शीलाङ्क की होनी चाहिए जो आज अनुपलब्ध है। आचार्य ने कहीं पर भी उस प्राचीन टीकाकार के नाम का निर्देश नहीं किया है। प्रस्तुत वृत्ति के उपसंहार में स्वयं आचार्य अभयदेव ने अपनी गुरु-परम्परा का संक्षेप में परिचय दिया। इस वृत्ति का श्लोक प्रमाण १८६१६ है और यह अणहिल पाटण में वि० सं० ११२८ में पूर्ण हुई है।

ज्ञाताधर्मकथावृत्ति—

यह वृत्ति भी मूल सूत्र को स्पर्श कर लिखी गई है। इस वृत्ति में शब्दार्थ की प्रधानता है। प्रारंभ में श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार है और इसके पश्चात् चम्पा नगरी का परिचय देकर पूर्णभद्र चैत्य का परिचय दिया गया है। श्रेणिक सम्राट के पुत्र कोणिक का परिचय देकर गणधर सुधर्मा का परिचय दिया गया है। ज्ञाताधर्मकथा दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम 'ज्ञात' है जिसका अर्थ है उदाहरण। इसमें आचार आदि की शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से कथाओं के रूप में विविध उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का नाम 'धर्मकथा' है। उसमें धर्म-प्रधान कथाओं की प्रधानता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १९ अध्ययनों के कठिन शब्दों का अर्थ स्पष्ट करके प्रत्येक अध्ययन के अन्त में होने वाले विशेष अर्थ को प्रकट किया गया है। प्रथम अध्ययन का सार बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—'अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले शिष्य को सही मार्ग पर लाने हेतु

उपालम्भ भी प्रदान करना चाहिए। जैसा कि भगवान महावीर ने मेघकुमार को दिया।'

द्वितीय अध्ययन के प्रान्त में लिखा है—बिना आहार के मोक्ष के साधनों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः शरीर को आहार देना चाहिए जैसा कि धन सार्थवाह ने विजय चोर को दिया। तृतीय अध्ययन का सार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि विज्ञों को जिन-वचनों के प्रति किञ्चित् मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि संदेह ही अनर्थ का मूल है। जिनके अन्तर्मानस में शंकाएँ होती हैं वे सागरदत्त की भाँति निराशा के सागर में झूलते हैं और जिन्हें शंका नहीं होती है वे जिनदत्त की तरह सफलता देवी का वरण करते हैं।

इसी तरह अन्य सभी अध्ययनों का अभिधेयार्थ प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्म-कथाओं से ही धर्मार्थ का प्रतिपादन किया गया है। इसका विवेचन वृत्तिकार ने नहीं किया है। 'सर्वः सुगमः' और 'शेषं सूत्रसिद्धम्' इतना ही लिखा गया है। इस वृत्ति का श्लोक प्रमाण ३८०० है। यह वृत्ति ११२० में विजयदशमी को अणहिल पाटण में पूर्ण हुई है। अभयदेव ने अपने गुरु का नाम 'जिनेश्वर' बताया है।

उपासकदशाङ्गवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी है। इसमें विशेष शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। शब्दार्थ की प्रधानता होने से यह वृत्ति अधिक विस्तृत नहीं है। प्रथम भगवान महावीर को नमस्कार कर उपासक का अर्थ श्रमणोपासक और दशा का अर्थ दस किया है। श्रमणोपासक सम्बन्धी साधना का प्रतिपादन करने के कारण इसका नाम उपासकदशा है। इस ग्रंथ का नाम बहुवचनान्त है। कहीं-कहीं पर वृत्ति में व्याख्यान्तर का भी निर्देश है। वृत्ति का ग्रंथमान ८१२ श्लोक प्रमाण है। वृत्ति लेखन के स्थान एवं समय आदि का निर्देश नहीं किया गया है।

अन्तकृतदशावृत्ति

यह वृत्ति सूत्रानुसार ही है। जिन पदों की वृत्तिकार ने व्याख्या नहीं की है उन पदों के लिए ज्ञाताधर्मकथावृत्ति को देखने का निर्देश किया गया है। यहाँ पर अन्तकृत का अर्थ है जिन्होंने अपने भव का अन्त किया है। अन्तकृत सम्बन्धी अंग विशेष प्रस्तुत आगम जिसकी शैली दशाध्ययन रूप

है वह अन्तकृतदशा है। यह सत्य तथ्य है कि अन्तकृतदशा के प्रत्येक वर्ग में दस अध्ययन नहीं हैं तथापि कुछ वर्गों की दस अध्ययन वाली पद्धति के कारण इसका नाम अन्तकृतदशा रखा गया हो। इस वृत्ति का श्लोक प्रमाण ८९९ है।

अनुत्तरोपपातिकदशावृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति भी शब्दार्थप्रधान और सूत्रस्पर्शी है। अनुत्तर विमान में समुत्पन्न होने वाले अनुत्तरोपातिक कहे जाते हैं। इसमें उनका वर्णन होने से यह अनुत्तरोपपातिक कहलाता है। प्रथम वर्ग में दस अध्ययन हैं अत: इसे अनुत्तरोपपातिकदशा कहा गया है। वृत्ति का ग्रंथमान १९२ श्लोक प्रमाण है।

प्रश्नव्याकरणवृत्ति

यह वृत्ति भी शब्दार्थप्रधान है। प्रश्नव्याकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार ने बताया है कि जिसमें प्रश्न, अंगुष्ठादि प्रश्न विद्याओं का अभिधान किया गया हो वह प्रश्नव्याकरण है। अथवा जिसमें प्रश्न विद्या विशेपणों का व्याकरण प्रतिपादन करने वाले दस अध्ययन हैं वह प्रश्नव्याकरण है। वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण में पाँच आस्रव व पाँच संवर का ही प्रतिपादन किया गया है। इस पर हम प्रश्नव्याकरणसूत्र के परिचय में चिन्तन कर चुके हैं।

इसका ग्रंथमान ४६०० श्लोक प्रमाण है। वृत्तिकार ने प्रस्तुत आगम को अत्यन्त क्लिष्ट बताया है और इसके संशोधन का श्रेय द्रोणाचार्य को दिया है।

विपाकवृत्ति

यह वृत्ति भी शब्दार्थप्रधान है। इसमें अनेक पारिभाषिक शब्दों का संक्षेप में संतुलित अर्थ किया गया है। सर्वप्रथम भगवान महावीर को नमस्कार कर बताया है कि विपाक का अर्थ पुण्य पापरूप कर्म का फल है। उसका प्रतिपादन करने वाला श्रुत विपाकसूत्र है। इस वृत्ति का ग्रंथमान ९०० श्लोक प्रमाण है।

औपपातिकवृत्ति

यह वृत्ति भी शब्दार्थप्रधान है। सर्वप्रथम श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है और औपपातिक का अर्थ करते हुए लिखा गया

है कि देवों और नारकों में जन्म लेने व सिद्धि गमन को उपपात कहते हैं। उपपात सम्बन्धी वर्णन होने से उसका नाम औपपातिक है। वृत्तिकार ने औपपातिक को आचाराङ्ग का उपाङ्ग कहा है।

वृत्ति में नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विडम्बक, कथक, प्लवक, लासक, आख्यायक प्रभृति अनेक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक एवं प्रशासन विषयक शास्त्रीय शब्दों का गहन अर्थ स्पष्ट किया है। पाठान्तर और मतान्तरों का भी संकेत किया है। वृत्ति के अन्त में वृत्तिकार ने अपने कुल एवं गुरु के नाम का भी निर्देश किया है और यह भी लिखा है कि इस वृत्ति का संशोधन द्रोणाचार्य ने किया है। वृत्ति का ग्रन्थमान ३१२५ श्लोक प्रमाण है।

इन वृत्तियों के अतिरिक्त प्रज्ञापना, पंचाशकसूत्रवृत्ति, जयतिहुअण स्तोत्र, पंचनिर्ग्रन्थी, षष्ठकर्म ग्रंथसप्तति पर भी इन्होंने भाष्य लिखा है। इस प्रकार इन ग्रन्थों में आचार्य अभयदेव का साहित्यिक जीवन और सांस्कृतिक व्यक्तित्व निखरा है। ६०,००० के लगभग मौलिक श्लोकों का निर्माण कर उन्होंने जो जैन वाङ्मय की अभिवृद्धि की है वह इस वैज्ञानिक युग में भी अनुकरणीय है।[1]

आचार्य मलयगिरि की वृत्तियाँ

आचार्य मलयगिरि उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी थे। उन्होने आगम ग्रन्थों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। उन टीकाओं में उनका प्रकाण्ड पांडित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्रांजलता, शैली की लालित्यता एवं विश्लेषण की स्पष्टता उनकी विशेषताएँ हैं। उनके द्वारा रचित धर्म-संग्रहणी, कर्म प्रकृति, पंचसंग्रह प्रभृति वृत्तियों के अवलोकन से सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट परिज्ञात होता है कि वे जैनागम साहित्य के गंभीर ज्ञाता और पारंगत विद्वान तो थे ही किन्तु गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र और कर्म-सिद्धान्त में भी वे निष्णात थे। उन्होंने मलयगिरि शब्दानुशासन नामक व्याकरण की भी रचना की थी। अपनी वृत्तियों में वे इसी व्याकरणसूत्र का उल्लेख करते हैं।

उनकी जन्मस्थली, माता-पिता, गुरु एवं गच्छ आदि के नाम का कोई पता नहीं लगता। १५वीं शताब्दी के जिनमण्डनगणी ने कुमारपाल

---

१ विशेष परिचय के लिए देखिए देवेन्द्रमुनि की पुस्तक 'साहित्य और संस्कृति'।

प्रबन्ध में आचार्य हेमचन्द्र की विद्या उपासना के प्रसंग में आचार्य मलयगिरि के सम्बन्ध में कुछ बातों पर प्रकाश डाला है। इससे यह सहज ही ज्ञात होता है वे गुर्जरेश्वर, चौलुक्य राज्य, जयसिंह देव के सम्माननीय और सम्राट कुमारपाल के धर्मगुरु, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के विद्या-आराधना के सहचारी थे। आचार्य हेमचन्द्र के प्रति उनके अन्तर्मानस में पूज्य भाव थे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी 'आवश्यकवृत्ति' में आचार्य हेमचन्द्र विरचित द्वात्रिंशिका का उद्धरण देते हुए 'चाहुः स्तुतिषु गुरवः' का गौरवपूर्ण उल्लेख किया है। आचार्य मलयगिरि ने अपने लिए आचार्य पद का प्रयोग किया है। 'एवं कृतमङ्गल रक्षाविधानः परिपूर्णमल्पग्रन्थ लघूपाय आचार्य मलयगिरिः शब्दानुशासनमारभते'। इससे स्पष्ट है कि वे आचार्य थे किन्तु आचार्य हेमचन्द्र से वे व्रत की दृष्टि से लघु होंगे, भले ही वय की दृष्टि से बड़े रहे हों। एतदर्थ ही उन्होंने आचार्य हेमचन्द्र के लिए 'गुरवः' शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य मलयगिरि ने कितने ग्रन्थ लिखे इसका स्पष्ट निर्देश तो प्राप्त नहीं होता पर जितने ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध हैं और उन ग्रन्थों में जिन कृतियों का निर्देश हुआ है वह सूची इस प्रकार है—

उपलब्ध ग्रन्थ

नाम	श्लोकप्रमाण
(१) भगवतीसूत्र-द्वितीयशतकवृत्ति	३७५०
(२) राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७००
(३) जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६०००
(४) प्रज्ञापनोपांगटीका	१६०००
(५) चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००
(६) सूर्यप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००
(७) नन्दीसूत्रटीका	७७३२
(८) व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००
(९) बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण)	४६००
(१०) आवश्यकवृत्ति (अपूर्ण)	१८०००
(११) पिण्डनिर्युक्तिटीका	६७००
(१२) ज्योतिष्करण्डकटीका	५०००

(१३) धर्मसंग्रहणी वृत्ति	१००००
(१४) कर्मप्रकृतिवृत्ति	८०००
(१५) पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५०
(१६) षडशीतिवृत्ति	२०००
(१७) सप्ततिकावृत्ति	३७८०
(१८) बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००
(१९) बृहत्क्षेत्रसमास वृत्ति	९५००
(२०) मलयगिरि शब्दानुशासन	५०००

जो ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

अनुपलब्ध ग्रन्थ

(१) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका (२) ओघनिर्युक्तिटीका
(३) विशेषावश्यकटीका (४) तत्त्वार्थाधिगमसूत्रटीका

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य मलयगिरि का स्थान विशिष्ट रहा है। जैसे वैदिक परम्परा में वाचस्पतिमिश्र ने षट्दर्शनों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक भव्य आदर्श उपस्थित किया वैसे ही जैन साहित्य में आचार्य मलयगिरि ने प्रांजल भाषा और प्रवाहपूर्ण शैली में भावपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक नवीन आदर्श उपस्थित किया। वे दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनमें आगमों के गम्भीर रहस्यों को तर्कपूर्ण शैली से उपस्थित करने की अद्भुत कला और क्षमता थी। आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज के शब्दों में कहा जाय तो 'व्याख्याकारों में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट' है।

मलयगिरि अपनी वृत्तियों में सर्वप्रथम मूलसूत्र, गाथा या श्लोक के शब्दार्थ की व्याख्या कर उसके अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते हैं और उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं जिससे उसका अभीष्टार्थ पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। विषय से सम्बन्धित अन्य प्रासंगिक विषयों पर विचार करना तथा प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत करना आचार्य की अपनी विशेषता है।

नन्दीवृत्ति

आचार्य मलयगिरि ने नन्दीवृत्ति में दार्शनिक विषयों की गहन विचारणाएँ की हैं जिससे यह वृत्ति अत्यधिक विस्तृत हो गई हैं। साथ ही संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के उद्धरणों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया

गया है और विषय को स्पष्ट करने के लिए कथाओं का भी उपयोग किया गया है।

वृत्तिकार ने लिखा है टुनदु धातु से समृद्धि अर्थ में धातोरुदितोनम् सूत्र से नम् करने से नन्दि शब्द बनता है जिसका अर्थ प्रमोद या हर्ष है। नन्दि, प्रमोद हर्ष का कारण होने से ज्ञानपञ्चक का निरूपण करने वाला अध्ययन ही नन्दि कहा गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जिसके द्वारा प्राणी प्रसन्न होता है वह नन्दि है। कुछ स्थलों पर इसे नन्दी कहा गया है। उनके अभिमतानुसार इक् कृष्यादिभ्यः सूत्र से इक् प्रत्यय करके स्त्रीलिङ्ग में 'इतोऽक्त्यर्थात्' सूत्र से ङी प्रत्यय करने पर नन्दी बनता है।

निक्षेप पद्धति से नन्दी पर चिन्तन करने के पश्चात् स्तुतिपरक गाथाओं की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में जीव सत्ता सिद्धि, शाब्द प्रामाण्य, वचन अपौरुषेयत्व खण्डन, वीतराग स्वरूप चिन्तन, सर्वज्ञ संसिद्धि, नैरात्म्य-निराकरण, सन्तानवाद-खण्डन, वास्यवासकभाव खण्डन, अन्वयीज्ञानसिद्धि, सांख्य दृष्टि से मुक्ति का निरसन, धर्म-धर्मी भेद-अभेद सिद्धि, प्रभृति विषयों पर चिन्तन किया है। प्रस्तुत विभाग दार्शनिक चिन्तन से परिपूर्ण है। इसके पश्चात् ज्ञानपञ्चकसिद्धि, मति आदि क्रम की स्थापना, प्रत्यक्ष-परोक्ष स्वरूप पर चिन्तन, मति आदि के स्वरूप का निश्चय, अनन्तरसिद्धकेवल, परम्परसिद्धकेवल, स्त्रीमुक्ति की संसिद्धि, युगपद-उपयोग-निरसन, ज्ञान-दर्शन का अभेद, दृष्टान्त युक्त बुद्धि भेद पर विश्लेषण एवं निरूपण, अंग-प्रविष्ट, अंगबाह्य आदि श्रुत के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।

वृत्ति के अन्त में आचार्य ने नन्दी चूर्णिकार और नन्दी के टीकाकार आचार्य हरिभद्र को आदर के साथ नमस्कार किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रंथमान ७७३२ श्लोक प्रमाण है।

प्रज्ञापनावृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति के प्रारम्भ में भगवान महावीर, जिन-प्रवचन और सद्गुरुदेव को नमस्कार कर प्रज्ञापना पर वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की गई है।

प्रज्ञापना वह है जिसके द्वारा जीव-अजीव पदार्थों का ज्ञान किया जाय। प्रज्ञापना समवाय का उपाङ्ग है। इसमें समवायाङ्ग में प्ररूपित अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। यदि यह कहा जाय कि समवायाङ्ग

(१३) धर्मसंग्रहणी वृत्ति	१००००
(१४) कर्मप्रकृतिवृत्ति	८०००
(१५) पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५०
(१६) षडशीतिवृत्ति	२०००
(१७) सप्ततिकावृत्ति	३७८०
(१८) बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००
(१९) बृहत्क्षेत्रसमास वृत्ति	९५००
(२०) मलयगिरि शब्दानुशासन	५०००

जो ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

अनुपलब्ध ग्रन्थ

(१) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका (२) ओघनिर्युक्तिटीका
(३) विशेषावश्यकटीका (४) तत्त्वार्थाधिगमसूत्रटीका

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य मलयगिरि का स्थान विशिष्ट रहा है। जैसे वैदिक परम्परा में वाचस्पतिमिश्र ने षट्दर्शनों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक भव्य आदर्श उपस्थित किया वैसे ही जैन साहित्य में आचार्य मलयगिरि ने प्रांजल भाषा और प्रवाहपूर्ण शैली में भावपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक नवीन आदर्श उपस्थित किया। वे दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनमें आगमों के गम्भीर रहस्यों को तर्कपूर्ण शैली से उपस्थित करने की अद्भुत कला और क्षमता थी। आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज के शब्दों में कहा जाय तो 'व्याख्याकारों में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट' है।

मलयगिरि अपनी वृत्तियों में सर्वप्रथम मूलसूत्र, गाथा या श्लोक के शब्दार्थ की व्याख्या कर उसके अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते हैं और उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं जिससे उसका अभीष्टार्थ पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। विषय से सम्बन्धित अन्य प्रासंगिक विषयों पर विचार करना तथा प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत करना आचार्य की अपनी विशेषता है।

नन्दीवृत्ति

आचार्य मलयगिरि ने नन्दीवृत्ति में दार्शनिक विषयों की गहन विचारणाएँ की हैं जिससे यह वृत्ति अत्यधिक विस्तृत हो गई है। साथ ही संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के उद्धरणों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया

गया है और विषय को स्पष्ट करने के लिए कथाओं का भी उपयोग किया गया है।

वृत्तिकार ने लिखा है टुनदु धातु से समृद्धि अर्थ में धातोरुदितोनम् सूत्र से नम् करने से नन्दि शब्द बनता है जिसका अर्थ प्रमोद या हर्ष है। नन्दि, प्रमोद हर्ष का कारण होने से ज्ञानपञ्चक का निरूपण करने वाला अध्ययन ही नन्दि कहा गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जिसके द्वारा प्राणी प्रसन्न होता है वह नन्दि है। कुछ स्थलों पर इसे नन्दी कहा गया है। उनके अभिमतानुसार इक् कृष्यादिभ्यः सूत्र से इक् प्रत्यय करके स्त्रीलिङ्ग में 'इतोऽक्त्यर्थात्' सूत्र से ङी प्रत्यय करने पर नन्दी बनता है।

निक्षेप पद्धति से नन्दी पर चिन्तन करने के पश्चात् स्तुतिपरक गाथाओं की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में जीव सत्ता सिद्धि, शाब्द प्रामाण्य, वचन अपौरुषेयत्व खण्डन, वीतराग स्वरूप चिन्तन, सर्वज्ञ संसिद्धि, नैरात्म्य-निराकरण, सन्तानवाद-खण्डन, वास्यवासकभाव खण्डन, अन्वयीज्ञानसिद्धि, सांख्य दृष्टि से मुक्ति का निरसन, धर्म-धर्मी भेद-अभेद सिद्धि, प्रभृति विषयों पर चिन्तन किया है। प्रस्तुत विभाग दार्शनिक चिन्तन से परिपूर्ण है। इसके पश्चात् ज्ञानपञ्चकसिद्धि, मति आदि क्रम की स्थापना, प्रत्यक्ष-परोक्ष स्वरूप पर चिन्तन, मति आदि के स्वरूप का निश्चय, अनन्तरसिद्धकेवल, परम्परसिद्धकेवल, स्त्रीमुक्ति की संसिद्धि, युगपद-उपयोग-निरसन, ज्ञान-दर्शन का अभेद, दृष्टान्त युक्त बुद्धि भेद पर विश्लेषण एवं निरूपण, अंग-प्रविष्ट, अंगबाह्य आदि श्रुत के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।

वृत्ति के अन्त में आचार्य ने नन्दी चूर्णिकार और नन्दी के टीकाकार आचार्य हरिभद्र को आदर के साथ नमस्कार किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रंथमान ७७३२ श्लोक प्रमाण है।

प्रज्ञापनावृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति के प्रारम्भ में भगवान महावीर, जिन-प्रवचन और सद्गुरुदेव को नमस्कार कर प्रज्ञापना पर वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की गई है।

प्रज्ञापना वह है जिसके द्वारा जीव-अजीव पदार्थों का ज्ञान किया जाय। प्रज्ञापना समवाय का उपाङ्ग है। इसमें समवायाङ्ग में प्ररूपित अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। यदि यह कहा जाय कि समवायाङ्ग

में प्ररूपित अर्थ का प्रतिपादन इसमें नहीं हुआ है तो यह कथन सत्य तथ्य युक्त नहीं है। इसमें मन्दमति शिष्य विशेष को अर्थ समझाने की दृष्टि से विस्तार से समवायाङ्ग के अर्थ का प्रतिपादन किया गया है—ऐसा वृत्तिकार ने स्पष्ट कहा है।

मंगल की सार्थकता पर चिन्तन करते हुए आचार्य ने हरिभद्रसूरि को नमस्कार किया है। 'क्योंकि उन्होंने प्रज्ञापनासूत्र के विषम पदों पर विवेचन किया है। जिनके महान उपकार के कारण ही मैं एक लघु टीकाकार बन सका हूँ।' यह टीका मूल पदों पर है। आवश्यकतानुसार कहीं पर संक्षेप में और कहीं पर विस्तार से विवेचन किया गया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रंथमान १६००० श्लोक प्रमाण है।

सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति के प्रारम्भ में आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु विरचित सूर्यप्रज्ञप्ति की निर्युक्ति नष्ट हो जाने से मैं इस पर केवल मूलसूत्र का ही व्याख्यान करूँगा। आचार्य ने प्रथम मिथिला नगरी, मणिभद्र चैत्य, जितशत्रु राजा, धारिणी देवी और भगवान महावीर का साहित्यिक वर्णन किया है। उसके पश्चात् गणधर इन्द्रभूति गौतम का वर्णन है। तृतीय सूत्र की वृत्ति में सूर्यप्रज्ञप्ति के उन्हीं बीस प्राभृतों का विवेचन है जिनका संक्षेप में उल्लेख सूर्यप्रज्ञप्ति के परिचय में दिया जा चुका है। इन बीस प्राभृतों में प्रथम प्राभृत में आठ, द्वितीय में तीन, और दसवें में बाईस उपप्राभृत हैं। वृत्ति में उन सब प्राभृतों का विशद विश्लेषण किया गया है। दसवें व ग्यारहवें प्राभृत के विवरण में आचार्य ने लिखा—पुनर्वसु, रोहिणी, चित्रा, मघा, ज्येष्ठा, अनुराधा, कृत्तिका और विशाखा ये आठों नक्षत्र उभययोगी हैं। उन्नीसवें प्राभृत में जीवाभिगम चूर्णि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत वृत्ति में लोक श्री और उसकी टीका, स्वकृत शब्दानुशासन, हरिभद्र की तत्त्वार्थ टीका आदि ग्रन्थों का भी उद्धरण सहित उल्लेख किया है। इस वृत्ति का ग्रन्थमान ९५०० श्लोक प्रमाण है।

ज्योतिष्करण्डकवृत्ति

यह वृत्ति ज्योतिष्करण्डक प्रकरण के मूलपाठ पर की गई है। वृत्ति में पादलिप्तसूरि विरचित प्राकृत वृत्ति का निर्देश किया गया है और उसका एक वाक्य भी उद्धृत किया है। पर वर्तमान में जो ज्योतिष्करण्डक

की प्राकृत वृत्ति उपलब्ध होती है उसमें यह वाक्य नहीं है। सम्भव है इस सूत्र पर अन्य प्राकृत वृत्ति होगी जिसका उल्लेख आचार्य मलयगिरि ने अपनी वृत्ति में मूल टीका के रूप में किया है। यह भी सम्भव है कि उपलब्ध प्राकृत वृत्ति मूल टीका हो क्योंकि मूल टीका का एक वाक्य इस समय उपलब्ध वृत्ति में मिलता है। विज्ञों की ऐसी धारणा है कि पादलिप्त सूरि कृत वृत्ति ही मूल टीका हो जो इस समय प्राप्त होती है। कालक्रम से उसके कुछ वाक्यों का या पाठों का लोप हो गया हो।

काल विषयक संख्या पर चिन्तन करते हुए वल्लभी और माथुरी वाचनाओं का निर्देश करते हुए लिखा है कि स्कन्दिलाचार्य के समय में एक बार भयंकर दुर्भिक्ष हो जाने से श्रमणों का अध्ययन-अध्यापन स्थगित हो गया था। पुनः सुभिक्ष होने पर वल्लभी और मथुरा में श्रमण समुदाय एकत्रित हुआ। दोनों स्थानों पर पृथक्-पृथक् सूत्रार्थ का संग्रह करने से वाचनाभेद हो गया क्योंकि विस्मृत सूत्रार्थ का स्मरण करके एकत्रित करने से वाचनाभेद सहज स्वाभाविक था। प्रस्तुत समय में अनुयोगद्वार आदि माथुरी वाचना के हैं जबकि ज्योतिष्करण्डकसूत्र के निर्माता आचार्य वल्लभी के थे। अतः प्रस्तुत सूत्र का संख्यास्थान प्रतिपादन वल्लभी वाचना के अनुसार होने के कारण अनुयोगद्वार प्रतिपादित संख्या-स्थान से पृथक् है। प्रस्तुत वृत्ति के उपसंहार में आचार्य ने लिखा है कि प्रस्तुत कालज्ञान समास शिष्यों के विशेष अध्ययनार्थ सूर्यप्रज्ञप्ति के आधार से पूर्वाचार्यों ने लिखा है और यह ग्रन्थ विज्ञों के लिए अत्यन्त उपयोगी और उपादेय है। मुझ अल्पमति के द्वारा यदि जिनवचन विरुद्ध प्रज्ञापना हुई हो तो विज्ञ उसे सुधार लें। इस वृत्ति का ग्रन्थमान ५००० श्लोक प्रमाण है।

जीवाभिगमवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति जीवाभिगम के पदों के विवेचन के रूप में है। इस वृत्ति में अनेक ग्रन्थ व ग्रन्थकारों का नामोल्लेख किया गया है—जैसे कि धर्मसंग्रहणीटीका, प्रज्ञापनाटीका, प्रज्ञपनामूलटीका, तत्त्वार्थमूलटीका, सिद्ध-प्राभृत, विशेषणवती, जीवाभिगममूलटीका, पंचसंग्रह, कर्मप्रकृतिसंग्रहणी, क्षेत्र-समासटीका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, कर्मप्रकृतिसंग्रहणीचूर्णि, वसुदेव चरित, जीवाभिगमचूर्णि, चन्द्रप्रज्ञप्तिटीका, सूर्यप्रज्ञप्तिटीका, देशी नाम-माला, सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति, पंचवस्तुक, आचार्य हरिभद्र रचित तत्त्वार्थटीका,

तत्त्वार्थभाष्य, विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति, पंचसंग्रहटीका प्रभृति। इन ग्रन्थों में से अनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी टीका में प्रयुक्त हुए हैं।

वृत्ति के प्रारम्भ में मंगल के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए आगे के सूत्रों में तन्तु और पट के सम्बन्ध में भी विचार चर्चा की गई है और मांडलिक, महामांडलिक, ग्राम, निगम, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सम्बाध, राजधानी प्रभृति मानव बस्तियों के स्वरूप पर चिन्तन किया गया है। वृत्ति में ज्ञानियों के भेदों पर चिन्तन करते हुए यह बताया है कि सिद्धप्राभृत में अनेक ज्ञानियों का उल्लेख है। नरकावासों के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार से प्रकाश डाला है और क्षेत्रसमासटीका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका के अवलोकन का संकेत किया है। नारकीय जीवों की शीत और उष्ण वेदना पर विचार करते हुए प्रावृट्, वर्षारात्र, शरद, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म इन छः ऋतुओं का वर्णन किया है। प्रथम शरद कार्तिक मास को बताया गया है। ज्योतिष्क देवों के विमानों पर चिन्तन करते हुए विशेष जिज्ञासुओं को चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एवं संग्रहणी टीकाएं देखने का निर्देश किया गया है। एकादश अलंकारों का भी इसमें वर्णन है और राजप्रश्नीय में उल्लिखित ३२ प्रकार की नाट्य विधि का भी सरस वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत वृत्ति को आचार्य ने 'विवरण' शब्द से व्यवहृत किया है और इस विवरण का ग्रन्थमान १६००० श्लोक प्रमाण है।

व्यवहारवृत्ति

यह वृत्ति मूलसूत्र, निर्युक्ति व भाष्य पर की गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में भूमिका रूप पीठिका है। इस पीठिका में कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त, प्रभृति विषयों पर चिन्तन किया गया है। वृत्तिकार ने प्रारम्भ में अर्हत् अरिष्टनेमि को, अपने सद्गुरुवर्य एवं व्यवहारसूत्र के चूर्णिकार को आदर सहित नमन किया है।

वृत्तिकार ने बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनों सूत्रों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्त का निरूपण है पर उसमें प्रायश्चित्त दान की विधि नहीं है। व्यवहार में प्रायश्चित्त दान और आलोचना विधि दोनों हैं—यही व्यवहार की महत्ता है। व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य इन तीनों पर चिन्तन करते हुए कहा है कि व्यवहारी कर्तारूप है, व्यवहार करण रूप है और व्यवहर्तव्य कार्य रूप है। करण

रूप व्यवहार—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत रूप से पाँच प्रकार का है। चूर्णिकार ने पाँचों प्रकार के व्यवहार को करण कहा है। भाष्य में सूत्र, अर्थ, जीत, कल्प, मार्ग, न्याय, एप्सितव्य, आचरित और व्यवहार इनको एकार्थक माना है।

जो गीतार्थ हैं उन्हीं के लिए व्यवहार का उपयोग है। जो स्वयं व्यवहार के मर्म को जानता हो और अन्य व्यक्तियों को व्यवहार के स्वरूप को समझाने की क्षमता रखता हो वह गीतार्थ है। इसके विपरीत अगीतार्थ है। अगीतार्थ न स्वयं व्यवहार के स्वरूप को जानता है और न वह अन्य को समझाने की क्षमता ही रखता है।

प्रायश्चित्त प्रदाता और प्रायश्चित्त संग्रहण करने वाला दोनों गीतार्थ होने चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुंचना ये चार अर्थ हैं। प्रतिसेवना रूप प्रायश्चित्त के आलोचना, प्रतिक्रमण प्रभृति दस प्रकार बताये गये हैं, जिन पर विशेष विस्तार से विवेचन है। प्रायश्चित्त के स्वरूप के सम्बन्ध में हम पूर्व पृष्ठों में विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं।

प्रथम उद्देशक में प्रतिसेवना के मूल-प्रतिसेवना और उत्तर-प्रतिसेवना ये दो प्रकार बताये गये हैं। मूलगुणातिचार प्रतिसेवना मूल गुणों के प्राणातिपात, मृषावाद आदि पाँच प्रकार के अतिचारों के कारण से पाँच प्रकार की है। उत्तरगुणातिचार प्रतिसेवना दस प्रकार की है। उत्तरगुण अनागत, अतिक्रान्त, कोटी सहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक और अद्धाप्रत्याख्यान रूप से दस प्रकार की है। दूसरे शब्दों में उत्तरगुणों के पिण्डविशुद्धि, पाँच समिति, बाह्य तप, आभ्यन्तर तप, भिक्षु प्रतिमा और अभिग्रह ये दस प्रकार हैं। मूलगुणातिचार प्रतिसेवना और उत्तरगुणातिचार प्रतिसेवना, इनके भी दर्प्य एवं कल्प्य ये क्रमशः दो प्रकार हैं। बिना कारण प्रतिसेवना दर्पिका है और कारणयुक्त प्रतिसेवना कल्पिका है। इस प्रकार वृत्तिकार ने विषय को स्पष्ट किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है। इस वृत्ति को भी 'विवरण' कहा गया है।

राजप्रश्नीयवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति के प्रारम्भ में वृत्तिकार मलयगिरि ने श्रमण भगवान महावीर को वंदन-नमस्कार कर बताया है कि प्रस्तुत आगम राजा के

प्रश्नों से सम्बन्धित है, अतः इसका नाम राजप्रश्नीय है। यह सूत्रकृताङ्ग सूत्र का उपाङ्ग है। इसमें 'देशी नाममाला'[1] जीवाभिगममूलटीका प्रभृति ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं। प्रस्तुत विवरण का ग्रन्थमान ३७०० श्लोक प्रमाण है।

पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति

यह वृत्ति आचार्य भद्रबाहु रचित पिण्डनिर्युक्ति पर की गई है। इसमें ४६ भाष्य गाथाओं का भी उपयोग हुआ है और स्वयं वृत्तिकार ने भाष्य गाथाओं का निर्देश किया है। वृत्तिकार ने पिण्डनिर्युक्ति का सम्बन्ध किस आगम से है इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए बताया है कि दशवैकालिक सूत्र के पिण्डैषणा नामक पाँचवें अध्ययन की निर्युक्ति का नाम ही पिण्डनिर्युक्ति है। यह निर्युक्ति अत्यधिक विराट् होने के कारण इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में स्थान दिया गया है। यही कारण है कि इस निर्युक्ति के प्रारम्भ में मंगलाचरण नहीं किया गया है।

विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से वृत्तिकार ने अपनी वृत्ति में अनेक कथाएँ भी दी हैं जो संस्कृत भाषा में हैं। वृत्ति के अन्त में निर्युक्तिकार ने द्वादशांग ज्ञाता भद्रबाहु और पिण्डनिर्युक्ति विषम पद के वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र एवं वीरगणी को नमस्कार किया है। अरिहन्त, सिद्ध, साहु और जिन-प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण की गई है। वृत्ति का ग्रन्थमान ६७०० श्लोक प्रमाण है।

आवश्यकविवरण

यह 'विवरण' आवश्यकनिर्युक्ति पर है किन्तु, अभी तक यह पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सका है। इसमें मंगल आदि पर विस्तार से विवेचन और उसकी उपयोगिता पर चिन्तन किया गया है। निर्युक्ति की गाथाओं पर सरल एवं सुबोध शैली में विवेचन किया गया है। विवेचन की विशिष्टता यह है कि आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं पर स्वतन्त्र विवेचन न कर उनका सार अपनी वृत्ति में उट्टङ्कित कर दिया है। वृत्ति में जितनी भी गाथाएँ आई हैं वे वृत्ति के वक्तव्य की पुष्ट करने हेतु हैं। वृत्ति में विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख हुआ

---

१ पहकराः संघाताः—पहकर-ओरोह-संघाया इति देशी नाममाला वचनात्।
—राजप्रश्नीयवृत्ति, पृ० ३

है। साथ ही प्रज्ञाकर गुप्त, आवश्यक चूर्णिकार, आवश्यकमूलटीकाकार, आवश्यकमूलभाष्यकार, लघीयस्त्रयालंकारकार अकलङ्क, न्यायावतार वृत्तिकार प्रभृति का उल्लेख हुआ है। यत्र-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए कथाएँ भी उद्धृत की गई हैं। कथाओं की भाषा प्राकृत है। वर्तमान में जो विवरण उपलब्ध है उसमें चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन के 'थूभं रयणविचित्तं कुंथुं सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो' के विवेचन तक प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भगवान अरनाथ के उल्लेख के बाद का विवरण नहीं मिलता है। यह जो विवरण है वह चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन तक है और वह भी अपूर्ण है। जो विवरण उपलब्ध है उसका ग्रन्थमान १८००० श्लोक प्रमाण है।

बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति भद्रबाहु स्वामी विरचित बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति एवं संघदासगणी विरचित लघुभाष्य पर है। आचार्य मलयगिरि पीठिका की भाष्य गाथा ६०६ पर्यन्त ही अपनी वृत्ति लिख सके। आगे उन्होंने वृत्ति नहीं लिखी है। आगे की वृत्ति आचार्य क्षेमकीर्ति ने पूर्ण की है। जैसा कि स्वयं क्षेमकीर्ति ने भी स्वीकार किया है।[1]

वृत्ति के प्रारम्भ में वृत्तिकार ने जिनेश्वरदेव को प्रणाम कर सद्गुरुदेव का स्मरण किया है, तथा भाष्यकार और चूर्णिकार के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त की है। वृत्तिकार ने बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्र के निर्माताओं के सम्बन्ध में लिखा है कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी ने श्रमणों के अनुग्रहार्थ, कल्प और व्यवहार की रचना की जिससे कि प्रायश्चित्त का व्यवच्छेद न हो। उन्होंने सूत्र के गंभीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति की ही रचना की है। और जिनमें प्रतिभा की तेजस्विता का अभाव है उन अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए भाष्यकार ने भाष्य का निर्माण किया है। वह निर्युक्ति और भाष्य सूत्र के मर्म को प्रकट करने वाले होने से दोनों एक ग्रन्थ रूप हो गये। वृत्ति में प्राकृत गाथाओं का उद्धरण के रूप में प्रयोग हुआ है और विषय को सुबोध बनाने की दृष्टि

---

१ श्रीमलयगिरिप्रभवो, यां कर्त्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्तः।
सा कल्पशास्त्रटीका, मयाऽनुसन्धीयतेऽल्पधिया ॥
—बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति, पृ० १७७

से प्राकृत कथाएं उद्धृत की गई हैं। प्रस्तुत मलयगिरि वृत्ति का ग्रन्थमान ४६०० श्लोक प्रमाण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य मलयगिरि शास्त्रों के गंभीर ज्ञाता थे। विभिन्न दर्शनशास्त्रों का जैसा और जितना गंभीर विवेचन एवं विश्लेषण उनकी टीकाओं में उपलब्ध है वैसा अन्यत्र कहीं पर भी उपलब्ध नहीं है। वे अपने युग के महान तत्त्वचिन्तक, प्रसिद्ध टीकाकार और महान व्याख्याता थे। आगमों के गुरुगंभीर रहस्यों को तर्कपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता अद्भुत थी, अनूठी थी।

मलधारी हेमचन्द्र की वृत्तियां

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र महान प्रतिभासम्पन्न और आगमों के समर्थ ज्ञाता थे। मलधारी राजशेखर ने द्वयाश्रय वृत्ति की प्रशस्ति में आचार्य मलधारी हेमचन्द्र का परिचय देते हुए लिखा है कि उनका गृहस्थाश्रम में नाम प्रद्युम्न था। वे राजा के मंत्री थे। उन्होंने अपनी चार पत्नियों के प्रेम को त्यागकर मलधारी आचार्य अभयदेव के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। आचार्य मलधारी हेमचन्द्र के शिष्य आचार्य श्रीचन्द्र ने मुनिसुव्रत चरित्र में लिखा है कि अपने सुमधुर स्वभाव से श्रेष्ठ पुरुषों के अन्तर्मानस को आनन्दित करने वाली कौस्तुभ-मणि के सदृश आचार्य हेमचन्द्र अभयदेव के पश्चात् हुए। वे प्रवचनपटु व वाग्मी थे। 'भगवती-विवाह-प्रज्ञप्ति' जैसा विराट् आगम उन्हें अपने नाम के समान कंठस्थ था। उन्होंने मूलग्रन्थ, विशेषावश्यकभाष्य, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र प्रभृति विषयों के ५०,००० ग्रन्थ पढ़े थे। सम्राट से लेकर सामान्य जनमानस में जिन-शासन की प्रभावना करने में वे परम दक्ष थे। उनका हृदय करुणा से छलकता था। जिस समय वे मेघगंभीर ध्वनि से प्रवचन प्रदान करते तो उपाश्रय से बाहर चलते लोग खड़े रह जाते थे। प्रवचन कला में वे इतने दक्ष थे कि मन्दबुद्धि व्यक्ति भी तात्त्विक विषयों को सहज हृदयंगम कर लेते थे। सद्धर्षिगणी विरचित उपमिति भवप्रपंच कथा अत्यन्त क्लिष्ट थी। जिस पर कोई भी आचार्य प्रवचन करने में संकोच का अनुभव करता था। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र जिस समय उस पर प्रवचन करते, जन-जन के अन्तर्मानस में वैराग्य का पयोधि उछालें मारने लगता। उन्होंने तीन वर्ष तक निरन्तर उस पर प्रवचन किये। उन्होंने सर्वप्रथम उपदेशमाला और भवभावना मूल ग्रन्थों की रचनाएं कीं। उसके पश्चात्

क्रमशः १४००० और १३००० श्लोकप्रमाण वृत्तियाँ लिखीं। उसके पश्चात् अनुयोगद्वार, जीवसमास और बन्धशतक पर क्रमशः ६०००, ७०००, ८००० श्लोकप्रमाण वृत्तियों की रचनाएँ कीं। आचार्य हरिभद्र कृत मूलआवश्यकवृत्ति पर ५००० श्लोक प्रमाण टिप्पण लिखा और विशेषावश्यकभाष्य पर २८००० श्लोकप्रमाण विस्तृत वृत्ति लिखी। जीवन के अन्तिम दिनों में सात दिन की संलेखना कर आयु पूर्ण किया। उनके तीन मुख्य शिष्य थे—विजयसिंह, श्रीचन्द्र और विबुधचन्द्र। उनमें श्रीचन्द्र उनके पट्ट पर अलंकृत हुए।

आचार्य विजयसिंह ने धर्मोपदेशमाला नामक ग्रन्थ पर एक वृहत् वृत्ति लिखी। उसकी प्रशस्ति में भी उन्होंने अपने सद्गुरुदेव आचार्य हेमचन्द्र का और उनके गुरु आचार्य अभयदेव का परिचय प्रदान किया है।

जीवसमास की वृत्ति की एक प्रति जो स्वयं आचार्य हेमचन्द्र के हाथ की लिखित है उसके उपसंहार में आचार्य ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि यह वृत्ति यम, नियम, स्वाध्याय, ध्यान, अनुष्ठान में रत परमनैष्ठिक पण्डित श्वेताम्बराचार्य भट्टारक हेमचन्द्र ने वि. सं. ११६४ में लिखी है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने कितने ग्रन्थों की रचना की? इस प्रश्न का समाधान मुनिसुव्रतचरित्र की प्रशस्ति में उपदेशमाला प्रभृति नौ ग्रन्थ बताये हैं। किन्तु विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति के अन्त में आचार्य ने ग्रन्थ रचना का क्रम देते हुए उनकी संख्या दस बताई है जिसमें नन्दिटिप्पणक रचना का विशेष उल्लेख है, जो आज प्राप्त नहीं है। श्री हेमचन्द्रसूरि विरचित सभी ग्रन्थों के नाम और उनका ग्रन्थ प्रमाण मुनिसुव्रतस्वामी-चरित्र में प्राप्त होता है किन्तु उसमें नन्दिसूत्र टिप्पणक का नाम नहीं है। आगम प्रभावक मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराज ने ऐसी सम्भावना की है कि इस चरित्र की नकल करने के प्रारम्भिक समय में प्राचीनकाल से ही

---

१ श्री प्रशस्ति संग्रह (श्री शान्तिनाथजी ज्ञान भंडार, अहमदाबाद), पृ० ४६
ग्रन्थाग्र ६६२७। सं० ११६४ चैत्र सुदि ४ सोमेऽद्येह श्रीमदणहिलपाटके समस्त राजावलिविराजितमहाराजाधिराज—परमेश्वर-श्री मज्जयसिंहदेवकल्याणविजय-राज्ये एवं काले प्रवर्तमाने यमनियमस्वाध्यायध्यानानुष्ठानरतपरमनैष्ठिकपंडित-श्वेताम्बराचार्य-भट्टारकश्रीहेमचन्द्राचार्येण पुस्तिका लि० श्री०।

४४ गाथा के पश्चात् ही एक गाथा छूट गई है। श्री हेमचन्द्रसूरि ने विशेषावश्यकवृत्ति के अन्त में लिखा "अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्याः सद्भावनामर्मंजूषाया अङ्गभूतं निवेशितं नन्दिटिप्पणकनामधेयं फलकम्"। इससे यह पूर्णरूप से सिद्ध है कि आचार्य ने नन्दिटिप्पणक की रचना अवश्य की थी। जो वर्तमान में नन्दिटिप्पणक प्राप्त होता है वह श्रीचंद्रसूरि रचित है जो आचार्य शीलभद्र व आचार्य धनेश्वर के शिष्य माने जाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र की ग्रन्थ रचना का क्रम इस प्रकार है :—

ग्रन्थ	प्रमाण
(१) आवश्यकटिप्पण	५ हजार श्लोक प्रमाण
(२) शतकविवरण	४ हजार ,, ,,
(३) अनुयोगद्वारवृत्ति	६ हजार ,, ,,
(४) उपदेशमालासूत्र	
(५) उपदेशमालावृत्ति	१४ हजार ,, ,,
(६) जीवसमासविवरण	७ हजार ,, ,,
(७) भवभावनासूत्र	
(८) भवभावनाविवरण	१३ हजार ,, ,,
(९) नन्दिटिप्पणक	
(१०) विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति।	२८ हजार ,, ,,

सभी ग्रन्थ भिन्न-भिन्न विषयों पर होने से उनमें पुनरावृत्तियों का अभाव है।

आवश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्या

प्रस्तुत व्याख्या आचार्य हरिभद्र रचित आवश्यकवृत्ति पर है। इसका अपर नाम हारिभद्रीयावश्यकवृत्तिटिप्पणक है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य हेमचन्द्र सूरि ने इस पर प्रदेश व्याख्या टिप्पण भी लिखा है। प्रारम्भ में चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् आवश्यक वृत्ति के जो कठिन स्थल हैं उन पर सरल व सुगम दृष्टि से विवेचन किया है। प्रस्तुत व्याख्या का ग्रन्थमान ४६०० श्लोक प्रमाण है।

अनुयोगद्वारवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति सूत्रस्पर्शी है। सूत्र के गुरुगंभीर रहस्यों को इसमें प्रकट किया गया है। वृत्ति के प्रारम्भ में श्रमण भगवान महावीर को, गणधर गौतम प्रभृति आचार्य वर्ग को एवं श्रुतदेवता को नमस्कार किया गया है।

वृत्तिकार ने इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि प्राचीन मेधावी आचार्यों ने चूर्णि व टीकाओं का निर्माण किया है। इनमें उन आचार्यों का प्रकाण्ड पांडित्य झलक रहा है तथापि मैंने मन्दबुद्धि व्यक्तियों के लिए इस पर वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति सूत्रों के पदों का सरल व संक्षिप्त अर्थ प्रस्तुत करती है। यत्र-तत्र संस्कृत श्लोक उद्धृत किये गये हैं। वृत्ति का ग्रन्थमान ५६०० श्लोकप्रमाण है किन्तु वृत्ति में रचना के समय का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति का दूसरा नाम 'शिष्यहितावृत्ति' भी है। यह मलधारी आचार्य हेमचन्द्र की बृहत्तम कृति है। आचार्य ने भाष्य में जितने भी विषय आये हैं उन सभी विषयों को बहुत ही सरल व सुगम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। दार्शनिक चर्चाओं का प्राधान्य होने पर भी शैली में काठिन्य का अभाव है, यही इसकी महान विशेषता है। प्रश्नोत्तरों के माध्यम से विषय को बहुत ही सरल बनाने का प्रयास किया गया है। संस्कृत कथानकों से विषय में सरसता व सरलता आ गई है। यदि यह कह दिया जाय कि प्रस्तुत टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन की सरलता हो गई तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

टीका के प्रारम्भ में वृत्तिकार ने श्रमण भगवान महावीर, सुधर्मा आदि प्रमुख आचार्य वृन्द, अपने गुरु जिनभद्र और श्रुतदेवता को वन्दन किया है। वृत्ति लेखन के उद्देश्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि सामायिक आदि षडावश्यक श्रुतस्कन्ध रूप आवश्यक की अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकरों ने और सूत्र की दृष्टि से गणधरों ने रचनाएँ कीं। इसके गम्भीर रहस्यों के समुद्घाटन के लिए चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति की रचना की। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उस पर महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा। उस भाष्य पर जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सोपज्ञ वृत्ति लिखी और कोट्याचार्य ने वृत्ति लिखी। वह सारी सामग्री गंभीर और बहुत ही क्लिष्ट है। अतः सुगम रीति से उन महान भावों को समझाने के लिए नई वृत्ति का निर्माण कर रहे हैं।

इस वृत्ति के अन्त में आचार्य ने अपना, अपने गुरु का नाम निर्देश किया है और यह भी बताया है कि राजा जयसिंह के राज्य में सम्वत्

११७५ की कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन यह वृत्ति पूर्ण हुई है। इसवृत्ति का ग्रंथमान २८००० श्लोक प्रमाण है।

आचार्य नेमिचन्द्रकृत वृत्ति

नेमिचन्द्र सूरि का अपर नाम देवेन्द्रगणी भी प्राप्त होता है। देवेन्द्र उनका गृहस्थाश्रम में नाम था। उन्होंने वि० सं० ११२९ में उत्तराध्ययन पर सुखबोधा नामक वृत्ति का निर्माण किया है। इसमें निर्युक्ति की गाथाओं को भी यथास्थान उद्धृत किया गया है। नेमिचन्द्र सूरि पर आचार्य शीलांक की शैली की अपेक्षा आचार्य हरिभद्र और वादिवेताल शान्तिसूरि की शैली का अधिक प्रभाव है। शैली की सरलता व सरसता के कारण इसका नाम सुखबोधा रखा गया है। वृत्ति के प्रारम्भ में तीर्थंकर, सिद्ध, साधु व श्रुत देवता को नमस्कार किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में गच्छ, गुरुभ्राता, वृत्ति रचना का स्थान, समय आदि का भी निर्देश किया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य थे। उनके गुरुभ्राता का नाम मुनिचन्द्रसूरि था जिनकी प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर प्रस्तुत वृत्ति की रचना हुई। प्रस्तुत वृत्ति अणहिल पाटण नगर में विक्रम सं० ११२९ में पूर्ण हुई। इस वृत्ति का ग्रन्थमान १२००० श्लोक प्रमाण है। इनकी अन्य रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं।

श्रीचन्द्रसूरि रचित टीकाएँ

श्रीचन्द्रसूरि नाम के दो आचार्य थे—एक मलधारी श्री हेमचन्द्र सूरि के शिष्य—जिन्होंने संग्रहणीप्रकरण, मुनिसुव्रतस्वामीचरित्र (प्राकृत), लघुप्रवचनसारोद्धारप्रभृति ग्रन्थों की रचना की थी; दूसरे चन्द्रकुली श्री शीलभद्रसूरि और धनेश्वरसूरि गुरु-युगल के शिष्य थे, जिन्होंने न्याय प्रवेश-पञ्जिका, जयदेवछन्दशास्त्रवृत्तिटिप्पणक, निशीथचूर्णिटिप्पणक, नन्दिसूत्र हारिभद्री टिप्पणक, जीतकल्पचूर्णि टिप्पणक, पञ्चोपांगसूत्रवृत्ति, श्राद्धसूत्र, प्रतिकमणसूत्रवृत्ति, पिण्डविशुद्धिवृत्ति, प्रभृति ग्रन्थों की रचना की थी। यहाँ पर द्वितीय शीलभद्रसूरि ही अभिप्रेत है जिनका दूसरा नाम पार्श्व-देवगणी भी था।

निशीथचूर्णिदुर्गपदव्याख्या

यह निशीथचूर्णि के २०वें उद्देशक पर टीका है। चूर्णि के कठिन स्थलों को सरल व सुगम बनाने के लिए इसकी रचना की गई है, जैसा कि

व्याख्याकार ने स्वयं स्वीकार किया है। पर यह वृत्ति महिनों के प्रकार, दिन आदि के सम्बन्ध में विवेचन करने से नीरस हो गई है।

निरयावलिकावृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति निरयावलिका के पाँच उपांगों पर है। निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला, वृष्णिदशा—इन पाँच उपाङ्गों पर इस वृत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी वृत्ति उपलब्ध नहीं है। यह वृत्ति बहुत ही संक्षिप्त शब्दार्थ प्रधान है। वृत्ति के प्रान्त में वृत्तिकार का नाम, उनके गुरु का नाम और उनके वृत्ति लेखन का समय व उनके स्थल आदि का कुछ भी निर्देश नहीं है। वृत्ति का ग्रन्थमान ६०० श्लोक प्रमाण है।

जीतकल्पबृहद्चूर्णिविषमपदव्याख्या

प्रस्तुत व्याख्या सिद्धसेनगणी विरचित जीतकल्पबृहद्चूर्णि के विषम पदों के विवेचन की दृष्टि से की गई है। इस व्याख्या में कठिन पदों की व्याख्या करना ही वृत्तिकार का लक्ष्य रहा है। यत्र-तत्र इसमें प्राकृत गाथायें भी उद्धृत की गई हैं। प्रस्तुत व्याख्या वि० सं० १२२७ में भगवान महावीर की जयंती के दिन परिसमाप्त हुई है। इसका ग्रन्थमान ११२० श्लोक प्रमाण है।

अन्य टीकायें

समस्त आगम टीकाओं का विस्तृत परिचय देना यहाँ पर सम्भव नहीं है। अब हम प्रमुख टीकाकार और उनके ग्रन्थों का संक्षेप में ही निर्देश कर रहे हैं जिससे कि विज्ञों को परिज्ञात हो सके कि टीका साहित्य कितना विराट है।

टीकाकार	ग्रन्थ
(१) श्रीतिलकसूरि (१२वीं शताब्दी)	आवश्यकसूत्र, जीतकल्पवृत्ति दशवैकालिकवृत्ति।
(२) क्षेमकीर्ति	मलयगिरि रचित बृहद्कल्प की अपूर्ण टीका।
(३) भुवनतुङ्गसूरि (महेन्द्र सूरि के शिष्य थे। वि० सं० १२९४)	चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान और संस्तारक पर टीकाएँ।
(४) गुणरत्न (वि० सं० १४८४)	भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान प्रकरणों की टीकाएँ।

टीकाकार	ग्रन्थ
(५) विजयविमल (वि० सं० १६३४)	तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार की टीकाएँ।
(६) वानरर्षि	गच्छाचार प्रकरण की वृत्ति।
(७) हीरविजयसूरि (वि० सं० १६३९)	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका।
(८) शान्तिचन्द्रगणी (वि० सं० १६६०)	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर प्रमेयरत्न मंजूषा की टीका।
(९) जिनहंस (वि० सं० १५८२)	आचाराङ्ग की टीका
(१०) हर्षकुल (वि० सं० १५८३)	सूत्रकृताङ्गदीपिका, भगवती-टीका और उत्तराध्ययनटीका
(११) लक्ष्मीकल्लोलगणी (वि० सं० १५९६)	आचाराङ्गवृत्ति, ज्ञाता-धर्म-कथावृत्ति
(१२) दानशेखर	व्याख्याप्रज्ञप्ति लघुवृत्ति
(१३) विनयहंस	उत्तराध्ययनवृत्ति, दशवैकालिकवृत्ति
(१४) जिनभट्ट	आवश्यकवृत्ति
(१५) नमिसाधु (वि० सं० ११२२)	आवश्यकवृत्ति
(१६) ज्ञानसागर (सं० १४४०)	"
(१७) माणिक्यशेखर	"
(१८) शुभवर्द्धनगणी (सं० १५४०)	"
(१९) धीरसुन्दर (सं० १५००)	"
(२०) श्रीचंद्रसूरि (सं० १२२२)	"
(२१) कुलप्रभ	"
(२२) राजवल्लभ	"
(२३) हितरुचि (सं० १६९७)	"
(२४) अजितदेवसूरि	आचाराङ्गवृत्ति
(२५) पार्श्वचन्द्र (सं० १५७२)	"
(२६) माणिक्यशेखर	"
(२७) साधुरङ्ग उपाध्याय (सं० १५९९)	सूत्रकृताङ्गवृत्ति
(२८) नगर्षिगणी (सं० १६५७)	स्थानांगवृत्ति
(२९) पार्श्वचन्द्र	"

टीकाकार	ग्रन्थ
(३०) सुमतिकल्लोल	स्थानांगवृत्ति
(३१) हर्षनंदन (सं० १७०५)	,,
(३२) मेघराज वाचक	समवायाङ्ग
(३३) भावसागर	व्याख्याप्रज्ञप्ति
(३४) पद्मसुन्दरगणि	भगवती-व्याख्या
(३५) कस्तूरचन्द्र (सं० १८९९)	ज्ञाताधर्मकथा
(३६) हर्षवल्लभ उपाध्याय (सं० १६९३)	उपासकदशाङ्ग
(३७) विवेकहंस	उपासकदशांगवृत्ति
(३८) ज्ञानविमलसूरि	प्रश्नव्याकरणवृत्ति
(३९) पार्श्वचन्द्र	,,
(४०) अजितदेवसूरि	,,
(४१) राजचन्द्र	औपपातिकवृत्ति
(४२) पार्श्वचन्द्र	,,
(४३) राजचन्द्र	राजप्रश्नीयवृत्ति
(४४) रत्नप्रभसूरि	,,
(४५) समरचन्द्रसूरि	,,
(४६) पद्मसागर (सं० १७००)	जीवाभिगम
(४७) जीवविजय (सं० १७८४)	प्रज्ञापना
(४८) पुण्यसागर (सं० १६४५)	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
(४९) विनयराजगणी	चतुःशरण
(५०) पार्श्वचन्द्र	,,
(५१) विनयसेनसूरि	,,
(५२) हेमचन्द्रगणि	आतुरप्रत्याख्यान
(५३) समरचन्द्र (सं० १६०३)	संस्तारकवृत्ति
(५४) पार्श्वचन्द्र	तन्दुलवैचारिक
(५५) सौभाग्यसागर	बृहद्कल्प
(५६) कीर्तिवल्लभ (सं० १५५२)	उत्तराध्ययन
(५७) उपाध्याय कमलसंयत (सं० १५५४)	,,
(५८) तपोरत्नवाचक (सं० १५५०)	,,
(५९) गुणशेखर	,,

टीकाकार	ग्रन्थ
(६०) लक्ष्मीवल्लभ	उत्तराध्ययन
(६१) भावविजय (सं० १६८६)	"
(६२) हर्षनंदगणी	"
(६३) धर्ममंदिर उपाध्याय (सं० १७५०)	"
(६४) उदयसागर (सं० १५४६)	"
(६५) मुनिचन्द्रसूरि	"
(६६) ज्ञानशीलगणी	"
(६७) अजितचन्द्रसूरि	"
(६८) राजशील	"
(६९) उदयविजय	उत्तराध्ययनवृत्ति
(७०) मेघराजवाचक	"
(७१) नगर्षिगणि	"
(७२) अजितदेवसूरि	"
(७३) माणिक्यशेखर	"
(७४) ज्ञानसागर	"
(७५) सुमतिसूरि	दशवैकालिकवृत्ति
(७६) समयसुन्दर (सं० १६८१)	"
(७७) शान्तिदेवसूरि	"
(७८) सोमविमलसूरि	"
(७९) राजचन्द्र (सं० १६६७)	"
(८०) पार्श्वचन्द्र	"
(८१) मेरुसुन्दर	"
(८२) माणिक्यशेखर	"
(८३) ज्ञानसागर	"
(८४) क्षमारत्न	पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति
(८५) माणिक्यशेखर	"
(८६) जयदयाल	नन्दिवृत्ति
(८७) पार्श्वचन्द्र	"
(८८) ज्ञानसागर (सं० १४३९)	ओघनिर्युक्ति
(८९) माणिक्यशेखर	"
(९०) ब्रह्ममुनि (ब्रह्मर्षि)	दशाश्रुतस्कन्धवृत्ति

इन टीकाकारों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक टीकाकार हुए हैं जिन्होंने टीकाओं का निर्माण किया है। कल्पसूत्र भी जो अत्यधिक लोकप्रिय जैन आगम है उस पर भी अनेक टीकाएं निर्मित हुई हैं। कल्पसूत्र और उसकी टीकाओं का संक्षेप में परिचय निम्न प्रकार है।

कल्पसूत्र और उसकी टीकाएँ

नन्दीसूत्र में आगम साहित्य की विस्तृत सूची प्राप्त होती है। आगम की सभी शाखाओं का निरूपण उसमें किया गया है। सर्वप्रथम आगम को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य—दो रूपों में विभक्त कर फिर अंगबाह्य और आवश्यकव्यतिरिक्त इन दो भागों में विभक्त किया है। उसके पश्चात् आवश्यकव्यतिरिक्त के भी दो भेद किये हैं—कालिक और उत्कालिक। कालिकसूत्र की सूची में एक कल्प का नाम आया है जो वर्तमान में वृहत्कल्प नाम से जाना-पहचाना जाता है और उत्कालिक श्रुत की सूची में 'चुल्लकल्पश्रुत' और 'महाकल्पश्रुत' इन दो कल्पसूत्रों के नाम आये हैं। मुनिश्री कल्याणविजयजी का मानना है कि महाकल्प का विच्छेद हुए हजार वर्ष से भी अधिक समय हो गया है, और चुल्लकल्पश्रुत को ही आज पर्युषणा कल्पसूत्र कहते हैं[1]। परन्तु इस मत के समर्थन में उन्होंने किसी भी प्राचीन ग्रन्थ का आधार प्रस्तुत नहीं किया है।

आगमप्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि 'महाकल्प और चुल्लकल्प' आगम नन्दीसूत्रकार देववाचकगणी (देवर्द्धिगणी) क्षमाश्रमण के समय भी नहीं थे। उन्होंने उस समय कुछ यथाश्रुत एवं कुछ यथादृष्ट नामों का संग्रह मात्र किया है, अतः चुल्लकल्पश्रुत को पर्युषणा कल्पसूत्र मानने का मुनिश्री कल्याणविजयजी का अभिमत युक्तियुक्त और आगम सम्मत नहीं है।[2]

स्थानाङ्गसूत्र में दशाश्रुतस्कंध का नाम "आयारदसा" (आचार-दशा) दिया है। उसके दस अध्ययन हैं और उनमें आठवां अध्ययन पर्युषणा-

---

१ प्रबन्ध पारिजात—मुनिश्री कल्याणविजयजी, पृ० १३४।

२ लेखक के नाम लिखे पत्र का संक्षिप्त सारांश, पत्र-विक्रम संवत २०२४ वैशाख सुदी ५ शुक्रवार अहमदाबाद से।

कल्प है ।[1] वर्तमान में जो पर्युषणाकल्पसूत्र है, वह दशाश्रुतस्कंध का ही आठवाँ अध्ययन है ।

दशाश्रुतस्कंध की प्राचीनतम प्रतियाँ (१४ वीं शताब्दी से पूर्व की) जो पुण्यविजयजी महाराज के असीम सौजन्य से मुझे देखने को मिली हैं, उनमें आठवें अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र आया है जो यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि कल्पसूत्र कोई स्वतंत्र एवं मनगढ़न्त रचना नहीं है अपितु दशाश्रुतस्कंध का ही आठवाँ अध्ययन है ।

दूसरी बात दशाश्रुतस्कंध पर द्वितीय भद्रबाहु की जो निर्युक्ति है, जिसका समय विक्रम की छठी शताब्दी है, उसमें और उस निर्युक्ति के आधार से निर्मित चूर्णि में दशाश्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन में, वर्तमान में प्रचलित पर्युषणाकल्पसूत्र के पदों की व्याख्या मिलती है । मुनिश्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि दशाश्रुतस्कंध की चूर्णि लगभग सोलह सौ वर्ष पुरानी है ।[2]

प्रश्न हो सकता है कि आधुनिक दशाश्रुतस्कंध की प्रतियों में कल्पसूत्र लिखा हुआ क्यों नहीं मिलता ? इसका उत्तर यही है कि जब से कल्पसूत्र का वाचन पृथक् रूप से प्रारम्भ हुआ, तब से दशाश्रुतस्कंध में से वह अध्ययन कम कर दिया गया होगा । यदि पहले से ही वह उसमें सम्मिलित न होता तो निर्युक्ति और चूर्णि में उसके पदों की व्याख्या न आती ।

स्थानकवासी जैन परम्परा दशाश्रुतस्कंध को प्रामाणिक आगम स्वीकार करती है तो कल्पसूत्र को जो उसी का एक विभाग है, अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता । मूल कल्पसूत्र में ऐसा कोई प्रसंग या घटना नहीं है जो स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के विपरीत हो। श्रमण भगवान महावीर की जीवन झाँकी का वर्णन भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से विपरीत नहीं है । अन्य तीर्थङ्करों का वर्णन जैसा सूत्ररूप में अन्य आगम साहित्य में बिखरा पड़ा है, उसी प्रकार का इसमें भी है। सामाचारी

---

१ आचारदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—वीसं असमाहिठाणा, एगवीसं सबला, तीतीसं आसायणाओ अट्ठविहा गणी संपया, दस चित्तसमाहिठाणा, एगारस उवासगपडिमाओ, बारस भिक्खुपडिमाओ, पज्जोसवण-कप्पो, तीसं मोहणिज्जठाणा, आजाइट्ठाणं—स्थानाङ्ग १० स्थान ।

२ कल्पसूत्र प्रस्तावना, पृ० ८—पुण्यविजयजी ।

का वर्णन भी आगम-सम्मत है। स्थविरावली का निरूपण भी कुछ परिवर्तन के साथ नन्दीसूत्र में आया ही है। अतः हमारी दृष्टि से कल्पसूत्र को प्रामाणिक मानने में बाधा नहीं है।

पाश्चात्य विचारकों का अभिमत है कि कल्पसूत्र में चौदह स्वप्नों का आलंकारिक वर्णन पीछे से जोड़ा गया है एवं स्थविरावली तथा सामाचारी का कुछ अंश भी बाद में प्रक्षिप्त हुआ है। पं० मुनिश्री पुण्यविजयजी का मन्तव्य है कि उन विचारकों के कथन में अवश्य ही कुछ सत्य तथ्य रहा हुआ है। क्योंकि कल्प-सूत्र की प्राचीनतम प्रति वि० संवत् १२४७ की ताडपत्रीय प्राप्त हुई है। उसमें चौदह स्वप्नों का वर्णन नहीं है। कुछ प्राचीन प्रतियों में स्वप्नों का वर्णन आया भी है तो अति संक्षिप्त रूप से आया है। निर्युक्ति, चूर्णि एवं पृथ्वीचन्द्र टिप्पण आदि में भी स्वप्न सम्बन्धी वर्णन की व्याख्या नहीं है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आज कल्पसूत्र में स्वप्न सम्बन्धी जो आलंकारिक वर्णन है, वह एक हजार वर्ष से कम प्राचीन नहीं है। यह किसके द्वारा निर्मित है, यह अन्वेषणीय है।[1]

कल्पसूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि आदि से यह सिद्ध है कि इन्द्र-आगमन, गर्भ-संक्रमण, अट्टणशाला, जन्म, प्रीतिदान, दीक्षा, केवलज्ञान, वर्षावास, निर्वाण, अन्तकृतभूमि, आदि का वर्णन उसके निर्माण के समय कल्पसूत्र में था और यह भी स्पष्ट है कि जिनचरितावली के साथ उस समय स्थविरावली और सामाचारी विभाग भी था।[2]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थविरावली में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक के जो नाम आये हैं, वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा वर्णित नहीं हैं अपितु आगम वाचना के समय इसमें संकलित कर दिये गये हैं।

---

१ कल्पसूत्र—प्रस्तावना, पृ० ६ का सारांश पुण्यविजयजी।

२ (क) पुरिमचरिमाण कप्पो, मंगल्लं वद्धमाणतित्थम्मि। इह परिकहिया जिण-गण-हराइथेरावलि चरित्तं, —कल्पसूत्रनिर्युक्ति ६२

(ख) पुरिमचरिमाण य तित्थगराणं एस मग्गो चेव जहा वासावासं पज्जोसवेयव्वं पडतु वा वासं मा वा। मज्झिमगाणं पुण भयितं।
अवि य वद्धमाणतित्थम्मि मंगलणिमित्तं जिणगणहर (राइथेरा) वलिया सव्वेसि च जिणाणं समोसरणाणि परिकहिज्जंति।
—कल्पसूत्रचूर्णि, पृ० १०१—पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित

मुनिश्री पुण्यविजयजी के अभिमतानुसार सामाचारी विभाग में "अन्तरा वि से कप्पइ नो से कप्पइ तं रयणिं उवायणा वित्तए" यह पाठ संभवत: आचार्य कालक के बाद बनाया गया है।[1]

संक्षेप में सार यह है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा रचित कल्पसूत्र में अन्य आगमों की तरह कुछ अंश प्रक्षिप्त हुआ है, उसी को देखकर श्री वेबर ने यह धारणा बनायी है कि कल्पसूत्र का मुख्य भाग देवर्द्धिगणी के द्वारा रचित है।[2] और मुनिश्री अमरविजयजी के शिष्य चतुरविजयजी ने द्वितीय भद्रबाहु की रचना मानी है।[3] यह दोनों मान्यताएँ प्रामाणिक नहीं हैं।

आज अनेकानेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कल्पसूत्र श्रुतकेवली भद्रबाहु की रचना है।[4] जब दशाश्रुतस्कंध भद्रबाहु निर्मित है तो कल्पसूत्र उसी का एक विभाग होने से वह भी भद्रबाहु द्वारा ही निर्मित है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कंध आदि जो आगम लिखे, वे कल्पना प्रसूत नहीं हैं। उन्होंने दशाश्रुतस्कंध, निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प ये सभी आगम नौवें पूर्व के प्रत्याख्यान विभाग से उद्धृत किये हैं।[5] पूर्व गणधरकृत हैं तो ये आगम भी पूर्वों से निर्यूढ़ होने के कारण एक दृष्टि से गणधरकृत हो जाते हैं।

दशाश्रुतस्कंध छेदसूत्र में परिगणित होने पर भी प्रायश्चित्त सूत्र नहीं है किन्तु आचारसूत्र है। एतदर्थं आचार्यों ने इसे चरणकरणानुयोग के विभाग में लिया है।[6] छेदसूत्रों में दशाश्रुतस्कंध को मुख्य स्थान दिया

---

१ कल्पसूत्र प्रस्तावना

२ इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द २१, पृ० २१२-२१३।

३ मंत्राधिराज-चिन्तामणि-जैन स्तोत्र संदोह, प्रस्तावना पृ० १२-१३, प्रकाशक—साराभाई माणिलाल नवाब, अहमदाबाद सन् १८३६।

४ (क) वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयणाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे॥
—दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, गा० १

(ख) तेण भगवता आयारपकप्प दसाकप्प ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।
—पंचकल्पभाष्य, गा० २३ चूर्णि

५ कतरं सुत्तं ? दसाउकप्पो ववहारो य। कतरातो उद्धृतं ? उच्यते—पच्चक्खाणपुव्वाओ।
—दशाश्रुतस्कंधचूर्णि, पत्र २।

६ इहं चरणकरणाणुओगेण अधिकारो।
—दशाश्रुतस्कंधचूर्णि, पत्र २।

गया है।[1] जब दशाश्रुतस्कन्ध छेदसूत्रों में मुख्य है तो उसी का विभाग होने से कल्पसूत्र की मुख्यता भी स्वतःसिद्ध है। दशाश्रुतस्कन्ध का उल्लेख मूलसूत्र उत्तराध्ययन के इकतीसवें अध्ययन में भी हुआ है।[2]

निर्युक्ति-चूर्णि

कल्पसूत्र की सबसे प्राचीन व्याख्या कल्प-निर्युक्ति और कल्पचूर्णि है। निर्युक्ति गाथा रूप पद्य में है और चूर्णि गद्य रूप में है। दोनों की भाषा प्राकृत है। निर्युक्ति के रचयिता द्वितीय भद्रबाहु हैं। चूर्णि के रचयिता के सम्बन्ध में अभी कोई निर्णय नहीं हो सका है।

कल्पान्तर्वाच्य

निर्युक्ति और चूर्णि के पश्चात् कल्पान्तर्वाच्य प्राप्त होते हैं। ये व्याख्या ग्रन्थ नहीं है अपितु वक्ता कल्पसूत्र का वाचन करते समय प्रवचन को सरस बनाने के लिए अन्यान्य ग्रन्थों से जो नोट्स लेता था उन्हें ही यहाँ कल्पान्तर्वाच्य की संज्ञा दी गई है। जितने कल्पान्तर्वाच्य प्राप्त होते हैं वे सभी एक ही लेखक की प्रतिलिपियाँ नहीं हैं, अपितु विविध लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से उनको तैयार किया है। कुछ लेखक तपागच्छीय, कुछ खरतरगच्छीय और कुछ अंचलगच्छीय रहे हैं। उनमें आयी हुई साम्प्रदायिक मान्यताओं के वर्णन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। एक कल्पान्तर्वाच्य को श्री सागरानन्द सूरि ने 'कल्प समर्थन' के नाम से प्रसिद्ध कराया है।

टीकाएं

जैनाचार्यों ने संस्कृत वाङ्मय का अत्यधिक प्रचलन देखकर आगमों पर भी संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। कल्पसूत्र की टीकाओं में निर्युक्ति और चूर्णि के प्रयोग के साथ ही अपनी ओर से भी लेखकों ने बहुत कुछ नयी सामग्री संकलित की है।

सन्देहविषौषधिकल्पपंजिका

इस टीका के रचयिता जिनप्रभसूरि हैं। बृहट्टिप्पनिका के अभिमतानुसार टीका का रचना काल सं० १३६४ है। श्लोक परिमाण २५०० के

---

१ इमं पुणच्छेयसुतपमुहभूतं। —दशाश्रुतस्कंधचूर्णि, पत्र २।

२ पणवीसभावणाहि उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥ —उत्तरा० अ० ३१, गा० १७

लगभग है। भाषा प्रौढ़ है। कहीं-कहीं अनागमिक वर्णन भी आ गया है।[1] इन्होंने भगवान महावीर के षट् कल्याणकों की चर्चा भी की है।

कल्पकिरणावली

इस टीका के निर्माता तपागच्छीय उपाध्याय श्री धर्मसागर हैं। विक्रम संवत् १६२८ में इसका निर्माण हुआ है। श्लोक परिमाण ४८१४॥ है।[2] इस टीका की परिसमाप्ति राधनपुर में हुई है। इतिवृत्त सम्बन्धी अनेक भूलें टीका में दृष्टिगोचर होती हैं और साथ ही सन्देहविषौषधि टीका का स्पष्ट प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

प्रदीपिकावृत्ति

इसके टीकाकार पन्यास संघविजय हैं। टीका का परिमार्जन उपाध्याय धनविजय ने १६८१ में किया था। श्लोक परिमाण ३२५० है। टीका की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि लेखक खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से अलग-थलग रहा है। पूर्व टीकाओं की तरह इस टीका में भी कुछ स्थलों पर त्रुटियाँ अवश्य हुई हैं।

कल्पदीपिका

इस टीका के लेखक पन्यास जयविजयजी हैं[3] और संशोधनकर्ता हैं भावविजयगणी। विक्रम सं० १६७७ की कार्तिक शुक्ला सप्तमी को यह टीका समाप्त हुई है। लेखक ने प्रशस्ति में अपने गुरु का नाम उपाध्याय विमल हर्ष दिया है। श्लोक परिमाण ३४३२ है। भाषा प्राञ्जल है। अपने विरोधी मन्तव्यों का खण्डन भी किया है पर मधुरता एवं शिष्टता के साथ और तर्कसंगत। पाठकों को वह खण्डन अखरता नहीं है।

कल्पप्रदीपिका

इस टीका के रचयिता संघविजयजी हैं। विक्रम सं० १६७६ में यह टीका समाप्त हुई है।[4]

कल्पसुबोधिका

इस टीका के रचयिता उपाध्याय विनयविजय जी हैं। विक्रम सं० १६९६ में यह टीका निर्मित की गई है। पूर्व की सभी टीकाओं से प्रस्तुत टीका विस्तृत है। भापा की सरलता एवं विपय की सुबोधता के कारण अन्य टीकाओं से अधिक लोकप्रिय हुई है। कल्पकिरणावली और कल्पदीपिका टीकाओं का खण्डन-मण्डन भी यत्र-तत्र किया गया है। टीका का श्लोक परिमाण ५४०० है। प्रशस्ति[1] से स्पष्ट है टीका का संशोधन उपाध्याय भावविजयजी ने किया था।

कल्पकौमुदी

इस टीका के लेखक उपाध्याय शान्तिसागरजी हैं। विक्रम सं० १७०७ में उन्होंने यह टीका पाटण में लिखी। श्लोक संख्या ३७०७ है। टीका में उपाध्याय विनयविजयजी की कटु आलोचना की गई है। उपाध्यायजी ने सुबोधिका टीका में जो कल्पकिरणावली टीका का खण्डन किया है, उसी का प्रत्युत्तर इसमें दिया गया है।

कल्पव्याख्यानपद्धति

इसके संकलनकार वाचक श्री हर्षसार के शिष्य श्री शिवनिधान गणी हैं। यह अपूर्ण है। मुनिश्री कल्याणविजयजी के अभिमतानुसार इसकी रचना १७वीं शताब्दी में होनी चाहिए।

कल्पद्रुमकलिका

इस टीका के रचयिता खरतरगच्छीय उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ हैं। टीका में रचनाकाल का निर्देश नहीं किया गया है। भगवान पार्श्व के

---

१ तस्य स्फुरदुरुकीर्त्तेर्वाचकवरकीर्तिविजयपूज्यस्य।
विनयविजयो विनेयः सुबोधिकां व्यरचयत् कल्प ॥१२॥
समशोधयंस्तथैनां पण्डितसंविग्नसहृदयावतंसाः।
श्रीविमलहर्षवाचकवंशे मुक्तामणिसमानाः ॥१३॥
धिपणानिर्जितधिपणाः सर्वत्र प्रसृतकीर्तिकर्पूराः।
श्रीभावविजयवाचककोटीराः शास्त्रवसुनिकषाः ॥१४॥
रसनिधिरसशशिवर्षे ज्येष्ठे मासे समुज्ज्वले पक्षे।
गुरुपुष्ये यत्नोऽयं सफलो जज्ञे द्वितीयायाम् ॥१५॥
श्रीरामविजयपण्डितशिष्यश्रीविजयविबुधमुख्यानाम्।
अभ्यर्थनापि हेतुर्विज्ञेयोऽस्याः कृतौ विवृतेः ॥१६॥

जीवन में सर्पयुगल सम्बन्धी घटना तथा भगवान के मुखारविन्द से महामंत्र सुनाने की घटना श्वेताम्बर चरित्र ग्रन्थों से विपरीत है।[1]

कल्पलता

इस टीका के रचयिता समयसुन्दरगणी हैं। विक्रम सं० १६९९ के आस-पास उन्होंने यह रचना की है। वृत्ति का ग्रन्थमान ७७०० श्लोक प्रमाण है। हर्षवर्धन ने इस टीका का संशोधन किया है। लेखक ने खरतरगच्छीय मान्यताओं को लक्ष्य में रखकर टीका निर्माण करने का संकल्प किया है।

कल्पसूत्रटिप्पनक

इसके रचयिता आचार्य पृथ्वीचन्द्रसूरि हैं। उन्होंने टिप्पण के अन्त में अपना परिचय दिया है। वे देवसेनगणी के शिष्य हैं। देवसेनगणी के गुरु यशोभद्र हैं और वे राजा शाकंभरी को प्रतिबोध देने वाले धर्मघोष सूरि के शिष्य हैं। धर्मघोष सूरि के गुरु चन्द्रकुलावतंसक आचार्य शीलभद्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हैं।[2] पं० मुनिश्री पुण्यविजयजी के अभिमतानुसार वे चौदहवीं शताब्दी में होने चाहिए। श्लोक परिमाण ६८५ है।

कल्पप्रदीप

इस टीका के रचयिता संघविजयगणी हैं।

---

१ तओ भगवया णिययपुरिसवयणेण दवाविओ से पंचणमोक्कारो पच्चक्खाणं च, पडिच्छियं तेण। —चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृ० २६२

२ चन्द्रकुलाम्बरशशिनश्चारित्रश्रीसहस्रपत्रस्य।
श्रीशीलभद्रसूरेर्गुणरत्नमहोदधेः शिष्यः ॥१॥
अभवद् वादिमदहरषट्तर्काम्भोजबोधनदिनेशः।
श्रीधर्मघोषसूरिर्बोधितशाकम्भरीनृपतिः ॥२॥
चारित्राम्भोधिशशी त्रिवर्गपरिहारजनितबुधहर्षः।
दर्शितविधिः शमनिधिः सिद्धान्तमहोदधिप्रवरः ॥३॥
बभूव श्रीयशोभद्रसूरिस्तच्छिष्यशेखरः।
तत्पादपद्ममधुपोऽभूच्छ्रीदेवसेनगणिः ॥४॥
टिप्पनकं पर्युषणाकल्पस्यालिखदवेक्ष्य शास्त्राणि।
तच्चरणकमलमधुपः श्रीपृथ्वीचन्द्रसूरिरिदम् ॥५॥
इह यद्यपि न स्वधिया विहितं किञ्चित् तथापि बुधवर्गः।
संशोध्यमधिकमूनं यद् भणितं स्वपरबोधाय ॥६॥
—कल्पसूत्र टिप्पनकम्, पृ० २३—पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित

कल्पसूत्रार्थप्रबोधनी

इस टीका के निर्माता अभिधान राजेन्द्रकोष के सम्पादक श्री राजेन्द्र सूरि हैं। यह टीका बहुत विस्तृत है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त कल्पसूत्रवृत्ति (उदयसागर), कल्पदुर्गपद निरुक्ति, पर्युषणाष्टाह्निका व्याख्यान, पर्युषणपर्व विचार, कल्पमंजरी रत्नसागर, कल्पसूत्र ज्ञान दीपिका (ज्ञान विजय), अवचूर्णि, अवचूरि, टब्बा आदि अनेक टीकाएँ व अनुवाद उपलब्ध होते हैं। डाक्टर हर्मन जेकोबी ने कल्पसूत्र का इंग्लिश में अनुवाद प्रकाशित किया है और उस पर महत्वपूर्ण भूमिका भी लिखी है। पं० बेचरदासजी ने उसका गुजराती में अनुवाद किया है। स्थानकवासी मुनि उपाध्याय श्री प्यारचन्दजी महाराज ने संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद किया है। सुत्तागमे के द्वितीय भाग में मुनि पुप्फभिक्खुजी ने भी मूलकल्पसूत्र छपवाया है। पूज्य पं० मुनिश्री घासीलालजी महाराज ने नवीन कल्पसूत्र का निर्माण किया है। इस प्रकार कल्पसूत्र पर विशाल व्याख्या साहित्य समय-समय पर निर्मित हुआ है, जो उसकी लोकप्रियता का ज्वलंत प्रमाण है।

आचार्य श्री घासीलालजी महाराज

२०वीं सदी में स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्री घासीलालजी महाराज का जन्म सं० १९४१ में उदयपुर के सन्निकट जसवन्तगढ़ मेवाड़ में हुआ। उनकी माँ का नाम विमलाबाई और पिता का नाम प्रभुदत्त था। जवाहराचार्य के पास उन्होंने आर्हती दीक्षा ग्रहण की और स्थानकवासी परम्परा मान्य ३२ आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ निर्माण कीं। आपकी टीकाओं की शैली व्यास है। कई विषयों में पुनरावृत्तियाँ भी हुई हैं। परम्परा की मान्यताओं को पुष्ट करने का लेखक का प्रयास रहा है। अनेक ग्रन्थों के उद्धरण टीका में दिये हैं किन्तु उन स्थलों का निर्देश नहीं किया गया है। जिज्ञासुओं के लिए ये टीकाएँ बहुत ही उपयोगी हैं। ३२ आगमों पर एक साथ टीका करने वाले ये सर्वप्रथम आचार्य हैं। टीकाओं में कहीं-कहीं पर लेखक का स्वतन्त्र चिन्तन उजागर हुआ है।

इस प्रकार आगम साहित्य पर जो विराट टीका साहित्य लिखा गया है उसमें आगमों के तथ्यों का उद्घाटन करते हुए आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, योगशास्त्र, नागरिकशास्त्र, भूगोल-खगोल, राज-

नीति, चरित्र, धर्म और संस्कृति, प्रभृति अनेक विषयों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है।

लोकभाषाओं में रचित व्याख्याएँ

संस्कृत, प्राकृत भाषाओं में टीकाओं की संख्या अत्यधिक बढ़ जाने और उन टीकाओं में दार्शनिक चर्चाएँ चरमसीमा पर पहुँच जाने पर उन भाषाओं से अनभिज्ञ जनसाधारण के लिए उनको समझना कठिन था। तब जनहित की दृष्टि से आगमों के शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएँ बनाई गई और वे भी लोक भाषाओं में सरल और सुबोध शैली में लिखी गईं। फलस्वरूप राजस्थानी मिश्रित प्राचीन गुजराती जिसे अपभ्रंश कहा जाता है उसमें साधु रत्नसूरि के शिष्य पार्श्वचंद्रगणि ने वि० सं० १५७२ में आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि पर बालावबोध रचनाएँ कीं।

धर्मसिंहमुनि

विक्रम की १८वीं शताब्दी में (लोकागच्छीय) स्थानकवासी आचार्य मुनि धर्मसिंहजी ने टब्बाओं का निर्माण किया। ये सौराष्ट्र के जामनगर के निवासी थे। दशाश्रीमाली जिनदास के पुत्र थे। उनकी माता का नाम शिवा था। १५ वर्ष की उम्र में उन्होंने लोकागच्छ के आचार्य रत्नसिंहजी के शिष्य शिवजी मुनि के उपदेश को श्रवण कर पिता के साथ यति दीक्षा ग्रहण की। शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् उन्हें यह अनुभव हुआ कि यति वर्ग का आचरण शास्त्र के अनुकूल नहीं है। उन्होंने अपने विचार गुरु के समक्ष प्रस्तुत किये और क्रान्ति करने के लिए निवेदन भी किया। शिवजी यति को धर्मसिंहजी का कथन पूर्ण सत्य प्रतीत हुआ, किन्तु उन्होंने कहा कि इस समय रुको, बाद में इस पर चिन्तन करेंगे और संघ की आचार की दृष्टि से सुधार कर हम दोनों पुनः प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे।

धर्मसिंहमुनि ने सोचा जब गुरुजी भी इस कार्य के लिए प्रस्तुत हैं तो मुझे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। इन्हें सुधार करने के लिए अवसर देना चाहिए। धर्मसिंहमुनि ने आगमों का गहन अध्ययन प्रारम्भ किया और साथ ही आगम ग्रंथों पर टब्बा (टिप्पण) लिखना प्रारंभ किया। व्याख्याप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के अतिरिक्त शेष स्थानकवासी परम्परा सम्मत २७ आगमों पर बालावबोध

टब्बे लिखे। धर्मसिंहजी महाराज के टब्बे मूलस्पर्शी एवं अर्थ को स्पष्ट करने वाले हैं। ये टब्बे साधारण व्यक्तियों के लिए आगमों के अर्थ को समझने के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध हुए। पर परिताप है कि अभी तक कोई भी टब्बा प्रकाशित नहीं हुआ।

धर्मसिंह मुनि दीर्घकाल तक प्रतीक्षा करते रहे पर जब गुरुजी में कोई परिवर्तन नहीं आया तो उन्होंने पुनः निवेदन किया। यति शिवजी ने अपने शिष्य की परीक्षा लेने हेतु कहा कि अहमदाबाद के उत्तर की ओर दरियाखान नामक जो दर्गाह है वहाँ पर रात्रि भर रहो। वे वहाँ पर रात्रि भर रहे और अपने आध्यात्मिक बल से दरियाखान के यक्ष को प्रतिबोध दिया तथा प्रातः शिवजी यति की अनुमति ग्रहण कर दरियापुर दरवाजे के बाहर ईशान कोण में पुनः शुद्ध आर्हत संयम स्वीकार किया। प्रस्तुत घटना वि० सं० १६८५ की है। एक प्राचीन कविता में भी यही भाव व्यक्त किया गया है :

संवत सोल पचासिए, अमदाबाद मझार।
शिवजी गुरु को छोड़के, धर्मसि हुआ गच्छबहार॥

धर्मसिंह मुनि का विचरण क्षेत्र सौराष्ट्र और गुजरात रहा है। उन्होंने २७ टब्बों के अतिरिक्त समवायाङ्ग की हुन्डी, भगवती का यन्त्र, प्रज्ञापना का यंत्र, स्थानाङ्ग का यंत्र, जीवाभिगम का यन्त्र, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति का यन्त्र, चन्द्रप्रज्ञप्ति का यन्त्र, सूर्यप्रज्ञप्ति का यन्त्र, राजप्रश्नीय का यन्त्र, व्यवहार की हुन्डी, सूत्र समाधि की हुन्डी, द्रौपदी की चर्चा, सामायिक की चर्चा, साधु सामाचारी, चन्द्रप्रज्ञप्ति की टीप प्रभृति ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त भी उनके रचित ग्रन्थ हैं किन्तु अभी तक कोई भी ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है।

अनुवाद युग

टब्बा के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध होता है—अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी।

अंग्रेजी अनुवाद—जर्मन विद्वान डॉ० हर्मन जेकोबी ने आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन और कल्पसूत्र इन चार आगमों का अंग्रजी में

अनुवाद किया। कल्पसूत्र और आचाराङ्ग पर उनकी महत्त्वपूर्ण भूमि
है। अभ्यङ्कर ने दशवैकालिक का अंग्रेजी अनुवाद किया है। इ
अतिरिक्त उपासकदशाङ्ग, अन्तकृतदशाङ्ग, अनुत्तरोपपातिकदशा, वि
और निरयावलिका सूत्र के अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुके हैं।

गुजराती अनुवाद—आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान्
बेचरदासजी दोशी ने भगवतीसूत्र, राजप्रश्नीय, ज्ञाताधर्मकथा
उपासकदशाङ्ग सूत्र के अनुवाद प्रकाशित किये हैं। विशेष स्थलों
महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी हैं और प्रारम्भ में भूमिका भी दी गयी है।

जीवाभाई पटेल ने भी अनेक आगम टिप्पण सहित
किये हैं।

पं० दलसुखभाई मालवणिया ने स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग
अनुवाद प्रकाशित किया है। इसमें अनेक स्थलों पर महत्त्वपूर्ण तुलना
दृष्टि से टिप्पण दिये गये हैं जिसमें मालवणिया जी का पांडित्य स्पष्ट
से झलक रहा है।

मुनि संतबालजी ने आचाराङ्ग, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन
अनुवाद प्रकाशित किये हैं। विशेष स्थलों पर टिप्पण भी लिखे गये हैं।

श्री प्रेम जिनागम प्रकाशन समिति घाटकोपर बम्बई से मूल
गुजराती अनुवाद सहित आगम प्रकाशित हुए हैं जिनके मुख्य सम्पादक
पण्डित शोभाचन्द्र जी भारिल्ल हैं और श्रमणी विद्यापीठ में अध्ययन
करने वाली साध्वियों ने इनका अनुवाद किया है। ये आगम मूल व अर्थ
समझने की दृष्टि से जिज्ञासु साधुओं के लिए अतीव उपयोगी हैं।
आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उपासकदशाङ्ग और विपाक ये आगम मुद्रित हो
चुके हैं और ३२ आगमों के प्रकाशन की योजना है।

इनके अतिरिक्त मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के विद्वान् मुनिवरों ने कुछ
आगमों के सुन्दर अनुवाद भी प्रकाशित किये हैं। आगम प्रभावक पुण्य
विजयजी महाराज, दलसुखभाई मालवणिया आदि ने नन्दी, अनुयोगद्वार,
प्रज्ञापना आदि मूल आगम प्रकाशित किये हैं। उन पर उन्होंने बहुत ही
महत्त्वपूर्ण शोध प्रधान गुजराती व अंग्रेजी में प्रस्तावनाएं विस्तार से लिखी
हैं। प्रस्तावनाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन भी किया गया
है। सम्पादन आधुनिक दृष्टि से किया गया है।

हिन्दी अनुवाद

आचार्य अमोलक ऋषिजी महाराज स्थानकवासी परम्परा के एक लब्ध प्रतिष्ठित आचार्य थे। आपके पिता का नाम केवलचन्द, माता का नाम हुलासाबाई था। १९३४ में आपका जन्म हुआ। आपने १९४४ में दीक्षा ग्रहण की और संस्कृत, प्राकृत व आगम साहित्य का अध्ययन कर आगमों का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ किया और तीन वर्ष के स्वल्प समय में बत्तीस आगमों का अनुवाद कर महान श्रुत सेवा की। यह अनुवाद हिन्दी में सर्वप्रथम किया गया। अतः कुछ स्थलों पर अनुवाद जितना स्पष्ट और प्रांजल होना चाहिए उतना नहीं हो सका किन्तु इस अनुवाद से साधारण लोगों को, आगमों को पढ़ने में अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई। प्रथम अनुवाद होने से उनका स्वतः महत्त्व है।

पूज्यश्री आत्मारामजी महाराज पंजाब प्रान्त के थे। वे स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य थे। उन्होंने आगमों का अनुवाद ही नहीं किया किन्तु आगमों पर हिन्दी में व्याख्याएँ भी लिखीं। आपने आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, अनुत्तरोपपातिक, उपासकदशाङ्ग, अनुयोगद्वार, अन्तकृतदशाङ्ग, स्थानाङ्ग आदि आगमों पर हिन्दी में विस्तार से विवेचन लिखा है जो सरल, सुगम व पाठकों को आगम के मर्म को समझने में बहुत ही उपयोगी है।

आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के ज्योतिर्धर आचार्य थे। आपश्री के तत्त्वावधान में सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की टीका का अनुवाद हुआ। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के मूल मात्र का अनुवाद चार भागों में प्रकाशित हुआ है।

पूज्य श्री हस्तीमलजी महाराज ने दशवैकालिक, नन्दी, प्रश्नव्याकरण, अन्तगड आदि आगमों के अनुवाद किये हैं।

प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी महाराज ने आचाराङ्ग का, ज्ञान मुनिजी ने विपाकसूत्र का, मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने ठाणाङ्ग व समवायाङ्ग का, पं० विजयमुनिजी ने अनुत्तरोपपातिक सूत्र का, पण्डित हेमचन्द्रजी ने प्रश्नव्याकरणसूत्र का अनुवाद और विवेचन किया है। ये अनुवाद और विवेचन आधुनिक भाव, भाषा व शैली में किये गये हैं। सेठिया जैन लाइब्रेरी बीकानेर से और संस्कृति रक्षक संघ सैलाना से अनेक

आगमों के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं उनमें भगवती सूत्र का सम्पादन और प्रकाशन सुन्दर हुआ है। अद्यतन शैली में सम्पादन किया है। गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग आदि अनुयोगों में आगम साहित्य के विषयों का पृथक्करण किया गया है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैनागम निर्देशिका में ४५ आगमों की विषय सूची दी गई है।

कविरत्न अमरचन्द्रजी महाराज ने श्रमणसूत्र व सामायिकसूत्र पर सुन्दर भाष्य लिखे हैं। उन्होंने सभाष्य निशीथसूत्र का भी सुन्दर सम्पादन किया है।

दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन कल्पसूत्र पर मैंने भी सम्पादन कर शोध प्रधान विवेचन लिखा है जो हिन्दी में अमर जैन आगम शोध संस्थान गढ़ सिवाना राजस्थान से प्रकाशित हुआ है और उसका गुजराती अनुवाद सुधर्मा ज्ञान मन्दिर कान्दावाडी नं० ४ से प्रकाशित हुआ है।

आचार्य श्री तुलसी जो 'तेरापंथ' समुदाय के तेजस्वी आचार्य हैं। उनके नेतृत्व में पण्डित मुनिश्री नथमलजी ने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराङ्ग व स्थानाङ्ग का सुन्दर सम्पादन किया है और तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विवेचन भी लिखा है। साथ ही दशवैकालिक और उत्तराध्ययन के समीक्षात्मक अध्ययन भी प्रकाशित हुए हैं। 'अंग सुत्ताणि' के तीन भागों में मूल ग्यारह अंग प्रकाशित हुए हैं।

पण्डित मुनिश्री फूलचन्दजी महाराज पुप्फभिक्खु ने सुत्तागमे के नाम से दो भागों में मूल बत्तीस आगम प्रकाशित किये हैं और अत्थागमे के तीन भागों में ग्यारह अंगों का अनुवाद भी प्रकाशित किया है। महासती चन्दनाजी ने उत्तराध्ययन का अनुवाद विशेष टिप्पण सहित प्रकाशित किया है।

इस प्रकार समय-समय पर युग के अनुकूल आगम साहित्य पर विराट व्याख्या साहित्य निर्मित हुआ है जो आगमों के गुरु-गंभीर रहस्यों को समझने में अत्यन्त उपयोगी है। आगमों पर आधुनिक दृष्टि से तुलनात्मक शोध प्रधान व्याख्या साहित्य लिखा जाय, यह युग की माँग है और आगम के उन दार्शनिक तथ्यों पर भी तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन

किया जाय यह अपेक्षित है। आगम रत्नाकर हैं उनमें जितनी गहरी डुबकी लगाई जाएगी, उतने ही अनमोल रत्न प्राप्त होंगे। आवश्यकता है शोधार्थियों को इस सम्बन्ध में अन्वेषणा करने की।

संक्षेप में प्रस्तुत ग्रन्थ में अंग, उपांग, मूल, छेद, प्रकीर्णक, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि व संस्कृत टीकाएँ, लोक भाषाओं में रचित बालवबोध अंग्रेजी, गुजराती व हिन्दी अनुवाद का संक्षेप में परिचय दिया गया है। यह परिचय जिज्ञासुओं के अन्तर्मानस में आगम साहित्य के प्रति अध्ययन-अध्यापन की रुचि जागृत करेगा ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास है।

□

दिगम्बर जैन आगम साहित्य : एक पर्यवेक्षण

षट्खंडागम
कषायपाहुड
तिलोयपण्णत्ति
प्रवचनसार
समयसार
पंचास्तिकाय
नियमसार
दर्शनप्राभृत
चारित्रप्राभृत
बोधप्राभृत
भावप्राभृत
मोक्षप्राभृत
द्वादशानुप्रेक्षा
सुत्तपाहुड
मूलाचार
भगवती आराधना
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
गोम्मटसार
लब्धिसार
त्रिलोकसार

द्रव्यसंग्रह
जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो
धम्मरसायण
आराधनासार
तत्त्वसार
दर्शनसार
भावसंग्रह
बृहद्नयचक्र
ज्ञानसार
वसुनन्दी श्रावकाचार
श्रुतस्कन्ध
निजात्माष्टक
छेदपिंड
भावत्रिभंगी
आस्रवत्रिभंगी
सिद्धान्तसार
अंगपण्णत्ती
कल्लाणलोयणा
ढाढसीगाथा
छेदशास्त्र

दिगम्बर जैन आगम साहित्य : एक पर्यवेक्षण

दिगम्बर-परम्परा की स्थापना कब हुई—यह विज्ञों के लिए अन्वेषणीय है। परम्परा की दृष्टि से वीर निर्वाण की छठी और सातवीं शताब्दी में इसकी स्थापना मानी जाती है। 'श्वेताम्बर' इस शब्द का प्रयोग भी कब प्रारम्भ हुआ यह भी चिन्तनीय प्रश्न है। श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं। एक का नामकरण होने के पश्चात् ही दूसरे का नामकरण हुआ होगा।

भगवान महावीर के संघ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमण थे जिसका वर्णन हमें आचारांग[१] में मिलता है। आचारांग[२] में सचेल श्रमण के लिए वस्त्रैषणा का विधान है, अचेल श्रमण का भी वर्णन है।[३] उत्तराध्ययन में अचेल और सचेल दोनों अवस्थाओं का चित्रण किया गया है।[४] कल्पसूत्र के अनुसार अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक नाम से जाने-पहचाने जाते थे।[५]

श्रमण भगवान महावीर, सुधर्मा और जम्बू का इतना तेजस्वी व्यक्तित्व था कि बाह्य आचार में द्विविधता होने पर भी उनके सामने किसी भी प्रकार का भेद नहीं हो सका। इसके पश्चात् आचार्य परम्परा में भेद प्राप्त होता है। दिगम्बर व श्वेताम्बर पट्टावलियों के अनुसार वह भेद इस प्रकार है—

---

१ आचारांग १-१-८
२ आचारांग २-५
३ आचारांग १-१-६
४ उत्तराध्ययन २-१३
५ कल्पसूत्र ६-२८-६३

दिगम्बर[1]	श्वेताम्बर[2]
केवली गौतम १२ वर्ष	सुधर्मा २० वर्ष
सुधर्मा १२ वर्ष	जम्बू ४४ वर्ष
जम्बू ३८ वर्ष	प्रभव ११ वर्ष
श्रुतकेवली—विष्णु १४ वर्ष	शय्यंभव २३ वर्ष
नन्दिमित्र १६ वर्ष	यशोभद्र ५० वर्ष
अपराजित २२ वर्ष	संभूतिविजय ८ वर्ष
गोवर्धन १९ वर्ष	भद्रबाहु १४ वर्ष
भद्रबाहु २९ वर्ष	
१६२ वर्ष	१७० वर्ष

तात्पर्य यह है कि जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनों परम्पराएं आचार्यों में भेद मानती हैं और भद्रबाहु के समय पुनः दोनों एक हो जाती हैं। इस भेद, अभेद का मूल, सैद्धान्तिक मतभेद था—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उस समय संघ एक था तथापि गण और शाखाएं अनेक थीं। आचार्य चतुर्दशपूर्वी भी बहुत थे। सम्भवतः प्रभव स्वामी के समय में ही परस्पर में मतभेद के बीज पनपने लगे होंगे।

दशवैकालिक सूत्र[3] में आचार्य शय्यंभव ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वस्त्र रखना परिग्रह नहीं है। संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को भगवान महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है। इस कथन से ऐसा लगता है कि उस समय संघ में आन्तरिक मतभेद प्रारम्भ हो गया था।

आर्य जम्बू के पश्चात् श्वेताम्बर दृष्टि से दस वस्तुएं विच्छिन्न हो गईं।[4] उनमें से एक जिनकल्पिक अवस्था भी है। यह कथन भी परम्परा-भेद को पुष्ट

---

१ दिगम्बर, धवला पु० १, प्रस्तावना पृ० २६

२ (क) श्वेताम्बर, इण्डियन एण्टी०, भाग ११, सेप्टेम्बर, पृष्ठ २४५-२४६
(ख) वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना—मुनि कल्याणविजयजी, पृ० १६२

३ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥
—दशवैकालिक ६।२०

४ गण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग उवसमे कप्पे।
संजम-तिय केवलि-सिज्झणाए जंबुम्मि वुच्छिन्ना॥
—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५९३

करता है। वीर निर्वाण १६० के लगभग भद्रबाहु के समय पाटलीपुत्र में जो आगम-वाचना हुई उस समय दोनों परम्पराओं का मतभेद उग्र हो गया। इसके पहले आगम के सम्बन्ध में एकता थी, किन्तु दीर्घकाल के दुष्काल में अनेक श्रुतधर मुनि परलोकवासी हो गये। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अंगों का संकलन-आकलन हुआ पर वह सभी को समान रूप से मान्य नहीं हो सका और दोनों ही विचारधाराओं का मतभेद स्पष्ट रूप से सामने आया। वीर निर्वाण सं० ८२७—८४० के बीच माथुरी वाचना हुई, उसमें जो श्रुत का रूप निश्चित हुआ वह अचेलक समर्थकों को बिलकुल भी स्वीकार नहीं हुआ। इस तरह आचार और श्रुत के सम्बन्ध में मतभेद उग्र होते गये और वीर निर्वाण की छठी और सातवीं शताब्दी में एक निर्ग्रन्थ शासन दो भागों में विभक्त हो गया।

आवश्यकभाष्य[1], आवश्यकचूर्णि[2] प्रभृति श्वेताम्बर ग्रन्थों में महावीर निर्वाण के ६०९ वर्ष के पश्चात् शिवभूति ने 'रथवीरपुर' नगर में बोटिक—दिगम्बर मत की स्थापना की। जबकि आचार्य देवसेन के मन्तव्यानुसार राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् वल्लभी में श्वेताम्बर संघ की संस्थापना हुई। हरिसेन रचित वृहद्कथाकोप,[3] देवसेन रचित दर्शनसार, भट्टारक रत्ननन्दी विरचित भद्रबाहुचरित्र में पृथक्-पृथक् मान्यताओं का भी उल्लेख है।

जो व्यक्ति सम्प्रदायवाद की दृष्टि से चिन्तन करते हैं वे श्वेताम्बर परम्परा से दिगम्बर परम्परा निकली है और दिगम्बर परम्परा से श्वेताम्बर परम्परा निकली है इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं और एक दूसरे को अपने में से निकला हुआ बताते हैं। साथ ही ग्रन्थों के प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं और अपने आपको भगवान महावीर का सच्चा उत्तराधिकारी मानते हैं किन्तु जब मैं समन्वय की दृष्टि से सोचता हूँ तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये एक दूसरे से निकली हुई शाखाएँ नहीं हैं। एक दिन ये दोनों एक ही शरीर के अंग थे, दोनों ने मिलकर ही जैनशासन की ज्योति को जगमगाया था और किन्हीं कारणों से वे दोनों विभक्त हो गयीं।

---

१ आवश्यक भाष्य १४५

२ आवश्यकचूर्णि ४२७

३ वृहद्कथाकोप १३६; मुक्तिप्रबोध (रतलाम वि० सं० १९८४)

यह पूर्ण सत्य है कि प्रारम्भ में सचेलत्व और अचेलत्व को लेकर किसी भी प्रकार का परस्पर मत-भेद नहीं था। आचार्य कुन्दकुन्द के समय वह विवाद बहुत ही उग्र हो गया जिसका उल्लेख हमें षट्प्राभृत ग्रंथ में मिलता है।[1] इस विवाद को मिटाने के लिए समय-समय पर प्रयास भी होते रहे। यापनीय संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं का मिला-जुला रूप था। इस संघ के श्रमण श्वेताम्बर मान्यता को मानने पर भी अचेलक रहते थे। उनका स्त्री-मुक्ति में भी विश्वास था।

आचाराङ्गवृत्ति[2] में लिखा है कोई श्रमण दो वस्त्र रखता है और कोई तीन और कोई एक और कोई अचेलक ही रहता है तो परस्पर एक-दूसरे की अवज्ञा न की जाय। यह आचार-भेद शारीरिक शक्ति-धृति के उत्कर्ष-अपकर्ष पर आधृत है अतः सचेल श्रमण अचेल श्रमणों की अवज्ञा न करें और अचेल श्रमण सचेल श्रमणों को अपने से हीन न मानें। इस कथन में स्पष्ट रूप से समन्वय की दृष्टि झलक रही है।

जहाँ तक मूल सिद्धान्तों का प्रश्न है वहाँ तक हमारी दृष्टि से कोई विशेष मतभेद नहीं है। भक्तपरिज्ञा, मरणसमाधि, पिण्डनिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य प्रभृति श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ भगवती आराधना, मूलाचार आदि दिगम्बर ग्रंथों में अक्षरशः मिलती हैं।

दिगम्बर मान्यतानुसार आगम साहित्य विच्छिन्न हो गया है किन्तु दिगम्बर ग्रंथों में श्वेताम्बर परम्परा मान्य आगमों के नाम मिलते हैं। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा भी अंग-साहित्य ग्रंथों की रचना मानती है। दोनों ही परम्पराएँ दृष्टिवाद के पाँच भेद स्वीकार करती हैं।

---

१ षट्प्राभृत, पृ० ६७

२ जो वि दुवत्थ तियत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वे वि य ते जिणाणाए ॥१॥
जे खलु विसरिसकप्पा, संघयणधिइयादि कारणं पप्प।
णऽवमन्नइ ण य हीणं, अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥२॥
सव्वे वि जिणाणाए, जहाविहिं कम्म खवणट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु, सम्मं अभिजाणइ एवं ॥३॥

—आचारांगवृत्ति

श्वेताम्बर आगम साहित्य अर्द्धमागधी भाषा में लिखा गया है जब कि दिगम्बर प्राचीन साहित्य शौरसेनी भाषा में लिखा गया है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट, ये दो भेद हैं। अंगबाह्य के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निसिद्धिका, ये चौदह प्रकार हैं।[1]

अंगप्रविष्ट के आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद ये बारह प्रकार हैं। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच अधिकार हैं। परिकर्म के चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये पाँच प्रकार हैं। सूत्र अधिकार में जीव त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का विश्लेषण है। प्रथमानुयोग, पौराणिक आख्यानक है। पूर्वगत अधिकार में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का कथन है तथा वे संख्या की दृष्टि से चौदह हैं। चूलिका के जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता—ये पाँच प्रकार हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्वेताम्बर दृष्टि से चूलिकाओं का पूर्वों में समावेश हो गया है किन्तु दिगम्बर दृष्टि से उनका पूर्वों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

दिगम्बर दृष्टि से द्वादशाङ्ग का विच्छेद हो गया केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशेष रहा है। जो षट्खण्डागम के रूप में आज भी विद्यमान है।

षट्खण्डागम

यह आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलि की महत्त्वपूर्ण रचना है। दिगम्बर

---

१ (क) षट्खण्डागम, भाग १, पृ० ९६
(ख) सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद, १-२०
(ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक : अकलंक, १-२०
(घ) गोम्मटसार जीवकाण्ड : नेमिचन्द्र, पृ० १३४
प्रस्तुत अंगबाह्य विभाग में श्वेताम्बर मान्य दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, निशीथ आगमों का समावेश है और सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना एवं प्रतिक्रमण का अन्तर्भाग आवश्यक में किया गया है।

विद्वान् इसका रचना काल विक्रम की प्रथम शताब्दी मानते हैं। यह ग्रन्थ छह खण्डों में विभक्त होने से षट्खण्डागम नाम से विश्रुत है। वे छह खण्ड ये हैं—जीवस्थान, क्षुद्रकवन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध। इनमें से प्रथम खण्ड जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त हैं और शेष के रचयिता आचार्य भूतबलि हैं।

इस विराट विश्व में यह संसारी प्राणी कभी नरक की दारुण वेदना का अनुभव करता है तो कभी स्वर्गीय सुखों के सागर पर तैरता है। कभी कूकर-शूकर बनकर गली-कूँचों में गंदगी के लिए छटपटाता है तो कभी मनुष्य बनकर भोगों के पीछे पागल की तरह भटकता है। प्रतिपल-प्रतिक्षण वह सुख प्राप्त करने का प्रयास करता है किन्तु सुख के स्थान पर दुःख का ही उसे अधिक अनुभव करना पड़ता है। आधि-व्याधि और उपाधि से जीवन जर्जरति हो रहा है। उस दुःख का मूल कारण कर्म है। कर्म से ही वन्ध होता है। बन्ध में भी कषाय की तीव्रता और मन्दता होती है जिससे स्थिति व अनुभाग होता है। जैसे एक आम का फल समय पर पककर भोक्ता को मिठास व खटाई का अनुभव कराता है वैसे ही कर्म भी अपनी स्थिति के अनुसार उदय को प्राप्त होने पर सुख-दुःख रूप फल प्रदान करते हैं। जैसे फल को पाल आदि में रखकर समय के पूर्व ही पका दिया जाता है वैसे ही तप आदि से कर्म को भी स्थिति पूर्ण होने से पहले ही उदय को प्राप्त करा दिया जाता है और श्रेष्ठ अनुष्ठान से नूतन कर्म बन्धन को भी रोका जा सकता है। प्राणी सुख-दुःख का निर्माता स्वयं है। अन्य किसी भी माध्यम की आवश्यकता नहीं है। जो मुमुक्षु साधक शरीर व आत्मा के भेद का अनुभव करता है वह संयम साधना से मुक्ति का वरण करता है। यही षट्खण्डागम का मूल प्रतिपाद्य विषय है।

(१) जीवस्थान

यह प्रथम खण्ड है। कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के द्वारा जो जीव की परिणति होती है वह गुणस्थान है। मिथ्यात्व, सासादन के रूप में उनके चौदह प्रकार हैं। जिन अवस्था विशेषों से जीवों का मार्गण या अन्वेषण किया जाता है वे अवस्थाएँ मार्गणा हैं। वे चौदह प्रकार की हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। प्रकृत जीवस्थान में कौनसा

जीव किस गुणस्थान में है ? या किन जीवों में कितने गुणस्थान हो सकते हैं ? किन-किन गुणस्थान वाले जीवों की कितनी संख्या है ? उनकी अवस्थितियाँ क्या हैं ? वे कहाँ तक जा सकती हैं ? किस गुणस्थान का कितना काल है ? एक गुणस्थान को छोड़कर पुनः उस गुणस्थान को प्राप्त करने में कितना समय लगता है ? किस गुणस्थान में औदयिक आदि भाव कितने हो सकते हैं ? कौन गुणस्थानवर्ती जीव किस गुणस्थान-वर्ती जीव से कम या अधिक हैं ? इन सभी प्रश्नों पर चिन्तन प्रथमतः गुणस्थान के आश्रय से किया है। इसके बाद उन सभी बातों पर चिन्तन गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के आधार से भी किया गया है। विविध प्रकार की कर्मप्रकृतियों का संकेत करते हुए उनकी अलग-अलग स्थिति और उदय में आने योग्य काल की विचारणा करते हुए किस पर्याय में कौनसे गुण कितनी संख्या में प्राप्त हो सकते हैं, आयु परिपूर्ण होने पर शरीर का परित्याग कर कौन जीव कहाँ पर उत्पन्न हो सकता है—इस पर चिन्तन किया है। साथ ही कौन जीव किस प्रकार से सम्यक्दर्शन व चारित्र को प्राप्त कर सकता है—इस पर भी विवेचन किया है।[1]

(२) क्षुद्रकबन्ध

जीवस्थान खण्ड में जीवों पर गुणस्थान व मार्गणा के आधार से चिन्तन किया गया है। वह वहाँ पर कुछ विशेषताओं के साथ गुणस्थान निरपेक्ष केवल मार्गणाओं के आधार से (१) एक जीव की दृष्टि से स्वामित्व (२) एक जीव की दृष्टि से काल (३) एक जीव की दृष्टि से अन्तर (४) नानाजीवों की दृष्टि से भंगविचय (५) द्रव्य प्रमाणानुगम (६) क्षेत्रानुगम (७) स्पर्शनानुगम (८) विविध जीवों की अपेक्षा काल (९) विविध जीवों की अपेक्षा अन्तर (१०) भागाभागानुगम (११) अल्प वहुत्वानुगम इन ग्यारह अनुयोगों द्वारा चिन्तन किया गया है।[2] बन्ध का विस्तार से निरूपण छठे खण्ड महाबन्ध में किया गया है। अतः इसे क्षुद्रकबन्ध कहा है।

---

१ प्रस्तुत खण्ड सीतावराय लक्ष्मीचंद जैन साहित्योद्धारक फंड अमरावती से छः जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

२ वही संस्था, जिल्द सातवीं।

(३) बन्धस्वामित्वविचय

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से जीव और कर्म पुद्गलों का जो एकता रूप परिणमन होता है, वह बन्ध है। किन कर्मप्रकृतियों के बन्ध में कौन जीव स्वामी है और कौन जीव स्वामी नहीं है इस पर प्रथमतः गुणस्थान के द्वारा और उसके बाद मार्गणाओं के द्वारा चिन्तन किया है। जिस गुणस्थान तक विवक्षित प्रकृतियों का बन्ध होता है उसके पश्चात् बन्ध नहीं होता उन प्रकृतियों का वहाँ तक बन्ध और उसके पश्चात् के गुणस्थानों में उनकी बन्धव्युच्छिति समझना चाहिए। प्रश्न और उत्तर के रूप में इन सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है।

(४) वेदनाखण्ड

प्रस्तुत खण्ड के प्रारम्भ में ४४ सूत्रों द्वारा मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् अग्रायणीय पूर्व के अन्तर्गत पाँचवीं अधिकार विशेष वस्तु के चतुर्थ प्राभृत मूर्त कर्मप्रकृति-प्राभृत, कृति वेदना आदि २४ द्वारों का निर्देश कर नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनाकृति, ग्रंथकृति, करणकृति और भावकृति इन सात कृतियों पर विवेचन किया गया है।[1] उसके पश्चात् वेदना-निक्षेप, वेदनानय, विभापणता, वेदना-नामविधान, वेदना-द्रव्यविधान, वेदना-क्षेत्रविधान, वेदनाकालविधान, वेदना-भावविधान, वेदना-प्रत्ययविधान, वेदनास्वामित्वविधान, वेदना-वेदनविधान, वेदनागति-विधान, वेदना-अनन्तरविधान, वेदना-सन्निकर्षविधान, वेदना-परिणाम-विधान, वेदना-भावाभावविधान, वेदना-अल्पबहुत्वविधान इन सोलह अनुयोगद्वारों के माध्यम से वेदना की विचारणा की गई है।[2]

(५) वर्गणा

प्रारम्भ में नाम, स्थापना आदि तेरह प्रकार से स्पर्श पर विचारणा की गई है।[3] यह विचारणा स्पर्शनिक्षेप, स्पर्श-नयविभापणता, अनुयोगद्वारों के माध्यम से की गई है। अनन्तर नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोग-कर्म, समवोदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भाव-कर्म इन दस कर्मों पर विवेचन है। इन कर्मों का विश्लेपण आचाराङ्ग

---

१ वही संस्था, जिल्द आठवां।

२ वही संस्था, जिल्द नौ से बारह तक।

३ आचारांगनिर्युक्ति, गाथा १९२-१९३, पृ० ८३

निर्युक्ति में भी किया गया है। उसके पश्चात् निक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारों के आधार से कर्म की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों पर चिन्तन किया गया है।

वन्ध, बन्धक, बन्धनीय और वन्धविधान ये कर्म से सम्बन्धित चार अवस्थाएँ हैं। द्रव्य का द्रव्य के साथ या द्रव्य-भाव का जो संयोग या समवाय होता है, वह बन्ध है। प्रस्तुत बन्ध का कर्ता जो जीव है वह बन्धक है। बन्ध के योग्य जो पुद्गल द्रव्य हैं वे बन्धनीय हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये बन्धभेद वन्धविधान कहलाते हैं। प्रस्तुत खण्ड में बन्ध, बन्धक और बन्धनीय इन तीन की मुख्य रूप से प्ररूपणा की गई है। बन्ध-विधान का विस्तार से विवेचन छठे महावन्ध खण्ड में किया गया है।[1]

इन पाँच खण्डों पर वीरसेन आचार्य ने धवला नामक टीका का निर्माण किया जिसका श्लोक प्रमाण ७२००० है जो शक सं० ७३८ (वि० सं० ८७३) में परिसमाप्त हुई।[2]

(६) महाबन्ध

प्रस्तुत खण्ड में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन पूर्व सूचित बन्ध के चार भेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। इस पर कोई टीका नहीं है। भूतबलि ने विषय को इतने विस्तार से लिखा है कि उस पर टीका लिखने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की गई। इस खण्ड का ग्रन्थ प्रमाण ३०,००० श्लोक प्रमाण है। जबकि ५ खण्डों का मूल ग्रंथ प्रमाण ६००० श्लोक है।[3]

प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। शैली परिमार्जित और प्रौढ़ है। यह दिगम्बर परम्परा का आद्य ग्रन्थ है।

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना : एक तुलना

षट्खण्डागम और प्रज्ञापनासूत्र का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन

---

१ उसी संस्था से १३ व १४ दो जिल्दों में प्रकाशित।

२ उक्त संस्था से ही मूल ग्रन्थ के साथ १४ जिल्दों में प्रकाशित।

३ उक्त खंड अकायिक, अजघन्यद्रव्यवेदना, अधःकर्म, आगमभाव प्रकृति, आगम-भावबंध, आलापनबंध और आहारद्रव्यवर्गणा के रूप में भारतीय ज्ञानपीठ काशी से सात जिल्दों में प्रकाशित।

किया जाय तो सहज ही परिज्ञात होगा कि इन दोनों आगमों में पर्याप्त साम्य है। प्रज्ञापना के रचयिता दशपूर्वधर आर्य श्यामाचार्य हैं तो षट्खण्डागम के रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि पुष्पदन्त और भूतबलि से पहले श्यामाचार्य हुए थे अतः प्रज्ञापना षट्खण्डागम से बहुत पहले की रचना है। प्रज्ञापना श्वेताम्बर परम्परा मान्य आगम ग्रंथ है तो षट्खण्डागम दिगम्बर परम्परा मान्य आगम ग्रंथ है।

दोनों ही आगमों का मूल स्रोत दृष्टिवाद है।[1] दोनों ही आगमों का विषय जीव और कर्म का सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्लेषण करना है। दोनों में अल्पबहुत्व का जो वर्णन है उसमें अत्यधिक समानता है जिसे महादण्डक कहा गया है।[2] दोनों में गति-आगति प्रकरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव एवं वासुदेव के पदों की प्राप्ति के उल्लेख की समानता वस्तुतः प्रेक्षणीय है।[3]

---

१ (क) अज्झयणमिणं चित्तं सुयरयणं दिट्ठीवायणीसंदं।
जह वण्णिय भगवया, अहमवि तह वण्णइस्सामि॥
—प्रज्ञापनासूत्र, पृ० १, गा० ३

(ख) अग्रायणीयपूर्वस्थित पंचमवस्तुगत चतुर्थमहाकर्मप्राभृतकज्ञः सूरिर्धरसेन नामाभूत ॥१०४॥
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डैः ॥१३४॥
—श्रुतावतार-इन्द्रनन्दीकृत

(ग) भूतबलि-भयवदा जिणवालिद पासे दिट्ठ विसदिसुत्तेण अप्पाउओत्ति अवगयजिणवालिदेण महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगममादिं काऊण गंथरयणा कदा।
—षट्खण्डागम, जीवट्ठाण, भाग १, पृ० ७१

२ अह भंते ! सव्वजीवप्पबहुं महादंडयं वत्तइस्सामि सव्वत्थो वा गब्भवक्कंतिया मणुस्सा·······सजोगी विसेसाहिया ९६, संसारत्था विसेसाहिया ९७, सव्व जीवा विसेसाहिया ९८। —प्रज्ञापनासूत्र ३३४

तुलना करें—
एत्तो सव्वजीवेसु महादंडओ कादव्वो भवदि। सव्वत्थो वा मणुसपज्जत्ता गब्भोवक्कंतिया·······णिगोदजीवा विसेसाहिया —षट्खण्डागम, पुस्तक ७

३ प्रज्ञापनासूत्र, सू० १४४४ से ६५
तुलना करें—

दोनों में अवगाहना, अन्तर आदि अनेक विषयों का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है। प्रज्ञापना में छत्तीस पद हैं। उनमें से तेईसवें, सत्ताईसवें और पेंतीसवें पद में क्रमशः कर्मप्रकृतिपद, कर्मबन्धपद, कर्मबन्ध-वेदपद, कर्मवेदबन्धपद, कर्मवेदवेदकपद और वेदनापद ये छह नाम हैं। षट्खण्डागम के टीकाकार ने षट्खण्डागम के जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्ध-स्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध ये छह नाम दिये हैं। प्रज्ञापना के उपर्युक्त पदों में जिन तथ्यों की चर्चाएँ की गई हैं उन्हीं तथ्यों की चर्चाएँ षट्खण्डागम में भी की गई हैं।

दोनों ही आगमों में गति आदि मार्गणास्थानों की दृष्टि से जीवों के अल्पबहुत्व पर चिन्तन किया गया है। प्रज्ञापना में अल्पबहुत्व की मार्ग-णाओं के छब्बीस द्वार हैं जिनमें जीव और अजीव इन दोनों पर विचार किया गया है तो षट्खण्डागम में चौदह गुणस्थानों से सम्बन्धित गति आदि मार्गणास्थानों को दृष्टि में रखते हुए जीवों के अल्पबहुत्व पर विचार किया है। प्रज्ञापना में अल्पबहुत्व की मार्गणाओं के छब्बीस द्वार हैं तो षट्खण्डागम में चौदह हैं किन्तु दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि षट्खण्डागम में वर्णित चौदह मार्गणाद्वार प्रज्ञापना में वर्णित छब्बीस द्वारों में चौदह के साथ पूर्ण रूप से मिलते हैं। जैसा कि अधोलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

प्रज्ञापना[1]	षट्खण्डागम[2]
१ दिशा	—
२ गति	१ गति
३ इन्द्रिय	२ इन्द्रिय
४ काय	३ काय
५ योग	४ योग
६ वेद	५ वेद

१ दिसि गति इंदिय काए जोगे वेदे कसाया लेस्सा य।
सम्मत्त णाण दंसण संजम उवओग आहारे॥
भासग परित्त पज्जत्त सुहुम सण्णी भवत्थिए चरिमे।
जीवे य खेत्त बन्धे पोग्गल महदंडए चेव॥
पन्नवणा० ३ बहुवत्तव्वपयं सूत्र २१२ गा १८०, १८१

२ षट्खण्डागम, पुस्तक ७, पृ० ५२०

७ कपाय	६ कपाय
८ लेश्या	१० लेश्या
९ सम्यक्त्व	१२ सम्यक्त्व
१० ज्ञान	७ ज्ञान
११ दर्शन	९ दर्शन
१२ संयम	८ संयम
१३ उपयोग	—
१४ आहार	१४ आहारक
१५ भाषक	—
१६ परित्त	—
१७ पर्याप्त	—
१८ सूक्ष्म	—
१९ संज्ञी	१३ संज्ञी
२० भव	११ भव्य
२१ अस्तिकाय	—
२२ चरिम	—
२३ जीव	—
२४ क्षेत्र	—
२५ बंध	—
२६ पुद्गल	—

जैसे प्रज्ञापनासूत्र के बहुवक्तव्यता नामक तृतीय पद में गति प्रभृति मार्गणास्थानों की दृष्टि से छब्बीस द्वारों के जीवों के अल्प-बहुत्व पर चिन्तन करने के पश्चात् प्रस्तुत प्रकरण के अन्त में 'अह भंते ! सव्व-जीवप्पबहुं महादंडयं वत्तइस्सामि" कहा है वैसे ही षट्खण्डागम में भी चौदह गुणस्थानों में गति आदि चौदह मार्गणास्थानों द्वारा जीवों के अल्प-बहुत्व पर चिन्तन करने के पश्चात् प्रस्तुत प्रकरण के अन्त में भी महादण्डक का उल्लेख किया गया है।[1]

प्रज्ञापना में जीव को केन्द्र मानकर निरूपण किया गया है तो षट्-खण्डागम में कर्म को केन्द्र मानकर विश्लेषण किया गया है। किन्तु खुद्दाबंध

---

१ षट्खण्डागम, पुस्तक ७, पृ० ७४५

(क्षुद्रकबंध) नामक द्वितीय खण्ड में बन्धक-जीव का विचार चौदह मार्गणा-स्थानों के द्वारा किया गया है। जिसकी शैली प्रज्ञापना से अत्यधिक मिलती-जुलती है।

प्रज्ञापना और षट्खण्डागम इन दोनों में आहारक एवं अनाहारक जीवों के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए सयोगिकेवली के द्वारा आहार ग्रहण करने का वर्णन किया है। अयोगिकेवली एवं समुद्घात करते समय सयोगि केवली आहार ग्रहण नहीं करते।

प्रज्ञापना[1] में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! केवली के आहार का कितना समय होता है ?

भगवान ने समाधान दिया—जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशन्यून करोड़पूर्व।

पुन: जिज्ञासा प्रस्तुत की—क्या भगवन् ! सयोगि भवस्थ केवली अनाहारक है ?

समाधान दिया गया—गौतम ! अजघन्य उत्कृष्ट तीन समय तक वह अनाहारक है।

अयोगि भवस्थ केवली के सम्बन्ध में जिज्ञासा की गई कि—क्या वे अनाहारक हैं ? समाधान किया गया—हे गौतम ! जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक वे अनाहारक हैं।

षट्खण्डागम[2] में भी लिखा है कि आहारमार्गणा की दृष्टि से जीव आहारक और अनाहारक दोनों ही प्रकार के होते हैं।

आहारक जीव एकेन्द्रिय से लेकर सयोगि-केवली पर्यन्त होते हैं।

---

१ 'केवलि आहारए णं भंते ! केवलि आहारए त्ति कालतो केवचिरं होई ?
गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं। —सूत्र १३६६
सजोगि भवत्थकेवलि अणाहारए णं भंते !
गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तिण्णि समया।
अजोगिभवत्थकेवलि अणाहारए णं···पुच्छा।
गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पन्नवणा—सू० १३७२-७३

२ आहराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा। आहारा एइंदिय-प्पहुडि जाव संजोगिकेवलि त्ति। —जीवट्ठाण संतपरूवणा
अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि। —षट्खण्डागम, सूत्र १७५ से १७७

अनाहारक चौदह ही स्थानों में होते हैं, किन्तु विग्रहगति (अन्तराल-गति जीव), समुद्घात करते हुए केवली, अयोगि केवली और सिद्ध ये अनाहारक हैं।

इस प्रकार समान रूप से केवली-भुक्ति का वर्णन दोनों ही ग्रन्थों में हुआ है।

प्रज्ञापना[1] की अनेक गाथाएँ षट्खण्डागम[2] में कुछ शब्दों के हेर फेर के साथ मिलती है। यहाँ तक कि आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं से भी मिलती है।

इसी प्रकार प्रज्ञापना और षट्खण्डागम इन दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक है, दोनों का मूल स्रोत भी एक है तथापि भिन्न-भिन्न लेखक होने से दोनों के निरूपण की शैली पृथक्-पृथक रही है। कहीं-कहीं पर तो षट्खण्डागम से भी प्रज्ञापना का निरूपण अधिक व्यवस्थित रूप से हुआ है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि षट्खण्डागमकार ने प्रज्ञापना की नकल की है पर यह सत्य है कि प्रज्ञापना की रचना पूर्व होने से उसका प्रभाव षट्खण्डागम के रचनाकार पर अवश्य ही पड़ा होगा।

□

---

१ समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं सरीर निव्वत्ती।
समयं आणुग्गहणं, समयं ऊसास-नीसारे॥
एक्कस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाणं तं चेव।
जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि एगस्स॥
साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं॥
—प्रज्ञापना, गा० ९९—१०१

२ तुलना करें—
साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं॥
एयस्स अणुग्गहणं बहूणसाहारणाणमेयस्स।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स॥
आवश्यक निर्युक्ति—गा० ३१ से और विशेषावश्यकभाष्य गा० ६०४ से
तुलना करें—
षट्खण्डागम—पुस्तक १३, गाथा सुत्र ४ से ६, १२, १३, १४, १५।

कषायपाहुड (कषायप्राभृत)

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य गुणधर के द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'पेज्जदोसपाहुड' भी है। 'पेज्ज' शब्द का अर्थ है 'राग' और 'दोस' का अर्थ है द्वेष। राग और द्वेष ये दोनों कषाय स्वरूप ही है। अतः इसका दूसरा नाम 'पेज्जदोसपाहुड' रखा गया है। कितने ही दिगम्बर विद्वान् इसका रचना काल विक्रम की प्रथम शताब्दी के पूर्व या आसपास मानते हैं।

यह ग्रन्थ सूत्र रूप गाथाओं में निर्मित है। समस्त गाथाओं की संख्या २३३ है जिसमें मूल गाथा १८० है और भाष्य गाथा ५३ है। ये गाथा बहुत ही क्लिष्ट व अपने आप में अर्थगांभीर्य को लिये हुए हैं। षट्खण्डागम में आठों कर्मो का विस्तार से विवेचन है तो प्रस्तुत कषायपाहुड में केवल मोहनीयकर्म का ही विस्तार से चिन्तन किया गया है। इसमें पेज्जदोस-विभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण-स्थित्यन्तिक, बन्धक-अधिकार, वेदक अधिकार, उपयोग अधिकार, चतुः-स्थान अधिकार, व्यञ्जन अधिकार, दर्शनमोहोपशमना अधिकार, दर्शनमोहक्षपण अधिकार, संयमासंयम लब्धि अधिकार, संयम-लब्धि-अधिकार, चारित्रमोहोपशमना, चारित्रमोहक्षपणा आदि पन्द्रह अधिकार हैं। इनमें प्रारम्भ के आठ अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीय कर्म की और अन्तिम सात अधिकारों में आत्म-परिणामों के विकास से शिथिल होते हुए मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का वर्णन है। इस ग्रन्थ पर विक्रम की छठी शताब्दी में होने वाले आचार्य यतिऋषभ ने ६००० श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र और आचार्य वीरसेन एवं उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने साठ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला नाम की टीका रची। प्रस्तुत टीका के २०,००० श्लोक रचने के पश्चात् आचार्य वीरसेन

स्वर्गस्थ हो गये। उनकी इस अपूर्ण टीका की पूर्ति उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने की। जो शक सं० ७६६ (वि० सं० ८९४) में पूर्ण हुई।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ कई अनुभागों में विभक्त है किन्तु इन सभी अनुभागों में कर्म की विभिन्न स्थिति का बहुत ही सुन्दर विश्लेपण व निर्देश हुआ है। कर्म किस स्थिति में किस कारण से आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं और उस सम्बन्ध का आत्मा के साथ किस प्रकार सम्मिश्रण होता है, किस प्रकार उनमें फलदानत्व घटित होता है, और कितने समय तक कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं इसका विस्तृत और स्पष्ट विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है।

तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)

तिलोयपण्णत्ती के रचयिता आचार्य यतिवृषभ हैं। ये विक्रम सं० ५३०-६६६ के मध्य में हुए होंगे ऐसा विज्ञों का मन्तव्य है। इसमें सामान्यलोक, नारकलोक, भावनलोक, नरलोक, तिर्यग्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, कल्पवासिलोक और सिद्धलोक, ये नौ अधिकार हैं। जिसमें तीनों लोक सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विशेष बातों की प्ररूपणा की गई है।

(१) सामान्यलोक

सर्वप्रथम मंगल स्वरूप गुरुओं की स्थिति, शास्त्र सम्बन्धी मंगल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता इन छहों पर विवेचन किया है। उसके पश्चात् लोक पर चिन्तन करते हुए पल्योपम, सागरोपम, सूचि-अंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगश्रेणि, जगप्रतर और लोक इन आठ प्रमाण भेदों का वर्णन है। अन्त में लोक के आधारभूत तीन वातवलयों के आकार व मोटाई आदि का वर्णन प्रमाण प्रस्तुत करते हुए इस महाधिकार को पूर्ण किया गया है।

(२) नारकलोक

प्रस्तुत महाधिकार के पन्द्रह अधिकारों में नारकियों के निवास क्षेत्र, उनकी संख्या, आयु का प्रमाण, शरीर की ऊँचाई, अवधिज्ञान का प्रमाण,

---

१ (क) प्रस्तुत ग्रन्थ चूर्णि और जयधवला टीका के साथ ग्यारह भागों में दिगम्बर जैन संघ, मथुरा (प्रकाशन १९४४) से प्रकाशित हुआ है।
(ख) चूर्णि व सूत्र सहित वीर शासन संघ कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। (प्रकाशन १९५५)

उनमें गुणस्थान आदि, वहाँ पर पैदा होने वाले जीवों की सम्भावना, जन्म और मरण का अन्तर, एक समय में उत्पन्न होने वाले या मरने वाले नारकियों की संख्या, नरकों से आगमन, नारक आयु के वन्धयोग्य परिणाम, जन्म-भूमियाँ, नरकों में प्राप्त होने वाला दुःख, और सम्यक्-दर्शन ग्रहण करने के कारण, इन सभी पर विचार किया गया है।

(३) भावनलोक

इसमें २४ अधिकारों के माध्यम से भवनवासी देवों के निवास, उनके भेद, चिह्न, भवनों की संख्या, इन्द्रों की संख्या व उनके नाम, दक्षिण व उत्तर के इन्द्र, प्रत्येक के भवनों का प्रमाण, अल्प ऋद्धि वाले भवनवासियों के भवनों का विस्तार, भवन, वेदी, कूट, जिन-भवन, प्रासाद, इन्द्रविभूति, भवनवासी देवों की संख्या, आयु प्रमाण, शरीर की ऊँचाई, अवधिज्ञान का प्रमाण, गुणस्थान, एक समय में समुत्पन्न होने वाले या मरने वालों की संख्या, आगति, भवनवासियों के आयु के वन्धयोग्य परिणाम, सम्यक्त्व ग्रहण करने के कारण—इन सबकी चर्चा की गई है।

(४) नरलोक

प्रस्तुत महाधिकार में मनुष्यलोक का निर्देश जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, घातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्करार्ध द्वीप इन अढाई द्वीपों में रहने वाले मानवों के भेद, उनकी संख्या, अल्पबहुत्व, अनेक भेदयुक्त गुणस्थान आदि का संक्रमण, मानव आयु के वन्धयोग्य भाव, योनि, प्रमाण, सुख-दुःख, सम्यक्त्व ग्रहण करने के कारण, मुक्ति प्राप्त करने वालों का प्रमाण इन सोलह अधिकारों की चर्चा है।

इस महाधिकार का यह वर्णन बहुत ही विस्तृत है। जम्बूद्वीप के वर्णन में भरतक्षेत्र का विस्तार से निरूपण किया गया है। उसमें आर्य खण्ड, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी आदि काल चक्र का वर्णन करते हुए भोग-भूमियों की व्यवस्था, २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ वलदेव, ६ नारायण, ६ प्रतिनारायण के नाम व ११ रुद्रों के नामों का भी उल्लेख है। तीर्थंकरों के वर्णन में उनकी जन्मस्थली आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों पर प्रकाश डाला गया है। चक्रवर्तियों के आयु का निरूपण करते हुए नौ नारदों का भी निर्देश किया है। तीर्थंकर आदि नियमतः मुक्ति को प्राप्त करते हैं, यह सूचना भी की गई है।

दुषमा काल के वर्णन में गौतम आदि केवलियों के धर्म-प्रवर्तन

काल, चतुर्दश पूर्वधर आदि का अस्तित्व, श्रुत के विच्छेद की चर्चा की गई है। उसके बाद शक, गुप्त, चतुर्मुख, पालक, विजयवंश, मुरुण्डवंश, पुष्यमित्र, वसुमित्र, अग्निमित्र, गंधर्व, नरवाहन भृत्यांध्र, पुनःगुप्त, इन्द्रसुत, चतुर्मुख, कल्की, उनके राज्य काल आदि की चर्चा है। तत्पश्चात् अति दुषमा काल में होने वाले प्राकृतिक परिवर्तन का वर्णन है।

भरतक्षेत्र के वर्णन के पश्चात् हिमवान पर्वत, हैमवत क्षेत्र, महाहिमवान पर्वत, हरीवर्ष और निशद पर्वत का वर्णन करके महाविदेह क्षेत्र और उसके मध्य में स्थित मेरु पर्वत का वर्णन किया गया है।

इसी तरह जम्बूद्वीप के दक्षिण दिशागत क्षेत्र, पर्वत आदि का कथन है। इसी तरह उत्तर दिशा के क्षेत्र, पर्वत आदि का निरूपण है। लवण समुद्र और घातकीखण्ड द्वीप के मानवों में गुणस्थान आदि का विवेचन किया गया है।

(५) तिर्यक्‌लोक

प्रस्तुत महाधिकार में स्थावर क्षेत्र, उसके मध्य में तिर्यक् क्षेत्र, नाम निर्देशपूर्वक द्वीप समुद्र, उनकी संख्या एवं विन्यास, क्षेत्रफल, तिर्यञ्चों के भेद, संख्या, आयु, आयु के बंधयोग्य परिणाम, योनि, सुख-दुःख, गुणस्थान, सम्यक्त्व ग्रहण करने के कारण, गति, आगति, अल्पबहुत्व आदि १६ अधिकारों का विवेचन है।

(६) व्यन्तरलोक

भावनलोक में भवनवासी देवों का जिस प्रकार विवेचन किया गया है उसी प्रकार यहाँ व्यन्तर देवों की प्ररूपणा की गई है।

(७) ज्योतिर्लोक

इस अधिकार में ज्योतिषी देवों के भेद, संख्या, विन्यास, परिमाण, चर ज्योतिषी देवों का संचार, अचर ज्योतिषियों का स्वरूप, आयु, आहार, उच्छ्‌वास, अवधिज्ञान की शक्ति, एक समय में जन्म-मरण, आयु के बन्धयोग्य परिणाम, सम्यक्त्व ग्रहण के कारण, गुणस्थान आदि १७ अधिकारों से वर्णन है।

(८) सुरलोक

इसमें वैमानिक देवों के निवास क्षेत्र, विन्यास, भेद, नाम, सीमा, संख्या, इन्द्रविभूति, आयु, जन्म-मरण का अन्तर, आहार, उच्छ्‌वास,

उत्सेध, वैमानिक के आयुबन्ध के योग्य परिणाम, लोकान्तिक देवों का स्वरूप, गुणस्थान आदि का स्वरूप, सम्यक्त्व ग्रहण के कारण, आगति, अवधिज्ञान का विषय, देवों की संख्या, शक्ति, योनि आदि २१ अधिकारों का वर्णन है।

(९) सिद्धलोक

इसमें सिद्धों के निवास क्षत्र, संख्या, अवगाहना, सुख और सिद्धत्व के योग्य भावों का विवेचन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का सुव्यवस्थित विवेचन है। ग्रन्थ में मूलाचार, लोक विभाग और लोक विनिश्चय ग्रन्थों के पाठान्तरों का भी उल्लेख है। इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय श्वेताम्बर आगम सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के विषय से मिलता-जुलता है।

डॉ० हीरालाल जैन ने तिलोयपण्णत्ति[1] के विषय आदि की श्वेताम्बराचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के बृहद्क्षेत्रसमास, बृहद्संग्रहणी तथा नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार आदि के साथ तुलना की है। लोकविभाग, मूलाचार, भगवती आराधना, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रन्थों की बहुत सी गाथाएँ तिलोयपण्णत्ति में मिलती-जुलती हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके ग्रन्थ

दिगम्बर जैन आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम शीर्षस्थ है। उनकी जन्मस्थली कुन्डकुन्डपुर थी। श्रवणबेलगोला के कितने ही शिलालेखों में उनका एक नाम कोन्डकुन्द भी प्राप्त होता है। षटप्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर ने पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामों का उल्लेख किया है। नन्दीसेन की पट्टावली में नन्दीसिंघ से सम्बन्धित ये पाँच नाम प्राप्त होते हैं। पंचास्तिकायतात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का नाम कुमार नन्दीसेनदेव लिखा है और नन्दीसेन की पट्टावली में उन्हें जिनचन्द्रसेन का शिष्य बताया है। स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य ने बोधपाहुड से अन्त में

---

१ प्रस्तुत ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति भाग १-३। प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर, महाराष्ट्र—पहला भाग १९४३ ; द्वितीय भाग १९५१ प्रकाशन वर्ष)।

अपने गुरु का नाम भद्रबाहु लिखा है।[1] विज्ञों की यह धारणा है कि वे भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य नहीं थे किन्तु परम्परागत शिष्य रहे होंगे। बोधपाहुड के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने 'भद्बाहुसीसेण' विशाखाचार्य कुन्दकुन्द को उनका परम्परागत शिष्य स्वीकार किया है।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में एकमत नहीं है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने 'प्रवचनसार' की प्रस्तावना में, श्री जुगलकिशोर मुख्त्यार ने समन्तभद्र की प्रस्तावना में, डॉ० ए० चक्रवर्ती ने पंचास्तिकाय की प्रस्तावना में, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह में विस्तार से चर्चा की है। विशेष जिज्ञासुओं को उन ग्रन्थों को देखना चाहिए। सामान्य मत यह है कि वे ईसवी सन् की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुए हैं।

कुन्दकुन्द की सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में हैं। उनकी कुल २३ रचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनमें से प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय ये तीन ग्रंथ विशाल हैं और दिगम्बर परम्परा में अध्यात्मत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्रवचनसार[3]

प्रस्तुत ग्रंथ में तीन अधिकार हैं—ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व और अन्यत्व, सर्वज्ञ की संसिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ, शुद्धोपयोग एवं मोह क्षय आदि का निरूपण है।

ज्ञेयाधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, ज्ञान, कर्म और कर्मफल चेतना का स्वरूप, मूर्त एवं अमूर्त द्रव्यों के गुण, काल आदि के

---

१ सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ॥
—बोधपाहुड, गाथा ६१-६२

२ भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्। —श्रुतसागर सूरि

३ प्रवचनसार वृत्ति सहित : प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई (प्रकाशन वर्ष वि० सं० १९९६)

गुण और पर्याय, प्राण, शुभ व अशुभ उपयोग, जीव का लक्षण, जीव और पुद्गल का सम्बन्ध, निश्चय और व्यवहार का अवरोध तथा शुद्धात्मा पर चिन्तन किया गया है।

चारित्र अधिकार में श्रामण्य के चिन्ह, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग, आगम ज्ञान का लक्षण, मोक्ष-तत्त्व प्रभृति का प्ररूपण किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार प्रवचनसार की गाथा संख्या २७५ है। जबकि जयसेन की टीका के अनुसार ३१७ गाथाएँ हैं। अधिक गाथाओं को विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—नमस्कारात्मक, विवेचन विस्तार विषयक, अन्य विषय विज्ञापनात्मक। इन तीनों विभागों में दो विभागों की गाथाएँ तटस्थ हैं। किन्तु तृतीय विभाग की चौदह गाथाओं में श्रमणों के लिए वस्त्र, पात्र एवं स्त्रियों के लिए मुक्ति का निषेध किया गया है। ये गाथाएं श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरोध में लिखी गई हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इन गाथाओं का प्रयोग अपनी टीका में नहीं किया है। इस सम्बन्ध में डॉ० ए० एन० उपाध्ये का अभिमत है कि अमृत चन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि वे साम्प्रदायिक वाद-विवाद में पड़ना नहीं चाहते थे। अतः वे इस बात की इच्छा रखते थे कि उनकी टीका संक्षिप्त एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणों का लोप करती हुई कुन्द-कुन्द के प्रति उदात्त उद्गारों के साथ सभी संप्रदायों को स्वीकृत हो।

समयसार[1]

यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द का सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। 'समय' शब्द के समस्त पदार्थ और आत्मा ये दो अर्थ हैं। जिस ग्रंथ में समस्त पदार्थों का या आत्मा का सार वर्णित हो वह 'समयसार' है। इसमें भेद-विज्ञान का निरूपण हुआ है। अनेक पदार्थों को स्व-स्व लक्षणों से अलग-अलग भेद कर देना और उनमें से उपादेय पदार्थ को लक्षित कर उससे अन्य पदार्थों को उपेक्षित कर देने का नाम भेद-विज्ञान है। प्रस्तुत ग्रंथ दस

---

१ (क) समयसार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था समिति, काशी (प्रकाशन वर्ष ई० सन् १६१५)

(ख) प्रस्तुत ग्रन्थ के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। इसका अंग्रेजी टीका सहित संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हुआ है।

अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में स्व-समय, पर-समय, शुद्ध नय, आत्म-भावना और सम्यक्त्व का निरूपण है। जीव को काम-भोग सम्बन्धी कथा अत्यन्त सुलभ है पर आत्मा का एकत्व बहुत ही दुर्लभ है। एकत्व-विभक्त आत्मा को निजानुभूति से ही जान सकते हैं। प्रमत्त-अप्रमत्त दोनों दशाओं में जीव पृथक् ज्ञायकभाव मात्र है। व्यवहार की दृष्टि से ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहे जा सकते हैं, किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायक मात्र ही है। यहाँ पर व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ कहा है।

द्वितीय अधिकार में कर्तृ-कर्म का वर्णन है। इसमें आस्रव, बन्ध, प्रभृति की पर्यायों पर चिन्तन किया गया है। मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम आत्मा के अनादि हैं। जब इन तीन प्रकार के परिणामों का कर्तृत्व होता है तब पुद्गल द्रव्य स्वतः ही कर्म रूप परिणमन करता है, पर-द्रव्य के भाव का जीव कभी भी कर्ता नहीं है।

तीसरे पुण्य-पाप अधिकार में शुभ, अशुभ कर्मों के स्वभाव का वर्णन है। अज्ञानी के द्वारा किये गये व्रत, नियम, शील, तप ये मोक्ष के कारण नहीं हैं। मोक्ष का कारण है—जीव, अजीव आदि पदार्थों का सही श्रद्धान, उनका अधिगम एवं राग-द्वेष आदि भावों का परित्याग।

चौथे अधिकार में आस्रव का निरूपण है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये आस्रव के मुख्य कारण हैं। सत्य तथ्य यह है कि राग-द्वेष मोह रूप जो परिणाम हैं वे आस्रव हैं। ज्ञानी में आस्रव का अभाव है। उसमें राग-द्वेष, मोह रूप परिणाम उत्पन्न नहीं होता जिससे आस्रव प्रत्ययों का अभाव है।

पाँचवें अधिकार में संवर का विश्लेषण है। संवर का मूल भेद-विज्ञान है। प्रस्तुत अधिकार में संवर के क्रम का भी वर्णन है।

छठे अधिकार में निर्जरा पर चिन्तन किया गया है। द्रव्य व भाव रूप निर्जरा पर विस्तार से विश्लेषण है। ज्ञानी कर्मों के मध्य में रहता हुआ भी कर्मों से उसी प्रकार अलिप्त रहता है जैसे जल मध्य कमल। किन्तु अज्ञानी जीव कर्म रज से लिप्त रहता है।

सातवें अधिकार में बंध पर चिन्तन किया गया है। बंध का मूल कारण राग और द्वेष है।

आठवें अधिकार में मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।

नौवें अधिकार में सर्वविशुद्ध आत्मा का ज्ञान की दृष्टि से अकर्तृत्व आदि पर प्रकाश डाला गया है। दसवें अधिकार में अनेकान्त दृष्टि से आत्म-स्वरूप पर विवेचन किया गया है। शुद्ध आत्मा का इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन किया गया है कि पाठक पढ़कर आत्म-विभोर हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ की तुलना उपनिषद् साहित्य से भी की जा सकती है।

पंचास्तिकाय[1]

प्रस्तुत ग्रंथ में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायों का निरूपण है। इसमें काल द्रव्य का निरूपण नहीं है। आचार्य ने बहुप्रदेशी द्रव्य को अस्तिकाय कहा है। इस ग्रन्थ में द्रव्य लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण, पर्याय, काल, द्रव्य एवं सत्ता का अत्यन्त सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रंथ दो अधिकारों में विभक्त है—पहले अधिकार में द्रव्य, गुण और पर्यायों पर चिन्तन किया गया है; द्वितीय अधिकार में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष इन पदार्थों पर चिन्तन कर मोक्ष-मार्ग पर प्रकाश डाला गया है। द्रव्य के स्वरूप को समझने के लिए यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है। आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के अभिमतानुसार इसमें १७३ गाथाएं हैं तो आचार्य जयसेन ने अपनी टीका में १८१ गाथाएँ मानी हैं।

नियमसार[2]

जो कार्य नियमतः किया जाना चाहिए वह नियम कहलाता है। वह नियम ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप है। इस नियम के साथ जो 'सार' शब्द का प्रयोग किया गया है वह विपरीतता के परिहारार्थ है। प्रस्तुत ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप नियम भेद और अभेद स्वरूप नियम की दृष्टि से दो प्रकार का है। शुद्ध ज्ञान चेतना परिणाम विषयक ज्ञान एवं

---

१ (क) पंचास्तिकाय वृत्ति सहित—प्रकाशक : परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई; (प्र. वर्ष वि. सं. १९७२)
(ख) इसका अंग्रेजी टीका के साथ जैन पब्लिशिंग हाउस, आगरा (प्र. व. ई० सन् १९२०)
अनुवादक : प्रो. चक्रवर्ती

२ (क) नियमसार—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई (प्र. व. ई. सन् १९१६)
(ख) उग्रसेन कृत अंग्रेजी अनुवाद अजिताश्रम, लखनऊ (सन् १९३१)

श्रद्धा के साथ उसी में स्थिर रहना इसे अभेद रत्नत्रय स्वरूप नियम कहा गया है। आप्त, आगम और तत्त्व के श्रद्धान से जो राग, द्वेष की निवृत्ति होती है वह व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप नियम है जो भेद आश्रित है। यह नियम ही मोक्ष का सही उपाय है जिसका परिणाम निर्वाण है। यहाँ पर सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन के विषयभूत आप्त, आगम और तत्त्व पर चिन्तन करते हुए जीवादि छः द्रव्यों का वर्णन किया है। प्रसंगानुसार पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति रूप व्यवहार चारित्र का भी निरूपण करते हुए अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप पर चिन्तन किया गया है।

आत्म-शोधन की दृष्टि से प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परम समाधि, रत्नत्रय और आवश्यक पर विचारणा करते हुए शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। ग्रंथ की गाथा संख्या १८६ है। इस पर वि० सं० १३वीं शताब्दी में पद्मप्रभ मलधारी ने टीका की रचना की थी।

दर्शनप्राभृत[१]

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है उसे भ्रष्ट समझना चाहिए क्योंकि वह कदापि मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु जो चारित्र से भ्रष्ट है वह समय पर मुक्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन रहित जीव उग्र तपश्चरण भी क्यों न करे किन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होने के कारण वह ज्ञान और चारित्र से भी भ्रष्ट है। जो षट् द्रव्य, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व इन जिनेश्वर देवों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व का श्रद्धान करता है वह व्यवहारदृष्टि से सम्यक्दृष्टि है। निश्चयदृष्टि से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। जो शक्य अनुष्ठान को स्वयं करता है, दूसरों से करवाता है एवं अशक्य अनुष्ठान पर निष्ठा रखता है वह सम्यग्दृष्टि है। इस ग्रंथ की मूल गाथाएँ ३६ हैं। इस पर भट्टारक श्रुतसागर सूरि ने टीका का निर्माण किया है।

चारित्रप्राभृत[२]

प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्यक्त्वचरण चारित्र और संयमचरण चारित्र—ये

---

१ दर्शनप्राभृतसार—षट्प्राभृतादि संग्रह : भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित

२ पूर्वोक्त ग्रन्थमाला से प्रकाशित

चारित्र के दो भेद किये गये हैं। निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं। उनसे पूर्ण विशुद्ध सम्यग्दर्शन का ज्ञान के साथ आचरण करना सम्यक्त्वचरण चारित्र है, सम्यग्दर्शन से जीव द्रव्य पर्यायों को देखकर श्रद्धा करता है, ज्ञान से उन्हें जानता है और चारित्र से अपने दोषों का परिहार करता है।

संयमचरण चारित्र, सागार और अनगार रूप से दो प्रकार का है। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त, रात्रिभक्त, ब्रह्म, आरम्भ, परिग्रह, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग इन प्रतिमाओं का आचरण करने वाला सागारी चारित्र है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत श्रावक के इन बारह व्रतों पर विवेचन कर सागार संयमचरण को पूर्ण किया गया है। अनगार संयमचरण पर चिन्तन करते हुए मनोज्ञ, अमनोज्ञ, सचित्त और अचित्त, राग-द्वेप के परिहार की दृष्टि से इन्द्रियों का संवरण, महाव्रत, समिति, गुप्ति इनको अनगार संयमचरण कहा है। पंच व्रतों की पृथक-पृथक भावनाओं का भी निर्देश है। इस ग्रन्थ में मूल ४४ गाथाएँ हैं और इस पर श्रुतसागर ने टीका का निर्माण किया है।

बोधप्राभृत[१]

प्रस्तुत ग्रन्थ में विश्व के समस्त जीवों के प्रबोधनार्थ षट्काय के जीवों के हितार्थ इसमें ग्यारह बातों पर प्रकाश डाला गया है।

भावप्राभृत[२]

प्रस्तुत ग्रंथ में श्रमण की पहचान भाव से बताई गई है, द्रव्यलिङ्ग से नहीं। गुण और दोष दोनों का मूल स्रोत भाव है। जो बाह्य परिग्रह का परित्याग किया जाता है उसका संलक्ष्य भावशुद्धि है। अभ्यन्तर परिग्रह मिथ्यात्व आदि हैं जिनके बिना त्याग किये, बाह्य परिग्रह का त्याग फलप्रद नहीं होता। आचार्य ने इस बात पर बल दिया है कि नग्नत्व आदि मुक्ति का मूल कारण नहीं है क्योंकि नारकी व तिर्यञ्च के जीव तो नग्न ही रहते हैं। मिथ्यात्व आदि दोषों से रहित होना ही

---

१ पूर्वोक्त संस्था से प्रकाशित

२ भावप्राभृत—षट्प्राभृतादि संग्रह में श्रुतसागर रचित टीका के साथ; भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित।

सच्चा श्रमणत्व है। यहाँ पर आचार्य ने अनेक दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसमें भाव की प्रधानता पर ही अत्यधिक बल दिया गया है।

मोक्षप्राभृत[1]

प्रस्तुत ग्रंथ में निर्वाण के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए कहा है कि जिस परमात्मा को जानकर निरन्तर अन्वेषणा करते हुए योगीजन अव्याबाध, अनन्त, अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं वही मोक्ष है। जीव के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन प्रकार बताए हैं। जो बाह्य इन्द्रियों के विषय में आसक्त रहता है वह बहिरात्मा है, आत्मा को शरीर से पृथक् समझना अन्तरात्मा है, और जो कर्म मल से रहित हो चुका है वह परमात्मा है। इसमें १०६ गाथाएँ हैं और इन्हीं विषयों पर निश्चय नय की दृष्टि से विस्तारपूर्वक चिन्तन किया है। इसकी अनेक गाथाएँ छाया-नुवाद के रूप में आचार्य पूज्यपाद ने समाधितन्त्र में प्रयोग की हैं।

द्वादशानुप्रेक्षा

इसमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह भावनाओं पर विवेचन है। अन्तिम चार गाथाओं में कहा है कि प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि ये सभी अनुप्रेक्षा से ही संभव है। अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से ही परम निर्वाण प्राप्त होता है। इसमें ६१ गाथाएँ हैं।

सुत्तपाहुड आदि

सुत्तपाहुड में २७ गाथाओं के द्वारा आगम का महत्त्व बताकर उस पर चिन्तन किया गया है। लिङ्गपाहुड में श्रमणधर्म का निरूपण है, इसमें २२ गाथाएँ हैं। शीलपाहुड में बताया है कि शील ही विषय आसक्ति को दूर कर मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप को शील के अन्तर्गत परिगणित कर वर्णन किया है। रयणसार ग्रन्थ में रत्नत्रय पर विवेचन है। किसी प्रति में १६७ गाथाएं प्राप्त होती हैं और किसी प्रति में १५५ गाथाएँ प्राप्त होती हैं। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री आदि इसे कुन्दकुन्द की रचना नहीं मानते। सिद्ध भक्ति में १२ गाथाओं के द्वारा सिद्धों के गुण, भेद, सुख, स्थान

---

१ पूर्वोक्त संस्था से प्रकाशित

आदि विषयों का विश्लेषण है। श्रुतभक्ति में ११ गाथाओं के द्वारा श्रुतज्ञान का स्वरूप बताकर उसकी स्तुति की गई है। चारित्रभक्ति में दस अनुष्टुप छन्दों द्वारा पांच चारित्रों का वर्णन है। योगीभक्ति में २३ गाथाओं के माध्यम से योगियों की अनेक अवस्थाओं का चित्रण है। आचार्यभक्ति में दस गाथाओं के द्वारा आचार्य का विश्लेषण है। निर्वाणभक्ति में २७ गाथाओं के द्वारा निर्वाण का स्वरूप और निर्वाण को प्राप्त होने वाले तीर्थङ्कर भगवान की स्तुति की गई है। पंचगुरुभक्ति में सात पद्यों में पंचपरमेष्ठी की स्तुति की गई है और कोस्सामीथुदि में आठ गाथाओं से तीर्थंकरों की स्तुति की गई है।

कितने ही विद्वान कुन्दकुन्दाचार्य के ८४ पाहुड मानते हैं पर वे सभी वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के महान प्रभावक आचार्य हुए हैं।

कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को देन

उपलब्ध साहित्य के आधार से कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने आगमिक पदार्थों की दार्शनिक दृष्टि से सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में तार्किक चर्चा की। तात्कालिक दार्शनिक विचारधाराओं के आलोक में आगम तत्त्वों को स्पष्ट किया और अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का निरसन करके जैन मन्तव्यों की निर्दोषता और उपादेयता का प्रतिपादन किया।

श्वेताम्बर आगमों में वस्त्र-धारण, केवली कवल-आहार, स्त्री-मुक्ति, आदि अनेक ऐसे उल्लेख थे जो दिगम्बर परम्परा के अनुकूल न थे। अतः आचार्य कुन्दकुन्द ने दिगम्बर परम्परा की आध्यात्मिक भूख को शान्त करने हेतु अनेक ग्रन्थों का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया। उनके ग्रन्थों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का निरूपण प्राचीन आगमिक शैली में और आगमिक भाषा में विविध प्रकार से किया गया है। उन्हें एक-एक विषय पर विश्लेषण करने वाले स्वतन्त्र ग्रंथ बनाना अभिप्रेत था और साथ ही सम्पूर्ण विषयों की संक्षिप्त जानकारी देना भी अभीष्ट था, और उन्हें यह भी अभिप्रेत था कि आगम के मुख्य विषयों का यथाशक्य तत्कालीन दार्शनिक प्रकाश में निरूपण किया जाय जिससे जिज्ञासुओं को श्रद्धा एवं बुद्धि की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध हो सके।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय अद्वैतवादों का प्रवाह तीव्र गति से बढ़ रहा

था। औपनिषद् ब्रह्माद्वैत के अतिरिक्त शून्याद्वैत और विज्ञानाद्वैत जैसे वाद भी चिन्तकों में प्रतिष्ठित हो चुके थे। जो तार्किक और श्रद्धालु थे उन पर अद्वैत-वादों का सहज ही प्रभाव छा रहा था। ऐसी परिस्थिति में विरोधी वादों के मध्य में जैनों के द्वैतवाद की रक्षा करना एक गम्भीर प्रश्न था। उसी प्रश्न के समाधान हेतु आचार्य कुन्दकुन्द के निश्चयप्रधान अद्वैतवाद ने जन्म ग्रहण किया। जैन आगम साहित्य में निश्चयनय का वर्णन था और निक्षेपों में भावनिक्षेप भी था। भावनिक्षेप की प्रधानता को स्वीकार कर निश्चय नय के प्रकाश में जैन तत्त्वों के विश्लेपण द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द ने जैनदर्शन को दार्शनिकों के समक्ष एक अभिनव रूप में उपस्थित किया। जिसके फलस्वरूप जो वेदान्त के अद्वैतवाद में आनन्द की अनुभूति हो रही थी, व साधकों को एवं जिज्ञासुओं को जैनदर्शन में प्राप्त हो गयी, निश्चयनय भावनिक्षेप का आश्रय ग्रहण करने पर द्रव्य और पर्याय, द्रव्य और धर्म और धर्मी, अवयव और अवयवी प्रभृति का भेद समाप्त होकर ही अभेद हो गया जिसका निरूपण परिस्थितिवश आचार्य कुन्दकु करना था। उनके ग्रंथों में निश्चयप्रधान वर्णन है और नैतिक अ वर्णन में ब्रह्मवाद के सन्निकट जैन आत्मवाद पहुँच गया है। निश्च भावनिक्षेप प्रधान दृष्टि को संलक्ष्य में रख कर उनके ग्रन्थों का अ किया जाय तो अनेक गुत्थियाँ सहज ही सुलझ सकती हैं।

पूर्व पंक्तियों में हमने बताया है कि कुन्दकुन्द ने अपने समय में प्र सभी विभाजनों को एक साथ सम्यक्दर्शन के विषय रूप में ग्रहण किया। *दर्शनप्राभृत* (पाहुड) में उन्होंने लिखा है कि षट्-द्रव्य, नव-पदार्थ, पं अस्तिकाय और सप्त तत्त्व की श्रद्धा करने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[1]

विश्व के जितने भी पदार्थ हैं उन सभी पदार्थों का समावेश आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि से द्रव्य, गुण और पर्याय में हो जाता है।[2] तीनों के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा करते हुए प्रथम पृथक्त्व और अन्यत्व की व्याख्या की। जिन दो वस्तुओं के प्रदेश अलग-अलग होते हैं वे पृथक् ही कहे जाते हैं किन्तु जिनमें अतद्भाव होता है वह वह नहीं है इस प्रकार का प्रत्यय

---

१ छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी, सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥ —दर्शन प्रा० १९

२ प्रवचनसार, १,८७

अन्य कहा जाता है ।[१] द्रव्य, गुण और पर्याय में प्रदेश-भेद न होने से वे पृथक् नहीं कहे जा सकते किन्तु अन्य कहे जा सकते है। क्योंकि जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है—इस प्रकार का प्रत्यय होता है ।[२] द्रव्य, गुण और पर्याय में भेद होने के बावजूद भी वस्तुतः भेद नहीं है क्योंकि ज्ञानी से ज्ञान गुण को, धनिक से धन के समान बिल्कुल अलग नहीं मान सकते। इसी तरह द्रव्य, गुण और पर्याय का भेदाभेद है।

निश्चयनय की दृष्टि से परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है और व्यवहारनय की दृष्टि से स्कन्ध को पुद्गल कहना चाहिए ।[३] परमाणु के गुण स्वाभाविक हैं और स्कन्ध के गुण वैभाविक हैं। इसी तरह परमाणु का अन्य-निरपेक्ष परिणमन स्वभाव-पर्याय है और परमाणु का स्कन्ध रूप परिणमन अन्य-सापेक्ष होने से विभाव पर्याय है ।[४] यहाँ पर अन्य-निरपेक्ष परिणमन ो जो स्वभाव पर्याय कहा है उसका सार यह है कि वह परिणमन काल न्न निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि सभी प्रकार के रणमनों में काल कारण है।

जैन आगम साहित्य में आत्मा को शरीर से भिन्न और अभिन्न दोनों ताकिना है। जीव को वर्णयुक्त भी कहा है और अवर्ण भी कहा है, नित्य आग कहा है और अनित्य भी, मूर्त भी कहा है और अमूर्त भी कहा है, शुद्ध और अशुद्ध जीव के दोनों रूपों की चर्चा है। आगमोक्त वर्णन को किस ष्टि से समझना चाहिए आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है।

आगम साहित्य में निश्चय और व्यवहार की चर्चा बीज रूप में है। उस वर्णन को विस्तार से समझाने का प्रयास कुन्दकुन्द ने किया है। वस्तु के पारमार्थिक एवं तात्त्विक शुद्ध स्वरूप का ग्रहण निश्चय से होता है और अपारमार्थिक एवं अतात्त्विक अशुद्ध स्वरूप का ग्रहण व्यवहार से होता है। वस्तुतः षट् द्रव्यों में जीव और पुद्गल इन द्रव्यों के सम्बन्ध में सांसारिक जीवों को भ्रम हो जाता है। इस विपर्यास की दृष्टि से कुन्दकुन्द ने व्यवहार

---

१ प्रवचनसार २,१४
२ वही २,१६
३ नियमसार, २६
४ नियमसार, २७, २८

को अभूतार्थग्राही और निश्चय को भूतार्थग्राही कहा है।[1] जब तक व्यवहार-नय नहीं है तो निश्चयनय भी नहीं हो सकता। जैसे संसार नहीं है, वैसे मोक्ष भी नहीं हो सकता। जैसे संसार और मोक्ष सापेक्ष हैं वैसे ही निश्चय और व्यवहार परस्पर सापेक्ष हैं।[2] परमतत्त्व का वर्णन दोनों नयों के द्वारा ही परिपूर्ण हो सकता है।

मूलाचार

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता वट्टकेराचार्य माने जाते हैं। उनके गण और गच्छ के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। पं० जुगल-किशोर मुख्यार ने वट्टकेर का अर्थ प्रवर्तक, प्रधान, पद प्रतिष्ठित, या श्रेष्ठ आचारनिष्ठ किया है। उनके अभिमतानुसार 'वट्टकेर' यह कुन्दकुन्दाचार्य का विशेषण है। पं० नाथूराम प्रेमी का भी यह अभिमत है। कितने ही विद्वान् वट्टकेर को कुन्दकुन्दाचार्य से पृथक् आचार्य मानते हैं। क्योंकि कुन्दकुन्द की भाषा से मूलाचार की भाषा भिन्न है। मूलाचार में आवश्यक निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, भक्तपइण्णा, मरण-समाधि आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ अधिकार और १२५२ गाथाएँ हैं। प्रथम मूलगुणाधिकार में महाव्रत, समिति, इन्द्रिय-निरोध, षडावश्यक, केशलुञ्चन, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्त-धावन, स्थितिभोजन तथा एक बार भोजन का निरूपण है। वृहद्प्रत्याख्यान-संस्तव अधिकार में श्रमण का पापों से मुक्त होकर जीवन के अन्तिम क्षणों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन आराधनाओं में स्थित रहकर क्षुधादि परीषहों पर विजय प्राप्त कर निष्कषाय रहने का आदेश किया है। प्रत्याख्यान अधिकार में हिंसक पशु आदि के द्वारा आकस्मिक मृत्यु उपस्थित हो जाय तो श्रमण को कषाय, आहार का त्याग कर समभाव से विचरण का संकेत किया गया है। सम्यक्त्व आचार आदि में दस प्रकार के आचारों का वर्णन है। पंचाचार अधिकार में दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि आचार के पांच भेदों का विस्तार से निरूपण है। स्वाध्याय पर चिन्तन करते हुए आगम और सूत्र ग्रन्थों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। पिण्डविशुद्धि अधिकार में श्रमणों के आहार सम्बन्धी नियमोपनियमों पर चिन्तन है।

---

१ समयसार, गाथा १३

२ समयसार, तात्पर्यवृत्ति, पृ० ६७

षडावश्यक अधिकार में षडावश्यक पर निक्षेपों की दृष्टि से विवेचन किया गया है। कृति, कर्म और कायोत्सर्ग में लगने वाले दोषों का प्ररूपण किया गया है। अनगार भावना अधिकार में बताया है कि लिङ्ग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर-संस्कार-त्याग, वाक्य, तप और ध्यान सम्बन्धी जो निर्दोष आचरण करते हैं वे ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। समयसार अधिकार में चारित्र को शास्त्र का सार कहा है। अनुप्रेक्षा अधिकार में भावनाओं का वर्णन है। पर्याप्ति अधिकार में पर्याप्तियों पर चिन्तन है। पर्याप्ति के संज्ञा, लक्षण, स्वामित्व, संख्या परिमाण, निवृत्ति और स्थितिकाल ये छह भेद हैं। शीलगुण अधिकार में शील के अठारह हजार भेदों का वर्णन है। यह ग्रन्थ श्रमणाचार को समझने के लिए बहुत ही उपयोगी है।

डॉ० ए. एम. घाटगे ने इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली १९३५ में अपने दशवैकालिकनिर्युक्ति नामक लेख में मूलाचार और दशवैकालिक निर्युक्ति की गाथाओं का मिलान किया है। उदाहरण के रूप में देखिए—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सये।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ॥

—दशवैकालिकसूत्र (४·६)

कधं चरे, कधं चिट्ठे, कधमासे, कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण वज्झादि॥

भगवती आराधना

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। ग्रंथ के अन्त में जो प्रशस्ति है उससे यह अवगत होता है कि आर्य जिननंदिगणि, आर्य सर्वगुप्त और आर्य शिवनन्दिगणि के चरणारविन्दों में सम्यक् प्रकार से सूत्र और उसका अर्थ समझकर तथा पूर्वाचार्यों की रचना को उपजीव्य बनाकर 'पाणीतल भोजी' शिवार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की।[1] आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में शिवकोटि का उल्लेख किया है। राजा बलि

---

१ अज्जजिणणंदिगणि अज्जमित्तणंदीणं।
अवगमियपायमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च॥२१६१॥
पुव्वायरियणिवद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए।
आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा॥२१६२॥

कथा एवं आराधना कथाकोश में समन्तभद्र के शिष्य शिवकोटि का निर्देश है किन्तु आदिपुराण के आधार से उन्हें समन्तभद्र का शिष्य नहीं माना जा सकता। कवि हस्तीमल ने विक्रान्त कौरव ग्रन्थ में समन्तभद्र के शिवकोटि और शिवायन ये दो शिष्य लिखे हैं और उन्हीं के अन्वय में जिनसेन को लिखा है। शिवार्य का समय विक्रम की तृतीय शती है। विज्ञ लोग ऐसा भी अनुमान करते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द के कुछ समय के पश्चात् उनका जन्म हुआ हो। वे यापनीय संघ के आचार्य थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं का निरूपण है। प्रस्तुत ग्रंथ में २१६६ गाथाएँ हैं और ४० अधिकार हैं। इसमें मुनिधर्म या श्रमणधर्म का विश्लेषण मुख्य रूप से किया गया है पर प्रस्तुत ग्रंथ की अनेक मान्यताएं दिगम्बर श्रमणाचार से मेल नहीं खाती। जैसे, रुग्ण श्रमणों के लिए अन्य श्रमणों के द्वारा भोजन-पान लाने का निर्देश। इसी प्रकार श्रमण के मृत शरीर को अरण्य में परित्याग कर आने की विधि। इसमें श्वेताम्बर परम्परा मान्य कल्पव्यवहार, आचारांग और जीतकल्प का भी उल्लेख हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति, बृहद्कल्पभाष्य, प्रभृति श्वेताम्बर ग्रन्थों की अनेक गाथाएं इसमें उद्धृत की गई हैं। बृहद्कथाकोश की भूमिका में व प्रवचनसार की भूमिका में डॉ० ए. एन. उपाध्ये ने भगवती आराधना की गाथा संस्तारक, भक्तपरिज्ञा, मरणसमाधि प्रकीर्णक और मूलाचार की गाथाओं से तुलना की है।

ग्रंथ के प्रारम्भ में १७ प्रकार के मरण प्रतिपादित किये गये हैं। उसमें पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण को श्रेष्ठ कहा है। पण्डितमरण में भक्तपरिज्ञामरण को प्रशस्त बताया गया है। लिङ्गाधिकार में आचेलक्य, लोच, देह से ममत्व-त्याग और प्रतिलेखन ये चार श्रमणों के चिह्न बताये गये हैं। अनियतविहार अधिकार में विविध देशों में विचरण करने के गुणों के साथ अनेक प्रकार के रीति-रिवाज, भाषा और शास्त्र आदि में निपुणता प्राप्त करने का विधान है। भावना अधिकार में तपोभावना, श्रुतभावना, सत्य-भावना, एकत्व-भावना और धृतिबल भावना का निरूपण किया गया है। संलेखना अधिकार में संलेखना के साथ बाह्य एवं आभ्यन्तर तपों का निरूपण है। आर्यिकाओं को किस प्रकार संघ में रहना चाहिए उनके नियमोपनियमों

का भी निरूपण किया गया है। मार्गणा अधिकार में आचार और जीतकल्प का वर्णन है। ग्रंथ में सुकोशल, गजसुकमाल, अग्निकापुत्र, भद्रबाहु, धर्मघोष, अभयघोष, विद्युच्चर, चिलातपुत्र आदि अनेक मुनियों की कथाएँ भी विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर समय-समय पर प्राकृत और संस्कृत भाषा में अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। अपराजित सूरि जिनका दूसरा नाम श्री विजयाचार्य सूरि था उन्होंने विजयोदया अथवा आराधना नामक टीका लिखी थी। पं० आशाधरजी ने मूलाआराधनादर्पण नामक टीका का निर्माण किया। तीसरी टीका जो अप्रकाशित है जिसकी हस्तलिखित प्रति भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना में है उस टीका का नाम आराधनापञ्जिका है। किन्तु लेखक का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। चौथी टीका भावार्थ-दीपिका है। वह भी अप्रकाशित है। उसके लेखक शिवजिक अरुण माने जाते हैं। इससे ग्रन्थ की लोकप्रियता सिद्ध होती है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा (कत्तिगेयाणुवेक्खा)

इसके रचयिता स्वामी कार्तिकेय माने जाते हैं। इस ग्रन्थ-रचना के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में एकमत नहीं है। इस ग्रन्थ में ४७६ गाथाएँ हैं। अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म—इन बारह अनुप्रेक्षाओं पर विस्तार से वर्णन है। प्रसंगानुसार सप्त तत्त्व, जीवसमास, मार्गणा, द्वादशव्रत, पात्रों के भेद, दाता के सप्त गुण, दान की श्रेष्ठता, महात्म्य, संलेखना, दश धर्म, सम्यक्त्व के आठ अंग, बारह प्रकार के तप एवं ध्यान के प्रभेदों का निरूपण है। आचार के स्वरूप और आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस पर संस्कृत भाषा में टीका का निर्माण किया है।

आचार्य नेमिचंद्र और उनका साहित्य

आचार्य नेमिचन्द्र देशीय गण के थे। ये गङ्गवंशीय राजा राजमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। उन्होंने आचार्य अभयनन्दी, वीरनन्दी और कनकनन्दी को अपना गुरु माना है। ये सिद्धान्त शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। अतः इन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती भी कहते हैं। इनका समय की ई० सन् ११वीं शती माना जाता है। गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार, द्रव्यसंग्रह इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

गोम्मटसार

यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है—जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड में ७३३ गाथाएँ हैं और कर्मकाण्ड में ९१२ गाथाएँ हैं। जीवकाण्ड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड इन पाँच विषयों का निरूपण है। गुणस्थान, जीव-समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस अधिकारों में जीव की विविध अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है।

'कर्मकाण्ड' प्रकरण में प्रकृति-समुत्कीर्तन, बंधोदय, सत्व, सत्वस्थान, भंग, त्रिचूलिका, स्थान-समुत्कीर्तन प्रत्यय, भाव चूलिका और कर्मस्थिति रचना इन नौ अधिकारों में कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ पर संस्कृत भाषा में दो टीकाएँ उपलब्ध हैं, नेमिचन्द्र द्वारा जीवप्रदीपिका और अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा मन्द प्रबोधिनी। केशवर्णि द्वारा कन्नड भाषा में लिखी हुई वृत्ति मिलती है। पं० टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक वचनिका भी लिखी है।

लब्धिसार

आत्म-संशुद्धि के लिए पाँच प्रकार की लब्धियाँ आवश्यक मानी है। उनमें करण-लब्धि प्रधान है। इस लब्धि के प्राप्त होने पर मिथ्यात्व से मुक्त होकर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत ग्रंथ में दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि और क्षायिक चारित्र ये तीन अधिकार हैं। सम्यग्दर्शन-लब्धि अधिकार में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पर चिन्तन करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि अनादि मिथ्यादृष्टि या सादि मिथ्यादृष्टि जीव चार गतियों में से किसी भी गति में प्रथम-उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। विशेषता यह है कि उसे संज्ञी, पर्याप्तक, गर्भज, विशुद्ध अन्तः-करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, परिणामों में उत्तरोत्तर विशुद्धि होनी चाहिए और वह साकार उपयोग वाला होना चाहिए। सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व उसके उन्मुख होने पर मिथ्यादृष्टि जीव के क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें से चार लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों को हो सकती हैं किन्तु करणलब्धि अभव्य को नहीं होती।

जब ज्ञानावरणादि अप्रशस्त कर्मों की फलदान शक्ति उत्तरोत्तर अनंतगुणी हीन होकर उदय को प्राप्त होती है तब उस जीव को प्रथम क्षयोपशम लब्धि होती है। उस लब्धि के प्रभाव से जीव की प्रशस्त कर्म प्रकृतियों के बन्धयोग्य, धर्मानुराग उपयुक्त परिणति होती है, वह विशुद्ध लब्धि है। षट्द्रव्य, नौ पदार्थ के उपदेष्टा आचार्य आदि के प्रति या उपदिष्ट अर्थ को धारण करने की इच्छा देशना लब्धि है। इन तीनों लब्धियों से सम्पन्न जीव आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सप्त कर्मस्थिति को अन्तःकोटाकोटिदेशन्यून कर देता है एवं अप्रशस्त घातिक कर्म के अनुभाव को खण्डित करने के लिए लता एवं दारु के सदृश दो स्थानों में स्थापित करता है। साथ ही अघातीय कर्मों के अनुभाव को नीम और काँजीर के समान विभक्त कर देता है, तब प्रायोग्यलब्धि होती है। इन चारों लब्धियों के पश्चात् भव्य जीव के अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाले परिणाम करण कहलाते हैं, जो अभव्य जीव को नहीं होते। इस 'करणलब्धि' के अन्तिम समय में जीव प्रथम उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। प्रसंगानुसार गुणस्थान की दृष्टि से विभिन्न प्रकृतियों के नामों का उल्लेख करके बन्ध आदि की हीनता के क्रम को प्रदर्शित किया गया है।

चारित्रलब्धि

जब मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ देशचारित्र के ग्रहण को तत्पर होता है तब जैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति के हेतु अधःप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है वैसे ही देशचारित्र को प्राप्त करने के हेतु तीन करणों को करता है और तीन करणों के अन्तिम समय में वह देश-चारित्र को प्राप्त कर लेता है, किन्तु उक्त मिथ्यादृष्टि वेदक (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व) के साथ उक्त देशचारित्र के ग्रहण को तत्पर होता है तो अंतः-प्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण इन दो परिणामों के अन्तिम समय में वह देशचारित्र को प्राप्त होता है।

सकलचारित्र क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक के रूप में तीन प्रकार का है। जो जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ क्षायोपशमिक चारित्र को ग्रहण करने में तत्पर होता है उसकी विधि उपशम सम्यक्त्व के सदृश है। जो वेदक सम्यक्दृष्टि औपशमिक चारित्र को ग्रहण करने में तत्पर होता है उसकी विधि उससे भिन्न है। यहाँ पर उस सम्बन्ध में विशेष

प्रकाश डाला गया है। उसके पश्चात क्षायिक चारित्र में की जाने वाली क्रियाओं का वर्णन विस्तार से किया है और इसे क्षपणासार कहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ पर नेमिचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका और पण्डित प्रवर टोडरमलजी की हिन्दी टीका है। पं० टोडरमलजी ने क्षपणासार के सम्बन्ध में कहा कि प्रस्तुत ग्रंथ आचार्य माधवचन्द्र द्वारा भोज नामक राजा के मन्त्री बाहुबलि के परिज्ञानार्थ रचा है।

त्रिलोकसार

इस ग्रंथ में करणानुयोग का वर्णन है। इसका मूलाधार त्रिलोकप्रज्ञप्ति है। इसमें सामान्य लोक, भवन, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक और नर तिर्यक लोक ये अधिकार हैं। जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, मानुष क्षेत्र, भवन वासियों के रहने योग्य स्थान, आवास भवन, आयु, परिवार का विस्तार से वर्णन है। ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक, तारा एवं सूर्य-चन्द्र की आयु, विमान, गति, परिवार आदि का सांगोपांग विश्लेषण है। त्रिलोक की रचना के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्रस्तुत ग्रंथ में मिलती है। इसमें १०१८ गाथाएँ हैं।

द्रव्यसंग्रह

प्रस्तुत ग्रंथ में जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, आकाश, काल, कर्म, तत्त्व, ध्यान आदि के सम्बन्ध में संक्षेप में किन्तु व्यवस्थित ढंग से चर्चा की गई है। समस्त विषय को जीवाधिकार, सप्त पदार्थ निरूपण अधिकार, मोक्ष-मार्ग अधिकार इन तीन अधिकारों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम २७ गाथाओं में षट्द्रव्य और पंचास्तिकाय का वर्णन है। द्वितीय अधिकार में ११ गाथाओं के द्वारा सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ का विश्लेषण है, तृतीय अधिकार में २० गाथाओं के द्वारा निश्चय और व्यवहार मार्ग का निरूपण किया गया है। द्रव्य, अस्तिकाय और तत्त्वों को संक्षेप में समझने के लिए यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी है। प्रस्तुत ग्रंथ पर ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका भी है जो सेक्रेड बुक्स आफ द जैन्स सीरिज से प्रकाशित हुई है जिसमें मूल ग्रंथ का शरत्चन्द्र घोषाल ने अंग्रेजी में अनुवाद किया। पं० द्यानतराय ने प्रस्तुत ग्रंथ का छन्दानुबद्ध हिन्दी में अनुवाद भी किया है। इसके रचयिता सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र हैं।

जंबुद्दीवपण्णत्ति संगहो

प्रस्तुत ग्रंथ करणानुयोग से सम्बन्धित है। इसके रचयिता पद्मनन्दी मुनि हैं। पद्मनन्दी ने अपने आपको गुणगणकलित, त्रिदंडरहित, त्रिशल्यपरिशुद्ध बताकर बलनन्दी का शिष्य कहा है। वे वीरनन्दी के शिष्य थे। वारानगर में प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई जिसकी पहचान कोटा के सन्निकट बारा कस्बे से की जाती है। सिंहसूरि ने लोक विभाग में जम्बुद्वीपपण्णत्ति का उल्लेख किया है। इससे विद्वानों का अनुमान है कि प्रस्तुत रचना का ग्रंथकाल ११वीं शताब्दी के आस-पास होना चाहिए। जम्बुद्वीपपण्णत्ति का विषय तिलोयपण्णति से मिलता है। दोनों की अनेक गाथाएँ समान हैं। वट्टकेर के मूलाचार और नेमिचन्द्र के त्रिलोकसार की गाथाएं भी इसमें हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उपोद्घात, भरत, ऐरावत, वर्ष, शैलनदी, भोगभूमि, सुदर्शन (मेरुपर्वत) मन्दर जिनभवन, देवोत्तरकुरु कक्षाविजय, पूर्वविदेह, अपर विदेह, लवण समुद्र, द्वीपसागर, अध: ऊर्ध्व सिद्धलोक, ज्योतिर्लोक और प्रमाण परिच्छेद आदि १३ उद्देशक हैं और २३७९ गाथाएँ हैं।

धम्मरसायण

इसके रचयिता पद्मनन्दी हैं। इसमें १९३ गाथाओं के द्वारा धर्म का प्रतिपादन किया गया है।

आराधना-सार

सम्यक्त्व हो जाने के पश्चात् जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को आराधना कहा गया है। शिवभूति, सुकुमाल, कोशल, गुरुदत्त, पांडव, श्रीदत्त, सुवर्णभद्र के दृष्टान्त देकर विषय का प्रतिपादन किया गया है। मन को राजा की उपमा दी गई है। जैसे राजा की मृत्यु होने पर सेना निस्तेज हो जाती है वैसे ही मन राजा के शान्त होने पर इन्द्रियों की सेना भी शान्त हो जाती है। मन एक ऊँट की तरह है। ऊँट को जिस प्रकार रस्सी से बाँधकर रखा जा सकता है वैसे ही मन को ज्ञान रूपी रस्सी से बाँधकर रखना चाहिए। मन वृक्ष के समान है राग-द्वेष रूपी शाखाओं को नष्ट करने से और मोह रूपी जल का सिंचन न करने से मन रूपी वृक्ष स्वत: ही नष्ट हो जायेगा, इसका उपदेश प्रदान किया गया है। जैसे नमक पानी में एकमेक हो जाता है वैसे ही चित्त को धर्मध्यान में लीन कर देना चाहिए।

तत्त्वसार

धर्मतत्त्व का सार बताने के लिए प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की गई है। जैसे बिना पाँव का मानव मेरु के उच्च शिखर पर नहीं चढ़ सकता, वैसे ही ध्यान के अभाव में कर्म नष्ट नहीं होते।[1] जहाँ तक पर-द्रव्य में चित्त संलग्न रहेगा वहाँ तक भव्य जीव भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[2] इस ग्रन्थ में ७४ गाथाएँ हैं।

दर्शनसार[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ में बौद्ध एवं श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति पर चिन्तन किया है और मरीचि को समस्त मिथ्या मतों का प्रवर्तक कहा है। भगवान पार्श्व के तीर्थ में पिहिताश्रव के शिष्य बुद्धकीर्ति ने बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया। राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र में वल्लभी नगर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। जिसमें स्त्री-मुक्ति और केवलि-भुक्ति का समर्थन है। इसमें द्राविड़, यापनीय, काष्ठा, माथुर और भिल्लक सम्बन्धी उत्पत्ति का भी वर्णन किया गया है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक स्खलनाएँ प्रस्तुत ग्रंथ में हैं। इसीलिए विज्ञ लोग प्रस्तुत ग्रन्थ को पूर्ण प्रामाणिक नहीं मानते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में ५१ गाथाएँ है।

भावसंग्रह

इसमें दर्शनसार की अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। इसमें सर्वप्रथम जलस्नान से लगने वाले दोषों का वर्णन कर तप और इन्द्रियनिग्रह से आत्मा की विशुद्धि प्रतिपादित की गई है और चौदह गुणस्थानों पर चिन्तन किया गया है।[4]

बृहद्नयचक्र

इसका वस्तुतः नाम द्रव्यस्वभावप्रकाश है। इसमें द्रव्य, गुण, पर्याय, ज्ञान, दर्शन और चारित्र, आदि विषयों पर विश्लेषण है। इसमें

---

१ चलणरहिओ मणुस्सो जह बंधइ मेरुसिहरमारुहिउं।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥

२ लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवं पि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥

३ हिन्दी जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई द्वारा वि० सं० १९७४ में प्रकाशित

४ माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला द्वारा वि० सं० १९७८ में प्रकाशित

४२३ गाथाओं के द्वारा इन विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसके लेखक मायल धवल हैं।[1]

ज्ञानसार

इसके कर्ता पद्मसिंह मुनि हैं। इसमें योगी, गुरु, ध्यान आदि के स्वरूप पर ६३ गाथाओं में प्रकाश डाला गया है।[2]

वसुनन्दीश्रावकाचार[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य वसुनन्दी हैं जिनका समय विज्ञजन १२वीं शताब्दी पूर्वार्ध मानते हैं। पं० आशाधर ने सागारधर्मामृत की टीका में वसुनन्दी का आदर के साथ स्मरण किया है और उनकी गाथाओं को उट्टङ्कित किया है। इस ग्रन्थ में ५४६ गाथाएँ हैं और श्रावकाचार का विश्लेषण है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए जीवों के भेद-प्रभेद की चर्चा है। अजीव के वर्णन में स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणुओं का विश्लेषण किया गया है। द्यूत, मद्य, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदार-सेवन ये सप्त व्यसन श्रावक के लिए त्याज्य हैं। बारह व्रतों का निरूपण करते हुए दान के फल की विस्तार सहित चर्चा है। पंचमी, रोहिणी, अश्विनि, सौख्य-सम्पत्ति, नन्दीश्वर पंक्ति, विमान पंक्ति आदि व्रतों के करने का भी विधान किया गया है। श्रुतदेविका का भी निरूपण है।

श्रुतस्कन्ध[4]

श्रुतस्कन्ध के रचयिता ब्रह्मचारी हेमचन्द्र हैं। वे रामानंदी सैद्धान्तिक के शिष्य थे। इस ग्रंथ में ९४ गाथाएँ हैं। इसमें द्वादशांग श्रुत का परिचय देते हुए द्वादशांग के सकल श्रुत की संख्या बताई है। सामायिक, स्तुति, वन्दन, प्रतिक्रमण, कृति-कर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निशीथिका प्रभृति की गणना अंगबाह्य श्रुत में की गई है। चतुर्थ आरे में चार वर्षों में साढ़े तीन मास अवशेष रहने पर भगवान महावीर सिद्ध हुए। महावीर निर्वाण के १०० वर्ष के बाद कोई भी श्रुतकेवली नहीं हुआ। आचार्य भद्रबाहु अष्टांगनिमित्त के ज्ञाता

---

१ वही १९२० में प्रकाशित

२ वही १९७३ में प्रकाशित

३ पण्डित हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सन् १९५२

४ माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा वि० सं० १९७७ में प्रकाशित

थे। धर्मसेन मुनि १४ पूर्वों के अन्तर्गत अग्रायणीय पूर्व के कर्मप्रकृति नामक अधिकार के ज्ञाता थे। उन्होंने ही भूतबलि और पुष्पदंत मुनियों को आगमों के कुछ अंश की शिक्षा दी जिसके फलस्वरूप उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की।

निजात्माष्टक[1]

इसके रचयिता योगीन्द्र देव हैं। इसमें केवल आठ गाथाएँ हैं। इनका समय वि० की १३वीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है।

छेदपिंड[2]

'छेद' का अर्थ 'प्रायश्चित्त' है। मलहरण, पापनाशन, शुद्धि, पुण्य, पवित्र और पावन ये छेद के पर्यायवाची है। प्रमाद या अभिमान के कारण व्रत, समिति, मूलगुण, उत्तरगुण, तप, गण आदि के सम्बन्ध में स्खलना होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। इस ग्रंथ के कर्ता इन्द्रनन्दीयोगेन्द्र हैं। इसमें ३६२ गाथाएँ हैं।

भावत्रिभंगी

इसके रचयिता श्रुतमुनि हैं। उनके दीक्षा-प्रदाता गुरु का नाम बालचन्द्र था। इस ग्रन्थ में औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक भावों का विवेचन है। इसमें ११६ गाथाएं हैं। यह १५वीं शताब्दी की रचना मानी जाती है।

आस्रवत्रिभंगी[3]

इस ग्रंथ में मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग नाम के आस्रव के भेद-प्रभेदों की चर्चा है। इसके रचयिता श्रुतमुनि माने जाते हैं।

सिद्धान्तसार

प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता आचार्य जिनचन्द्र हैं। इस ग्रंथ में सिद्धान्तों के सार को प्रस्तुत किया है। इस पर भट्टारक ज्ञानभूषण ने संस्कृत भाषा में भाष्य लिखा है।

अंगपण्णत्ती

प्रस्तुत ग्रंथ में ग्यारह अंग चौदह पूर्वों की प्रज्ञप्ति का निरूपण है।

---

१ माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई वि० सं० १६७६

२ प्रकाशक—वही १६७८

३ प्रकाशक—वही १६७८

चूलिका प्रकीर्णक प्रकृति में सामायिक, स्तव, प्रतिक्रमण, विनयकृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्पिक, महाकल्पिक, महापुण्डरीक, निशीथिका और चतुर्दश प्रकीर्णक का उल्लेख है। इसके रचयिता शुभचंद्र हैं जो ज्ञानभूषण के प्रशिष्य थे। वे शब्द, युक्ति और परमागम के ज्ञाता थे और षट्भाषा कवि एवं चक्रवर्ती के नाम से विश्रुत थे। गौड, कलिंग, कर्णाटक, गुर्जर, मालव आदि देशों में उन्होंने वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर जैनधर्म की प्रभावना की थी।

कल्लाणालोयणा[1]

इसके रचयिता अजित ब्रह्मचारी हैं। उन्होंने अपने गुरु देवेन्द्र कीर्ति, भट्टारक विद्यानन्दजी के आदेश से हनुमानचरित्र की रचना की थी। इस ग्रंथ की ५४ गाथाएँ हैं।

ढाढसीगाथा

इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। विज्ञों का मन्तव्य है कि वे काष्ठसंघ के कोई आचार्य रहे होंगे। इस ग्रंथ में ३८ गथाएँ हैं।

छेदशास्त्र[2]

इसका अपर नाम छेदनवती भी है। इसमें ९० गाथाएं हैं। इस पर एक लघुवृत्ति भी है। इसमें व्रत और समिति सम्बन्धी दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। इसके रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

दिगम्बर परम्परा के जितने भी ग्रंथ हैं वे आचार्यो द्वारा विरचित हैं। क्योंकि उन्होंने मूल आगमों का विच्छेद मान लिया है। जो आचार्यों द्वारा विरचित हैं उन्हें आगमों की तरह प्रामाणिक मानते हैं। चार अनुयोगों की दृष्टि से उन्होंने अपने ग्रंथों का विभाजन इस प्रकार भी किया है—

१. प्रथमानुयोग—पद्मपुराण (रविषेण), हरिवंशपुराण (जिनसेन) आदिपुराण (जिनसेन), उत्तरपुराण (गुणभद्र)।

२. करणानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जयधवला, गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकांड, लब्धिसार, क्षपणासार, (नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा रचित), पंचसंग्रह, आदि।

---

१ माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला वि० सं० १९७७ में तत्त्वानुशासनादि संग्रह में प्रकाशित
२ वही १९७८ में प्रकाशित

तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय संस्कृति विश्व की एक महान संस्कृति है। यह संस्कृति सरिता की सरस धारा की तरह सदा जन-जीवन में प्रवाहित होती रही है। इस संस्कृति का चिन्तन जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीन धाराओं से प्रभावित रहा है। यहाँ की संस्कृति और सभ्यता का रमणीय कल्पवृक्ष इन तीनों परम्पराओं के आधार पर ही सदा फलता-फूलता रहा है। इन तीनों ही परम्पराओं में अत्यधिक सन्निकटता न भी रही हो तथापि अत्यन्त दूरी भी नहीं थी। तीनों ही परम्पराओं के साधकों ने साधना कर जो गहन अनुभूतियाँ प्राप्त कीं; उनमें अनेक अनुभूतियाँ समान थीं और अनेक अनुभूतियाँ असमान थीं। कुछ अनुभूतियों का परस्पर विनिमय भी हुआ। एक-दूसरे के चिन्तन पर एक-दूसरे का प्रतिबिम्ब गिरना स्वाभाविक था किन्तु कौन-किसका कितना ऋणी है यह कहना बहुत ही कठिन है। सत्य की जो सहज अभिव्यक्ति सभी में है उसे ही हम यहाँ पर तुलनात्मक अध्ययन की अभिधा प्रदान कर रहे हैं। सत्य एक है, अनन्त है, उसकी तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती तथापि अनुभूति की अभिव्यक्ति जिन शब्दों के माध्यम से हुई है, उन शब्दों और अर्थ में जो साम्य है उसकी हम यहाँ पर तुलना कर रहे है; जिससे यह परिज्ञात हो सके कि लोग सम्प्रदायवाद, पंथवाद के नाम पर जो राग-द्वेष की अभिवृद्धि कर भेद-भाव की दीवार खड़ी करना चाहते हैं वह कहाँ तक उचित है। जो लोग धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं करते हैं उनका दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण और दुराग्रहपूर्ण वन जाता है। दुराग्रह और संकीर्ण-दृष्टि की परिसमाप्ति हेतु धार्मिक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन वहुत ही आवश्यक है।

गंभीर अध्ययन व चिन्तन के अभाव में कुछ विज्ञों ने जैनधर्म को वैदिकधर्म की शाखा माना किन्तु पाश्चात्य विद्वान डॉ० हर्मन जेकोबी प्रभृति अनेक मूर्धन्य मनीषी उस अभिमत का निरसन कर चुके हैं। प्राप्त सामग्री के आधार से हम भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि श्रमण संस्कृति

प्रस्तुत किया जाए तो अनेक नये तथ्य आसानी से उजागर हो सकते हैं, किन्तु विस्तार-भय से हम यहाँ संक्षेप में ही कुछ प्रमुख बातों पर चिन्तन करेंगे। शेष विषयों पर कभी अवकाश के क्षणों में चिन्तन किया जायेगा।

जहाँ तक आगम और त्रिपिटिक साहित्य का प्रश्न है वहाँ तक दोनों ही परम्पराएँ जन-साधारण की भाषा को अपनाती रही हैं। त्रिपिटक साहित्य की भाषा पालि रही है तो जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत रही है। दोनों ही महापुरुषों ने जन-जन के कल्याणार्थ उपदेश प्रदान किये।

ब्राह्मण दार्शनिक मीमांसकों ने वेद को सनातन मानकर उसे अपौरुषेय कहा है। नैयायिक-वैशेषिक आदि दार्शनिक उसे ईश्वरप्रणीत कहते हैं। दोनों का मन्तव्य है कि वेद की रचना का समय अज्ञात है। इसके विपरीत बौद्ध त्रिपिटक और जैन गणिपिटक पौरुषेय हैं। ये निराकार निरंजन ईश्वर द्वारा प्रणीत नहीं है और इनकी रचना के समय का भी स्पष्ट ज्ञान है।

जैन साधना पद्धति का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण है अत: निर्वाण की दृष्टि से ही उसमें प्रत्येक वस्तु पर चिन्तन किया गया है। जबकि वैदिक परम्परा का मुख्य लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति था, उसी को संलक्ष्य में रखकर वेदों में विविध कर्मकांडों की योजना की गई है। ऋग्वेद के प्रारम्भ में धनप्राप्ति की दृष्टि से अग्नि की स्तुति की गई है जबकि आचारांग के प्रथम वाक्य में ही 'मैं कौन हूँ मेरा स्वरूप क्या है' इस पर चिन्तन किया गया है। सूत्रकृताङ्ग के प्रारम्भ में भी बंध और मोक्ष की चर्चा की गई है। वहाँ पर स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि परिग्रह ही बन्धन है। जितना साधक ममत्व का परित्याग कर समत्व की साधना करेगा उतना ही वह निर्वाण की ओर कदम बढ़ायेगा। लक्ष्य की भिन्नता के कारण वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में स्तुतियों की अधिकता और आध्यात्मिक चिन्तन की अल्पता है। उपनिषद् साहित्य में आध्यात्मिक चिन्तन उपलब्ध होता है पर उसमें आत्म-चिन्तन के मार्ग का प्रतिपादन नहीं हुआ है। साधना के अमर राही की दैनिक जीवनचर्या कैसी होनी चाहिए? तन, मन और वचन की प्रवृत्ति को किस प्रकार आध्यात्मिक साधना की ओर मोड़ना चाहिए? यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है। उपनिषदों में ब्रह्मवार्ता तो आई है पर ब्रह्मचर्य का पालन कैसे करना चाहिए? उसके लिए साधक के जीवन में किस प्रकार की योग्यता होनी चाहिए? संयम के विधि-विधान, त्याग

वैदिक संस्कृति से उद्भूत नहीं है। यह प्रारम्भ से ही एक स्वतन्त्र धारा रही है। हमारी दृष्टि से वैदिक और श्रमण धाराओं में जन्य-जनक के पौर्वापर्य की अन्वेषणा करने की अपेक्षा उनके स्वतंत्र अस्तित्व और विकास की अन्वेषणा करना अधिक लाभप्रद है।

वैदिक संस्कृति का साहित्य बहुत ही विशाल है। वेद, उपनिषद्, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता, भागवत, मनुस्मृति आदि के रूप में शताधिक ग्रन्थ हैं और हजारों विषयों पर चर्चाएँ की गई हैं। भाषा की दृष्टि से यह संपूर्ण साहित्य संस्कृत में निर्मित है। जैन आगम साहित्य में आये हुए एक-एक विषय या गाथाओं की तुलना यदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के साथ की जाय तो एक विराट्काय ग्रंथ तैयार हो सकता है पर यहाँ हम बहुत ही संक्षेप में कुछ प्रमुख बातों पर ही चिन्तन करेंगे।

यह सत्य है कि बौद्ध और जैन संस्कृति ये दोनों ही श्रमण संस्कृति की ही धाराएँ हैं। तथागत बुद्ध, बौद्ध संकृति के आद्य संस्थापक थे, तो जैन संस्कृति के आद्य संस्थापक भगवान ऋषभदेव थे जो जैनदृष्टि से प्रथम तीर्थंकर थे। भगवान महावीर उन्हीं तीर्थंकरों की परम्परा में चौबीसवें तीर्थंकर थे। तथागत बुद्ध और तीर्थंकर महावीर ये दोनों एक ही समय में उत्पन्न हुए और दोनों का प्रचार-स्थल विहार रहा। दोनों मानवतावादी धर्म थे। दोनों ने ही जातिवाद को महत्त्व न देकर आंतरिक विशुद्धि पर बल दिया। भगवान महावीर के पावन-प्रवचन गणिपिटक (जैन आगम) के रूप में विश्रुत हैं तो बुद्ध के प्रवचनों का संकलन त्रिपिटक (बौद्धागम) के रूप में प्रसिद्ध है। दोनों ही परम्पराओं में शास्त्र के अर्थ में 'पिटक' शब्द व्यवहृत हुआ है। वह ज्ञान-मंजूषा गणि अर्थात् आचार्यों के लिए थी। इसीलिए वह गणिपिटक के नाम से प्रसिद्ध हुई। यद्यपि 'गणि' शब्द जैन परम्परा में अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुआ है तो बौद्ध-परम्परा के संयुत्तनिकाय, दीघनिकाय सुत्तनिकाय आदि में भी उसका प्रयोग प्राप्त होता है।

दोनों ही परम्पराओं का जब हम तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट परिज्ञात होता है कि दोनों ही परम्पराओं में विषय, शब्दों, उक्तियों एवं कथानकों की दृष्टि से अत्यधिक साम्य है। इस साम्य का मूल आधार यह हो सकता है कि कभी ये दोनों परम्पराएँ एक रही हों और उन दोनों का मूल स्रोत एक ही स्थल से प्रवाहित हुआ हो। आगम और त्रिपिटक साहित्य के एक-एक विषय को लेकर यदि तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तुत किया जाए तो अनेक नये तथ्य आसानी से उजागर हो सकते हैं, किन्तु विस्तार-भय से हम यहाँ संक्षेप में ही कुछ प्रमुख बातों पर चिन्तन करेंगे। शेष विषयों पर कभी अवकाश के क्षणों में चिन्तन किया जायेगा।

जहाँ तक आगम और त्रिपिटिक साहित्य का प्रश्न है वहाँ तक दोनों ही परम्पराएँ जन-साधारण की भाषा को अपनाती रही हैं। त्रिपिटक साहित्य की भाषा पालि रही है तो जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत रही है। दोनों ही महापुरुषों ने जन-जन के कल्याणार्थ उपदेश प्रदान किये।

ब्राह्मण दार्शनिक मीमांसकों ने वेद को सनातन मानकर उसे अपौरुषेय कहा है। नैयायिक-वैशेषिक आदि दार्शनिक उसे ईश्वरप्रणीत कहते हैं। दोनों का मन्तव्य है कि वेद की रचना का समय अज्ञात है। इसके विपरीत बौद्ध त्रिपिटक और जैन गणिपिटक पौरुषेय हैं। ये निराकार निरंजन ईश्वर द्वारा प्रणीत नहीं है और इनकी रचना के समय का भी स्पष्ट ज्ञान है।

जैन साधना पद्धति का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण है अतः निर्वाण की दृष्टि से ही उसमें प्रत्येक वस्तु पर चिन्तन किया गया है। जबकि वैदिक परम्परा का मुख्य लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति था, उसी को संलक्ष्य में रखकर वेदों में विविध कर्मकांडों की योजना की गई है। ऋग्वेद के प्रारम्भ में धनप्राप्ति की दृष्टि से अग्नि की स्तुति की गई है जबकि आचारांग के प्रथम वाक्य में ही 'मैं कौन हूँ मेरा स्वरूप क्या है' इस पर चिन्तन किया गया है। सूत्रकृताङ्ग के प्रारम्भ में भी बंध और मोक्ष की चर्चा की गई है। वहाँ पर स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि परिग्रह ही बन्धन है। जितना साधक ममत्व का परित्याग कर समत्व की साधना करेगा उतना ही वह निर्वाण की ओर कदम बढ़ायेगा। लक्ष्य की भिन्नता के कारण वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में स्तुतियों की अधिकता और आध्यात्मिक चिन्तन की अल्पता है। उपनिषद् साहित्य में आध्यात्मिक चिन्तन उपलब्ध होता है पर उसमें आत्म-चिन्तन के मार्ग का प्रतिपादन नहीं हुआ है। साधना के अमर राही की दैनिक जीवनचर्या कैसी होनी चाहिए ? तन, मन और वचन की प्रवृत्ति को किस प्रकार आध्यात्मिक साधना की ओर मोड़ना चाहिए ? यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है। उपनिषदों में ब्रह्मवार्ता तो आई है पर ब्रह्मचर्य का पालन कैसे करना चाहिए ? उसके लिए साधक के जीवन में किस प्रकार की योग्यता होनी चाहिए ? संयम के विधि-विधान, त्याग

और तप का स्पष्ट निर्देश नहीं है जैसा कि आचारांग आदि जैन आगमों में हुआ है।

आचारांग में आत्मा के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण लोक में किसी के द्वारा भी आत्मा का छेदन नहीं होता, भेदन नहीं होता, दहन नहीं होता और न हनन ही होता है[1] इसी की प्रतिध्वनि सुबालोपनिषद्[2] और गीता[3] में भी मिलती है।

आचारांग में आत्मा के ही सम्बन्ध में कहा गया है कि जिसका आदि और अन्त नहीं है उसका मध्य कैसे हो सकता है।[4] गौडपादकारिका में भी यही बात अन्य शब्दों में दुहराई गई है।[5]

आचारांग में जन्ममरणातीत, नित्य, मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि 'उस दशा का वर्णन करने में सारे शब्द निवृत्त हो जाते हैं—समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता है।'

मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व, न वृत्त-गोल। वह न त्रिकोण है न चौरस, न मण्डलाकार है। वह न कृष्ण है न नील, न लाल न पीला, और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धि वाला है न दुर्गन्धि वाला है। वह न तिक्त है, न कड़ुआ न कषैला, न खट्टा, और न मधुर। वह न कर्कश है, न मृदु, वह न भारी है, न हल्का। वह न शीत है न उष्ण, वह न स्निग्ध है न रूक्ष।

वह न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक।

---

१ स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ, कं च णं सव्वलोए
—आचारांग १।३।३

२ न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मा॥
—सुबालोपनिषद् ६ खण्ड ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद् पृ० २१०

३ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ —भगवद्गीता, अ० २, श्लो० २४

४ जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया। —आचारांग १।४।४

५ आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेपि तत्तथा।
—गौडपादकारिका, प्रकरण २, श्लो० ६

वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है। उसके लिए कोई उपमा नहीं। वह अरूपी सत्ता है।

वह अपद है। वचन अगोचर के लिए कोई पदवाचक शब्द नहीं। वह शब्द-रूप नहीं, रूप-रूप नहीं, गन्ध-रूप नहीं, रस-रूप नहीं, स्पर्श-रूप नहीं। वह ऐसा कुछ भी नहीं है, ऐसा मैं कहता हूँ।[1]

यही बात केनोपनिषद्[2] कठोपनिषद्,[3] बृहदारण्यक,[4] माण्डुक्योप-

---

१ सव्वे सरा नियट्टन्ति
तक्का जत्थ न विज्जइ
मइ तत्थ न गाहिया
ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने
से न दीहे न हस्से न वट्टे
न तंसे न चउरंसे न परिमंडले
न किण्हे न नीले न लोहिए
न हालिद्दे न सुक्किल्ले,
न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे
न तित्ते न कडुए न कसाए
न अंबिले न महुरे न कक्खडे
न मउए न गरुए न लहुए
न उण्हे न निद्धे न लुक्खे
न काऊ न रुहे न संगे
न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा
परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए
अरूवी सत्ता
अपयस्स पयं नत्थि
से न सद्दे न रूवे न गंधे न रसे
न फासे इच्चेव त्ति बेमि —आचारांग १।५।६

२ न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति, न मनो, न विद्मो न विजानीमो यथैतद् अनुशिष्यात् अन्यदेव तद् विदितात् अथो अविदितादपि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे। —केनोपनिषद्, खं० १, श्लोक ३

३ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् —कठोपनिषद्, अ० १, श्लोक १५

४ अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अलोहितम्, अस्नेहम्, अच्छायम्, अतमो, अवायु, अनाकाशम्, असंगम्, अरसम्, अगन्धम्, अचक्षुष्कम्, अश्रोत्रम्, अवाग्, अमनो, अतेजस्कम्, अप्राणम्, अमुखम्, अमात्रम्, अनन्तरम्, अबाह्यम्, न तद् अश्नाति किञ्चन, न तद् अश्नाति—कश्चन।"—बृहदारण्यक ब्राह्मण ८, श्लोक ८

निषद्[१] तैत्तिरीयोपनिषद्[२] और ब्रह्मविद्योपनिषद्[३] में भी प्रतिध्वनित हुई है।

आचारांग[४] में ज्ञानियों के शरीर का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि ज्ञानियों के बाहु कृश होते हैं उनका मांस और रक्त पतला एवं न्यून होता है। यही बात अन्य शब्दों में नारदपरिव्राजकोपनिषद्[५] एव संन्यासोपनिषद्[६] में भी कही गई है।

पाश्चात्य विचारक शुब्रिंग ने अपने सम्पादित आचारांग में आचारांग के वाक्यों की तुलना धम्मपद और सुत्तनिपात से की है। मुनि संतबाल जी ने आचारांग की तुलना श्रीमद्गीता के साथ की है। विशेष जिज्ञासुओं को वे ग्रंथ देखने चाहिए।

सूत्रकृताङ्ग की तुलना दीघनिकाय व अन्य ग्रंथों से की जा सकती है।

स्थानांग और समवायांग सूत्र की रचना शैली अंगुत्तरनिकाय और पुग्गलपञ्ञत्ति की शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। स्थानाङ्ग में कहा गया है कि छह स्थान से आत्मा उन्मत्त होती है। अरिहन्त का अवर्णवाद करने से, धर्म का अवर्णवाद करने से, आचार्य, उपाध्याय का अवर्णवाद करने

---

१ नान्तः प्रज्ञम्, न बहिः प्रज्ञम्, नोभयतः प्रज्ञम्, न प्रज्ञानघनम्, न प्रज्ञम्, नाप्रज्ञम्, अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्।

—माण्डूक्योपनिषद्, श्लोक ७

२ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली २, अनुवाक् ४

३ अच्युतोऽहम्, अचिन्त्योऽहम्, अतर्क्योऽहम्, अप्राणोऽहम्, अकायोऽहम्, अशब्दोऽहम्, अरूपोऽहम्, अस्पर्शोऽहम्, अरसोऽहम्, अगन्धोऽहम्, अगोत्रोऽहम्, अगात्रोऽहम्, अदृश्योऽहम्, अवर्णोऽहम्, अश्रुतोऽहम्, अदृष्टोऽहम्……।

—ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१

४ आगयपन्नाणाणं किसा बाहा भवंति पयणुए य मंस-सोणिए

—आचारांग १।६।३

५ मधुकरीवृत्त्या आहारमाहरन् कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन् आज्यं रुधिरमिव त्यजेत्।

—नारदपरिव्राजकोपनिषद् ७ उपदेश

६ यथालाभमश्नीयात् प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। कृशो भूत्वा ग्रामे एकरात्रम् नगरे……

—संन्यासोपनिषद् १ अध्याय

से, चतुर्विध संघ का अवर्णवाद करने से, यक्ष के आवेश से, मोहनीय कर्म के उदय से[1] तो बुद्ध ने भी अंगुत्तरनिकाय में कहा है कि चार अचिन्तनीय की चिन्ता करने से मानव उन्मादी हो जाता है—(१) तथागत बुद्ध भगवान के ज्ञान का विषय, (२) ध्यानी के ध्यान का विषय (३) कर्मविपाक और (४) लोकचिंता।[2]

स्थानाङ्ग में जिन कारणों से आत्मा के साथ बंध होता है, उन्हें आस्रव[3] कहा है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग—आस्रव कहे गए हैं। बौद्धग्रंथ अंगुत्तरनिकाय में[4] आस्रव का मूल अविद्या को बताया है। अविद्या का निरोध होने से आस्रव का स्वतः निरोध हो जाता है। आस्रव के कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव—ये तीन भेद किये हैं। मज्झिमनिकाय[5] में मन, वचन और काय की क्रिया को ठीक-ठीक करने से आस्रव रुकता है यह प्रतिपादित किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने भी काय-मन-वचन की क्रिया को योग कहा है और वही आस्रव है[6]। स्थानांग में विकथा के स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, मृदुकारुणिकी कथा, दर्शनभेदनी कथा और चारित्रभेदनीकथा ये सात प्रकार बताये हैं[7] तो बुद्ध ने विकथा के स्थान पर तिरच्छान शब्द का प्रयोग किया है। उसके राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, सेनाकथा, भयकथा, युद्धकथा, अन्नकथा, पानकथा, वस्त्रकथा, शयनकथा, मालाकथा, गंधकथा, ज्ञातिकथा, यानकथा, गामकथा, निगमकथा, नगरकथा, जनपदकथा, स्त्रीकथा आदि अनेक भेद किये हैं।[8]

स्थानाङ्ग में राग और द्वेष से पाप कर्म का बंध बताया है[9] तो अंगु-

---

१ स्थानांग ६
२ अंगुत्तरनिकाय ४।७७
३ (क) स्थानांग ५, ४।१८
  (ख) समवायांग ५
४ अंगुत्तरनिकाय ३।५८, ६।६३
५ मज्झिमनिकाय १।१।२
६ तत्त्वार्थसूत्र अ० ६।१-२
७ स्थानांग, ५६६
८ अंगुत्तरनिकाय १०,६६
९ स्थानांग ९६

त्तरनिकाय में तीन प्रकार से कर्मसमुदय माना है लोभज, दोषज (द्वेषज), और मोहज।[1] उन सभी में मोह को अधिक दोषजनक माना है।[2]

स्थानांग व समवायांग में आठ मद के स्थान बताये हैं—जाति मद, कुल मद, बल मद, रूप मद, तप मद, श्रुत मद, लाभ और ऐश्वर्य मद।[3] तो अंगुत्तरनिकाय में मद के तीन प्रकार बताये—यौवन, आरोग्य, जीवित मद। इन तीन मदों से मानव दुराचारी बनता है।[4]

स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग[5] में आस्रव के निरोध को संवर कहा और उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा की है; तथागत बुद्ध ने अंगुत्तरनिकाय में कहा आस्रव का निरोध मात्र संवर से ही नहीं होता। उन्होंने इस प्रकार उसका विभाग किया—(१) संवर से (इन्द्रियाँ मुक्त होती हैं तो इन्द्रियों का संवर करने से गुप्तेन्द्रियाँ होने से तद्जन्य आस्रव नहीं होता) (२) प्रतिसेवना से (३) अधिवासन से (४) परिवर्जन से, (५) विनोद से (६) भावना[6] से—इन सभी में अविद्या निरोध को ही मुख्य आस्रव निरोध[7] माना है।

स्थानाङ्ग आदि में अरिहन्त, सिद्ध, साधु, धर्म इन चार शरण आदि का उल्लेख है; तो बुद्ध परम्परा में बुद्ध, धर्म और संघ ये तीन शरण को महत्व दिया गया है। स्थानांग में जैन उपासक के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान है[8] तो अंगुत्तरनिकाय में बौद्ध उपासक के लिए पाँच शील का उल्लेख है—(१) प्राणातिपात विरमण (३) अदत्तादान विरमण (२) काम-भोग मिथ्याचार से विरमण, (४) मृषावाद विरमण (५) सूरा, मैरेय मद्य प्रमाद स्थान से विरमण।[9]

---

१ अंगुत्तरनिकाय ३।३
२ अंगुत्तरनिकाय ३।९७; ६।३९
३ स्थानांग ६०६, समवायांग ८
४ अंगुत्तरनिकाय ३।३६
५ (क) स्थानांग ४२७; ५९८
(ख) समवायांग १।५
६ अंगुत्तरनिकाय ६।५८
७ अंगुत्तरनिकाय ६।६३
८ स्थानांग ३८९
९ अंगुत्तरनिकाय ८।२५

स्थानाङ्ग[1] में प्रश्न के छह प्रकार बताये हैं—संशय प्रश्न, मिथ्याभिनिवेश प्रश्न, अनुयोगी प्रश्न, अनुलोम प्रश्न, जानकर किया गया प्रश्न, न जानने से किया गया प्रश्न। अंगुत्तरनिकाय में प्रश्न के सम्बन्ध में चिंतन करते हुए बुद्ध ने बताया कि कितने ही प्रश्न ऐसे होते हैं कि जिसके एक अंश का उत्तर देना चाहिए; कितने ही प्रश्न ऐसे हैं जो प्रश्नकर्ता से प्रतिप्रश्न कर उत्तर देना चाहिए; कितने ही प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर नहीं देना चाहिए; कितने ही प्रश्न ऐसे हैं जिनका विभाग कर उत्तर देना चाहिए।[2]

स्थानांगसूत्र में छः लेश्याओं का वर्णन है और उन लेश्याओं के भव्य और अभव्य की दृष्टि से संयोगी आदि भंग प्रतिपादित किये गये हैं।[3] वैसे ही अंगुत्तरनिकाय[4] में पूरणकश्यप द्वारा छः अभिजातियों का उल्लेख किया गया है, जो रंगों के आधार पर निश्चित की गई हैं, वह इस प्रकार हैं—

(१) कृष्णाभिजाति—बकरी, सुअर, पक्षी और पशु-पक्षी पर अपनी आजीविका चलाने वाले मानव कृष्णाभिजाति हैं।

(२) नीलाभिजाति—कंटक वृत्ति भिक्षुक नीलाभिजाति है। बौद्ध भिक्षु तथा अन्य कर्म वाली भिक्षुओं का समूह।

(३) लोहिताभिजाति—एक शटक निर्ग्रन्थों का समूह।

(४) हरिद्राभिजाति—स्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्र।

(५) शुक्लाभिजाति—आजीवक श्रमण-श्रमणियों का समूह।

(६) परम शुक्लाभिजाति—आजीवक आचार्य, नन्द, वत्स, कृश, सांकृत्य, मस्करी, गोशालक आदि का समूह।

आनन्द ने गौतम बुद्ध से इन छह अभिजातियों के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं भी छह अभिजातियों की प्रज्ञापना करता हूँ।

(१) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में उत्पन्न) होकर कृष्ण कर्म तथा पापकर्म करता है।

(२) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक होकर धर्म करता है।

---

१ स्थानांग ५३४
२ अंगुत्तरनिकाय ४२
३ स्थानांग ५१
४ अंगुत्तरनिकाय ६।६।३, भाग तीसरा, पृ० ३५, ९३-९४

(३) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो, अकृष्ण, अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।

(४) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक (उँचे कुल में उत्पन्न हो) शुक्ल धर्म करता है।

(५) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो, कृष्ण धर्म करता है।

(६) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो, अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।[1]

महाभारत[2] में प्राणियों के वर्ण छह प्रकार के बताये हैं। सनत्कुमार ने दानवेन्द्र वृत्रासुर से कहा—प्राणियों के वर्ण छह होते हैं–कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र और शुक्ल। इनमें से कृष्ण, धूम्र, नील वर्ण का सुख मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सह्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर और शुक्ल वर्ण अधिक सुखकर होता है।

गीता[3] में गति के कृष्ण और शुक्ल ये दो विभाग किये हैं। कृष्ण गति वाला पुनः-पुनः जन्म लेता है और शुक्ल गति वाला जन्म-मरण से मुक्त होता है।

धम्मपद[4] में धर्म के दो विभाग किये गये हैं। वहाँ वर्णन है कि पण्डित मानव को कृष्ण धर्म को छोड़कर शुक्ल धर्म का आचरण करना चाहिए।

पतञ्जलि ने पातञ्जल[5] योग-सूत्र में कर्म की चार जातियाँ प्रतिपादन की हैं। कृष्ण, शुक्लकृष्ण, शुक्ल, अशुक्ल-अकृष्ण। ये क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर है।

इस तरह लेश्याओं के साथ में आंशिक दृष्टि से तुलना हो सकती है।

स्थानांग में सुगत के तीन प्रकार बताये गये हैं—(१) सिद्धि सुगत

---

१ (क) अंगुत्तरनिकाय ६।६।३ भाग तीसरा पृ० ९३, ९४
(ख) दीघनिकाय ३।१० पृ० २९५

२ महाभारत, शान्तिपर्व, २८०।३३

३ गीता, ८।२६

४ धम्मपद, पण्डितवग्ग, श्लोक १९

५ पातञ्जल योगसूत्र, ४।७

(२) देव सुगत (३) मनुष्य सुगत[१]। अंगुत्तरनिकाय में भी राग-द्वेष और मोह को नष्ट करने वाले को सुगत कहा है[२]।

स्थानांग में लिखा है कि पाँच कारणों से जीव दुर्गति में जाता है। ये कारण हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह।[३] अंगुत्तरनिकाय[४] में नरक जाने के कारणों पर चिन्तन करते हुए लिखा है—अकुशल काय कर्म, अकुशल वाक् कर्म, अकुशल मन कर्न और सावद्य आदि कर्म[५] नरक के कारण हैं।

श्रमणोपासक के लिये उपासकदशांग सूत्र और अन्य आगमों में सावद्य व्यापार का निषेध किया गया है तथा उन्हें पन्द्रह कर्मादान के अन्तर्गत स्थान दिया गया है तो बौद्ध साहित्य में भी सावद्य व्यापार का निषेध है। वहाँ भी कहा गया है शस्त्र वाणिज्य, जीव का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार और विष व्यापार[६] नहीं करने चाहिए।

स्थानाङ्ग व अन्य आगम साहित्य में श्रमण निर्ग्रन्थ इन छह कारणों से आहार ग्रहण करता है—(१) क्षुधा की उपशान्ति, (२) वैयावृत्य के लिए, (३) इर्याविशुद्धि के लिए, (४) संयम के लिए, (५) प्राण धारण करने के लिए और (६) धर्मचिन्ता के लिए।[७] अंगुत्तरनिकाय में आनन्द ने एक श्रमणी को इसी प्रकार का उपदेश दिया है।[८]

स्थानाङ्ग[९] में इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात भय, वेदना भय, मरण भय और अश्लोक भय आदि सात भयस्थान बताये हैं तो अंगुत्तरनिकाय[१०] में भी जाति, जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अग्नि, उदक, राज, चोर आत्मानुवाद—अपने दुश्चरित्र का विचार कि दूसरे मुझे

---

१ स्थानाङ्ग १८१
२ अंगुत्तरनिकाय ३।७२
३ स्थानांग ३९१
४ अंगुत्तरनिकाय ३।७२
५ अंगुत्तरनिकाय ३।१४१,१५३
६ अंगुत्तरनिकाय ५।१७८
७ स्थानांग ५००
८ अंगुत्तरनिकाय—४।१५९
९ स्थानांग ५४९
१० अंगुत्तरनिकाय ४।११९, ५।७७

दुश्चरित्र कहेंगे इसका भय, दंड, दुर्गति आदि अनेक भयस्थान बताये गये हैं।

समवायांग सूत्र में नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, और देवताओं के आवास स्थल के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है। जैसे कि रत्नप्रभा पृथ्वी में एक लाख ७८ हजार योजन प्रमाण में ३० लाख नरकावास है। इसी प्रकार अन्य नरकावासों का भी उल्लेख है और देवों के आवास का भी वर्णन है। वैसे ही अंगुत्तरनिकाय में नवसत्त्वावास माने हैं। उनमें सभी जीवों को विभक्त कर दिया गया है।[१] ये नवसत्त्वावास निम्न हैं:—

प्रथम सत्त्वावास में विविध प्रकार के काय और संज्ञा वाले कितने ही मनुष्य देव और विनिपातिकों का समावेश है।

दूसरे आवास में विविध प्रकार की काया वाले किन्तु समान संज्ञा वाले ब्रह्मकायिक देवों का वर्णन है।

तीसरे आवास में समान काय वाले किन्तु विविध प्रकार की संज्ञा वाले आभास्वर देवों का वर्णन है।

चतुर्थ आवास में एक सदृश काय और संज्ञा वाले शुभ कृष्ण देवों का निरूपण है।

पाँचवें आवास में असंज्ञी और अप्रतिसंवेदी ऐसे असंज्ञ सत्त्व देवों का वर्णन है।

छठे आवास में रूप संज्ञा, पटिघ संज्ञा और विविध संज्ञा से आगे बढ़कर जैसे आकाश अनन्त है वैसे आकाशानंचायतन को प्राप्त हुए वैसे सत्त्वों का निरूपण है।

सातवें आवास में उन सत्त्वों का वर्णन है जो आकाशानंचायतन को भी अतिक्रमण करके अनंत विज्ञान है, ऐसे विञ्ञाणानंचायतन को प्राप्त हुए हैं।

आठवें आवास में वे सत्त्व हैं, जो कुछ भी नहीं है अकिञ्चायतन को प्राप्त हुए हैं।

नवें आवास में वे सत्त्व हैं जो नवञ्ञानासञ्ञायतन को प्राप्त हैं।

---

१ अंगुत्तरनिकाय

स्थानांगसूत्र में बताया है कि मध्यलोक में चन्द्र, सूर्य, मणि, ज्योति, अग्नि से प्रकाश होता है।

अंगुत्तरनिकाय में आभा, प्रभा, आलोक और प्रज्योत इन प्रत्येक के चार प्रकार बताये गये हैं। वे हैं—चन्द्र, सूर्य, अग्नि, प्रज्ञा।[1]

स्थानांग में लोक को चौदह रज्जु प्रमाण कहकर उसमें जीव और अजीव द्रव्यों का सद्भाव बताया है। वैसे ही अंगुत्तरनिकाय में भी लोक को अनंत कहा है।[2] और वह सान्त भी है। तथागत बुद्ध ने यही कहा है कि पाँच काम गुण रूप रसादि यही लोक है और जो मानव पाँच काम गुण का परित्याग करता है वही लोक के अन्त में पहुँचकर वहाँ पर विचरण करता है।

स्थानांग में भूकंप के तीन कारण बताये हैं।[3] (१) पृथ्वी के नीचे का घनवात व्याकुल होता है और उससे घनोदधि समुद्र में तूफान आता है। (२) कोई महेश नामक महोरग देव अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन करने के लिए पृथ्वी को चलित करता है। (३) देवासुर संग्राम जब होता है तब भूकंप आता है।

अंगुत्तरनिकाय में भूकंप के आठ कारण बताये हैं।[4] (१) पृथ्वी के नीचे की महावायु के प्रकम्पन से उस पर रही हुई पृथ्वी प्रकम्पित होती है; (२) कोई श्रमण-ब्राह्मण अपनी ऋद्धि के बल से पृथ्वी-भावना को करता है; (३) जब बोधिसत्व माता के गर्भ में आते हैं; (४) जब बोधिसत्व माता के गर्भ से बाहर आते हैं; (५) जब तथागत अनुत्तर ज्ञान लाभ को प्राप्त करते हैं; (६) जब तथागत धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं; (७) जब तथागत आयु संस्कार का नाश करते हैं; (८) जब तथागत निर्वाण प्राप्त करते हैं।

जैनदृष्टि से जैन आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसा उल्लेख है कि एक क्षेत्र में एक ही तीर्थंकर या चक्रवर्ती आदि होते हैं। जैसे भरत क्षेत्र में एक तीर्थंकर, ऐरवत क्षेत्र में एक तीर्थंकर, महाविदेह क्षेत्र के

---

१ अंगुत्तरनिकाय ४।१४१, १४५
२ वही ६।३८
३ स्थानांग ३
४ अंगुत्तरनिकाय ८।७०

वत्तीस विजय में वत्तीस तीर्थंकर, इस प्रकार जम्बूद्वीप में ३४ तीर्थंकर और उसी प्रकार ६८, ६८ तीर्थंकर क्रमशः घातकीखण्ड और अर्द्ध-पुष्कर में होते हैं। इस प्रकार कुल उत्कृष्ट १७० तीर्थंकर हो सकते हैं किन्तु सभी का क्षेत्र पृथक्-पृथक् होता है। जैन मान्यता की तरह ही अंगुत्तरनिकाय में भी एक क्षेत्र में एक ही चक्रवर्ती और एक ही तथागत बुद्ध होते हैं ऐसी मान्यता है।

समवायांग[1] में बताया है कि जहाँ अरिहन्त तीर्थंकर विचरते हैं वहाँ ईति, उपद्रव का भय नहीं रहता, मारी का भय, स्वचक्र, परचक्र का भय नहीं रहता आदि तीर्थंकर के ३४ अतिशय हैं। अंगुत्तरनिकाय में तथागत बुद्ध के ५ अतिशय बताये हैं।[2] वे अर्थज्ञ होते हैं, धर्मज्ञ होते हैं, मर्यादा के ज्ञाता होते हैं, कालज्ञ होते हैं और परिषद् को जानने वाले होते हैं।

दोनों परम्पराओं (जैन और बौद्ध) में चक्रवर्ती का उल्लेख है और उसको बहुजनों के हितकर्ता माना है। स्थानांग[3] और समवायांग[4] में चक्रवर्ती के १४ रत्न बताये गये हैं। तो दीघनिकाय[5] में चक्रवर्ती के ७ रत्नों का उल्लेख है। उनकी उत्पत्ति और विजयगाथा प्रायः एक सदृश है।

स्थानांग[6] में बुद्ध के तीन प्रकार—ज्ञानबुद्ध, दर्शनबुद्ध और चारित्रबुद्ध बताये हैं तथा स्वयंसम्बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और बुद्धबोधित ये तीन प्रकार बताये गये हैं। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध के तथागतबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध ये दो प्रकार बताये गये हैं।[7]

स्थानांग[8] में स्त्री के स्वभाव का चित्रण करते हुए चतुर्भंगी बताई गई है। वैसे ही अंगुत्तरनिकाय[9] में भार्या की सप्तभंगी बताई गई है—

---

१ समवायांग ३४
२ अंगुत्तरनिकाय ५।१२१
३ स्थानांग ५५८
४ समवायांग १४
५ दीघनिकाय १७
६ स्थानांग ३।१५६
७ अंगुत्तरनिकाय २।६।५
८ स्थानांग २७६
९ अंगुत्तरनिकाय ७।५६

(१) वधक के समान (२) चोर के समान, (३) अय्य सदृश, (४) अकर्म, कामा, (५) आलसी, (६) चण्डी, (७) दुरुक्तवादिनी इत्यादि लक्षण युक्त। माता के समान, भगिनी के समान, सखी के समान और दासी के समान स्त्री के ये अन्य प्रकार बताए हैं।

स्थानांग[1] में चार प्रकार के मेघ बताये हैं—(१) गर्जना करते हैं किन्तु बरसते नहीं हैं (२) गर्जते नहीं, बरसते हैं (३) गरजते और बरसते हैं (४) गरजते भी नहीं और बरसते भी नहीं। इस उपमा का संकेत किया है तो अंगुत्तरनिकाय[2] में इस प्रत्येक भंग में पुरुष को घटाया गया है—(१) बहुत बोलता है किन्तु करता कुछ नहीं (२) बोलता नहीं, पर करता है (३) बोलता भी नहीं और करता भी नहीं (४) बोलता भी है, करता भी है। इसी प्रकार गरजना और' बरसना रूप चतुर्भंगी अन्य प्रकार से भी घटित की गई है।

स्थानांग[3] में कुंभ के चार प्रकार बताये गये हैं—(१) पूर्ण और अपूर्ण (२) पूर्ण और तुच्छ (३) तुच्छ और पूर्ण (४) और तुच्छ अतुच्छ। इसी तरह कुछ प्रकारान्तर से अंगुत्तरनिकाय[4] में कुंभ की उपमा पुरुष चतुर्भंगी से घटित की है—(१) तुच्छ—खाली होने पर भी ढक्कन होता है। (२) भरा होने पर भी ढक्कन नहीं होता (३) तुच्छ होता है, ढक्कन नहीं होता है (४) भरा हुआ होता है और ढक्कन भी होता है।

(१) जिसकी वेश-भूषा तो ठीक है किन्तु आर्यसत्य का परिज्ञान नहीं है वह प्रथम कुंभ के सदृश है। (२) आर्यसत्य का परिज्ञान होने पर भी बाह्य आकार सुन्दर नहीं हो वह द्वितीय कुंभ के सदृश है। (३) बाह्य आकार भी सुन्दर नहीं और आर्यसत्य का भी परिज्ञान नहीं। (४) बाह्य आकार भी सुन्दर और आर्यसत्य का परिज्ञान भी है। इसी तरह अन्य चतुर्भंगों के साथ निकाय के विषय-वस्तु की तुलना की जा सकती है।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र की अनेक गाथाओं से बौद्ध साहित्य—

---

१ स्थानांग ४।३४६
२ अंगुत्तरनिकाय ४।११०
३ स्थानांग ४।३६०
४ अंगुत्तरनिकाय ४।१०३

धम्मपद[1], थेरीगाथा[2], थेरगाथा[3], अंगुत्तरनिकाय[4], सुत्तनिपात[5],

---

१ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥ —उत्त० १।१५
तुलना कीजिए—
अत्तानञ्चे तथा कयिरा, यथञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दम्मेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो ॥ —धम्मपद १२।३
उत्त० ६।३४—धम्म० ८।४; उत्त० ६।४४—धम्म० ५।११; उत्त० १०।२८—धम्म० २०।१३; उत्त० २०।३६,३७—धम्म० १२।४,५,६; उत्त० २०।४८—धम्म० ३।१०; उत्त० २५।२२—धम्म० २६।२३; उत्त० २५।२३—धम्म० २६।२६; उत्त० २५।२६—धम्म० १६।६,११; उत्त० २५।३०—धम्म० १६।१०,१४; उत्त० ३२।५—धम्म० २३।६,१०,११।

२ पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ॥ —उत्त० १।१७
तुलना कीजिए—
मा कासि पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो।
सचे च पापकं कम्मं, करिस्ससि करोसि वा ॥ —थेरीगाथा २४७

३ कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥ —उत्त० २।३
तुलना कीजिए—
काल (ला) पब्बंगसंकासो, किसो धम्मनिसन्थतो।
मत्तञ्ञू अन्नपानम्हि, अदीनमनसो नरो ॥ —थेरगाथा २४६,६८६
उत्त० २।१०—थेर० ३४,२४७,६८७; उत्त० ४।३—थेर० ७८६; उत्त० १३।३१—थेर० १४८; उत्त० २७।८—थेर० ६७६।

४ असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति ॥ —उत्त० ४।१
—तुलना कीजिए
उपनीयति जीवितं अप्पमायु, जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा।
एतं भयं मरणे पेक्खमानो, पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि ॥
—अंगुत्तरनिकाय पृ० १५६

५ मोक्खाभं फरसा भासा, दारुणा गामकण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे ॥ —उत्त० २।२५
तुलना कीजिए—
सुत्वा रुसितो बहुं वाचं, समणानं पुथुवचनानं।
फरुसेन ते न पतिवज्जा, नहि सन्तो पटिसेनिकरोन्ति ॥
—सुत्तनिपात, ४० ८, १४।१८

जातक[1], महावग्ग[2] तथा वैदिक साहित्य, श्रीमद्भागवत[3] एवं महाभारत के शान्तिपर्व[4], उद्योगपर्व[5] विष्णु पुराण[6], श्रीमद्भगवद्गीता[7] श्वेताश्वर-उपनिषद् शांकरभाष्य[8] का भाव और अर्थ साम्य है।

उत्त० २।३६—सुत्त० व ८, १४।८; उत्त० ८।१३—सुत्त० व० ८।१४, १३; उत्त० २५।१६—सुत्त० ३३।२०, २१; उत्त० २५।३१—सुत्त० महा० ६।५७, ५८—सुत्त० उर० ७,२१,२७; उत्त० ३२।५—सुत्त० उर० ३।१३।

१ सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए उज्झमाणीए, न मे उज्झइ किंचण॥ —उत्त० ६।१४

तुलना कीजिए—

सुसुखं वत जीवाम ये सं नो नत्थि किंचनं।
मिथिलाय डय्हमानाय न मे किंचि अडय्हथ॥

—जातक ५३९, श्लोक १२५; जातक ५२९, श्लोक १६

उत्त० १४।६—जातक० ५०६।४; उत्त० १४।१२—जातक ५०६,५०६; उत्त० १४।२७—जातक ५०६।७; उत्त० १४।२९—जातक ५०६।१५; उत्त० १४।३८—जातक ५०६।१८; उत्त० १४।४८—जातक ५०६।२०; उत्त० १८।४५,४६—जातक० ४०८।५।

२ जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥ —उत्त० १६।१५

तुलना कीजिए—

जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा।
व्याधिपि दुक्खा मरणंपि दुक्खं॥ —महावग्ग १।६।१६

३ उत्त० २।३—भागवत० ११।१८।६

४ नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं॥ —उत्त० १।१४

तुलना कीजिए—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्, नाप्यन्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानवानपि मेधावी, जडवत् समुपाविशेत्॥

—महाभारत-शान्तिपर्व २८७।३५

उत्त० २।३—शान्तिपर्व २३४।११; उत्त० २।१६,२०—शान्तिपर्व १२।१०,६,१३; उत्त० ६।४०—शान्तिपर्व २५८।५, उत्त० १३।२२—शांतिपर्व १७५।१८,१६; उत्त० १३।२५—शान्तिपर्व ३२१।७४; उत्त० १४।१५—शान्तिपर्व १७५।२०; उत्त० १४।१६,१७—शान्तिपर्व १७५।३८; उत्त० १४।२१—शान्तिपर्व १७५।७,२७७।७; उत्त० १४।२२—शान्तिपर्व १७५।८, २७७।८; उत्त० १४।२३—शान्तिपर्व० १७५।६,२७७।६; उत्त० १४।२४,२५—

उत्तराध्ययन के २५वें अध्ययन में ब्राह्मणों के लक्षणों का निरूपण किया गया है और प्रत्येक गाथा के अंत में 'तं वयं बूम माहणं' पद है। उसकी तुलना बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद के ब्राह्मणवर्ग २६वें तथा सुत्तनिपात के वासेट्ठसुत्त ३५ के २४५वें अध्याय से की जा सकती है। धम्मपद के ब्राह्मणवर्ग की गाथा के अन्त में 'तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं' पद आया है। सुत्तनिपात में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार महाभारत के शान्तिपर्व अध्याय २४५ में ३६ श्लोक हैं, उनमें ७ श्लोकों के अन्तिम चरण में 'तं देवा ब्राह्मणं विदुः' ऐसा पद है। इस प्रकार तीनों परम्परा के माननीय ग्रन्थों में ब्राह्मण के स्वरूप की मीमांसा की गई है। उस मीमांसा में कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ उन्हीं रूपक और उपमाओं के प्रयोग द्वारा विषय को स्पष्ट किया है।

शान्तिपर्व १७५।१०,११,१२; शान्तिपर्व २७७।१०,११,१२; उत्त० १४।४६—शान्तिपर्व १७८।६।

५ पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे॥ —उत्त० ९।४९

तुलना कीजिए—
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति॥
—उद्योगपर्व ३९।८४

उत्त० १३।२३—उद्योगपर्व ४०।१५, १८; उत्त० १३।२४—उद्योगपर्व ४०।१७; उत्त० १३।२५—उद्योगपर्व ४०।१७; उत्त० २५।२९—उद्योगपर्व ४३।३५।

६ उत्त० ९।४९—विष्णुपुराण ४।१०।१०।

७ उत्त० २०।३६,३७—गीता ६।५,६; उत्त० २५।२१—गीता० ५।१०; उत्त० ३२।१००—गीता० २।६४।

८ जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविए पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे॥
—उत्त० ३२।२०

तुलना कीजिए—
नधी धर्मंमधर्मायं किंपाकफलसंनिभम्।
नास्ति तात! सुखं किञ्चिदत्र दुःखशताकुले॥
—शांकरभाष्य, श्वेता० उप०, पृ० २३

दशवैकालिक[1] की अनेक गाथाओं की तुलना धम्मपद[2], संयुत्त-निकाय[3], सुत्तनिपात[4] कोशिक जातक[5], विसवन्त जातक[6], इतिवुत्तक[7],

---

१ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥ —दशवै० १।१
तुलना करें—

२ (क) यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।
स वे वंतमलो धीरो, सो थेरोति पवुच्चति॥ —धम्मपद १९।६
(ख) जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥ —दशवै० १।२
तुलना करें—
यथापि भमरो पुप्फं, वण्ण-गंधं अहेठयं।
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे॥ —धम्मपद ४।६
(ग) उवसमेण हणे कोहं, —दशवै० ८।३८
तुलना करें—
अक्कोधेन जिने कोधं —धम्मपद १७-३
(घ) दशवैकालिक—९।१।११ से तुलना करें—धम्मपद १२।८

३ कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥ —दशवै० २।१
तुलना करें—
कतिहं चरेय्य सामञ्ञं, चित्तं चे न निवारए।
पदे पदे विसीदेय्य, सङ्कप्पानं वसानुगो॥
—संयुत्तनिकाय १।१।१७

४ (क) तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू॥
—दशवै० १०।८
तुलना करें—
अन्नानमथो पानानं, खादनीयानमथो पि वत्थानं।
लद्धा न सन्निधिं कयिरा, न च परित्तसे तानि अलभमानो॥
—सुत्तनिपात ५२।१०
(ख) न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमधुवजोगजुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू॥
—दशवै० १०।१०
न च कत्थिता सिया भिक्खू, न च वाचं पयुतं भासेय्य।
पागब्भियं न सिक्खेय्य, कथं विग्गाहिकं न कथयेय्य॥
—सुत्तनिपात ५२।१६

श्रीमद्भागवत[८], श्रीमद्भगवद्गीता[९], मनुस्मृति[१०] आदि के साथ की जा सकती है। कहीं पर शब्दों में साम्य है तो कहीं पर अर्थ में साम्य है।

(ग) जो सहइ हु गामकंटए अक्कोसपहारतज्जणाओ य।
भयभेरवसद्दसंपहासे, समासुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू॥
—दशवै० १०।११

तुलना करें—

भिक्खुनो विजिगुच्छतो, भजतो रित्तमासनं।
रुक्खमूलं सुसानं वा, पब्बतानं गुहासु वा॥
उच्चावचेसु सयनेसु, कीवन्तो तत्थ भेरवा।
ये हि भिक्खु न वे धेय्य, निग्घोसे सयनासने॥
—सुत्तनिपात ५४।४-५

(घ) दशवैकालिक १०।१७

तुलना करें—

सुत्तनिपात ५२।८

५ कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जेत्ता, काले कालं समायरे॥ —दशवै० ५।२।४

तुलना करें—

काले निक्खमणा साधु, नाकाले साधु निक्खमो।
अकालेनहि निक्खम्म, एककंपि बहूजनो॥
—कौशिक जातक २२६

६ धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं, से यं ते मरणं भवे॥ —दशवै० २।७

तुलना करें—

धिरत्थु तं विसं वन्तं, यमहं जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वरं॥
—विसवन्त जातक ६९

७ जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासन्तो, पावं कम्मं न बंधई॥ —दशवै० ४।८

तुलना करें—

यतं चरे यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये।
यतं सम्मिञ्जये भिक्खू यतमेनं पसारए॥ —इतिवुत्तक १२

८ (क) उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे॥
सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए।
संबाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य॥ —दशवै० ३।२-३

तुलना करें—
केश-रोम-नख-श्मश्रु-मलानि बिभृयाद् दतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥

—भागवत ११।१८।३

(ख) धूवणेत्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे।
अंजणे दंतवणे य, गायब्भंग विभूसणे॥ —दशवै० ३।९

तुलना करें—
अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु।
स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः॥

—भागवत ७।१२।१२

६ (क) कहं चरे? कहं चिट्ठे? कहमासे? कहं सए।
कहं भुंजन्तो भासन्तो? पावं कम्मं न बंधई?

—दशवै० ४।७

तुलना करें—
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव:।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम्॥

—गीता २।५४

(ख) सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई॥

—दशवै० ४।९

तुलना करें—
योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

—गीता ५।७

(ग) पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही? किं वा नाहिइ छेय पावगं?

—दशवै० ४।१०

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। —गीता ४।३८

१० आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया॥

—दशवै० ३।१२

तुलना करें—
ग्रीष्मे पंचतपास्तु स्याद्, वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयंस्तपः॥

—मनुस्मृति ६।२३

इसी तरह सूत्रकृतांग की तुलना दीघनिकाय के साथ, उपासकदशांग की तुलना दीघनिकाय के साथ, अन्तकृत्दशांग की तुलना थेर और थेरीगाथा के साथ, राजप्रश्नीय की तुलना पायासीसुत्त के साथ, निशीथ की तुलना विनयपिटक के साथ और छेदसूत्रों की तुलना पातिमुख के साथ की जा सकती है।

जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में अनेकों शब्दों का प्रयोग समान रूप से हुआ है। उदाहरण के लिए हम कुछ शब्द-साम्य यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

निगंठ—निर्ग्रन्थ, जो अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से मुक्त है। जैनपरम्परा में तो श्रमणों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द हजारों बार व्यवहृत हुआ है।[१] बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी जैन श्रमणों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रमण भगवान महावीर के पुनीत प्रवचन को भी निर्ग्रन्थ प्रवचन कहा है।

भन्ते—जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में आदरणीय व्यक्तियों को आमन्त्रित करने के लिए 'भन्ते' (भदन्त) शब्द व्यवहृत हुआ है।[२]

थेरे—दोनों ही परम्पराओं में ज्ञान, वय और दीक्षा पर्याय आदि को लेकर थेरे या स्थविर शब्द का व्यवहार हुआ है।[३] बौद्ध परम्परा में बारह वर्ष से अधिक वृद्ध भिक्षुओं के लिए थेर या थेरी शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन परम्परा में भी एक मर्यादा निश्चित की गई है। जो स्वयं भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि में स्थिर रहता है और दूसरों को भी स्थिर करता है, वह स्थविर है। स्थविर को भगवान की उपमा से अलंकृत किया गया है। गीता में 'स्थविर' के स्थान पर 'स्थितप्रज्ञ' का प्रयोग हुआ है। स्थितप्रज्ञ वह विशिष्ट व्यक्ति होता है जिसका आचार निर्मल और विचार पवित्र होते हैं।

आउसो—जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में समान या अपने से लघु व्यक्तियों के लिए 'आउस' (आयुष्मान्) शब्द का प्रयोग हुआ है। तथागत बुद्ध को 'आउस गौतम' कहकर सम्बोधित किया गया है तो

---

१ जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा। —कल्पसूत्र २०४, पृ० २८१

२ से केणट्ठेणं भन्ते, पूर्णं भन्ते, सेयं भन्ते, सव्वं भन्ते। —भगवतीसूत्र ७।१।२७१

३ थेरा भगवन्तो—भगवती

गोशालक ने भी भगवान महावीर को 'आउसोकासवा' कहकर सम्बोधित किया[१] है।

अर्हत और बुद्ध—वर्तमान में जैन परम्परा में 'अर्हत' शब्द और बौद्ध परम्परा में 'बुद्ध' शब्द रूढ़ हुआ है। जैनागमों में 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। जैसे—सूत्रकृतांग[२], राजप्रश्नीय[३], स्थानांग[४], समवायांग[५], आदि में। बौद्ध परम्परा में पूज्य व्यक्तियों के लिए 'अर्हत्' शब्द व्यवहृत हुआ है। यत्र-तत्र तथागत बुद्ध को 'अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध'[६] कहा गया है। तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ५०० भिक्षुओं की एक विराट् सभा होती है। वहाँ आनन्द के अतिरिक्त ४९९ भिक्षुओं को 'अर्हत्' कहा गया है। कार्यारम्भ होने के पश्चात् आनंद को भी 'अर्हत्' लिखा गया है।[७] शताधिक बार 'अर्हत्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में गृहस्थ उपासक के लिए श्रावक शब्द व्यवहृत हुआ है। जैन परम्परा में गृहस्थ के लिए 'श्रावक' शब्द आया है[८] तो बौद्ध परम्परा में भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिए 'श्रावक' शब्द का प्रयोग मिलता है।[९] इसी प्रकार उपासक या श्रमणोपासक शब्द भी दोनों ही परम्पराओं में प्राप्त है। गृहस्थ के लिए 'आगार' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जैन साहित्य में 'आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए' शब्द आया है[१०] तो बौद्ध साहित्य में भी 'अगारस्मा अनगारिअं

---

१ आउसो कासवा —भगवती, शतक १५

२ (क) जेय बुद्धा अतिकन्ता जेये बुद्धा अणागया। —सूत्रकृतांग १।१।३६
(ख) संखाई धम्मं य वियागरंति बुद्धा हुते अन्तकरा भवन्ति।
—सूत्रकृतांग १।१४।१८

३ तित्थगराणं सयं सम्बुद्धाणं। —राजप्रश्नीय ५

४ तिविहा बुद्धा—णाणबुद्धा, दंसणबुद्धा, चरित्तबुद्धा। —स्थानांग, ठा० ३

५ समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थयरेणं सयं संबुद्धेणं।
—समवायांग सूत्र २।२

६ दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त १।५

७ विनयपिटक पंचशतिकास्कन्धक

८ उपासकदशांग, भगवती

९ अंगुत्तरनिकाय एककनिपात १४

१० भगवती

पव्वजन्ति' यह शब्द व्यवहृत हुआ है।[1] सम्यक्‌दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन शब्दों का प्रयोग भी जैन और बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। स्वयं के अनुयायियों के लिए 'सम्यक्‌दृष्टि' और दूसरे के अनुयायियों के लिए 'मिथ्यादृष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'वैरमण' शब्द का प्रयोग भी दोनों ही परम्पराओं में व्रत लेने के अर्थ में हुआ है।

मज्झिमनिकाय[2] में सम्मादिट्ठि सुत्तन्त नामक एक सूत्र है। उसमें सम्यग्दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है—आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। उसकी दृष्टि सीधी होती है। वह धर्म में अत्यन्त श्रद्धावान होता है। वह अकुशल एवं अकुशलमूल को जानता है। साथ ही कुशल और कुशल-मूल को भी जानता है। जिससे वह आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है।

अकुशल दस प्रकार का है और अकुशलमूल तीन प्रकार का है।

(१) प्राणातिपात (हिंसा) (२) अदत्तादान (चोरी) (३) काम-(स्त्रीसंसर्ग) में मिथ्याचार (४) मृषावाद (झूठ बोलना) (५) पिशुन वचन (चुगली) (६) परुष वचन (कठोर भाषण) (७) संप्रलाप (बकवास) (८) अभिध्या (लालच) (९) व्यापाद (प्रतिहिंसा) (१०) मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा), हे आवुसो ये अकुशल हैं।

(१) लोभ, (२) द्वेष, (३) मोह—ये तीन अकुशलमूल हैं।

जैन दृष्टि से साधना का मूल सम्यग्दर्शन है और साधना का बाधक तत्त्व मोहनीयकर्म है। राग और द्वेष ये मोह के ही प्रकार हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में बुराइयों की जड़ लोभ, द्वेष और मोह को बताया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अधिगम और निसर्ग—ये दो कारण बताये हैं।[3] मज्झिमनिकाय[4] में एक प्रश्नोत्तर मिलता है कि सम्यग्दृष्टि ग्रहण के कितने प्रत्यय हैं? उत्तर में कहा—दो प्रत्यय हैं—(१) दूसरों के घोष—उपदेश श्रवण और (२) योनिशः मनस्कार—मूल पर विचार करना।

---

१ महावग्ग

२ मज्झिमनिकाय १।१।९

३ तन्निसर्गादधिगमाद्वा। —तत्त्वार्थसूत्र १।३

४ मज्झिमनिकाय १।५।३

जैन दृष्टि से साधना की पांच भूमिकाएँ हैं। व्रतों से पहले सम्यक्-दर्शन को स्थान दिया गया है। उसके पश्चात् विरति है। मज्झिमनिकाय के सम्मादिट्ठि सुत्तन्त में दस कुशल धर्मों का उल्लेख[१] है। उनका समावेश पांच महाव्रतों में इस प्रकार किया जा सकता है—

महाव्रत	कुशल धर्म
१ अहिंसा	(१) प्राणातिपात, (६) व्यापाद से विरति,
२ सत्य	(४) मृषावाद, (५) पिशुन वचन (६) पुरुष वचन, (७) संप्रलाप से विरति
३ अचौर्य	(२) अदत्तादान से विरति
४ ब्रह्मचर्य	(३) काम में मिथ्याचार से विरति
५ अपरिग्रह	(८) अभिध्या से विरति

भावना—प्रश्नव्याकरणसूत्र में पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का उल्लेख[२] है। अन्यत्र अनित्य, अशरण, संसार आदि द्वादश भावनाओं का भी उल्लेख है।[३] तत्त्वार्थसूत्र आदि में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावना का उल्लेख है।[४] तो मज्झिमनिकाय में सम्यग्दर्शन के साथ ही भावना का भी वर्णन आया है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करने वाला आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है।[५]

स्थानाङ्ग,[६] आवश्यक[७] व तत्त्वार्थसूत्र[८] आदि में इस बात का

---

१ मज्झिमनिकाय १।१।६

२ प्रश्नव्याकरण संवरद्वार

३ (क) तत्त्वार्थसूत्र ९।७, (ख) बारस अणुवेक्खा : आ० कुन्दकुन्द

४ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु।
—तत्त्वार्थसूत्र ७।११

५ मज्झिमनिकाय १।४।१०

६ स्थानांग १८२; समवायांग ३

७ माया सल्ले, नियाण सल्ले मिच्छादंसण सल्ले।

८ तत्त्वार्थसूत्र ७।१८

प्रतिपादन किया गया है कि व्रत ग्रहण करने वाले व्यक्ति को शल्य रहित होना चाहिए। शल्य वह है जो आत्मा को काँटे की तरह दुख दे। उसके तीन प्रकार हैं—

(१) माया शल्य—छल-कपट करना।
(२) निदान शल्य—आगामी काल में विषयों की वाञ्छा करना।
(३) मिथ्यादर्शन शल्य—तत्त्वों का श्रद्धान न होना।

मज्झिमनिकाय[1] में तृष्णा के लिए शल्य शब्द का प्रयोग हुआ है और साधक को उससे मुक्त होने के लिए कहा गया है।

आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में इन्द्रिय संयम की महत्ता बताते हुए कहा है कि रूप, रस, गंध, शब्द एवं स्पर्श अज्ञानियों के लिए आवर्त रूप हैं ऐसा समझकर विवेकी उनमें मूच्छित नहीं होता। यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि मैं इनसे बचूंगा—इनमें नहीं फसूंगा, पूर्ववत् आचरण नहीं करूंगा।

मज्झिमनिकाय[2] में पाँच इन्द्रियों का वर्णन है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय। इन पाँचों इन्द्रियों का प्रतिशरण मन है। मन इनके विषय का अनुभव करता है।

पाँच काम गुण हैं—(१) चक्षुविज्ञेय रूप, (२) श्रोतविज्ञेय शब्द, (३) घ्राणविज्ञेय गंध, (४) जिह्वाविज्ञेय रस, (५) कायविज्ञेय स्पर्श।[3]

स्थानांग, भगवती आदि में नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों का वर्णन है।

मज्झिमनिकाय[4] में पाँच गतियाँ बताई हैं। नरक, तिर्यग्, प्रेत्य-विषय, मनुष्य, देवता। जैन आगमों में प्रेत्यविषय और देवता को एक कोटि में माना है। भले ही निवासस्थान की दृष्टि से दो भेद किये गये हों पर गति की दृष्टि से ये दोनों एक ही हैं।

जैन आगम साहित्य में नरक और स्वर्ग में जाने के निम्न कारण

---

१ मज्झिमनिकाय ३।१।५
२ मज्झिमनिकाय १।५।३
३ मज्झिमनिकाय १।२।४
४ मज्झिमनिकाय १।२।२

बताये[१] हैं:—महारम्भ, महापरिग्रह, मद्यमांस का आहार और पंचेन्द्रिय वध ये नरक के कारण हैं। सरागसंयम, संयमासंयम, बालतपोपकर्म और अकाम निर्जरा ये स्वर्ग के कारण हैं।

मज्झिमनिकाय[२] में भी नरक और स्वर्ग के कारण बताये गये हैं। वे ये हैं—

[कायिक ३] हिंसक, अदिन्नादायी (चोर), काम में मिथ्याचारी; [वाचिक ४] मिथ्यावादी, चुगलखोर, परुषभाषी, प्रलापी; [मानसिक ३] अभिध्यालु, व्यापन्नचित्त, मिथ्यादृष्टि। इन कर्मों को करने वाले नरक में जाते हैं, इसके विपरीत कार्य करने वाले स्वर्ग में जाते हैं।

जैनदर्शन की साधना पद्धति का परम और चरम लक्ष्य मोक्ष रहा है। मोक्ष का अर्थ है आत्म-गुणों का पूर्ण विकास, कर्म की परतन्त्रता से पूर्ण रूप से मुक्त होना। उसमें शरीरमुक्ति, बन्धनमुक्ति और क्रियामुक्ति होती है।

मोक्ष के लिए पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय संगोपन, शरीर संयम, वाणी संयम, मानमाया परिहार, ऋद्धि रस और सुख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यान, योग और काय-व्युत्सर्ग—ये अकर्म वीर्य हैं। पण्डित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है।[३] निर्वाण किसी क्षेत्र विशेष का नाम नहीं है अपितु मुक्त आत्माएँ ही निर्वाण हैं, वे लोकाग्र में रहती हैं अतः उपचार से उसे भी निर्वाण कहा जाता है। मुक्त जीव अलोक से प्रतिहत हैं, लोकान्त में प्रतिष्ठित हैं।[४]

मुक्त जीव के शरीर नहीं होता। मुक्त दशा में आत्मा का किसी अन्य शक्ति में विलय नहीं होता। सभी मुक्त जीवों की विकास स्थिति समान होती है और उनकी स्वतन्त्र सत्ता होती है। मुक्त दशा में आत्मा संपूर्ण वैभाविक, औपाधिक विशेषताओं से मुक्त होता है, उसका पुनरावर्तन नहीं होता।

मज्झिमनिकाय में निर्वाणमार्ग का विस्तार से वर्णन है।[५] वहाँ

---

१ स्थानांग ४।४।३७३
२ मज्झिमनिकाय १।५।१
३ सूत्रकृतांग १।८।६।३६
४ औपपातिकसूत्र
५ मज्झिमनिकाय १।३।४

पर निर्वाण को परमसुख कहा है[१] और बताया है कि शीलविशुद्धि तभी तक है जब तक कि पुरुष चित्त-विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। चित्त-विशुद्धि तभी तक है जब तक कि दृष्टिविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। दृष्टि-विशुद्धि तभी तक है जब तक कि कांक्षावितरणविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। कांक्षावितरणविशुद्धि तब तक है जब तक मार्गामार्गज्ञानदर्शन विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि तब तक है जब तक कि प्रतिपद्ज्ञानदर्शनविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। प्रतिपद्ज्ञानदर्शन विशुद्धि तब तक है जब तक कि ज्ञानदर्शनविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। ज्ञानदर्शनविशुद्धि तभी तक है जब तक कि उपादान रहित परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं होता।[२]

अजात—जन्मरहित, अनुत्तर-सर्वोत्तम योगक्षेम (मंगलमय) निर्वाण की पर्येषणा करता है।[३]

जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शनों में निर्वाण की चर्चा है। दोनों ने निर्वाण के लिए सच्चा विश्वास, ज्ञान और आचार-विचार को प्रधानता दी है पर दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि बौद्ध दृष्टि से द्रव्य सत्ता का अभाव ही निर्वाण है जबकि जैन दृष्टि से आत्मा की शुद्ध अवस्था निर्वाण है।

पुग्गल—पुद्गल शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध वाङ्मय के अतिरिक्त अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। भगवतीसूत्र में जीव तत्त्व के अर्थ में पुद्गल शब्द का प्रयोग हुआ है[४] किन्तु जैन परम्परा में मुख्य रूप से पुद्गल वर्ण, गंध, रस, संस्थान और स्पर्श वाले रूपी जड़ पदार्थ को कहा है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल का अर्थ आत्मा और जीव है।[५]

'विनय' शब्द का प्रयोग भी दोनों ही परम्पराओं में मिलता है। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक सूत्र और ज्ञाताधर्मकथा में विनय की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए विनय को धर्म का व जिनशासन का मूल कहा है।[६]

---

१ मज्झिमनिकाय २।३।५
२ मज्झिमनिकाय १।३।४
३ मज्झिमनिकाय १।३।६
४ भगवती ८।३।१०;२०।३।२
५ मज्झिमनिकाय ११४
६ विनय जिनशासन मूलो

बौद्ध साहित्य में सम्पूर्ण आचारधर्म के अर्थ में 'विनय' शब्द का प्रयोग हुआ है। विनय-पिटक में इसी बात का निरूपण किया गया है।

जैन परम्परा में 'अरिहन्त' 'सिद्ध' 'साधु' और केवली-प्रज्ञप्त धर्म को 'शरण' माना है।[१] तो बौद्ध परम्परा में बुद्ध, संघ और धर्म को 'शरण' कहा गया है।[२] जैन परम्परा में चार शरण हैं और बौद्ध परम्परा में तीन शरण हैं।

जैन परम्परा में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि पुरुष ही होते हैं। मल्लि भगवती, स्त्रीलिंग में तीर्थंकर हुई थीं, पर उन्हें दस आश्चर्यों में से एक आश्चर्य माना गया है।[3] अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध ने भी कहा कि 'भिक्षु यह तनिक भी सम्भावना नहीं है कि स्त्री अर्हत्, चक्रवर्ती व शुक्र हो।'[४]

जैन आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर यह वर्णन है कि भरत आदि एक ही क्षेत्र में, एक समय में एक साथ दो तीर्थंकर नहीं होते, तथागत बुद्ध ने भी अंगुत्तरनिकाय में इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा कि इसमें किञ्चित् भी तथ्य नहीं है कि एक ही समय में दो सम्यक् अर्हत पैदा हों।

शब्द साम्य की तरह उक्ति साम्य भी दोनों परम्पराओं में मिलता है। साथ ही कुछ कथाएँ भी दोनों परम्पराओं में एक सदृश मिलती हैं। यहाँ तक कि वैदिक और विदेशी साहित्य में भी उपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ—ज्ञाताधर्मकथा की सातवीं चावल के पाँच दाने वाली कथा कुछ रूपान्तर के साथ बौद्धों के सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु तथा बाइबिल[५] में भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार जिनपाल और जिनरक्षित[६] की कहानी बालहस्स जातक[७] व दिव्यावदान में नामों के हेरफेर के साथ

---

१ अरहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवली पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। —आवश्यकसूत्र

२ बुद्धं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि —अंगुत्तरनिकाय

३ स्थानांग, ठाणा १०

४ अंगुत्तरनिकाय

५ सेन्ट मैथ्यू की सुवार्ता २५; सेन्ट ल्यूक की सुवार्ता १९

६ ज्ञाताधर्मकथा ८

७ बालहस्स जातक, पृ० १८६

कही गयी है। उत्तराध्ययन के बारहवें अध्ययन हरिकेशबल की कथावस्तु मातङ्ग जातक में मिलती है।[१] तेरहवें अध्ययन चित्तसम्भूत[२] की कथावस्तु चित्तसम्भूत जातक में प्राप्त होती है। चौदहवें अध्ययन इषुकार की कथा हत्थिपाल जातक[३] व महाभारत के शान्तिपर्व[४] में उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन 'नमि प्रव्रज्या' की आंशिक तुलना महाजन जातक[५] तथा महाभारत के शान्तिपर्व[६] से की जा सकती है।

इस प्रकार महावीर के कथा साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि ये कथाएँ आदिकाल से ही एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में, एक देश से दूसरे देश में यात्रा करती रही हैं। कहानियों की यह विश्व यात्रा उनके शाश्वत और सुन्दर रूप की साक्षी दे रही है, जिस पर सदा ही जनमानस मुग्ध होता रहा है।

उपर्युक्त पंक्तियों में संक्षेप में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। स्थानाभाव के कारण जैसा विस्तार से चाहता था वैसा नहीं लिख सका तथापि जिज्ञासुओं को इसमें बहुत कुछ जानने को मिलेगा और यह तुलनात्मक अध्ययन दुराग्रह और संकीर्ण दृष्टि के निरसन में सहायक होगा।

उपसंहार

श्रमण भगवान महावीर एक विराट व्यक्तित्व के धनी महापुरुष थे। वे महान् क्रान्तिकारी थे। उनके जीवन में सत्य, शील, सौन्दर्य और शक्ति का ऐसा अद्भुत समन्वय था जो विश्व के अन्य महापुरुषों में एक साथ देखा नहीं जा सकता। उनकी दृष्टि अत्यधिक पैनी थी। समाज में पनपती हुई आर्थिक विषमता, विचारों की विविधता और कामजन्य वासना के काले-कजराले दुर्दमनीय नागों को उन्होंने अहिंसा, सत्य, संयम और तप के गारुड़ी संस्पर्श से कीलकर समता, सद्भावना व स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित की। अज्ञान अन्धकार में भटकती हुई मानव-प्रजा को

---

१ जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९७; मातंग जातक, पृ० ५८३-६०७
२ जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९८; चित्तसम्भूत जातक, पृ० ५९८-६००
३ हत्थिपाल जातक ५०९
४ शान्तिपर्व, अध्याय १७५, २७७
५ महाजन जातक ५३९ तथा सोनक जातक सं० ५२९
६ महाभारत शान्तिपर्व, अ० १७८ एवं २७६

शुद्ध सत्य की ज्योति का दर्शन कराया। यही उनके प्रवचनों का मुख्य उद्देश्य था। यही कारण है कि उन्होंने जन-जन के कल्याणार्थ उस युग की जन बोली अर्धमागधी में अपने पावन प्रवचन किये और अपने कल्याणकारी दृष्टिकोण से जन-जीवन में अभिनव जागृति का संचार किया। उनके पवित्र प्रवचन जो अर्थरूप में थे उसका संकलन-आकलन गणधरों व स्थविरों ने सूत्र रूप में किया। अर्धमागधी भाषा में संकलित यह आगमसाहित्य विषय की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से व सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्व के कुछ अञ्चलों में ब्राह्मण धर्म का प्रभुत्व बढ़ रहा था उस समय जैन श्रमणों ने मगध और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में परिभ्रमण कर जैनधर्म की विजय-वैजयन्ती फहराई। यह इस विशाल साहित्य के अध्ययन, चिन्तन-मनन से परिज्ञात होता है। इसमें जैन श्रमणों के उत्कृष्ट आचार-विचार, व्रत-नियम, सिद्धान्त, स्वमत-संस्थापन, परमत-निरसन, प्रभृति अनेक विषयों पर विस्तार से विश्लेषण है। विविध आख्यान, चरित्र, उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि के द्वारा विषय को अत्यन्त सरल व सरस बनाकर प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः आगम साहित्य, जैन संस्कृति, इतिहास, समाज और धर्म का आधार-स्तंभ है। इसके बिना जैनधर्म का सही व सांगोपांग परिचय नहीं प्राप्त हो सकता। यह सत्य-तथ्य है कि विभिन्न परिस्थितियों के कारण जैन-धर्म के सिद्धान्तों में भी परिवर्तन-परिवर्द्धन होते रहे हैं, पर आगम-साहित्य में मूल दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आया है।

आगम-साहित्य में आई हुई अनेक बातें परिस्थितियों के कारण से विस्मृत होने लगीं। आगमों के गहन रहस्य जब विस्मृति के अंचल में छिपने लगे तो प्रतिभामूर्ति आचार्यों ने उन रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, टीका, आदि व्याख्या साहित्य का सृजन किया। फलस्वरूप आगमों के व्याख्या साहित्य ने अतीत काल से आने वाली अनेक अनुश्रुतियों, परम्पराओं, ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक कथानकों एवं धार्मिक, आध्यात्मिक व लौकिक कथाओं के द्वारा जैन साहित्य के गुरु-गंभीर रहस्यों को प्रकट किया। यह साहित्य व्याख्यात्मक होने पर भी जैनधर्म के मर्म को समझने के लिए अतीव उपयोगी है। इसमें जैन-आचारशास्त्र के विधि-विधानों की सूक्ष्म-चर्चा है। हिंसा-अहिंसा, जिनकल्प व स्थविरकल्प की विविध अवस्थाओं का विशद् विश्लेपण किया गया है। क्रियावादी, अक्रिया-

वादी आदि ३६३ मत-मतान्तरों का उल्लेख है। गणधरवाद और निह्नववाद —ये दर्शनशास्त्र की विविध दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। आजीविक, तापस, परिव्राजक, तत्क्षणिक और बोटिक आदि मत-मतान्तरों का भी विश्लेषण हुआ है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के स्वरूप पर विस्तार से चिन्तन कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद का युक्ति पुरस्सर विचार है। अनुमान आदि प्रमाणशास्त्र पर भी चिन्तन किया गया है। कर्मवाद जैनदर्शन का हृदय है। कर्म, कर्म का स्वभाव, कर्मस्थिति, रागादि की तीव्रता से कर्मबंध, कर्म का वैविध्य, समुद्घात, शैलेषी अवस्था, उपशम और क्षपकश्रेणी पर गहराई से चिन्तन किया गया है। ध्यान के संबंध में भी पर्याप्त विवेचन है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त श्रमणों की चिकित्सा की मनोवैज्ञानिक विधि प्रतिपादित की गई है। साथ ही क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त होने के कारणों पर भी चिन्तन किया गया है।

भगवान ऋषभदेव मानव-समाज के आद्य निर्माता थे। उनके पवित्र चरित्र के माध्यम से आहार, शिल्प, कर्म, लेखन, मानदण्ड, इक्षुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, यज्ञ, उत्सव, विवाह आदि अनेक सामाजिक विषयों पर भी चर्चा की गई है। मानव जाति को सात वर्णों एवं नौ वर्णान्तरों में विभक्त किया गया है। सार्थ, सार्थवाहों के प्रकार, छह प्रकार की आर्य जातियाँ, छह प्रकार के आर्य कुल आदि समाजशास्त्र से सम्बन्धित विषयों पर विश्लेषण किया गया है। साथ ही ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम और राजधानी का स्वरूप भी चित्रित किया गया है। साढ़े पच्चीस आर्य देशों की राजधानी आदि का भी उल्लेख किया गया है। राजा, युवराज, महत्तर, अमात्य, कुमार, नियतिक, रूपयक्ष आदि के स्वरूप और कार्यों पर भी चिन्तन किया गया है। साथ ही उस युग की संस्कृति और सभ्यता पर प्रकाश डालते हुए रत्न एवं धान्य की २४ जातियाँ बताई गई हैं। जांगिक आदि पाँच प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है। १७ प्रकार के धान्य भण्डारों का वर्णन है। दंड, विदंड, लाठी, विलट्ठी के अन्तर को स्पष्ट किया गया है। कुण्डल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, वालंभा, पलंबा, हार, अर्धहार, एकावली, कनकावली, मुक्तावली, रत्नावली, पट्ट, मुकुट आदि उस युग में प्रचलित नाना प्रकार के आभूषणों के स्वरूप को भी चित्रित किया गया है। उद्यान गृह, निर्याण गृह, अट्ट-अट्टालक, छत्र

गृह, भिन्नगृह, तृणगृह, गोगृह आदि अनेक प्रकार के गृहों का, कोष्ठागार, भांडागार, पानागार, क्षीण गृह, गजशाला, मानस शाला आदि के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, नागरिकशास्त्र, मनोविज्ञान आदि पर आगम और उसमें व्याख्या साहित्य में प्रचुर सामग्री है।

आगम साहित्य का विषय की दृष्टि से ही नहीं किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भी प्रभूत महत्व है। आगमों में विविध छंदों का प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर जीव को पतङ्ग, विषयों को दीपक और आसक्ति को आलोक की उपमा प्रदान की है। आगम साहित्य में गद्य और पद्य का मिश्रण भी पाया जाता है। यद्यपि गद्य और पद्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है, किन्तु वे दोनों समान रूप से विषय को विकसित और पल्लवित करते हैं। प्रस्तुत प्रणाली ही आगे चलकर चम्पू काव्य या गद्य-पद्यात्मक कथा काव्य के विकास का मूल स्रोत बनी। कथाओं के विकास के सम्पूर्ण रूप भी आगम साहित्य में मिलते हैं। वस्तु, पात्र, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, प्रभृति तत्त्व आगम व व्याख्या साहित्य में पाये जाते हैं। तर्कप्रधान दर्शन शैली का विकास भी आगम साहित्य में है। जीवन और जगत के विविध अनुभवों की जानकारी का यह साहित्य अनुपम कोश है।

दिगम्बराचार्यों ने श्वेताम्बरों के आगमों को प्रामाणिक नहीं माना। श्वेताम्बर दृष्टि से केवल दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग ही विच्छिन्न हुआ जबकि दिगम्बर दृष्टि से सम्पूर्ण आगम साहित्य ही लुप्त हो गया। केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशेष रहा जिसके आधार से षट्खण्डागम की रचना हुई और उसी मूल आधार से अन्य अनेक मेधावी आचार्यों ने उन विषयों पर ग्रंथ लिखे। आत्मा और कर्म सम्बन्धी गहन चर्चा के कारण ये ग्रन्थ बहुत ही जटिल हो गये। श्वेताम्बर आगम साहित्य के समान विविध विषयों की विशद चर्चाएँ दिगम्बर साहित्य में नहीं है। श्वेताम्बर और दिगम्बर आगम को समझने के लिए दोनों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

दोनों ही परम्पराओं में अनेक प्रतिभासम्पन्न ज्योतिर्धर आचार्य हुए, जिन्होंने आगम साहित्य के एक-एक विषय को लेकर विपुल साहित्य का सृजन किया। उस साहित्य में उन आचार्यों का प्रकाण्ड पांडित्य और अनेकान्त दृष्टि स्पष्ट रूप से झलक रही है। आवश्यकता है उस विराट साहित्य

के अध्ययन, चिन्तन और मनन की। यह वह आध्यात्मिक सरस भोजन है जो कदापि बासी नहीं हो सकता। यह जीवन दर्शन है। प्राचीन मनीषी के शब्दों में यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' आगम साहित्य में लोकनीति, सामाजिक शिष्टाचार, अनुशासन, अध्यात्म, वैराग्य, इतिहास और पुराण, कथा और तत्त्वज्ञान, सरल और गहन, अन्तर और बाह्य जगत सभी का गहन विश्लेषण है जो अपूर्व है, अनूठा है। जीवन के सर्वांगीण सम्यक् के लिए आगम साहित्य का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। भौतिक भक्ति के युग में पले-पोसे मानवों के अन्तर्मानस में जैन आगम साहित्य के प्रति यदि रुचि जाग्रत हुई तो मैं अपना प्रयास पूर्ण सफल समझूँगा। इसी आशा के साथ लेखनी को विश्राम देता हूँ।

सप्तम खण्ड

आगम साहित्य के सुभाषित

- आगम साहित्य
- आगमों का व्याख्या साहित्य
- चूर्णि साहित्य
- दिगम्बर आगम ग्रन्थ

आगम साहित्य के सुभाषित

महापुरुषों की वाणी में अद्भुत शक्ति व सामर्थ्य होता है। वे जिस विषय को स्पर्श करते हैं उसके तल तक पहुँचते हैं और विषय का ऐसा विश्लेषण करते हैं कि श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। उनके उपदेश प्रदान करने की छटा निराली होती है जिसमें गहन अनुभूतियों की छलनी में से छना हुआ वह सारतत्त्व होता है जिसमें कुछ भी अंश फेंकने जैसा नहीं होता। सीमित शब्दों में असीम अर्थ-गरिमा लिये हुए उनके विचार होते हैं। सम्पूर्ण आगम साहित्य में श्रमण भगवान महावीर के विमल-विचारों का आलोक सर्वत्र जगमगा रहा है जो देश, काल और परिस्थितियों के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं है। उस विराट् आगम व व्याख्या साहित्य में से कुछ सुगन्धित सुमन यहां पर प्रस्तुत हैं, जिनकी सुमधुर सौरभ जन-जन के मन को प्रमुदित करने में सक्षम है :—

आगम साहित्य

आचारांग

(१) अत्थि मे आया उववाइए....

से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी। १।१।२

यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है....आत्मा के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुतः आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है।

(२) एस खलु गंथे, एस खलु मोहे,

एस खलु मारे, एस खलु णरए॥ १।१।२

यह आरम्भ (हिंसा) ही वस्तुतः ग्रन्थ—बन्धन है, यही मोह है, यही मार—मृत्यु है, और यही नरक है।

(३) जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे त्ति पवुच्चति। १।१।४

जो प्रमत्त है, विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवों को दण्ड (पीड़ा) देने वाला होता है।

(जिस प्रकार समग्र विश्व अनन्त है, उसी प्रकार एक छोटे-से-छोटा पदार्थ भी अनन्त है, अनन्त गुण-पर्याय वाला है, अतः अनंतज्ञानी ही एक और सबका पूर्ण ज्ञान कर सकता है।)

(३०) सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स ! नत्थि भयं । १।३।४
प्रमत्त को सब ओर भय रहता है। अप्रमत्त को किसी ओर भी भय नहीं है।

(३१) जे एगं नामे, से बहुं नामे । १।३।४
जो एक अपने को नमा लेता है—जीत लेता है, वह समग्र संसार को नमा लेता है—जीत लेता है।

(३२) न लोगस्सेसणं चरे ।
जस्स नत्थि इमा जाई,
अण्णा तस्स कओ सिया ? ।१।४।१
लोकैषणा से मुक्त रहना चाहिए। जिसको यह लोकैषणा नहीं है, उसको अन्य पाप-प्रवृत्तियाँ कैसे हो सकती हैं ?

(३३) जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा ।
जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा । १।४।२
जो बन्धन के हेतु हैं, वे ही कभी मोक्ष के हेतु भी हो सकते हैं, और जो मोक्ष के हेतु हैं, वे ही कभी बन्धन के हेतु भी हो सकते हैं।

जो व्रत उपवास आदि संवर के हेतु हैं, वे कभी-कभी संवर के हेतु नहीं भी हो सकते हैं। और जो आस्रव के हेतु हैं, वे कभी-कभी आस्रव के हेतु नहीं भी हो सकते हैं।

(तात्पर्य है आस्रव और संवर आदि सब मूलतः साधक के अन्तरंग भावों पर आधारित हैं।)

(३४) एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं । १।४।३
आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को धुन डालो।

(३५) कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं । १।४।३
अपने को कृश करो, तन-मन को हल्का करो। अपने को जीर्ण करो, भोगवृत्ति को जर्जर करो।

(३६) जे छेए से सागारियं न सेवेइ । १।५।१
जो कुशल है, वे काम-भोगों का सेवन नहीं करते।

(३७) उट्ठिए नो पमायए । १।५।२
जो कर्त्तव्यपथ पर उठ खड़ा हुआ है, उसे फिर प्रमाद नहीं करना चाहिए।

(३८) बंधप्पमोक्खो अज्झत्थेव । १।५।२
वस्तुतः बन्धन और मोक्ष अन्दर में ही है।

(३९) नो निन्हवेज्ज वीरियं । १।५।३
अपनी योग्य शक्ति को कभी छुपाना नहीं चाहिए।

(४०) इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ । १।५।३
अपने अन्तर (के विकारों) से ही युद्ध कर। बाहर के युद्ध से तुझे क्या मिलेगा ?

(४१) वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहई समाहिं । १।५।५
शंकाशील व्यक्ति को कभी समाधि नहीं मिलती।

(४२) जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए ॥ १।५।५
जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

(४३) नो अत्ताणं आसाएज्जा, नो परं आसाएज्जा । १।६।५
न अपनी अवहेलना करो, और न दूसरों की।

(४४) समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए । ।१।८।३
आर्य महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है।

(४५) नो वयणं फरुसं वइज्जा । २।१।६
कठोर—कटुवचन न बोले।

सूत्रकृतांग

(४६) बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया । १।१।१।१
सर्वप्रथम बन्धन को समझो, और समझकर फिर उसे तोड़ो।

(४७) नो य उप्पज्जए असं । १।१।१।१६
असत् कभी सत् नहीं होता।

(४८) अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणसासिउं । १।१।२।१७
जो अपने पर अनुशासन नहीं रख सकता, वह दूसरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है ?

(४९) सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया । १।१।२।२३
जो अपने मत की प्रशंसा, और दूसरों के मत की निन्दा करने में ही अपना पांडित्य दिखाते है, वे एकान्तवादी संसार-चक्र में भटकते ही रहते हैं।

(५०) एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एतावन्तं वियाणिया ॥ १।१।४।१०

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है, बस इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।

(५१) संबुज्झह, किं न बुज्झह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइयो, नो सुलभं पुनरावि जीवियं ॥१।२।१।१
अभी इसी जीवन में समझो, क्यों नहीं समझ रहे हो ? मरने के बाद परलोक में संबोधि का मिलना कठिन है। जैसे बीती हुई रातें फिर लौटकर नहीं आतीं, उसी प्रकार मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नहीं आता।

(५२) सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं। १।२।१।४
आत्मा अपने स्वयं के कर्मों से ही बन्धन में पड़ता है। कृतकर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं है।

(५३) अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी। १।२।२।१६
दूसरों की निन्दा हितकर नहीं है।

(५४) बाले पापेहिं मिज्जती। १।२।२।२१
अज्ञानी आत्मा पाप करके भी उस पर अहंकार करता है।

(५५) अत्तहियं खु दुहेण लब्भई। १।२।२।३०
आत्महित का अवसर कठिनाई से मिलता है।

(५६) अदक्खु कामाइं रोगवं। १।२।३।२
सच्चे साधक की दृष्टि में काम-भोग रोग के समान हैं।

(५७) जेहिं काले परक्कंतं, न पच्छा परितप्पए। १।३।४।१५
जो समय पर अपना कार्य कर लेते हैं, वे बाद में पछताते नहीं।

(५८) जहा कडं कम्म, तहासि भारे। १।५।१।२६
जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका भोग।

(५९) दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं। १।६।२३
अभयदान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।

(६०) तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं। १।६।२३
तपों में सर्वोत्तम तप है—ब्रह्मचर्य।

(६१) सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति। १।६।२३
सत्य वचनों में भी अनवद्य सत्य (हिंसा-रहित सत्य वचन) श्रेष्ठ है।

(६२) सयकम्मुणा विप्परियासुवेइ। १।७।११
प्रत्येक प्राणी अपने ही कृतकर्मों से कष्ट पाता है।

(६३) नो पूयणं तवसा आवहेज्जा । १।७।२७
तप के द्वारा पूजा प्रतिष्ठा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए ।

(६४) दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा । १।७।२६
दुःख आ जाने पर भी मन पर संयम रखना चाहिए ।

(६५) पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं । १।८।३
प्रमाद को कर्म—आस्रव और अप्रमाद को अकर्म—संवर कहा है ।

(६६) पावोगहा हि आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो । १।८।७
पापानुष्ठान अन्ततः दुःख ही देते है ।

(६७) जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेर्ण समाहरे ॥ १।८।१६
कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अन्दर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है । वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप-वृत्तियों से सुरक्षित रखे ।

(६८) अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए । १।८।२५
सुव्रती साधक कम खाये, कम पीये और कम बोले ।

(६६) झाणाजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो । १।८।२६
ध्यानयोग का अवलम्बन कर देहभाव का सर्वतोभावेन विसर्जन करना चाहिए ।

(७०) अणुचिंतिय वियागरे । १।६।२५
जो कुछ बोले—पहले विचार कर बोले ।

(७१) जं छन्नं तं न वत्तव्वं । १।६।२६
किसी की कोई गोपनीय जैसी बात हो, तो नही कहना चाहिए ।

(७२) णतिवेलं हसे मुणी । १।६।२६
मर्यादा से अधिक नहीं हँसना चाहिए ।

(७३) वुच्चमाणो न संजले । १।६।३१
साधक को कोई दुर्वचन कहे, तो भी वह उस पर गरम न हो, क्रोध न करे ।

(७४) बालजणो पगब्भई । १।११।२
अभिमान करना अज्ञानी का लक्षण है ।

(७५) न विरुज्झेज्ज केण वि । १।११।१२
किसी के भी साथ वैर विरोध न करो ।

(७६) आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं। १।१२।११
ज्ञान और कर्म (विद्या एवं चरण) से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

(७७) संतोसिणो नोपकरेंति पावं।१।१२।१५
संतोषी साधक कभी कोई पाप नहीं करते।

(७८) अन्नं जणं खिसई बालपन्ने। १।१३।१४
जो अपनी प्रज्ञा के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा करता है, वह मूर्ख बुद्धि (बालप्रज्ञ) है।

(७९) न यावि पन्ने परिहास कुज्जा। १।१४।१९
बुद्धिमान किसी का उपहास नहीं करता।

(८०) विभज्जवायं च वियागरेज्जा। १।१४।२२
विचारशील पुरुष सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद से युक्त वचन का प्रयोग करे।

(८१) नाइवेलं वएज्जा। १।१४।२५
साधक आवश्यकता से अधिक न बोले।

(८२) अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं। २।१।९
आत्मा और है, शरीर और है।

(८३) पत्तेयं जायति पत्तेयं मरइ। २।१।१३
हर प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है।

(८४) धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। २।२।३८
सद्गृहस्थ धर्मानुकूल ही आजीविका करते हैं।

(८५) अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु। २।३।११
नहीं देखने वालो ! तुम देखने वालों की बात पर विश्वास करके चलो।

स्थानांग

(८६) एगा अहम्मपडिमा, जं से आया परिकिलेसति। १।१।३८
एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाता है।

(८७) एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए। १।१।४०
एक धर्म ही ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है।

(८८) किं भया पाणा ? दुक्खभया पाणा।
दुक्खे केण कडे ? जीवेणं कडे पमाएणं। ३।२
प्राणी किससे भय पाते हैं ?
दुःख से।
दुःख किसने किया है ?
स्वयं आत्मा ने, अपनी ही भूल से।

(८९) चउव्विहे संजमे—
मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरण संजमे । ४।२
संयम के चार प्रकार हैं—मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और उपधि-सामग्री का संयम ।

(९०) चत्तारि अवायणिज्जा—
अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविओसितपाहुडे, माई । ४।३
चार व्यक्ति शास्त्राध्ययन के योग्य नहीं है—अविनीत, चटोरा, झगड़ालू और धूर्त ।

(९१) मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू । ६।३
वाचालता सत्य वचन का विघात करती है ।

(९२) इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू । ६।३
लोभ मुक्तिमार्ग का बाधक है ।

(९३) गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए । अब्भुट्ठेयव्वं भवति । ८
रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए ।

(९४) णो पाणभोयणस्स अतिमत्तं आहारए सया भवई । ९
ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए ।

(९५) नो सिलोगाणुवाई,
नो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवई । ९
साधक कभी भी यश, प्रशंसा और दैहिक सुखों के पीछे पागल न बने ।

भगवती

(९६) इह भविए वि नाणे परभविए वि नाणे,
तदुभयभविए वि नाणे । १।१
ज्ञान का प्रकाश इस जन्म में रहता है, पर-जन्म में रहता है, और कभी दोनों जन्मों में भी रहता है ।

(९७) अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव संवरइ । १।३
आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा—आलोचना करता है, और अपने द्वारा ही कर्मों का संवर—आस्रव का निरोध करता है ।

(९८) आया णे अज्जो । सामाइए,
आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे । १।९

(७६) आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं । १।१२।११
ज्ञान और कर्म (विद्या एवं चरण) से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

(७७) संतोसिणो नोपकरेंति पावं ।१।१२।१५
संतोषी साधक कभी कोई पाप नहीं करते ।

(७८) अन्नं जणं खिंसई बालपन्ने । १।१३।१४
जो अपनी प्रज्ञा के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा करता है, वह मूर्ख बुद्धि (बालप्रज्ञ) है ।

(७९) न यावि पन्ने परिहास कुज्जा । १।१४।१९
बुद्धिमान किसी का उपहास नहीं करता ।

(८०) विभज्जवायं च वियागरेज्जा । १।१४।२२
विचारशील पुरुष सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद से युक्त वचन का प्रयोग करे ।

(८१) नाइवेलं वएज्जा । १।१४।२५
साधक आवश्यकता से अधिक न बोले ।

(८२) अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं । २।१।९
आत्मा और है, शरीर और है ।

(८३) पत्तेयं जायति पत्तेयं मरइ । २।१।१३
हर प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है ।

(८४) धम्मेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति । २।२।३८
सद्गृहस्थ धर्मानुकूल ही आजीविका करते हैं ।

(८५) अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु । २।३।११
नहीं देखने वालो ! तुम देखने वालों की बात पर विश्वास करके चलो ।

स्थानांग

(८६) एगा अहम्मपडिमा, जं से आया परिकिलेसति । १।१।३८
एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाता है ।

(८७) एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए । १।१।४०
एक धर्म ही ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है ।

(८८) किं भया पाणा ? दुक्खभया पाणा ।
दुक्खे केण कडे ? जीवेणं कडे पमाएणं । ३।२
प्राणी किससे भय पाते हैं ?
दुःख से ।
दुःख किसने किया है ?
स्वयं आत्मा ने, अपनी ही भूल से ।

(८९) चउव्विहे संजमे—
मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरण संजमे। ४।२
संयम के चार प्रकार हैं—मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और उपधि-सामग्री का संयम।

(९०) चत्तारि अवायणिज्जा—
अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविओसितपाहुडे, माई। ४।३
चार व्यक्ति शास्त्राध्ययन के योग्य नहीं है—अविनीत, चटोरा, झगड़ालू और धूर्त।

(९१) मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू। ६।३
वाचालता सत्य वचन का विघात करती है।

(९२) इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू। ६।३
लोभ मुक्तिमार्ग का बाधक है।

(९३) गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए। अब्भुट्ठेयव्वं भवति। ८
रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

(९४) णो पाणभोयणस्स अतिमत्तं आहारए सया भवई। ९
ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए।

(९५) नो सिलोगाणुवाई,
नो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवई। ९
साधक कभी भी यश, प्रशंसा और दैहिक सुखों के पीछे पागल न बने।

भगवती

(९६) इह भविए वि नाणे परभविए वि नाणे,
तदुभयभविए वि नाणे। १।१
ज्ञान का प्रकाश इस जन्म में रहता है, पर-जन्म में रहता है, और कभी दोनों जन्मों में भी रहता है।

(९७) अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव संवरइ। १।३
आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा—आलोचना करता है, और अपने द्वारा ही कर्मों का संवर—आस्रव का निरोध करता है।

(९८) आया णे अज्जो। सामाइए,
आया णे अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे। १।९

हे आर्य ! आत्मा ही सामायिक (समत्वभाव) है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि) है।
(इस प्रकार गुण-गुणी में भेद नहीं, अभेद है।)

(९९) जीवा णो वड्ढंति, णो हायंति, अवट्ठिया । ५।८
जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं, किन्तु सदा अवस्थित रहते हैं।

(१००) समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भई । ७।१
समाधि (सुख) देने वाला समाधि पाता है।

(१०१) हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे । ७।८
आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुंथुआ—दोनों में आत्मा एक समान है।

(१०२) एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे
अणेगे जीवे हणइ । ९।३४
एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ आत्मा तत्संबंधित अनेक जीवों की हिंसा करता है।

(१०३) अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू । १२।२
अधार्मिक आत्माओं का सोते रहना अच्छा है और धर्मनिष्ठ आत्माओं का जागते रहना।

(१०४) नत्थि केई परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे,
जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि । १२।७
इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है। जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो।

(१०५) जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति,
नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति । १६।२
आत्माओं के कर्म चेतनाकृत होते हैं, अचेतनाकृत नहीं।

(१०६) अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे । १७।५
आत्मा का दुःख स्वकृत है, अपना किया हुआ है, परकृत अर्थात् किसी अन्य का किया हुआ नहीं है।

प्रश्नव्याकरण

(१०७) न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो । १।१
हिंसा के कटुफल को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

(१०८) पाणवहो चंडो, रुद्दो, खुद्दो, अणारियो,
निग्घिणो, निसंसो, महब्भयो··· १।१
प्राणवध (हिंसा) चण्ड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणा-रहित है, क्रूर है, महाभयंकर है।

(१०९) उवणमंति मरणाधम्मं अवित्तत्ता कामाणं। १।४
अच्छे से अच्छे सुखोपभोग करने वाले देवता और चक्रवर्ती आदि भी अन्त में कामभोगों से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त होते है।

(११०) देवा वि सइंदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभंति। १।५
देवता और इन्द्र भी न (भोगों से) कभी तृप्त होते हैं और न संतुष्ट।

(१११) नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाणं सव्वलोए। १।५
समूचे संसार मे परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल एवं बन्धन नहीं है।

(११२) अहिंसा तस-थावर-सव्वभूय खेमंकरी। २।१
अहिंसा, त्रस और स्थावर (चर-अचर) सब प्राणियों का कुशल-क्षेम करने वाली है।

(११३) सव्वपाणा न हीलियव्वा, न निंदियव्वा। २।१
विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिए, और न निन्दा।

(११४) भगवती अहिंसा···भीयाणं विव सरणं। २।१
जैसे भयाक्रान्त के लिए शरण की प्राप्ति हितकर है। प्राणियों के लिए वैसे ही, अपितु इससे भी विशिष्टतर भगवती अहिंसा हितकर है।

(११५) तं सच्चं भगवं। २।२
सत्य ही भगवान है।

(११६) सच्चं···लोगम्मि सारभूयं···गंभीरतरं महासमुद्दाओ २।२
संसार मे 'सत्य' ही सार भूत है।
सत्य महासमुद्र से भी अधिक गंभीर है।

(११७) सच्चं च हियं च मियं च गाहणं च। २।२
ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए जो हित, मित और ग्राह्य हो।

(११८) लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं। २।२
मनुष्य लोभग्रस्त होकर झूठ बोलता है।

(११९) भीतो अवितिज्जओ मणुस्सो। २।२
भयभीत मनुष्य किसी का सहायक नहीं हो सकता।

(१२०) भीतो भूतेहिं घिप्पइ । २।२
भयाकुल व्यक्ति ही भूतों का शिकार होता है ।

(१२१) अणुन्नविय गेण्हियव्वं । २।३
दूसरे की कोई भी चीज हो, आज्ञा लेकर ग्रहण करनी चाहिए ।

(१२२) एगे चरेज्ज धम्मं । २।३
भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए ।

(१२३) विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो । २।३
विनय स्वयं एक तप है, और वह आभ्यंतर तप होने से श्रेष्ठ धर्म है ।

(१२४) बंभचेरं उत्तमतव-नियम-णाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं । २।४
ब्रह्मचर्य—उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है ।

(१२५) दाणाणं चेव अभयदाणं । २।४
सब दानों में 'अभयदान' श्रेष्ठ है ।

(१२६) स एव भिक्खू, जो सुद्धं चरति बंभचेरं । २।४
जो शुद्ध भाव से ब्रह्मचर्य पालन करता है, वस्तुतः वही भिक्षु है ।

(१२७) समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे । २।५
जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है ।

दशवैकालिक

(१२८) धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो । १।१
धर्म श्रेष्ठ मंगल है । अहिंसा, संयम और तप—धर्म के तीन रूप हैं । जिसका मन (विश्वास) धर्म में स्थिर है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

(१२९) अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ । २।२
जो पराधीनता के कारण विषयों का उपभोग नहीं कर पाते, उन्हें त्यागी नहीं कहा जा सकता ।

(१३०) कामे कमाही कमियं खु दुक्खं । २।५
कामनाओं को दूर करना ही दुःखों को दूर करना है ।

(१३१) वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे । २।७
वमन किए हुए (त्यक्त विषयों) को फिर से पीना (पाना) चाहते हो ? इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है ।

(१३२) जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बन्धइ ॥ ४।८
चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना, भोजन करना और बोलना आदि प्रवृत्तियाँ यतनापूर्वक करते हुए साधक को पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

(१३३) पढमं नाणं तओ दया। ४।१०
पहले ज्ञान होना चाहिए और फिर तदनुसार दया अर्थात् आचरण।

(१३४) जं सेयं तं समायरे। ४।११
जो श्रेय (हितकर) हो, उसी का आचरण करना चाहिए।

(१३५) दवदवस्स न गच्छेज्जा। ५।१।१४
मार्ग में जल्दी-जल्दी नहीं चलना चाहिए।

(१३६) हसंतो नाभिगच्छेज्जा। ५।१।१४
मार्ग में हँसते हुए नहीं चलना चाहिए।

(१३७) संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए। ५।१।१६
जहाँ भी कहीं क्लेश की संभावना हो, उस स्थान से दूर रहना चाहिए।

(१३८) महुघयं व भुंजिज्ज संजए। ५।१।९७
सरस या नीरस—जैसा भी आहार मिले, साधक उसे 'मधुघृत' की तरह प्रसन्नतापूर्वक खाए।

(१३९) काले कालं समायरे। ।५।२।४
जिस काल (समय) में जो कार्य करने का हो, उस काल में वही कार्य करना चाहिए।

(१४०) अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए। ५।२।५१
आत्मविद् साधक अणुमात्र भी माया मृषा (दंभ और असत्य) का सेवन न करे।

(१४१) अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो। ६।९
सब प्राणियों के प्रति स्वयं को संयत रखना—यही अहिंसा का पूर्ण दर्शन है।

(१४२) सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं। ६।११
समस्त प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं; मरना कोई नही चाहता।

(१४३) मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ। ६।१३
विश्व के सभी सत्पुरुषों ने मृषावाद (असत्य) की निन्दा की है।

(१४४) मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। ६।२१
मूर्च्छा को ही वस्तुतः परिग्रह कहा है।

(१२०) भीतो भूतेहिं घिप्पइ । २।२
मयाकुल व्यक्ति ही भूतों का शिकार होता है ।

(१२१) अणुन्नविय गेण्हियव्वं । २।३
दूसरे की कोई भी चीज हो, आज्ञा लेकर ग्रहण कर॰

(१२२) एगे चरेज्ज धम्मं । २।३
भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचर॰

(१२३) विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो । २।३
विनय स्वयं एक तप है, और वह आभ्यंतर तप होने से ॰

(१२४) बंभचेरं उत्तमतव-नियम-णाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-॰
ब्रह्मचर्य—उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक॰
का मूल है ।

(१२५) दाणाणं चेव अभयदाणं । २।४
सब दानों में 'अभयदान' श्रेष्ठ है ।

(१२६) स एव भिक्खू, जो सुद्धं चरति बंभचेरं । २।४
जो शुद्ध भाव से ब्रह्मचर्य पालन करता है, वस्तुतः वही भिक्षु है ।

(१२७) समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे । २।५
जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है।

दशवैकालिक

(१२८) धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो । १।१
धर्म श्रेष्ठ मंगल है । अहिंसा, संयम और तप—धर्म के तीन रूप हैं।
जिसका मन (विश्वास) धर्म में स्थिर है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

(१२९) अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ । २।२
जो पराधीनता के कारण विषयों का उपभोग नहीं कर पाते, उन्हें त्यागी नहीं कहा जा सकता ।

(१३०) कामे कमाही कमियं खु दुक्खं । २।५
कामनाओं को दूर करना ही दुःखों को दूर करना है ।

(१३१) वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे । २।७
वमन किए हुए (त्यक्त विषयों) को फिर से पीना (पाना) चाहते हो ?
इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है ।

(१३२) जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बन्धइ ॥ ४।८

चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना, भोजन करना और बोलना आदि प्रवृत्तियाँ यतनापूर्वक करते हुए साधक को पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

(१३३) पढमं नाणं तओ दया। ४।१०

पहले ज्ञान होना चाहिए और फिर तदनुसार दया अर्थात् आचरण।

(१३४) जं सेयं तं समायरे। ४।११

जो श्रेय (हितकर) हो, उसी का आचरण करना चाहिए।

(१३५) दवदवस्स न गच्छेज्जा। ५।१।१४

मार्ग में जल्दी-जल्दी नहीं चलना चाहिए।

(१३६) हसंतो नाभिगच्छेज्जा। ५।१।१४

मार्ग में हँसते हुए नहीं चलना चाहिए।

(१३७) संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए। ५।१।१६

जहाँ भी कहीं क्लेश की संभावना हो, उस स्थान से दूर रहना चाहिए।

(१३८) महुघयं व भुंजिज्ज संजए। ५।१।६७

सरस या नीरस—जैसा भी आहार मिले, साधक उसे 'मधुघृत' की तरह प्रसन्नतापूर्वक खाए।

(१३९) काले कालं समायरे। ।५।२।४

जिस काल (समय) में जो कार्य करने का हो, उस काल में वही कार्य करना चाहिए।

(१४०) अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए। ५।२।५१

आत्मविद् साधक अणुमात्र भी माया मृषा (दंभ और असत्य) का सेवन न करे।

(१४१) अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो। ६।९

सब प्राणियों के प्रति स्वयं को संयत रखना—यही अहिंसा का पूर्ण दर्शन है।

(१४२) सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं। ६।११

समस्त प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं; मरना कोई नहीं चाहता।

(१४३) मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ। ६।१३

विश्व के सभी सत्पुरुषों ने मृषावाद (असत्य) की निन्दा की है।

(१४४) मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। ६।२१

मूर्च्छा को ही वस्तुतः परिग्रह कहा है।

(१६९) अप्पा हु खलु सययं रक्खिअव्वो । —चूलिका २।१६
अपनी आत्मा को सतत पापों से बचाये रखना चाहिए।

उत्तराध्ययन

(१७०) अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए । १।८
अर्थयुक्त (सारभूत) बातें ही ग्रहण करनी चाहिए और निरर्थक बातें छोड़ देनी चाहिए।

(१७१) अणुसासिओ न कुप्पिज्जा । १।९
गुरुजनों के अनुशासन से कुपित-क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

(१७२) खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए । १।९
क्षुद्र लोगों के साथ सम्पर्क, हँसी-मजाक, क्रीड़ा आदि नहीं करना चाहिए।

(१७३) बहुयं मा य आलवे । १।१०
बहुत नहीं बोलना चाहिए।

(१७४) नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए । १।१४
बिना पूछे बीच में कुछ नहीं बोलना चाहिए, पूछने पर भी असत्य न बोले।

(१७५) अप्पाणं पि न कोवए । १।४०
अपने आप पर भी कभी क्रोध मत करो।

(१७६) न सिया तोत्तगवेसए । १।४०
दूसरों के छलछिद्र नहीं देखना चाहिए।

(१७७) नच्चा नमइ मेहावी । १।४५
बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त करके नम्र हो जाता है।

(१७८) माइन्ने असणपाणस्स । २।३
साधक को खाने-पीने की मात्रा-मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए।

(१७९) अदीणमणसो चरे । २।३
संसार में अदीनभाव से रहना चाहिए।

(१८०) सरिसो होइ बालाणं । २।४
बुरे के साथ बुरा होना, बचकानापन (अज्ञानता) है।

(१८१) नत्थि जीवस्स नासो त्ति । २।२७
आत्मा का कभी नाश नहीं होता।

(१८२) सद्धा परमदुल्लहा । ३।९
धर्म में श्रद्धा होना परम दुर्लभ है।

(१८३) सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई । ३।१२
ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है ।

(१८४) वेराणुबद्धा नरयं उवेंति । ४।२
जो वैर की परम्परा को लम्बा किये रहते हैं, वे नरक को प्राप्त होते हैं ।

(१८५) कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि । ४।३
कृत कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है ।

(१८६) सकम्मुणा किच्चइ पावकारी । ४।३
पापात्मा अपने ही कर्मों से पीड़ित होता है ।

(१८७) वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्था । ४।५
प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नहीं कर सकता, न इस लोक में और न परलोक में ।

(१८८) घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते । ४।६
समय बड़ा भयंकर है, और इधर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता हुआ शरीर है । अतः साधक को सदा अप्रमत्त होकर भारंड पक्षी (सतत सतर्क रहने वाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करना चाहिए ।

(१८९) अप्पणा सच्चमेसेज्जा । ६।२
अपनी स्वयं की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसंधान करो ।

(१९०) मेत्तिं भूएसु कप्पए । ६।२
समस्त प्राणियों पर मित्रता का भाव रखो ।

(१९१) न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं । ६।११
विविध भाषाओं का पाण्डित्य मनुष्य को दुर्गति से नहीं बचा सकता, फिर भला विद्याओं का अनुशासन-अध्ययन किसी को कैसे बचा सकेगा ?

(१९२) पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे । ६।१४
पहले के किए हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस देह की सार-संभाल रखनी चाहिए ।

(१९३) जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥ ८।१७
ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ होता है । इस प्रकार लाभ से लोभ निरंतर बढ़ता ही जाता है । दो माशा सोने से सन्तुष्ट होने वाला करोड़ों (स्वर्ण मुद्राओं) से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाया ।

(१६४) संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घरं। ९।२६
साधना में संशय वही करता है, जो कि मार्ग में ही घर करना (रुक जाना) चाहता है।

(१६५) जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥ ९।३४
भयंकर युद्ध में हजारों-हजार दुर्दान्त शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है।

(१६६) सव्वं अप्पे जिए जियं। ९।३६
एक अपने (विकारों) को जीत लेने पर सब को जीत लिया जाता है।

(१६७) इच्छा हु आगाससमा अणंतिया। ९।४८
इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।

(१६८) कुसग्गे जह ओस बिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए॥ १०।२
जैसे कुशा (घास) की नोंक पर हिलती हुई ओस की बूँद बहुत थोड़े समय के लिए टिक पाती है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर है। अतएव हे गौतम! क्षणभर के लिए भी प्रमाद न कर!

(१६९) विहुणाहि रयं पुरे कडं। १०।३
पूर्वसंचित कर्म-रूपी रज को साफ कर!

(२००) दुल्लहे खलु माणुसे भवे। १०।४
मनुष्य जन्म निश्चय ही बड़ा दुर्लभ है।

(२०१) सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसई जाइविसेस कोई। १२।३७
तप (चरित्र) की विशेषता तो प्रत्यक्ष में दिखलाई देती है, किन्तु जाति की तो कोई विशेषता नजर नहीं आती।

(२०२) सव्वे कामा दुहावहा। १३।१६
सभी काम-भोग अन्ततः दुःखावह (दुःखद ही) होते हैं।

(२०३) कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं। १३।२३
कर्म सदा कर्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते हैं।

(२०४) नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चं। १४।१९
आत्मा आदि अमूर्त तत्त्व इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। और जो अमूर्त होते हैं वे अविनाशी नित्य भी होते हैं।

(२०५) जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥ १४।२५

जो रात्रियाँ बीत जाती हैं, वे पुनः लौटकर नहीं आतीं। किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रियाँ सफल हो जाती हैं।

(२०६) देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं॥ १६।१६
देवता, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी ब्रह्मचर्य के साधक को नमस्कार करते है, क्योंकि वह बहुत दुष्कर कार्य करता है।

(२०७) जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं। १८।१३
जीवन और रूप बिजली की चमक की तरह चंचल हैं।

(२०८) भासियव्वं हियं सच्चं। १९।२७
सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए।

(२०९) असिधारागमणं, चेव, दुक्करं चरिउं तवो। १९।३८
तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

(२१०) न तं अरी कंठछित्ता करेई, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा। २०।४८
गर्दन काटने वाला शत्रु भी उतनी हानि नहीं करता, जितनी हानि दुराचार में प्रवृत्त अपना ही स्वयं का आत्मा कर सकता है।

(२११) अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं, गरिहं च संजए। २१।२०
जो पूजा-प्रशंसा सुनकर कभी अहंकार नहीं करता, और निन्दा सुनकर स्वयं को हीन (अवनत) नहीं मानता, वही वस्तुतः महर्षि है।

(२१२) सज्झाएवा निउत्तेण, सव्वदुक्ख विमोक्खणे। २६।१०
स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है।

(२१३) सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभाव विभावणं। २६।३७
स्वाध्याय सब भावों (विषयों) का प्रकाश करने वाला है।

(२१४) नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं। २८।२९
सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र नहीं हो सकता।

(२१५) सामाइएणं सावज्जजोगविरहं जणयई। २९।८
सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है।

(२१६) खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। २९।१७
क्षमापना से आत्मा में प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

(२१७) सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई। २९।१८
स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादन करने वाले) कर्म का क्षय होता है।

(२१८) वेयावच्चेणं तित्थयरं नामगोत्तं कम्मं निबन्धई। २९।४३
वैयावृत्य (सेवा) से आत्मा तीर्थंकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्य कर्म का उपार्जन करता है।

(२१९) भवकोडी-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ। ३०।६
साधक करोड़ों भवों के संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है।

आगमों का व्याख्या साहित्य

आचारांगनिर्युक्ति

(२२०) अंगाणं किं सारो ? आयारो। १६
जिनवाणी (अंग-साहित्य) का सार क्या है ? 'आचार' सार है।

(२२१) सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं।१७।
प्ररूपणा का सार है—आचरण।
आचरण का सार (अन्तिम फल) है—निर्वाण।

(२२२) एक्का मणुस्सजाई।१९।
समग्र मानव जाति एक है।

(२२३) सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति। ९४
कुछ लोग अपने सुख की खोज में दूसरों को दुःख पहुँचा देते हैं।

(२२४) कामनियत्तमई खलु, संसारा मुच्चई खिप्पं। १७७
जिसकी मति, काम (वासना) से मुक्त है, वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है।

(२२५) संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया। १८९
संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है।

(२२६) अभयकरो जीवाणं, सीयघरो संजमो भवइ सीओ। २०६
प्राणी मात्र को अभय करने के कारण संयम शीतगृह (वातानुकूलित घर) के समान शीतल अर्थात् शान्तिप्रद है।

(२२७) न हु बालतवेण मुक्खु त्ति। २१४
अज्ञानतप से कभी मुक्ति नहीं मिलती।

(२२८) न जिणइ अंधो पराणीयं। २१९
अंधा कितना ही बहादुर हो, शत्रुसेना को पराजित नहीं कर सकता। इसी प्रकार अज्ञानी साधक भी अपने विकारों को जीत नहीं सकता।

(२२९) न हु कइतवे समणो । २२४

जो दंभी है, वह श्रमण नहीं हो सकता ।

सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति

(२३०) जह वा विसगंडूसं, कोई घेत्तू ण नाम तुण्हिक्को ।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो न व मरेज्जा ।। ५२

जिस प्रकार कोई चुपचाप लुक-छिपकर विष पी लेता है, तो क्या वह उस विष से नहीं मरेगा ? अवश्य मरेगा । उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है, तो क्या वह उससे दूषित नहीं होगा ? अवश्य होगा ।

(२३१) अवि य हु भारियकम्मा, नियमा उक्कस्स निरयठितिगामी ।
तेऽवि हु जिणोवदेसेण, तेणेव भवेण सिज्झंति ।।१६०।।

कोई कितना ही पापात्मा हो और निश्चय ही उत्कृष्ट नरक स्थिति को प्राप्त करने वाला हो, किन्तु वह भी वीतराग के उपदेश द्वारा उसी भव में मुक्ति लाभ कर सकता है ।

दशवैकालिकनिर्युक्ति

(२३२) जीवाहारो भण्णइ आयारो । २१५

तप-संयम रूप आचार का मूल आधार आत्मा (आत्मा में श्रद्धा) ही है ।

(२३३) वयणविभत्तिअकुसलो, वओगयं बहुविहं अयाणंतो ।
जइ वि न भासइ किंची, न चेव वयगुत्तयं पत्तो ।।
वयणविभत्तो कुसलो, वओगयं बहुविहं वियाणंतो ।
दिवसं पि भासमाणो, तहावि वयगुत्तयं पत्तो ।।२९०-२९१

जो वचन कला में अकुशल है, और वचन की मर्यादाओं से अनभिज्ञ है, वह कुछ भी न बोले, तब भी 'वचनगुप्त' नहीं हो सकता ।

जो वचन कला में कुशल है और वचन की मर्यादा का जानकार है, वह दिन भर भाषण करता हुआ भी 'वचनगुप्त' कहलाता है ।

(२३४) जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स ।
सो बालतवस्सीवि व गयण्हाणपरिस्समं कुणइ ।।३००।।

जिस तपस्वी ने कषायों को निगृहीत नही किया, वह बाल (अज्ञान) तपस्वी है । उसके तपरूप में किये गए सब कायकष्ट गज-स्नान की तरह व्यर्थ हैं ।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

(२३५) सुहिओ हु जणो न बुज्झई । १४०

सुखी मनुष्य प्रायः जल्दी नहीं जग पाता ।

(२३६) राइसरिसवमित्ताणि, परच्छिद्दाणि पाससि ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासंतो वि न पाससि ॥ १४०

दुर्जन दूसरों के राई और सरसों जितने दोष भी देखता रहता है, किन्तु अपने बिल्व (बेल) जितने बड़े दोषों को देखता हुआ भी अनदेखा कर देता है ।

(२३७) भावंमि उ पव्वज्जा आरंभपरिग्गहच्चाओ । २६३

हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुतः भाव प्रव्रज्या है ।

(२३८) भद्दएणेव होअव्वं पावइ भद्दाणि भद्दओ ।
सविसो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चइ ॥ ३२६

मनुष्य को भद्र (सरल) होना चाहिए, भद्र को ही कल्याण की प्राप्ति होती है । विषधर सांप ही मारा जाता है, निर्विष को कोई नहीं मारता ।

(२३९) जो भिंदेइ खुहं खलु, सो भिक्खू भावओ होइ । ३७५

जो मन की भूख (तृष्णा) का भेदन करता है, वही भाव रूप में भिक्षु है ।

आवश्यकनिर्युक्ति

(२४०) अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं । ९२

तीर्थंकर की वाणी अर्थ (भाव) रूप होती है, और निपुण गणधर उसे सूत्र-बद्ध करते हैं ।

(२४१) वाएण विणा पोओ, न चएइ महण्णावं तरिउं । ९५

अच्छे से अच्छा जलयान भी हवा के बिना महासागर को पार नहीं कर सकता ।

(२४२) निउणो वि जीवपोओ, तवसंजममारुअविहूणो । ९६

शास्त्रज्ञान में कुशल साधक भी तप, संयम रूप पवन के बिना संसार सागर को तैर नहीं सकता ।

(२४३) चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो । ९७

जो साधक चारित्र के गुण से हीन है, वह बहुत से शास्त्र पढ़ लेने पर भी संसार समुद्र में डूब जाता है ।

(२४४) सुबहुंपि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥ ९८

शास्त्रों का बहुत-सा अध्ययन भी चारित्र-हीन के लिए किस काम का ? क्या करोड़ों दीपक जला देने पर भी अंधे को कोई प्रकाश मिल सकता है ?

(२४५) णाणं पयासगं सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ १०३
ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप विशुद्धि एवं संयम पापों का निरोध करता है। तीनों के समयोग से ही मोक्ष होता है—यही जिनशासन का कथन है।

(२४६) केवलियनाणलंभो, नन्नत्थ खए कसायाणं। १०४
क्रोधादि कषायों को क्षय किए बिना केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती।

(२४७) तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं। ५६७
तीर्थंकर देव प्रथम तीर्थ (उपस्थित संघ) को प्रणाम करके फिर जन-कल्याण के लिए लोकभाषा में उपदेश करते हैं।

(२४८) सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा। ८०२
सामायिक की साधना करता हुआ श्रावक उस समय श्रमण के तुल्य हो जाता है।

(२४९) अइनिद्धेण विसया उइज्जंति। १२६३
अतिस्निग्ध आहार करने से विषय-कामना उद्दीप्त हो उठती है।

(२५०) थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइ थोवनिद्दो य।
थोवोवहि-उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ॥ १२६५
जो साधक थोड़ा खाता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी नींद लेता है और थोड़ी ही धर्मोपकरण की सामग्री रखता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

(२५१) चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं। १४५६
किसी एक विषय पर चित्त को स्थिर-एकाग्र करना ध्यान है।

(२५२) अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति एव कयवुद्धि।
दुक्ख-परिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ १५४७
'यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है।' साधक इस तत्त्वबुद्धि के द्वारा दुःख एवं क्लेशजनक शरीर की ममता का त्याग करे।

ओघनिर्युक्ति

(२५३) जे जत्तिआ अ हेउं भवस्स, ते चेव तत्तिआ मुक्खे। ५३
जो और जितने हेतु संसार के हैं, वे और उतने ही हेतु मोक्ष के हैं।

(२५४) इरिआवहमरिआ, जे चेव हवंति कम्मवंधाय।
अजयाणं ते चेव उ, जयाण निव्वाणगमणाय ॥ ५४
जो ईर्यापथिक (गमनागमन) आदि क्रियाएँ असंयत के लिए कर्मबंध का कारण होती हैं, वे ही यतनाशील के लिए मुक्ति का कारण बन जाती हैं।

(२५५) एगंतेण निसेहो, जोगेसु न देसिओ विही वाऽवि ।
दलिअं पप्प निसेहो, होज्ज विही वा जहा रोगे ॥ ५५
जिन शासन में एकांत रूप से किसी भी क्रिया का न तो निषेध है, और न विधान ही है। परिस्थिति को देखकर ही उनका निषेध या विधान किया जाता है, जैसा कि रोग में चिकित्सा के लिए।

(२५६) मुत्तनिरोहेण चक्खू, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ । १९७
अत्यधिक मूत्र के वेग को रोकने से आँखें नष्ट हो जाती हैं और तीव्र मलवेग को रोकने से जीवन ही नष्ट हो जाता है।

(२५७) हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥ ५७८
जो मनुष्य हिताहारी हैं, मिताहारी हैं और अल्पाहारी हैं। उन्हें किसी वैद्य से चिकित्सा करवाने की आवश्यकता नहीं, वे स्वयं ही अपने वैद्य हैं, चिकित्सक हैं।

(२५८) अतिरेगं अहिगरणं । ७४१
आवश्यकता से अधिक एवं अनुपयोगी उपकरण (सामग्री) अधिकरण ही (क्लेशप्रद एवं दोषरूप) हो जाते हैं।

(२५९) आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एसो ।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥ ७५४
निश्चयदृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा। जो प्रमत्त है वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है वह अहिंसक है।

(२६०) सुचिरं पि अच्छमाणो, वेरुलिओ कायमणिओमीसे ।
न य उवेइ कायभावं पाहन्नगुणेण नियएण ॥ ७७२
वैदूर्यरत्न काच की मणियों में कितने ही लम्बे समय तक क्यों न मिला रहे, वह अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण रत्न ही रहता है, कभी काच नहीं होता (सदाचारी उत्तम पुरुष का जीवन भी ऐसा ही होता है।)

(२६१) जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं य उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥ ८०१
बालक जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है, वह सब सरल भाव से कह देता है। इसी प्रकार साधक को भी गुरुजनों के समक्ष दंभ और अभिमान से रहित होकर यथार्थ आत्मालोचन करना चाहिये।

(२६२) उद्धरिय सव्वसल्लो, आलोइय निंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अतिरेगलहुओ, ओहरियभरो व्व भारवहो ॥ ८०६

जो साधक गुरुजनों के समक्ष मन के समस्त शल्यों (कांटों) को निकाल कर आलोचना, निंदा (आत्मनिंदा) करता है, उसकी आत्मा उसी प्रकार हलकी हो जाती है जैसे सिर का भार उतार देने पर भारवाहक।

बृहत्कल्पभाष्य

(२६३) पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं। ८१४
पाप कर्म न करना ही वस्तुतः परम मंगल है।

(२६४) न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय समं तवोकम्मं। ११६६
स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत में कभी हुआ, न वर्तमान में कहीं है, और न भविष्य में कभी होगा।

(२६५) तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ। १३५७
वह कौन सा कठिन कार्य है, जिसे धैर्यवान् व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकता?

(२६६) धंतं पि दुद्धकंखी न लभइ दुद्धं अधेणूतो। १६४४
दूध पाने की कोई कितनी ही तीव्र आकांक्षा क्यों न रखे, पर बांझ गाय से कभी दूध नहीं मिल सकता।

(२६७) अवच्छलत्ते य दंसणे हाणी। २७११
धार्मिक जनों में परस्पर वात्सल्य भाव की कमी होने पर सम्यग्दर्शन की हानि होती है।

(२६८) अकसायं खु चरितं, कसायसहिओ न संजओ होइ। २७१२
अकषाय (वीतरागता) ही चारित्र है। अतः कषायभाव रखने वाला संयमी नहीं होता।

(२६९) जो पुण जतणारहिओ, गुणो वि दोसायते तस्स। ३१८१
जो यतनारहित है, उसके लिए गुण भी दोष बन जाते हैं।

(२७०) वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा। ३२५४
यह वसुंधरा वीरभोग्या है।

(२७१) ण सुत्तामत्थं अतिरिच्च जाती। ३६२७
सूत्र अर्थ (व्याख्या) को छोड़कर नहीं चलता है।

(२७२) ण भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सील हिरी य इत्थिए। ४११८
नारी का आभूषण शील और लज्जा है। बाह्य आभूषण उसकी शोभा नहीं बढ़ा सकते।

(२७३) बाला य बुड्ढा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा। ४३४२
बालक, वृद्ध और अपंग व्यक्ति, विशेष अनुकम्पा (दया) के पात्र होते हैं।

(२७४) न य मूल विभिन्नए घडे, जलमादीणि धलेइ कण्हुई । ४३६३
जिस घड़े की पेंदी में छेद हो गया हो, उसमें जल आदि कैसे टिक सकते है ?

(२७५) जहा तवस्सी धुणते तवेणं, कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता । ४४०१
जिस प्रकार तपस्वी तप के द्वारा कर्मों को धुन डालता है, वैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी ।

(२७६) तुल्लम्मि अवराधे, परिणामवसेण होति णाणत्तं । ४९७४
बाहर में समान अपराध होने पर भी अन्तर में परिणामों की तीव्रता व मन्दता सम्बन्धी तरतमता के कारण दोष की न्यूनाधिकता होती है।

(२७७) न उ सच्छंदंता सेया, लोए किमुत उत्तरे । बृह० भा० पीठिका ८६
स्वच्छंदता लौकिक जीवन में भी हितकर नहीं है, तो लोकोत्तर जीवन (साधक जीवन) में कैसे हितकर हो सकती है ?

व्यवहारभाष्य

(२७८) नवणीयतुल्लहियया साहू । ७।१६५
साधुजनों का हृदय नवनीत (मक्खन) के समान कोमल होता है।

(२७९) सव्वजगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरणं । ७।२१६
ज्ञान विश्व के समग्र रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है। ज्ञान से ही चारित्र (कर्तव्य) का बोध होता है।

(२८०) नाणंमि असंतंमि, चरित्तं वि न विज्जए । ७।२१७
ज्ञान नहीं है, तो चारित्र भी नहीं है।

निशीथभाष्य

(२८१) अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुग्गतो तु सो जम्हा । २२
सूत्रधर (शब्द पाठी) की अपेक्षा अर्थधर (सूत्र रहस्य का ज्ञाता) को प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि अर्थ साक्षात् तीर्थंकरों की वाणी से निःसृत है।

(२८२) णाणी ण विणा णाणं । ७५
ज्ञान के बिना कोई ज्ञानी नहीं हो सकता।

(२८३) धिती तु मोहस्स उवसमे होति । ८५
मोह का उपशम होने पर ही धृति होती है।

(२८४) णाणुज्जोया साहू । २२५। बृह० भा० ३४५३
साधक ज्ञान का प्रकाश लिए हुए जीवन यात्रा करता है।

(२८५) णेहरहितं तु फरुसं । २६०८
स्नेह से रहित वचन 'परुष—कठोर वचन' कहलाता है ।

(२८६) अलं विवाएण णे कतमुहे हिं । २६१३
कृतमुख (विद्वान) के साथ विवाद नहीं करना चाहिए ।

(२८७) आसललिअं वराओ, चाएति न गद्दभो काउं । २६२८
शिक्षित अश्व की क्रीड़ाएँ विचारा गर्दभ कैसे कर सकता है ?

(२८८) राग-द्दोस-विमुक्को सीयघरसमो य आयरिओ । २७६४
राग-द्वेष से रहित आचार्य शीतगृह (सब ऋतुओं में एक समान सुख प्रद भवन) के समान हैं ।

(२८९) जो जस्स उ पाओग्गो, सो तस्स तहिं तु दायव्वो ।
—नि० भा० ५२९१; बृ० भा० ३३७०
जो जिसके योग्य हो, उसे वही देना चाहिए ।

(२९०) जागरह ! णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुवति न सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो ॥
—नि० भा० ५३०३; बृ० भा० ३३८३
मनुष्यो ! सदा जागते रहो, जागने वाले की बुद्धि सदा वर्धमान रहती है । जो सोता है वह सुखी नहीं होता । जाग्रत रहने वाला ही सदा सुखी रहता है ।

(२९१) सुवइ य अजगर भूतो, सुयं पि से णासती अमयभूयं ।
होहिति गोणब्भूयो, णट्ठंमि सुये अमय भूये ॥
—नि० भा० ५३०५ बृह० भा० ३३८७
जो अजगर के समान सोया रहता है, उसका अमृत स्वरूप श्रुत (ज्ञान) नष्ट हो जाता है, और अमृतस्वरूप श्रुत के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति एक तरह से निरा बैल हो जाता है ।

आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य

(२९२) सव्वे अ चक्कजोही, सव्वे अहया सचक्केहिं । ४३
जितने भी चक्रयोधी (अश्वग्रीव, रावण आदि प्रतिवासुदेव) हुए हैं वे अपने ही चक्र से मारे गए हैं ।

(२९३) उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ । १४९
यतनापूर्वक साधना में यत्नशील रहने वाला आत्मा ही सामायिक है ।

ओघनिर्युक्तिभाष्य

(२९४) नत्थि छुहाए सरिसया वेयणा । २९०
संसार में भूख के समान कोई वेदना नहीं है ।

विशेषावश्यकभाष्य

(२९५) नाण-किरियाहिं मोक्खो। गा० ३
ज्ञान एवं क्रिया (आचार) से ही मुक्ति होती है।

(२९६) दव्वसुयं जो अणवउत्तो। १२९
जो श्रुत उपयोगशून्य है, वह सब द्रव्यश्रुत है।

(२९७) सामाइओवउत्तो जीवो सामाइयं सयं चेव। १५२९
सामायिक में उपयोग रखने वाला आत्मा स्वयं ही सामायिक हो जाता है।

(२९८) असुभो जो परिणामो सा हिंसा। १७६६
निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का अशुभ परिणाम ही हिंसा है।

चूर्णि साहित्य की सूक्तियाँ

आचारांगचूर्णि

(२९९) ण याणंति अप्पणो वि, किन्नु अण्णेसि। १।३।३
जो अपने को ही नहीं जानता, वह दूसरों को क्या जानेगा?

(३००) अप्पमत्तस्स णत्थि भयं, गच्छतो चिट्ठतो भुंजमाणस्स वा। १।३।४
अप्रमत्त (सदा सावधान) को चलते, खड़े होते, कहीं भी कोई भय नहीं है।

(३०१) विवेगो मोक्खो। १।७।१
वस्तुतः विवेक ही मोक्ष है।

(३०२) जइ वणवासमित्तेणं नाणी जाव तवस्सी भवति,
तेण सीहवग्घादयो वि। १।७।१
यदि कोई वन में रहने मात्र से ही ज्ञानी और तपस्वी हो जाता है, तो फिर सिंह, बाघ आदि भी ज्ञानी, तपस्वी हो सकते हैं।

(३०३) छुहा जाव सरीरं, ताव अत्थि। १।७।३
जब तक शरीर है तब तक भूख है।

सूत्रकृतांगचूर्णि

(३०४) आरंभपूर्वको परिग्रहः। १।२।२
परिग्रह आरम्भपूर्वक होता है।

(३०५) मणं न दूषयितव्यं। १।२।२
कर्म करो, किन्तु मन को दूषित न होने दो।

(३०६) समाधिनाम रागद्वेषपरित्यागः। १।२।२
रागद्वेष का त्याग ही समाधि है।

दशवैकालिकचूर्णि

(३०७) साहुणा सागरो इव गंभीरेण होयव्वं । १
साधु को सागर के समान गंभीर होना चाहिए ।

(३०८) मइलो पडो रंगिओ न सुन्दरं भवइ । ४
मलिन वस्त्र रंगने पर भी सुन्दर नहीं होता ।

(३०९) कोवाकुलचित्तो जं संतमवि भासति, तं मोसमेव भवति । ७
क्रोध से क्षुब्ध हुए व्यक्ति का सत्य भाषण भी असत्य ही है ।

उत्तराध्ययनचूर्णि

(३१०) न धर्मकथामन्तरेण दर्शनप्राप्तिरस्ति । १
धर्मकथा के बिना दर्शन (सम्यक्त्व) की उपलब्धि नहीं होती ।

(३११) सव्वणाणुत्तरं सुयणाणं । १
साधना की दृष्टि से श्रुतज्ञान सब ज्ञानों में श्रेष्ठ है ।

(३१२) परिणिव्वुतो णाम रागद्दोसविमुक्के । १०
राग और द्वेष से मुक्त होना ही परिनिर्वाण है ।

नंदीसूत्रचूर्णि

(३१३) विसुद्धभावत्तणतो य सुगंधं । २।१३
विशुद्ध भाव अर्थात् पवित्र विचार ही जीवन की सुगन्ध हैं ।

(३१४) विविहकुलुप्पण्णा साहवो कप्परुक्खा । २।१६
विविध कुल एवं जातियों में उत्पन्न हुए साधु पुरुष पृथ्वी के कल्पवृक्ष हैं ।

(३१५) भूतहितं ति अहिंसा । ५।३८
प्राणियों का हित अहिंसा है ।

(३१६) स्व-पर प्रत्यायकं सुतनाणं । ४४
स्व और पर का बोध कराने वाला ज्ञान—श्रुतज्ञान है ।

दशाश्रुतस्कंधचूर्णि

(३१७) संघयणाभावा उच्छाहो न भवति । ३
संहनन (शारीरिक शक्ति) क्षीण होने पर धर्म करने का उत्साह नहीं होता ।

निशीथचूर्णि

(३१८) विणओववेयस्स इह परलोगे वि विज्जाओ फलं पयच्छंति । १३
शास्त्र का अध्ययन उचित समय पर किया हुआ ही निर्जरा का हेतु है, अन्यथा वह हानिकर तथा कर्मबन्ध का कारण बन जाता है ।

(३१९) तपस्स मूलं धिती । ८४
तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है ।

(३२०) णिट्ठुरं णिण्हेहवयणं खिसा । मउय सिणेहवयणं उवालंभो ॥ २६३७
स्नेहरहित निष्ठुर वचन खिंसा (फटकार) है, स्नेहसिक्त मधुर वचन उपालंभ (उलाहना) है ।

(३२१) गुणकारित्तणातो ओमं भोत्तव्वं । २९५१
कम खाना गुणकारी है ।

(३२२) आवत्तीए जहा अप्पं रक्खंति ।
तहा अण्णोवि आवत्तीए रक्खियव्वो ॥ ५९४२
आपत्तिकाल में जैसे अपनी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरों की भी रक्षा करनी चाहिए ।

(३२३) पमायमूलो बंधो भवति । ६६८९
कर्मबन्ध का मूल प्रमाद है ।

दिगम्बर आगम ग्रन्थ

समयसार

(३२४) ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदावि एकट्ठो ॥ २७
व्यवहारनय से जीव (आत्मा) और देह एक प्रतीत होते हैं, किन्तु निश्चय दृष्टि से दोनों भिन्न हैं, कदापि एक नहीं हैं ।

(३२५) णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि, रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते, ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३०
जिस प्रकार नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के गुणों का वर्णन करने से शुद्धात्मस्वरूप केवलज्ञानी के गुणों का वर्णन नहीं हो सकता ।

(३२६) उवओग एव अहमिक्को । ३७
मैं (आत्मा) एक मात्र उपयोगमय—ज्ञानमय हूँ ।

(३२७) अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि । ९२
अज्ञानी आत्मा ही कर्मों का कर्ता होता है ।

(३२८) रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो । १५०
जीव, रागयुक्त होकर कर्म बाँधता है और विरक्त होकर कर्मों से मुक्त होता है ।

(३२९) पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फलं वज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेइ ॥ १६८
जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुनः वृन्त से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुनः वीतराग आत्मा को नहीं लग सकते।

(३३०) जह कणयमग्गितवियं पि, कणयभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो, ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥ १८४
जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि से तप्त होने पर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, वैसे ही ज्ञानी भी कर्मोदय के कारण उत्तप्त होने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते।

(३३१) जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं। १९३
सम्यग्दृष्टि आत्मा जो कुछ भी करता है, वह उसके कर्मों की निर्जरा के लिए ही होता है।

(३३२) ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि। २६५
कर्मबन्ध वस्तु से नहीं, राग और द्वेष के अध्यवसाय—संकल्प से होता है।

(३३३) आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च। २७७
मेरा अपना आत्मा ही ज्ञान (ज्ञानरूप) है, दर्शन है और चारित्र है।

(३३४) कह सो घिप्पइ अप्पा? पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा। २९६
यह आत्मा किस प्रकार जाना जा सकता है?
आत्मप्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञान रूप बुद्धि से ही जाना जा सकता है।

(३३५) जो ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि। ३०२
जो किसी प्रकार का अपराध नहीं करता, वह निर्भय होकर जनपद में भ्रमण कर सकता है। इसी प्रकार निरपराध—निर्दोष आत्मा (पाप नहीं करने वाला) भी सर्वत्र निर्भय होकर विचरता है।

प्रवचनसार

(३३६) चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥ १।७
चारित्र ही वास्तव में धर्म है, और जो धर्म है, वह समत्व है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध परिणमन ही समत्व है।

(३३७) कीरदि अज्झवसाणं, अहं ममेदं ति मोहादो। २।९१
मोह के कारण ही मैं और मेरे का विकल्प होता है।

(३३८) आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं परं वियाणादि । ३।३३
शास्त्रज्ञान से शून्य श्रमण न अपने को जान पाता है, न पर को।

(३३९) आगम चक्खू साहू, इंदिय चक्खूणि सव्वभूदाणि । ३।३४
अन्य सब प्राणी इन्द्रियों की आँख वाले हैं, किन्तु साधक आगम की आँख वाला है।

(३४०) जं अण्णाणी कम्मं खवेदि, भवसयसहस्स-कोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेणं ॥ ३।३८
अज्ञानी साधक बाल तप के द्वारा लाखों-करोड़ों जन्मों में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म, मन, वचन, काया को संयत रखने वाला ज्ञानी साधक एक श्वास मात्र में खपा देता है।

नियमसार

(३४१) जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स । १२३
जो अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसे परम समाधि की प्राप्ति होती है।

पंचास्तिकाय

(३४२) दव्वं सल्लक्खणयं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं । १०
द्रव्य का लक्षण सत् है और वह सदा उत्पाद, व्यय एवं ध्रुवत्व भाव से युक्त होता है।

(३४३) दव्वेण विणा न गुणा, गुणेहि दव्वं विणा न संभवदि । १३
द्रव्य के बिना गुण नहीं होते हैं और गुण के बिना द्रव्य नहीं होते।

(३४४) भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो । १५
भाव (सत्) का कभी नाश नहीं होता और अभाव (असत्) का कभी उत्पाद (जन्म) नहीं होता।

(३४५) चारित्तं समभावो । १०७
समभाव ही चारित्र है।

(३४६) सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावं ति हवदि जीवस्स । १३२
आत्मा का शुभ परिणाम (भाव) पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है।

दर्शनपाहुड

(३४७) दंसणमूलो धम्मो । २
धर्म का मूल दर्शन (सम्यक् श्रद्धा) है।

(३४८) मूलविणट्ठा ण सिज्झंति । १०
सम्यक्त्व रूप मूल के नष्ट हो जाने पर मोक्ष रूप फल की प्राप्ति नहीं होती ।

(३४९) सोवाणं पढम मोक्खस्स । २१
सम्यग्दर्शन (सम्यक् श्रद्धा) मोक्ष की पहली सीढ़ी है ।

(३५०) णाणं णरस्स सारो । ३१
ज्ञान मनुष्य जीवन का सार है ।

सूत्रपाहुड

(३५१) हेयाहेयं च तहा, जो जाणाइ सो हु सद्दिट्ठी । ५
जो हेय और उपादेय को जानता है, वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि है ।

बोधपाहुड

(३५२) जं देइ दिक्ख सिक्खा, कम्मक्खयकारेण सुद्धा । १६
आचार्य वह है—जो कर्म को क्षय करने वाली शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देता है ।

(३५३) धम्मो दयाविसुद्धो । २५
जिसमें दया की पवित्रता है, वही धर्म है ।

भावपाहुड

(३५४) भावरहिओ न सिज्झइ । ४
भाव (भावना) से शून्य मनुष्य कभी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता ।

(३५५) अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो। ३१
जो आत्मा, आत्मा मे लीन है, वही वस्तुतः सम्यग्दृष्टि है ।

मोक्षपाहुड

(३५६) दुक्खे णज्जइ अप्पा । ६५
आत्मा बड़ी कठिनता से जाना जाता है ।

□

परिशिष्ट

- पारिभाषिक शब्द-कोष
- ग्रन्थगत विशिष्ट शब्द सूची
- सन्दर्भ ग्रन्थ-विवरण

परिशिष्ट

- पारिभाषिक शब्द-कोष
- ग्रन्थगत विशिष्ट शब्द सूची
- सन्दर्भ ग्रन्थ-विवरण

पारिभाषिक शब्द कोश

(अ)

अकरणोपशमना—जैसे पर्वत पर प्रवाहित होने वाली सरिता के पाषाण में बिना किसी प्रकार के प्रयोग के स्वयमेव गोलाई आदि उत्पन्न हो जाती है वैसे संसारी जीवों की अधःप्रवृत्तकरण प्रभृति परिणामस्वरूप क्रिया विशेष के बिना ही केवल वेदना के अनुभव आदि से कर्मों का जो उपशमन—उदय परिणाम के बिना अवस्थान होता है वह अकरणोपशमना है।

अकर्मभूमि—असि-मषि आदि कर्मों से रहित भूमि अकर्मभूमि है।

अकषाय—जिस जीव के सम्पूर्ण कषायों का अभाव हो चुका है, वह अकषाय अथवा अकषायी है।

अकाम निर्जरा—अनिच्छापूर्वक दु:ख के सहने से जो कर्म निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है।

अकाल-मृत्यु—असमय में, बद्ध आयुस्थिति पूर्ण होने के पूर्व, ही जीवन का नाश होना।

अक्रियावादी—जो अवस्थान के अभाव का प्रसंग प्राप्त होने की संभावना के अवस्थान से रहित किसी भी अनवस्थित पदार्थ की क्रिया को स्वीकार नहीं करते वे अक्रियावादी हैं।

अक्षीणमहानस्—लाभान्तराय कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशमयुक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋद्धिधारी के भोजन करने के पश्चात् भोजनशाला में अवशेष भोजन चक्रवर्ती की समस्त सेना के द्वारा कर लिया जाय तो भी क्षीण नहीं होता, उतना ही बना रहता है, वह अक्षीणमहानस् ऋद्धि होती है।

अगति—गति नामकर्म का अभाव हो जाने से सिद्ध गति अगति कही जाती है।

अगारी—अगार का अर्थ घर है। आरम्भ और परिग्रह रूप घर से जो सहित हैं वह गृहस्थ अथवा अगारी है।

अगीतार्थ—जिसने छेदसूत्र का अध्ययन नही किया है, या अध्ययन करके भी जिसे विस्मृत हो गया है, ऐसा श्रमण अगीतार्थ है।

अगुरुलघु—गुरुता और लघुता का अभाव।

अगुरुलघु गुण—जीवादिक द्रव्यों की स्वरूप प्रतिष्ठा का कारण जो अगुरु-लघु

नामक स्वभाव है, उसके प्रतिसमय जो षट्स्थान पतित वृद्धि-हानि रूप, अन[illegible] अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उसका नाम अगुरु-लघु गुण है।

अघाति कर्म—जीव के प्रतिजीवी गुणों के घात करने वाले कर्म, उनसे [illegible] आत्मा को शरीर के कैद में रहना पड़ता है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र [illegible] अघाति कर्म हैं।

अङ्ग-प्रविष्ट—जिन शास्त्रों की रचना अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर और [illegible] की दृष्टि से गणधर करते हैं। जैसे आचारांग आदि।

अङ्गबाह्य—गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि आचार्यों द्वारा अल्पबुद्धि शि[illegible] के अनुग्रहार्थ की गई संक्षिप्त रचनाएं। जैसे—औपपातिक, राजप्रश्नीय आदि।

अचक्षु दर्शन—चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मन के द्वा[illegible] होने वाले अपने-अपने सामान्य धर्मों का आभास।

अचक्षु दर्शनावरण—अचक्षुदर्शन को आवरण करने वाला कर्म।

अचेलक—अल्प वस्त्रधारी या जिसके किसी प्रकार का वस्त्र नहीं है।

अचौर्य महाव्रत—किसी भी स्थान पर रखे हुए, भूले हुए, या गिरे हुए द्र[illegible] को ग्रहण करने की इच्छा न करना।

अजीव—जिसमें चेतना न पाई जाय।

अजीव क्रिया—अचेतन पुद्गलों के कर्म रूप में परिणत होने को अजीव क्रिया कहते हैं।

अज्ञान—मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान ही अज्ञान है।

अणु—जो प्रदेश मात्र से होने वाली स्पर्शादि पर्यायों के उत्पन्न करने में समर्थ है, ऐसे पुद्गल के अविभागी अंश को अणु कहा जाता है।

अणुव्रत—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन स्थूल पापों के परित्याग को अणुव्रत कहा गया है।

अतिचार—चारित्र सम्बन्धी स्खलनाओं का नाम अथवा व्रत का एकदेश से भंग होना, अतिचार है।

अतीन्द्रिय सुख—इन्द्रिय व मन की अपेक्षा न रखकर आत्म मात्र की अपेक्षा से जो निर्बाध सुख प्राप्त होता है, वह अतीन्द्रिय सुख है।

अद्धाकाल—चन्द्र, सूर्य आदि की क्रिया से परिलक्षित होकर जो समयादिक काल अढाई द्वीप में प्रवर्तमान है वह अद्धाकाल कहलाता है।

अद्धापल्य—उद्धार पल्य के प्रत्येक रोम खण्ड के सौ वर्षों के समयों से छेदित करके उनसे परिपूर्ण गड्ढे को अद्धापल्य कहा है।

अद्धापल्योपम—अद्धापल्य में से प्रति समय रोम खण्डों के निकालते-निकालते जितने काल में वह गड्ढा खाली हो वह अद्धापल्योपम है।

अद्धा समय—काल के अविभागी अंश को अद्धा समय कहते हैं।

अधर्म-द्रव्य—जो स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है।

अधःप्रवृत्तकरण—अधःप्रवृत्तकरण परिणाम वे हैं जो अधस्तन समयवर्ती परिणाम उपरितन समयवर्ती परिणामों के साथ कदाचित् समानता रखते हैं। उसका दूसरा नाम यथाप्रवृत्तकरण भी है। ये परिणाम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पाये जाते हैं।

अधःप्रवृत्तकरण विशुद्धि—प्रथम समय के योग्य अधःप्रवृत्त-परिणामों की अपेक्षा द्वितीय समय के योग्य परिणाम अनन्त गुणे विशुद्ध होते हैं। इनकी अपेक्षा तृतीय समय के योग्य परिणाम अनंत गुणे विशुद्ध होते हैं। इस तरह अन्तर्मुहूर्त के समयों के प्रमाण उन परिणामों में समयोत्तर क्रम से अनन्त-गुणी विशुद्धि समझना चाहिए।

अधिगम—जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं, ऐसे ज्ञान को अधिगम कहते हैं।

अधिगम सम्यग्दर्शन—परोपदेश से, जीवादि तत्त्वों के निश्चय से, जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह अधिगम सम्यग्दर्शन है।

अध्ययन—जो शुभ अध्यात्म (चित्त) को उत्पन्न करता है, वह अध्ययन है। अथवा जो निर्मल चित-वृत्ति को लाता है, उसका नाम अध्ययन है। अथवा जिसके द्वारा बोध, संयम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह अध्ययन है।

अनन्त—आय-रहित और निरन्तर व्यय-सहित होने पर भी जो राशि कभी समाप्त न हो अथवा जो राशि एकमात्र केवलज्ञान की ही विषय हो, वह अनन्त कहलाती है।

अनन्तकाय—जिन अनन्त जीवों का एक साधारण शरीर हो और जो अपने मूल शरीर से छिन्न-भिन्न होकर पुनः उग जाते हैं।

अनन्तवीर्य—वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर जो अप्रतिहत सामर्थ्य उत्पन्न होता है, वह अनन्तवीर्य है।

अनन्तानुबन्धी—जिसके उदय होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है, और यदि उत्पन्न हो चुका है तो नष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में अनन्त भवों की परम्परा को चालू रखने वाली कषायों को अनन्तानुबन्धी कहा है।

अनर्थक्रिया—बिना प्रयोजन की जाने वाली क्रिया।

अनर्थदण्डविरति—जिन कार्यों के करने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हो, केवल पाप का ही संचय हो ऐसे पापोपदेश को छोड़ना या त्याग करना अनर्थदण्डविरति कहलाता है।

अनाचार—विषयों में आसक्ति को अनाचार कहा जाता है।

अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व—सभी दर्शन श्रेष्ठ हैं, इस प्रकार की बुद्धि से ही सबको समान-मानना अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व है।

अनार्य—जिनका आचरण विपरीत है, निन्द्य है, वे अनार्य हैं।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—जिस गुणस्थान में विवक्षित एक समय के अन्दर वर्तमान सर्व जीवों के परिणाम परस्पर में भिन्न न होकर समान हों, वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है।

अनुकम्पा—तृषित, बुभुक्षित प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना और मन में उसके उद्धार का चिन्तन करना, अनुकम्पा है।

अनुप्रेक्षा—शरीर आदि के स्वभाव का चिन्तन करना अथवा पठित अर्थ का मन से अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

अनुभाग—कषायजनित परिणामों के अनुसार कर्मों में जो शुभ-अशुभ रस प्रादुर्भूत होता है, वह अनुभाग है।

अनुभागबन्ध—जैसे मोदक में स्निग्ध व मधुर आदि रस एक गुणे, दुगुने आदि रूप से रहता है उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ या अशुभ, तीव्र या मन्द आदि रस होता है वह अनुभागबन्ध है।

अनुमान—साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान है।

अनुयोग—अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है; अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है।

अनुश्रेणि—लोक के मध्य भाग से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में जो आकाश प्रदेशों की पंक्ति अनुक्रम से अवस्थित है, वह अनुश्रेणि है।

अनुसारी—गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रन्थ के आदि, मध्य या अन्त के एक बीजपद को सुनकर उसके उपरिवर्ती समस्त ग्रन्थ को जान लेना अनुसारी कहलाता है।

अनेकान्त—एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन अनेकान्त है।

अन्तकृत्—जो अष्ट कर्मों को नष्ट कर, सिद्ध पद प्राप्त करते हैं, वे अन्तकृत् कहलाते हैं।

अन्तकृद्दशाङ्ग—प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले दस-दस अन्तकृत् केवलियों का वर्णन जिसमें किया गया है, वह अन्तकृद्दशांग है।

अन्तरकरण—विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितियों के निषेकों के परिणामविशेष द्वारा अभाव करना अन्तरकरण है।

अन्तरङ्ग क्रिया—स्वसमय और परसमय के जानने रूप ज्ञान क्रिया को अन्तरंग क्रिया कहते हैं।

अन्तरात्मा—जो आठ मदों से रहित होकर देह और जीव के भेद को जानते हैं, वे अन्तरात्मा हैं। अथवा सर्व अवस्था में जो ज्ञानादि उपयोगवान

शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में जिन्हें आत्मबुद्धि प्रादुर्भूत हुई है, वे अन्तरात्मा कहलाते हैं। ये चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीव होते हैं।

अन्तराय कर्म—जो कर्म दाता और देय आदि के बीच में आता है–दान आदि देने में रुकावट डालता है—वह अन्तराय कर्म है।

अन्तरिक्ष-महानिमित्त—आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारागण के उदय-अस्त आदि अवस्था विशेष को निहारकर भूत-भविष्यत्-काल सम्बन्धी फल के विभाग को दिखलाना, वह अन्तरिक्ष-महानिमित्त कहा जाता है।

अन्तर्मुहूर्त—एक समय अधिक आवली से लगाकर एक समय कम मुहूर्त तक के काल को अन्तर्मुहूर्त कहा गया है।

अन्तःकरण—गुण-दोष के विचार एवं स्मरण आदि व्यापारों में जो बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है, जो चक्षु आदि इन्द्रियों के समान बाह्य में दृष्टि-गोचर भी नहीं होता है, ऐसे अभ्यन्तर करण (मन) को अन्तःकरण कहते हैं।

अन्तःशल्य—जिसके अन्तःकरण में अपराध रूपी कांटा चुभ रहा है, किन्तु लज्जा व अभिमान आदि के कारण जो दोष की आलोचना नहीं करता है, वह साधु अन्तःशल्य है।

अन्त्यसूक्ष्म—परमाणुगत सूक्ष्मता अन्त्यसूक्ष्म है।

अन्त्यस्थूल—जगद्व्यापी महास्कन्ध-गत स्थूलता अन्त्यस्थूल है।

अन्न-पान निरोध—मानव व पशु आदि प्राणियों को भोजन के समय पर उन्हें भोजन-पान न देना, अन्नपान निरोध नामक अतिचार है।

अन्यत्व भावना—जीव के शरीर से पृथक होने पर उस शरीर से सम्बद्ध पुत्र-मित्र-कलत्र आदि उससे सर्वथा भिन्न रहने वाले हैं, जीव का उनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार की भावना अन्यत्व भावना है।

अन्यथानुपपत्ति—साध्य के अभाव में हेतु के घटित न होने को अन्यथानुपपत्ति कहा है।

अन्ययोगव्यवच्छेद—विशेष्य के साथ प्रयुक्त एवकार अन्ययोग व्यवच्छेद है। जैसे—पार्थ (अर्जुन) ही धनुर्धर है।

अन्यलिङ्गसिद्ध—परिव्राजक आदि अन्य लिंगों से सिद्ध होने वाले जीवों को अन्यलिंगसिद्ध कहा जाता है।

अन्योन्यभाव—गाय आदि किसी एक वस्तु में अन्य अश्व आदि का अभाव अन्योन्य-भाव है।

अन्वय—अवस्था, देश और काल के भेद होते हुए भी जो कथंचित् तादात्म्य की अवस्था देखी जाती है, वह व्यवहार के लिए अन्वय माना जाता है।

अन्वय दृष्टान्त—जिस स्थान पर साध्य से व्याप्त साधन दिखाया जाए वह अन्वय दृष्टान्त है।

अन्वयव्यतिरेकी—जो हेतु पक्षधर्मत्व, सपक्ष सत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व; इन पाँचों से युक्त है वह अन्वयव्यतिरेकी है।

अपकर्षण—कर्म प्रदेशों की स्थितियों के हीन करने का नाम अपकर्षण है।

अपध्यान—राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बन्धन, छेदन [illegible] पापकारी विचार करना अपध्यान है।

अपरविदेह—मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर जो विदेह क्षेत्र का आधा भाग अवस्थित है, वह अपर विदेह है।

अपरिगृहीता—जो पतिविहीन स्त्री गणिका या पुंश्चलि रूप से परपुरुषों के सम्पर्क में आती हो, वह अपरिगृहीता कही जाती है।

अपरिग्रह—मोह के उदय से 'यह मेरा है', इस प्रकार की ममत्व बुद्धि परिग्रह है, और परिग्रह से निवृत्त हो जाना अपरिग्रह है।

अपर्याप्त—अपर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त जो जीव है, वह अपर्याप्त है और पर्याप्तियों की अपूर्णता या उनकी अर्धपूर्णता का नाम अपर्याप्ति है।

अपवर्ग—जहाँ जन्म, जरा, मरण आदि दोषों का अत्यन्त विनाश हो जाता है, ऐसे मोक्ष का नाम अपवर्ग है।

अपवर्तना—बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय विशेष से कमी कर देना।

अपवर्तनाकरण—जिस वीर्य विशेष से पहले बँधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, वह अपवर्तनाकरण है।

अपवर्तनीय आयु—बाह्य निमित्त से जो आयु कम हो जाती है वह अपवर्तनीय है। इस आयुच्छेद को अकाल मरण भी कहा जाता है।

अपूर्वकरण—वह परिणाम जिसके द्वारा जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़कर लाँघ जाता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान—जिस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम कदाचित् सदृश और कदाचित् विसदृश होते हैं, उस भिन्न समयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्त पूर्व परिणामों के प्राप्त करने से अपूर्वकरण गुणस्थान कहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जिस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और स्थितिबन्ध आदि के विधान अपूर्व कार्य होते हैं, वह अपूर्वकरण गुणस्थान है।

अप्कायिक जीव—जल ही जिसका शरीर हो वह अप्कायिक जीव कहलाते हैं।

अप्रतिपाति अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक टिका रहता है और जो अलोक के एक प्रदेश को भी देखता है, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान है।

अप्रत्याख्यान—जिस कर्म [illegible] अल्प प्रत्याख्यान भी न हो सके।

अप्रशस्त विहायोगति—जिस कर्म के उदय से ऊँट, गर्दभ, शृगाल आदि के सदृश, निन्द्य विचार पैदा हों वह अप्रशस्त विहायोगति है।

अबाधाकाल—बँधने के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नहीं पहुँचाता—उदय में नहीं आता है—उतना समय उसका अबाधाकाल कहलाता है।

अभयदान—मरण आदि के भय से ग्रस्त जीवों की रक्षा करना।

अभव्य—जो सम्यग्दर्शन आदि पर्याय को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

अभिगृहीत—दूसरे के उपदेश से ग्रहण किये गये मिथ्यात्व को अभिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

अमनस्क—द्रव्य-भाव स्वरूप मन से रहित जीवों को अमनस्क कहते हैं।

अमूर्तत्व—मूर्तता के अभाव रूप गुण का नाम अमूर्तत्व है।

अयोगिकेवली—जो शुक्ल-ध्यान रूप अग्नि से घातिया कर्मों को नष्ट करके योग से रहित हो जाते हैं, वे अयोगकेवली या अयोगिकेवली हैं।

अरतिरति—अरति मोहनीय के उदय से होने वाली चित्त के उद्वेग रूप रति के फलस्वरूप जो विषयों में मन का अनुराग होता है, वह अरतिरति है।

अरूपी—जो शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित हैं, वे अरूपी हैं।

अर्थावग्रह—व्यंजनावग्रह के अन्तिम समय में गृहीत शब्दादि अर्थ के अवग्रहण का नाम अर्थावग्रह है।

अर्धमागधी भाषा—जो भाषा आधे मगध में बोली जाती थी अथवा जो अठारह देशी भाषाओं में नियत थी, उसका नाम अर्धमागधी है।

अलोक—लोक के बाहर जितना भी अनन्त आकाश है, वह सब अलोकाकाश अथवा अलोक कहलाता है।

अवग्रह—पदार्थ और उसे विषय करने वाली इन्द्रियों का योग्य देश में संयोग होने के अनन्तर उसका जो सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन होता है, उसके अनन्तर वस्तु का जो प्रथम बोध होता है, वह अवग्रह है।

अवसन्न—सामाचारी के विषय में प्रमादयुक्त श्रमण अवसन्न कहलाता है।

अवसर्पिणी—जिस काल में जीवों के अनुभव, आयु, प्रमाण और शरीरादि क्रम से घटते जाते हैं, वह अवसर्पिणी काल है।

अवाय—भाषादि विशेष के ज्ञान से यथार्थ रूप में जानना, अवाय है। जैसे—यह दक्षिण दिशा ही है। यह युवक है।

अविग्रह गति—विग्रह का अर्थ रुकावट या वक्रता है। जिससे जीव की गति वक्र या मोड़ रहित होती है वह अविग्रह गति है। एक समय वाली गति अविग्रह गति है।

अविपाक निर्जरा—जिस कर्म का उदय संप्रति प्राप्त नहीं हुआ है उसे तप-

अन्वयव्यतिरेकी—जो हेतु पक्षधर्मत्व, सपक्ष सत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित-अविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व; इन पाँचों से युक्त है वह अन्वयव्यतिरेकी है।

अपकर्षण—कर्म प्रदेशों की स्थितियों के हीन करने का नाम अपकर्षण है।

अपध्यान—राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बन्धन, छेदन एवं पापकारी विचार करना अपध्यान है।

अपरविदेह—मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर जो विदेह क्षेत्र का आधा भाग अवस्थित है, वह अपर विदेह है।

अपरिगृहीता—जो पतिविहीन स्त्री गणिका या पुम्पचूलि रूप से परपुरुषों के सम्पर्क में आती हो, वह अपरिगृहीता कही जाती है।

अपरिग्रह—मोह के उदय से 'यह मेरा है', इस प्रकार की ममत्व बुद्धि परिग्रह है, और परिग्रह से निवर्त हो जाना अपरिग्रह है।

अपर्याप्ति—अपर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त जो जीव है, वह अपर्याप्त है और पर्याप्तियों की अपूर्णता या उनकी अर्धपूर्णता का नाम अपर्याप्ति है।

अपवर्ग—जहाँ जन्म, जरा, मरण आदि दोषों का अत्यन्त विनाश हो जाता है, ऐसे मोक्ष का नाम अपवर्ग है।

अपवर्तना—बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय क्षेत्र से कमी कर देना।

अपवर्तनाकरण—जिस वीर्य विशेष से पहले बँधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, वह अपवर्तनाकरण है।

अपवर्तनीय आयु—बाह्य निमित्त से जो आयु कम हो जाती है वह अपवर्तनीय है। इस आयुच्छेद को अकाल मरण भी कहा जाता है।

अपूर्वकरण—वह परिणाम जिसके द्वारा जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़कर लाँघ जाता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान—जिस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम कदाचित् सदृश और कदाचित् विसदृश होते हैं, उसे भिन्न समयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्त पूर्व परिणामों के प्राप्त करने से अपूर्वकरण गुणस्थान कहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जिस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और स्थितिबन्ध आदि के निवर्तक अपूर्व कार्य होते हैं, वह अपूर्वकरण गुणस्थान है।

अपकायिक जीव—जल ही जिनका शरीर हो वह अपकायिक जीव कहलाते हैं।

अप्रतिपाति अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थिर रहता है और जो अलोक के एक प्रदेश को भी देखता है, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान है।

अप्रत्याख्यान—जिस कर्म के उदय से अल्प प्रत्याख्यान भी न हो सके।

अप्रमत्तसंयत—सर्व प्रकार के प्रमादों से रहित, और व्रत, गुण, शील से युक्त, सद्ध्यान में लीन, ऐसे श्रमण अप्रमत्तसंयत हैं।

अप्रशस्त विहायोगति—जिस कर्म के उदय से ऊँट, गर्दभ, शृगाल आदि के सदृश, निन्द्य विचार पैदा हों वह अप्रशस्त विहायोगति है।

अबाधाकाल—बँधने के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नहीं पहुँचाता—उदय में नहीं आता है—उतना समय उसका अबाधाकाल कहलाता है।

अभयदान—मरण आदि के भय से ग्रस्त जीवों की रक्षा करना।

अभव्य—जो सम्यग्दर्शन आदि पर्याय को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में जिसमे मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

अभिगृहीत—दूसरे के उपदेश से ग्रहण किये गये मिथ्यात्व को अभिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

अमनस्क—द्रव्य-भाव स्वरूप मन से रहित जीवों को अमनस्क कहते हैं।

अमूर्तत्व—मूर्तता के अभाव रूप गुण का नाम अमूर्तत्व है।

अयोगिकेवली—जो शुक्ल-ध्यान रूप अग्नि से घातिया कर्मों को नष्ट करके योग से रहित हो जाते हैं, वे अयोगकेवली या अयोगिकेवली हैं।

अरतिरति—अरति मोहनीय के उदय से होने वाली चित्त के उद्वेग रूप रति के फलस्वरूप जो विषयों में मन का अनुराग होता है, वह अरतिरति है।

अरूपी—जो शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित हैं, वे अरूपी हैं।

अर्थावग्रह—व्यंजनावग्रह के अन्तिम समय में गृहीत शब्दादि अर्थ के अवग्रहण का नाम अर्थावग्रह है।

अर्धमागधी भाषा—जो भाषा आधे मगध मे बोली जाती थी अथवा जो अठारह देशी भाषाओं में नियत थी, उसका नाम अर्धमागधी है।

अलोक—लोक के बाहर जितना भी अनन्त आकाश है, वह सब अलोकाकाश अथवा अलोक कहलाता है।

अवग्रह—पदार्थ और उसे विषय करने वाली इन्द्रियों का योग्य देश में संयोग होने के अनन्तर उसका जो सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन होता है, उसके अनन्तर वस्तु का जो प्रथम बोध होता है, वह अवग्रह है।

अवसन्न—सामाचारी के विषय में प्रमादयुक्त श्रमण अवसन्न कहलाता है।

अवसर्पिणी—जिस काल में जीवों के अनुभव, आयु, प्रमाण और शरीरादि क्रम से घटते जाते हैं, वह अवसर्पिणी काल है।

अवाय—भाषादि विशेष के ज्ञान से यथार्थ रूप में जानना, अवाय है। जैसे—यह दक्षिण दिशा ही है। यह युवक है।

अविग्रह गति—विग्रह का अर्थ रुकावट या वक्रता है। जिससे जीव की गति वक्र या मोड़ रहित होती है वह अविग्रह गति है। एक समय वाली गति अविग्रह गति है।

अविपाक निर्जरा—जिस कर्म का उदय संप्रति प्राप्त नही हुआ है उसे तप-

श्चरण आदि रूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में प्रवेश कराके आम्र आदि फलों के पाक के सदृश वेदन करना अविपाक निर्जरा है।

अविरति—हिंसादि पापों से निवृत्त होने का नाम विरति है, और इस प्रकार की विरति का अभाव अविरति है।

अव्याबाध सुख—जो अनुपम, अपरिमित, अविनश्वर, कर्ममल से रहित जन्म, जरा, रोग, भय आदि की बाधा से रहित सुख है वह अव्याबाध है।

अश्रुतनिश्रित—बिना शास्त्राभ्यास के स्वाभाविक विशिष्ट क्षयोपशम के वश जो औत्पत्तिकी, वैनयिकी आदि चार बुद्धि से विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अश्रुतनिश्रित आभिनिबोधिक मतिज्ञान है।

असत्—उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य स्वरूप से विपरीत सत् असत् है।

असंज्ञी—जो जीव मन के अभाव के कारण शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि ग्रहण न कर सके, वह असंज्ञी है।

असंयम—षट्काय के जीवों का घात करने एवं इन्द्रिय व मन को नियन्त्रित न रखने का नाम असंयम है।

असातावेदनीय—जिस कर्म का वेदन-अनुभवन परिताप के साथ किया जाता है, वह असातावेदनीय है।

असुर—जिनका स्वभाव हिंसादि प्रधान होता है।

अस्तिकाय—अनेक प्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं।

(आ)

आकाश—जो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और सभी जीवों को स्थान देता है, वह आकाश है।

आगम—पूर्वापरविरोधादि दोषों से रहित, शुद्ध, आप्त के वचन को आगम कहते हैं।

आचार—जिसमें श्रमणों के आचार, भिक्षा विधि, विनय, विनय फल, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण, करण, संयमयात्रा आदि का कथन किया गया है, उसका नाम आचार है।

आज्ञाव्यवहार—देशान्तर-स्थित गुरु को अपने दोषों की आलोचना कर लेने के लिए किसी अगीतार्थ के द्वारा आगम भाषा में पत्र लिखकर भेजने एवं गुरु के द्वारा भी उसी प्रकार गूढ़ पदों में ही निश्चित अर्थ के भेजने को आज्ञाव्यवहार कहा जाता है।

आतप—सूर्य आदि के निमित्त से जो उष्ण प्रकाश होता है, वह आतप है।

आत्म-सत्य—मन की विक्षेप-रहित अवस्था का नाम आत्म-सत्य है।

आत्म-प्रवाद—आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्म एवं षट्जीवनिकायों के प्रतिपादन करने वाले पूर्व का नाम आत्म-प्रवाद है।

आत्मांगुल—भरत-ऐरवत क्षेत्रों में समुत्पन्न विभिन्न कालवर्ती मानवों के अंगुल को, उस-उस समय के अंगुल प्रमाण को आत्मांगुल कहा जाता है। यह प्रत्येक व्यक्ति का अपना अंगुल होता है।

आयम्बिल—जिसमें विगय, घृत, दूध, दही, तेल और मिष्ठान्न त्यागकर केवल दिन में एक बार अन्न खाया जाय और गरम पानी पीया जाय वह आयम्बिल है।

आभिग्रहिक—यही दर्शन ठीक है, अन्य कोई भी दर्शन ठीक नहीं है; इस प्रकार के कदाग्रह से निर्मित मिथ्यात्व का नाम आभिग्रहिक है।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने पक्ष को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिए दुर्निविशिक (दुराग्रह करना) करना।

आयुकर्म—नरक आदि गति को प्राप्त कराने वाले कर्म को आयु कर्म कहते हैं।

आरम्भ—जीवों को कष्ट पहुँचाने वाली जो प्रवृत्ति है, वह आरम्भ है।

आरम्भिकी क्रिया—पृथ्वीकाय आदि जीवों के संहार रूप आरम्भ ही जिस क्रिया का रूप हो, वह आरम्भिकी क्रिया है।

आराधक—जो पाँच इन्द्रियों को अपने अधीन रखता है; मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में पूर्ण सावधान है; तप, नियम व संयम मे जो सतत संलग्न है, वह आराधक कहलाता है।

आराम—विविध जाति के पुष्पों से सुशोभित उपवन को आराम कहते हैं।

आर्जव धर्म—माया का परित्याग कर निर्मल अन्तःकरण से प्रवृत्ति करना आर्जव धर्म है।

आर्त-ध्यान—अनिष्ट का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए; इष्ट का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए; पीड़ा के होने पर उसके परिहार के लिए एवं आगामी काल में सुख की प्राप्ति के लिए पुनः-पुनः चिन्तवन करना; आर्तध्यान कहा जाता है।

आलम्बन—सम्पूर्ण लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा है। ध्याता श्रमण जिस किसी भी वस्तु को आधार बनाकर मन से चिन्तन करता है, वही वस्तु उसके लिए ध्यान का आलम्बन बन जाती है।

आलोचना—गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट कर देना।

आवश्यक—जो अवश्य ही करने योग्य है, वह आवश्यक है।

आवीचिमरण—'वीचि' नाम तरंग का है। तरंग के समान जो निरन्तर आयुकर्म के निषेकों का प्रतिक्षण क्रम से उदय होता है उसके अनुभवन को आवीचि-मरण कहते हैं।

आसेवनाकुशील—संयम की विपरीत आराधना या असंयम का सेवन करने वाले श्रमण को आसेवनाकुशील कहते हैं।

उपपात—जिस जन्म का कारण उपपात क्षेत्र मात्र होता है उसे उपपात जन्म कहते हैं। यह जन्म वस्त्र विशेष के ऊपर और देवदूष्य के नीचे वैक्रियिक शरीर के योग्य द्रव्य के ग्रहण से होता है।

उपयोग—बाह्य और अभ्यन्तर कारण के वश जो चेतनता का अनुसरण करने वाला परिणाम उत्पन्न होता है, वह उपयोग है।

उपशम—आत्मा मे कारणवश कर्म के फल देने की शक्ति के प्रगट न होने को उपशम कहते हैं।

उपशमसम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय के उपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

उपशान्तकषाय—सम्पूर्ण मोहकर्म का उपशम करने वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव को उपशान्तकषाय कहते हैं।

उपासकदशा—जिस अंग में श्रमणोपासकों के अणुव्रत, गुणव्रत, पौषध, उपवास आदि की विधि, प्रतिमा की चर्चा हो।

उपोद्घात—जिसका प्रयोजन उपक्रम से उद्दिष्ट वस्तु का प्रबोध कराना होता है, वह उपोद्घात है।

(ऊ)

ऊर्ध्वलोक—मध्य लोक के ऊपर जो खड़े किये हुए मृदंग के समान लोक है वह ऊर्ध्वलोक है।

(ऋ)

ऋजुता—कपट से रहित मन, वचन, काय की सरल प्रवृत्ति ऋजुता कहलाती है।

ऋजुमति—पर के मन में स्थित मन, वचन, काय से किये गये अर्थ के ज्ञान से निर्वर्तित सरल बुद्धि ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान है।

ऋजुसूत्र—तीनों कालों के पूर्वापर विषयों को छोड़कर जो केवल वर्तमान कालभावी विषय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्रनय है।

(ओ)

ओज आहार—जन्म लेने के समय जो सर्वप्रथम आहार ग्रहण किया जाता है, वह ओज आहार है।

(औ)

औदयिक भाव—कर्म के उदय से उत्पन्न भाव औदयिक भाव है।

औदारिक मिश्र—प्रारम्भ किया हुआ औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक वह कार्मण शरीर के साथ औदारिक मिश्र कहलाता है।

औदारिक शरीर—उदार का अर्थ स्थूल द्रव्य है। जो शरीर स्थूल द्रव्य से निर्मित होता है वह औदारिक है।

औनोदर्य—प्रमाण प्राप्त आहार में से कम करते हुए आहार ग्रहण करना।

औपशमिक सम्यक्त्व—मोहनीयकर्म की सात प्रकृतियों के उपशम से होने वाले सम्यक्त्व को औपशमिक सम्यक्त्व कहा गया है।

(क)

कथा—तप व संयम गुणों के धारक श्रमण जो समस्त प्राणियों के हितार्थ जिन पवित्र आख्यानों आदि का निरूपण करते हैं, वे कथा हैं।

कन्दर्प—राग के आधिक्य से हास्य मिश्रित अशिष्ट वचनों को बोलना।

कापोतलेश्या—मत्सर भाव रखना, चुगली करना, स्वप्रशंसा, परनिन्दा, निराशा के सागर में डुबकी लगाना आदि कापोतलेश्या के लक्षण हैं।

करण—जीव की जो विशिष्ट शक्ति कर्मबन्धादि के परिणमन करने में समर्थ होती है; अथवा जीव का परिणामविशेष करण है।

करणानुयोग—लोक-अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चार गतियों के स्वरूप को स्पष्ट दिखलाने वाले ज्ञान को करणानुयोग कहा जाता है।

करुणा—दूसरे जीवों के दु:खों को दूर करने की इच्छा करुणा है।

कर्म—मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से हुई जीव की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट एवं सम्बद्ध तथा योग्य पुद्गल परमाणु।

कषाय—आत्म-गुणों को कसे, नष्ट करे, या जिसके द्वारा जन्म-मरण रूप संसार की प्राप्ति हो; अथवा जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यात चारित्र को न होने दे, वह कषाय है। कषायमोहनीय कर्म के उदयजन्य संसार वृद्धि के कारण रूप मानसिक विकार कषाय हैं। दूसरे शब्दों में समभाव की मर्यादा को तोड़ना, चारित्रमोहनीय के उदय से क्षमा, विनय, सन्तोष आदि आत्मिक गुणों को प्रगट न होने देना कषाय है।

कषायकुशील—अन्य कषायों के उदय पर विजय पाकर भी जो केवल संज्वलन कषाय के वशीभूत होते हैं, वे कषायकुशील हैं।

कषाय समुद्घात—कषाय की तीव्रता से जीव प्रदेश जो शरीर से तिगुने फैल जाते हैं, वह कषाय समुद्घात है।

कषायसंल्लेखना—परिणामों की विशुद्धि का नाम कषायसंल्लेखना है जिसमें क्रोधादि कषायों को कृश किया जाता है।

काम-राग—विषयों के साधनभूत अभीप्सित वस्तुओं में राग होना काम-राग है।

काय—जिसकी रचना एवं वृद्धि औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्‌गलों के स्कन्ध से होती है अथवा जो नामकर्म के उदय से निष्पन्न होता है अथवा जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय विशेष।

काय-क्लेश—कायोत्सर्ग, विविध प्रकार के आसन आदि से शरीर को कष्ट पहुँचाना।

काय-गुप्ति—शयन, आसन, आदान-निक्षेप, स्थान और गमन आदि क्रियाओं के करते समय शरीर की प्रवृत्ति को नियमित रखना, सावधानीपूर्वक उन कार्यों को करना, कायगुप्ति है।

काय-योग—वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के सद्‌भाव में औदारिक एवं औदारिक-मिश्र आदि सात प्रकार की वर्गणाओं में से किसी एक का आलम्बन लेकर जो आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, वह काय-योग है।

काय-स्थिति—एक काय को अर्थात् औदारिक आदि शरीर को न छोड़कर उसके रहने तक विविध भवों को ग्रहण करते हुए जितना काल व्यतीत होता है, वह काय-स्थिति है।

कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का परित्याग कर आत्मस्थ होना अथवा जिनेश्वर देवों के गुणों का मन में उत्कीर्तन करना।

कार्मण—जो सभी शरीरों की उत्पत्ति का बीजभूत शरीर है—उनका कारण है—वह कार्मण शरीर है।

कार्मण काययोग—सब शरीरों के बीजभूत शरीर को कार्मण शरीर कहा है। मन, वचन एवं काय वर्गणाओं के निमित्तभूत आत्म-प्रदेश परिस्पन्द का नाम योग है। कार्मण शरीर के द्वारा जो योग किया जाता है वह कार्मण काययोग है।

काल—जो पंच वर्ण, पंच रस, दो गंध व अष्ट स्पर्शों से रहित, छह प्रकार की हानि-वृद्धि स्वरूप, अगुरु-लघु गुण से संयुक्त होकर वर्तना—स्वयं परिणमते हुए द्रव्यों के परिणमन में सहकारिता—लक्षण वाला है, वह काल है।

कालवाद—काल ही सबको उत्पन्न करता है, काल ही सबका विनाश करता है और प्रसुप्त प्राणियों के भीतर भी जाग्रत रहता है, उसके साथ कोई भी वंचना नहीं कर सकता, इस प्रकार काल को महत्त्व देना कालवाद है।

काल-संस्थान—काल का क्षेत्र मानव-लोक है। वही काल-संस्थान है, अर्थात् आकार जानना चाहिए, क्योंकि सूर्य का संचार मानव-लोक के अतिरिक्त कहीं नहीं है, अतः उसे उपचार से काल-संस्थान कहा है।

कालुष्य—कषायों से उत्पन्न क्षोभ कालुष्य है।

कांक्षा—इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी विषयों की आकांक्षा, कांक्षा है। यह सम्यग्दर्शन का अतिचार है।

किल्विष—जो देव अन्त्यवासियो के समान होते हैं, वे किल्विष हैं। किल्विष नाम पाप का है। पाप से युक्त देव किल्विषिक कहलाते हैं।

कुधर्म—मिथ्यादृष्टियों से प्ररूपित जिसमें हिंसादि पापों की मलिनता होती है, वह धर्म नही है, कुधर्म है।

कुल—दीक्षा प्रदान करने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा। अथवा पिता की वंश-शुद्धि को कुल कहा है।

कुलकर—कर्मभूमि के प्रारम्भ में जो कुलों की व्यवस्था करने में दक्ष होते हैं, वे कुलकर हैं। भगवान ऋषभ के पिता नाभिराय कुलकर थे।

कूटलेख—बनावटी या जाली लेख लिखना या मोहर आदि का अंकन करना कूटलेख है।

कूटसाक्षिक—रिश्वत लेकर या मात्सर्य आदि के वश होकर असत्य भाषण करना कि मैं इस विषय में साक्षी हूँ।

कृत-युग्म—चार का भाग देने पर जिस संख्या में चार अवस्थित रहें, अर्थात् चार से जो अपहृत हो जाती है, शेष कुछ भी नहीं रहता, वह कृत-युग्म राशि है।

कृत-युग्म कल्योज—जिस राशि को चार से भाजित करने पर एक शेष रहे और अपहार के समय कृत-युग्म हों, वह कृत-युग्म कल्योज राशि है। जैसे १७÷४=४ शेष १।

कृतयुग्मकृतयुग्म राशि—जिस राशि को चार भागहार से भाजित करने पर चार शेष रहें और जिसे अपहार के समय कृत-युग्म हों, वह कृतयुग्मकृतयुग्म राशि कहलाती है। जैसे १६÷४=४।

कृतयुग्म त्र्योज—जिस राशि को चार भागहार से भाजित करने पर तीन शेष रहें और अपहार के समय कृतयुग्म हो, वह कृतयुग्म त्र्योज राशि कहलाती है। जैसे १६÷४=४, शेष ३।

कृतयुग्म द्वापरयुग्म—जिस राशि को चार भागहार से भाजित करने पर दो शेष रहें और अपहार के समय कृतयुग्म हों, वह कृतयुग्म द्वापरयुग्म राशि कहलाती है।

कृष्णलेश्या—निर्दयी, क्रूर स्वभावी, मद्य-मांस एवं युद्ध आदि में आसक्त, जिसके परिणाम कौवे के समान व खंजन पक्षी के समान काले होते हैं।

केवलज्ञान—जो ज्ञान केवल, मतिज्ञानादि से रहित, परिपूर्ण, असाधारण, अन्य की अपेक्षा से रहित, विशुद्ध, समस्त पदार्थों का प्रकाशक, लोक व अलोक का ज्ञाता है, वह केवलज्ञान है।

केवलदर्शन—तीनों कालों के विषयभूत, अनन्त पर्यायों से संयुक्त, निज के

स्वरूप का जो संवेदन होता है, वह केवलदर्शन है; अथवा आवरण का पूर्णतया क्षय हो जाने पर जो बिना किसी अन्य की सहायता से समस्त मूर्त, अमूर्त द्रव्यों को सामान्य से जानता है, वह केवलदर्शन है।

केवलिसमुद्घात—आयु कर्म की स्थिति अल्प और वेदनीय की स्थिति अधिक होने पर उसे अनाभोगपूर्वक अर्थात् बिना उपयोग के आयु के समान करने के लिए केवली भगवान के आत्म-प्रदेश मूल शरीर से बाहर निकलते हैं वह केवलिसमुद्घात है।

क्रिया—क्रिया नाम गति का है। जो प्रयोग गति, विस्रसा गति और मिश्रिका गति के भेद से तीन प्रकार की है।

क्रियावादी—कर्ता के बिना क्रिया संभव नहीं है। एतदर्थ उसका समवाय आत्मा में है; ऐसा कहने वाले क्रियावादी हैं। इसी उपाय से वे आत्मा आदि के अस्तित्व को जानते हैं।

क्रोध—मोहनीय कर्म के उदय से जो अप्रीति रूप द्वेषमय परिणाम उत्पन्न होता है, वह क्रोध है। समभाव को विस्मृत होकर आक्रोश में भर जाना, दूसरों पर रोष करना क्रोध है।

क्षपकश्रेणी—मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ आत्मा जिस श्रेणी—अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सम्पराय और क्षीणमोह इन चार गुणस्थानों रूप नसैनी सोपान—पर आरूढ़ होता है, वह क्षपकश्रेणी है।

क्षमा—क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण के प्रत्यक्ष में होने पर भी किञ्चित् मात्र भी क्रोध न करना क्षमा है।

क्षय—कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् पूर्णरूप से नष्ट हो जाना क्षय है।

क्षयोपशम—वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय और आगामी काल की दृष्टि से उन्हीं का सद्अवस्था रूप उपशम व देशघाति स्पर्द्धकों का उदय क्षायोपशम है। अर्थात् कर्म के उदयावली में प्रविष्ट मन्द रस स्पर्द्धक का क्षय और अनुदयमान रस स्पर्द्धक की सर्वघातिनी विपाक शक्ति का निरोध या देशघाति रूप में परिणमन व तीव्र शक्ति का मन्द शक्ति में परिणमन (उपशमन) क्षयोपशम है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व—जो मिथ्यात्व उदय को प्राप्त हुआ है उसे क्षीण करना और जो उदय को अप्राप्त है उसे उपशान्त करना। इस प्रकार क्षय के साथ उपशम रूप मिश्र अवस्था को प्राप्त होना, क्षयोपशम है। इस प्रकार के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले तत्त्वार्थ श्रद्धान को क्षयोपशम सम्यक्त्व कहा है।

क्षायिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबन्धी चतुष्क, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व; इन सात प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय से जो सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि—वेदक सम्यग्दृष्टि होकर, प्रशम-संवेद आदि से सहित होते हुए, जिनेन्द्र भगवान की भक्ति के प्रभाव से जिसकी भावनाएँ वृद्धिगत हुई हैं

ऐसा मानव जहाँ केवली भगवान विराजमान हैं वहाँ मोह की क्षपणा को प्रारम्भ करता है पर निष्ठापक वह चारो गतियों में से किसी भी गति में हो सकता है, अर्थात् सातों प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला जीव।

क्षायोपशमिक ज्ञान—मतिज्ञानावरणादि और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से तथा अनुदय प्राप्त उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से होने वाले मतिज्ञान आदि ज्ञानों को क्षायोपशमिक ज्ञान कहा है।

क्षीणकषाय—जिसकी सभी कषायें नष्ट हो चुकी हैं। वह स्फटिकमणिमय पात्र में स्थित जल के समान निर्मल मन की परिणति से सहित हुआ है, वह क्षीण कषाय है।

(ग)

गच्छ—एक आचार्य के नेतृत्व में रहने वाले श्रमणों के समूह को गच्छ कहते हैं।

गण—जो श्रमण स्थविर मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध होते हैं, उनके समूह को गण कहा जाता है।

गणधर—जो गण का रक्षण करता है और अनुपम ज्ञान-दर्शनादि रूप धर्म-गुण को धारण करता है, वह गणधर है।

गणी—ग्यारह अंगो के ज्ञाता को गणी कहते हैं; अथवा जो गच्छ का स्वामी हो, वह गणी है।

गण्डिका—एक वक्तव्यता रूप अर्थाधिकार से अनुगत वाक्य पद्धतियों को गण्डिका कहते हैं।

गण्डिकानुयोग—गण्डिकाओं के अर्थ की कथन विधि गण्डिकानुयोग है।

गति—गति नामकर्म के उदय से जो चेष्टा निर्मित होती है वह गति है। जिससे जीव मनुष्य, तिर्यंच, देव या नारक व्यवहार का अधिकारी कहलाता है वह गति है अथवा चारों गतियो में गमन करने के कारण को भी गति कहते हैं।

गर्भजन्मा—गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीवों को गर्भजन्मा कहते हैं।

गर्हा—दूसरों के समक्ष जो आत्मनिन्दा की जाती है, वह गर्हा है।

गव्यूत—दो हजार धनुष को गव्यूत (कोश) कहते हैं।

गुण—जो द्रव्य के आश्रय से रहा करते है तथा स्वयं अन्य गुणों से रहित होते हैं, वे गुण हैं।

गुणव्रत—अणुव्रतों के उपकारक होने से दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत कहा गया है।

गुणश्रेणि—परिणामों की विशुद्धि की वृद्धि से अपवर्तनाकरण के द्वारा उपरितम स्थिति से हीन करके अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रति समय उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित वृद्धि के क्रम से कर्म-प्रदेशों की निर्जरा के लिए जो रचना होती है, वह गुणश्रेणी है।

गुणस्थान—ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि एवं अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप विशेष को गुणस्थान कहते हैं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव के स्वभाव को गुण कहते हैं, और उनके स्थान के उत्कर्ष एवं अपकर्षजन्य स्वरूप विशेष का भेद गुणस्थान है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम, आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को गुणस्थान कहते हैं।

गुप्ति—सम्यग्दर्शन पूर्वक मन, वचन एवं काय योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं।

गृहस्थ—श्रावकोचित नित्य एवं नैमित्तिक अनुष्ठानों को करने वाले मानवों को गृहस्थ कहा है।

गोत्र—जिसके द्वारा जीव ऊँच और नीच कहा जाता है, वह गोत्र कर्म है।

ग्रन्थ—जिसके द्वारा अथवा जिसमें अर्थ को गूंथा जाता है वह ग्रन्थ है।

ग्रन्थि—जैसे किसी वृक्ष विशेष की कठोर गाँठ अतिशय दुर्भेद्य होती है उसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न जो जीव के घनीभूत राग-द्वेष परिणाम उस गाँठ के सदृश दुर्भेद्य होते हैं अतः उन्हें ग्रन्थि कहा है।

ग्रैवेयक—लोक रूप पुरुष के ग्रीवा स्थान पर अवस्थित विमानों को ग्रैवेयक कहते हैं।

(घ)

घातिकर्म—केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व व चारित्र, एवं वीर्य रूप जीव गुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म हैं।

(च)

चक्रवर्ती—षट्खण्ड भरत क्षेत्र के अधिपति एवं बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के स्वामी चक्रवर्ती हैं।

चक्षुदर्शन—चक्षु के द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्य धर्म के बोध को चक्षुदर्शन कहा है।

चतुर्विंशतिस्तव—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति!

चन्द्रप्रज्ञप्ति—चन्द्रमा के विमान, आयुप्रमाण, परिवार, चन्द्र का गमन-विशेष, उससे उत्पन्न होने वाले दिन-रात्रि का प्रमाण आदि की जिसमें प्ररूपणा है।

चरणानुयोग—गृहस्थ एवं श्रमणों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि एवं रक्षा के विधान करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहा है।

चारित्र—हिंसा आदि की निवृत्ति और समता आदि में प्रवृत्ति।

चारित्र मोहनीय—जिस कर्म से चारित्र विकृत होता है, वह चारित्र मोहनीय है।

च्यवन—वैमानिक और ज्योतिषी देवों के मरण को च्यवन या च्युति कहा है।

(छ)

छद्मस्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का नाम छद्म है, इस छद्म में जो स्थित रहते है, वह छद्मस्थ हैं।

छेद—संयम की विशुद्धि हेतु दोप लगने पर उसका परिष्कार करने का नाम छेद है।

छेदोपस्थापन—जिस चारित्र में पूर्व पर्याय को छेदकर उसे खण्डित कर—महाव्रतो में स्थापित किया जाता है, वह छेदोपस्थापन चारित्र है।

(ज)

जङ्घाचारण—एक लब्धि विशेष है जिससे आकाश में गमन किया जाता है।

जम्बूदीप—मनुष्य लोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तार वाला समान गोल आकृति वाला जम्बूद्वीप है।

जम्बूदीपप्रज्ञप्ति—जिसमे जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के मनुष्य, तिर्यञ्च जीवों का; तथा पर्वत, ग्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, आदि का वर्णन हो।

जरायु—गर्भ में प्राणी के शरीर को आच्छादित करने वाला जो विस्तृत रुधिर और मांस रहता है वह जरायु है। जो जरायु में उत्पन्न होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं।

जिन—जिन्होंने क्रोधादि कषायों को जीत लिया है, वे जिन हैं।

जिनकल्पिक—राग-द्वेप एवं मोह से रहित होकर उपसर्ग व परीपहों को सहन करने वाले जो श्रमण जिनदेव के सदृश कल्प का पालन करते हैं, वे जिन कल्पिक हैं।

जीव—जो चैतन्य परिणामस्वरूप उपयोग से विशेपता को प्राप्त हैं, वे जीव हैं। वह द्रव्य भाव कर्मो के आस्रव आदि का स्वामी, कर्मों का कर्ता, भोक्ता, प्राप्त शरीर के प्रमाण, कर्म के साथ होने वाले एकत्व परिणाम की अपेक्षा मूर्त और कर्म से संयुक्त है।

जुगुप्सा—जिस कर्म के उदय से अपने दोपों का संवरण और पर के दोपों का प्रकाशन किया जाता है, वह जुगुप्सा नोकपाय है।

ज्ञाताधर्मकथा—जिस अंग श्रुत मे उदाहरणभूत पुरुपों; और उनके नगर, उद्यान एवं चैत्य आदि का कथन किया जाता है, वह ज्ञाताधर्मकथा है।

ज्ञानावरण—ज्ञान के आवरक कर्म को ज्ञानावरण कहते हैं।

(त)

तप—जो अप्ट प्रकार की कर्म ग्रन्थि को संतप्त करता है, नप्ट करता है वह तप है।

तर्क—जिस ज्ञान के द्वारा, व्याप्ति से साध्य-साधन रूप अर्थों के सम्बन्ध का निश्चय करके अनुमान में प्रवृत्ति होती है, वह तर्क है।

तर्कशास्त्र—जो दुर्गम मिथ्यामत रूप महान कीचड़ के सुखा देने में सूर्य के समान समर्थ होता है, वह तर्कशास्त्र है।

तलवर—प्रसन्न हुए राजा के द्वारा दिये गये सुवर्णमय पट्टबन्ध से जो भूषित होता है, वह तलवर है।

तापस—जटाधारी वनवासी पंचाग्नि तप करने वाले साधुओं को तापस कहा गया है।

तिर्यगायु—जिस कर्म के उदय से जीव का तिर्यञ्च पर्याय में अवस्थान होता है वह तिर्यगायु कर्म है।

तिर्यग—जिनमें मन-वचन-काया की विरूपता होती है, जिनकी आहारादि संज्ञाएँ प्रगट हैं, जो अतिशय अज्ञानी हैं, तथा अत्यन्त पापी हैं वे तिर्यग् कहलाते हैं।

तिर्यग्लोक—एक लाख योजन के सातवें भाग मात्र सूची अंगुल के बाहल्य रूप जग प्रतर को तिर्यग्लोक कहते हैं।

तीर्थ—श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी इस चतुर्विध संघ को तीर्थ कहा जाता है।

तीर्थंकर—जो अनुपम पराक्रम के धारक, क्रोधादि कषायों के उच्छेदक, अपरिमित ज्ञानी—केवलज्ञान से सम्पन्न, संसार समुद्र के पारंगत, सुगति-गतिगत-उत्तम पंचम गति को प्राप्त-सिद्धिपथ के उपदेशक हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थंकर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप तीर्थ का प्रवर्तन किया जाता है। आक्षेप, संक्षेप, संवेग एवं निर्वेद द्वार से भव्यजनों की सिद्धि के लिए मुनिधर्म व गृहस्थधर्म का उपदेश दिया जाता है; तथा सुरेन्द्र एवं चक्रवर्ती से पूजित होता है, उसे तीर्थंकर नामकर्म कहा जाता है।

तेजस् समुद्घात—जीवों के अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ ऐसे तेजस् शरीर के कारणभूत समुद्घात को तेजस् समुद्घात कहते हैं।

त्रस—त्रस नामकर्म का उदय जिन जीवों को होता है, वे जीव त्रस कहलाते हैं।

त्रुटिताङ्ग—चौरासी लाख पूर्व वर्षों को एक त्रुटितांग कहते हैं।

(द)

दत्ति—हाथ के थाल आदि से अखण्ड धारा पूर्वक जो भिक्षा गिरती है उसे दत्ति कहते हैं। भिक्षा का विच्छेद होने पर पात्र में एक कण गिर जाय तो भी दत्ति मानी जाती है। इस प्रकार दत्तियों की संख्या के अनुसार भोजन ग्रहण करना।

दया—प्राणियों के प्रति अनुकम्पा करने को—उनके दुःख को देखकर स्वयं दुःख का अनुभव करना और उनकी रक्षा करने की भावना हृदय में आना, दया है।

दर्शन—आप्त, आगम और पदार्थों में जो रुचि होती है उसे दर्शन कहते हैं। रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और दर्शन ये समानार्थक शब्द हैं।

दर्शन (उपयोग)—सामान्य को प्रधान और विशेष को गौण कर जो पदार्थ का ग्रहण होता है, वह दर्शन उपयोग है ।

दर्शनमोह—जो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन को मोहित करता है, नहीं होने देता अथवा बाधक बनता है, वह दर्शनमोह है ।

दर्शनाचार—नि.शंकितादि आठ अंग युक्त सम्यक्त्व का परिपालन करना दर्शनाचार है ।

दर्शनावरण—दर्शन गुण के आवरक कर्म को दर्शनावरण कहते हैं ।

दशवैकालिक—मनक नामक पुत्र के हितार्थ आचार्य शय्यम्भव के द्वारा अकाल मे रचे गये दस अध्ययन स्वरूप श्रुत को दशवैकालिक कहा जाता है ।

दान—अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो धन आदि का त्याग किया जाता है, वह दान है ।

दानान्तराय—जिसके उदय से देने योग्य वस्तु के होने पर और ग्राहक पात्र विशेष के उपस्थित रहने पर तथा दान के फल को जानते हुए भी देने के लिए उत्साह नही होता है, वह दानान्तराय है ।

दीक्षा—समस्त आरम्भ परिग्रह के परित्याग को और व्रत ग्रहण को दीक्षा कहा है ।

दुःख—अन्तरंग मे असातावेदनीय कर्म का उदय होने पर तथा बाह्य द्रव्यादि के परिपाक का निमित्त मिलने से जो चित्त में परिताप परिणाम होता है उसे दुःख कहते हैं ।

दुःखविपाक—जिनमें दुःख के विपाक से युक्त जीवों के नगर, उद्यान, वन खण्ड, चैत्य, समवसरण, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक और पारलौकिक ऋद्धि विशेष, नरकगतिगमन का वर्णन है, वह दुःखविपाक है ।

दृष्टिवाद—जिस श्रुत में सभी पदार्थों की प्ररूपणा की जाती है वह दृष्टिवाद है ।

देवाधिदेव—जो अरिहन्त भगवान केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि अनन्त चतुष्टय के धारक हैं, वे देवाधिदेव हैं ।

देशचारित्र—हिंसादि पापों से की जाने वाली एकदेश विरति का नाम देश-चारित्र है ।

देशना—छह द्रव्य, सात तत्त्व, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं ।

देश-विरति—ग्राम-नगर आदि के जितने देश का प्रमाण निश्चित किया गया है, उसका नाम देश है; उसके बाहर गमन का परित्याग करना, देशविरति है ।

देशावकाशिक व्रत—दिग्व्रत में जो दिशा का प्रमाण किया गया है उसमें प्रतिदिन संक्षेप करना देशावकाशिक व्रत है ।

द्रव्य—जो अपने स्वभाव को न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सम्बद्ध रहकर गुण और पर्याय से सहित होता है, वह द्रव्य है। जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है।

द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणादि रूप से परिणत पुद्गल पिण्ड को द्रव्यकर्म कहा जाता है।

द्रव्यनिक्षेप—जो भावी परिणामविशेष की प्राप्ति के प्रति अभिमुख हो—उसकी योग्यता को धारण करता हो, वह द्रव्यनिक्षेप है।

द्रव्यमन—पुद्गल विपाकी नामकर्म के उदय से जो पुद्गल मन रूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्यमन कहा जाता है।

द्रव्यलेश्या—पुद्गल विपाकी वर्ण नामकर्म के उदय से जो लेश्या—शरीरगत-वर्ण होता है वह द्रव्यलेश्या है। कृष्ण, नील व पीतादि द्रव्यों को ही द्रव्यलेश्या कहा जाता है।

द्रव्यार्थिकनय—जो विविध पर्यायों को वर्तमान में प्राप्त करता है, भविष्य में प्राप्त करेगा और जिसने भूतकाल में प्राप्त किया है उसका नाम द्रव्य है। इस द्रव्य को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिकनय है।

द्रव्यास्रव—ज्ञानावरणादि के योग्य पुद्गलों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय—निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहा जाता है। पुद्गलों के द्वारा जो बाहरी आकार की रचना होती है उसे तथा कदम्ब पुष्प आदि के आकार से युक्त उपकरण—ज्ञान के साधन—को द्रव्येन्द्रिय कहा है।

द्रोणपथ—जो पथ नगर, जलमार्ग, स्थलमार्ग दोनों से संयुक्त होता है, वह द्रोणपथ है।

द्वीपकुमार—जो भवनवासी देव कन्धों, बाहुओं के अग्र भाग और हाथों में अधिक सुन्दर, वर्ण से श्याम एवं सिंह के चिह्न से युक्त होते हैं वे द्वीपकुमार कहलाते हैं।

(ध)

धनुष—छयानवे अंगुल या चार हाथ प्रमाण माप को धनुष कहते हैं।

धर्म—मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का शुद्ध परिणाम धर्म है।

धर्मद्रव्य—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से रहित, गमन करते हुए जीव एवं पुद्गलों की गमन क्रिया में सहायता देने वाला धर्म द्रव्य है।

(न)

नारक—जिनको नरक गति नामकर्म का उदय हो अथवा जीवों को क्लेश पहुंचाए वह नारक है। दूसरे शब्दों में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को न प्राप्त करते हों।

नामनिक्षेप—नाम के अनुसार वस्तु में गुण न होने पर भी व्यवहार के लिए जो पुरुष के प्रयत्न से नामकरण किया जाता है वह नामनिक्षेप है।

निकाचित—उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा इन चार अवस्थाओं के न होने की स्थिति का नाम निकाचन है। कर्म के जिस प्रदेशपिण्ड का न अपकर्षण हो सकता है, और न उत्कर्षण हो सकता है और न अन्य प्रकृति रूप संक्रमण ही हो सकता है और न उदीरणा ही हो सकती है, वह निकाचित है। दूसरे शब्दों में कहें तो जैसे लोहे की शलाकाओं को एकत्रित करने पर वे परस्पर बद्ध कही जाती हैं, फिर उन्हीं को अग्नि मे डालकर ताड़ित करने पर अन्तर के स्पष्ट रहते हुए स्पृष्ट कहा जाता है, उसके पश्चात् उन्हीं को जब बार-बार, तपा कर घन से खूब ताड़ित करते हैं, तब अन्तर से रहित होकर वे एक पिण्ड बन जाती हैं। इसी तरह कर्म भी क्रम से आत्मप्रदेशों से बद्ध व स्पृष्ट होते हुए निकाचित अवस्था को प्राप्त होते हैं।

निक्षेप—लक्षण और विधान (भेद) पूर्वक विस्तार से जीवादि तत्त्वों के जानने के लिए जो न्यास से विरचना करना, वह निक्षेप है।

निगोद—जो अनन्तानन्त जीवों को आश्रय देता है, वह निगोद है।

निगोद जीव—जिन अनन्तानन्त जीवों का साधारण रूप से एक ही शरीर होता है, वे निगोद जीव हैं।

निदान—भोगाकांक्षा से व्याकुल हुआ प्राणी भविष्य में विषय-सुख की प्राप्ति के लिए तीव्र भावों से कर्मबंध करता है, वह निदान कहलाता है।

निद्रा—जिस शयन में सुखपूर्वक जागरण होता है उसका नाम निद्रा है।

निधत्त—जो कर्म का प्रदेशपिण्ड न तो उदय मे दिया जा सके और न अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त भी किया जा सके वह निधत्त या निधत्ति है।

नियतिवाद—जो जिस समय में, जिसके द्वारा होता है वह उस समय उसी के द्वारा उसी प्रकार से होगा ही, इस प्रकार की मान्यता नियतिवाद है।

निर्जरा—आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिले हुए कर्म पुद्गलों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है।

निर्युक्ति—'नि' का अर्थ 'निश्चय' या 'अधिकता' है तथा 'युक्त' का अर्थ 'सम्बद्ध' है तदनुसार जो जीवाजीवादि तत्त्व सूत्र में निश्चय से या अधिकता से प्रथम ही सम्बद्ध हैं, उन निर्युक्त तत्त्वों की जिसके द्वारा व्याख्या की जाती है वह निर्युक्ति है।

निर्वाण—जहाँ राग-द्वेष से संतप्त प्राणी शीतलता को प्राप्त करते हैं वह निर्वाण है। अथवा संपूर्ण कर्म-बंधनों से मुक्त अवस्था निर्माण है।

निर्वाणपथ—जो अरिहन्तों द्वारा सम्यक् प्रकार मे देखा गया है, ज्ञान के माध्यम से यथावस्थित जाना गया है, जो चरण और करण से आधारित है; वह मोक्ष-पथ या निर्वाण-पथ है।

र्वाणनिसुख—सांसारिक सुख का अतिक्रमण करके जो आत्यन्तिक, अविनश्वर, अनुपम, नित्य और निरतिशय सुख है, वह निर्वाणसुख है।

निर्विकृति—जिस गोरस, मधुररस, फलरस व स्निग्धरस से जिह्वा एवं मन विकार को प्राप्त होते हैं, वह विकृति है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जिसके साथ

खाने से भोजन सुस्वादु बनता है वह विकृति है। इस प्रकार की विकृति से रहित भोजन निर्विकृति है।

निर्विश्यमानपरिहारविशुद्धिक—परिहार एक तपविशेष है, उससे विशुद्धि को प्राप्त चारित्र परिहारविशुद्धिक कहलाता है। जो उस चारित्र का सेवन कर रहे हैं, उनको तथा उनसे अभिन्न उस चारित्र को भी निर्विश्यमानक परिहारविशुद्धिक कहते हैं।

निर्वृत्ति (इन्द्रिय)—कर्म के द्वारा जिसकी रचना की जाती है उसे निर्वृत्ति कहा जाता है। चक्षु आदि इन्द्रियों की पुतली आदि के आकार रूप रचना होने को निर्वृत्ति कहते हैं।

निर्वेद—नरक, तिर्यंच अवस्था और कुमानुष पर्याय इन्हें निर्वेद कहा जाता है; तथा संसार, शरीर और इन्द्रियभोगों से होने वाली विरक्ति को भी निर्वेद कहते हैं।

निर्वेदनीकथा—संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी है।

निर्व्याघातपादपोपगमन—दीक्षा, शिक्षा, या पद आदि के क्रम से जिसका शरीर वृद्धपन से जर्जरित हो गया है वह निर्व्याघातपादपोपगमन अनशन करता है। वह चारों प्रकार के आहार का परित्याग कर जीव-जन्तुरहित शुद्ध भूमि का आश्रय लेता है और वहाँ पर पादप (वृक्ष) के समान एक पार्श्वभाग से पड़कर हलन-चलन से रहित होता हुआ प्रशस्त ध्यान में मन को तब तक लगाता है जब तक कि प्राण नहीं निकलते। यह निर्व्याघातपादपोपगमन नामक अनशन है।

निर्हारिम—जो मरण वसति के एक देश में किया जाता है वह निर्हारिम पादोपगमन है क्योंकि वहाँ से इसके निर्जीव शरीर का निर्हरण किया जाता है।

निर्वृत्ति गुणस्थान—बादर कषाय से युक्त होते हुए अपूर्वकरण गुणस्थान में प्रविष्ट जीवों के परिणाम चूंकि परस्पर में निवर्तमान होते हैं, अतः यह गुणस्थान बादर निर्वृत्तिगुणस्थान कहा जाता है।

निश्चयनय—शुद्ध द्रव्य के निरूपण करने वाले नय को निश्चयनय या शुद्ध नय कहते हैं।

निश्चय सम्यक्त्व—आत्मा के शुद्ध स्वरूप का श्रद्धान करना, यह निश्चय सम्यक्त्व है।

निश्चयसम्यग्ज्ञान—भूतार्थ स्वरूप से जाने गये जीवादि पदार्थों को समीचीन बोध द्वारा युक्त आत्मा से भिन्न जानना यह निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

निशीथ—जिसका पाठ व उपदेश एकान्त में किया जाता है, ऐसे प्रच्छन्न श्रुत को निशीथ कहा है।

निसर्ग सम्यग्दर्शन—निसर्ग नाम स्वभाव का है। यथार्थ स्वरूप से जाने गये

जीव-अजीव पदार्थ आदि का जो आत्मसंगत मति से परोपदेश निरपेक्ष जातिस्मरण आदि रूप प्रतिभा से स्वयं श्रद्धान करता है, वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है।

निह्नव—मान, अभिमान वश ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना, अमुक विषय को जानते हुए भी मैं नहीं जानता ऐसा कहना, अथवा गुरु से प्राप्त ज्ञान को विपरीत अभिनिवेश के कारण कुछ का कुछ कहना, आदि निह्नव कहलाता है।

नीच गोत्र—जिस कर्म के उदय से लोक निन्दित कुलों में जन्म हो वह नीच गोत्र है।

नैगमनय—संकल्प मात्र के आधार पर गत पदार्थ को अथवा अनिष्पन्न अथवा अर्द्धनिष्पन्न पदार्थ को वर्तमान में अवस्थित या निष्पन्न करना।

नैष्ठिक श्रावक—जो निष्ठापूर्वक धर्म का आचरण करता है वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। उसकी धर्म के विषय में निर्वाहकरूप निष्ठा रहती है, इसी से वह निरतिचार श्रावकधर्म का परिपालन करता है।

नैसर्गिक सम्यग्दर्शन—दर्शनमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के होने पर जो सम्यग्दर्शन बाह्य उपदेश के बिना प्रादुर्भूत होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।

न्याय—ज्ञेय का अनुसरण करने वाला अथवा न्याय रूप होने से सिद्धांत को न्याय कहा जाता है। प्रमाण से प्रमेय की संगतिरूप युक्ति को न्याय कहते हैं।

न्यास—जीवादि पदार्थों के जानने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं।

(प)

पक्ष—पन्द्रह दिन-रात को पक्ष कहते हैं। अर्थात् प्रत्यक्षादि के द्वारा जिसका निराकरण नहीं किया गया है ऐसे साध्य (अनुमेय) की स्वीकारता को पक्ष कहा जाता है। दूसरे शब्दों में धर्म और धर्मी के समुदाय को पक्ष कहते हैं।

पक्षधर्मता—हेतु के पक्ष में रहने को पक्ष-धर्मता कहते हैं।

पंचेन्द्रिय—जो पाँच इन्द्रियों से युक्त है।

पण्डित—जो पाप से डीन—दूर रहता है, उसे पण्डित कहते हैं अथवा पण्डा नाम बुद्धि का है उससे जो युक्त है वह पण्डित है।

पंण्डितमरण—पण्डितों का—संयतों का—मरण पण्डितमरण है। सम्यक्श्रद्धा और चारित्र एवं विवेकपूर्वक मरण पण्डितमरण है।

पद—वर्णों के समुदाय को पद कहा जाता है।

पदसम—जो नामिक आदि पद जिस स्वर में उतरने वाला हो वह पदसम कहलाता है।

पदस्थ-ध्यान—पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है। अथवा स्वाध्याय, मंत्र, गुरु या देव की स्तुति में जो चित्त की एकाग्रता हो वह पदस्थ-ध्यान है।

पद्म-मुद्रा—कमल के आकार दोनों हाथों को करके उनके बीच में कर्णिका के आकार दोनों अंगूठों की रचना करना पद्म-मुद्रा है।

पद्मलेश्या—त्यागी, भद्रपरिणामी, पवित्र, सरल व्यवहार करने वाला एवं गुरुजनों की अर्चा में निरत रहने वाला, ये पद्म लेश्या के बाह्य लक्षण हैं।

पद्मासन—जंघा के मध्य भाग में जहाँ जंघा से संश्लेश (सम्बन्ध) होता है, वह पद्मासन है।

पर-परिवाद—अन्य जनों के बिखरे हुए गुण-दोषों के कहने को पर-परिवाद कहते हैं।

परमाणु—समस्त स्कन्धों के अन्तिम भेद रूप होता हुआ एक, अविभागी, नित्य, रूपादि परिणाम से उत्पन्न होने के कारण सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य परमाणु है।

परमात्मा—सम्पूर्ण दोषों से रहित, केवलज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है।

परमेष्ठी—मुमुक्षु के लिए परम इष्ट व मंगलस्वरूप अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु।

परलोक—मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाला अन्य भव।

परसमय—आत्म स्वरूप के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में या अन्य भावों में इष्ट, अनिष्ट की कल्पना करने वाला (मिथ्यादृष्टि) एवं अन्य मत को मानना।

परिग्रह—'यह मेरा है' इस प्रकार की जो ममत्व बुद्धि होती है वह परिग्रह है।

परिणाम—अध्यवसाय विशेष का नाम परिणाम है।

परिभोग—जिसे एक बार भोगकर छोड़ दिया जाता है और पुनः उसे भोगा जाता है वह परिभोग है जैसे आच्छादन, वस्त्र, आभूषण, घर आदि।

परिव्राजक—जो 'परि' भव और पापों के परित्याग के साथ 'व्रजति' जाता है—प्रवृत्ति करता है, वह परिव्राजक है।

परीषह—मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास आदि को सहन करना।

परीत संसार—जिसने सम्यक्त्व आदि के द्वारा अपने संसार को परिमित कर दिया है, वह संसार-परीत या परीत-संसारी हो जाता है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल और उत्कृष्ट अनन्त काल कुछ कम अपार्ध पुद्गल परावर्तनकाल तक ही संसार में रहता है—तत्पश्चात् नियमतः मुक्त होता है।

परुष—जो वचन रूखा, स्नेह से रहित (निष्ठुर) होता है और दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाता है, वह परुष है।

परोक्ष—अक्ष-जीव को कहते हैं। जीव के द्वारा सीधा ज्ञान न होकर इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परोक्ष है।

पर्यंकासन—दोनों जांघों के नीचे के भाग, पाँवों के ऊपर करके नाभि के पास वाम हथेली के ऊपर दक्षिण हथेली के रखने पर पर्यंकासन होता है।

पर्याप्त—जो जीव आहार आदि छह पर्याप्तियों से परिपूर्ण हो चुके हैं, वे पर्याप्त या पर्याप्तक कहलाते हैं।

पर्याप्ति—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन की शक्तियों की उत्पत्ति का जो कारण है, वह पर्याप्ति है।

पर्यायार्थिक नय—जिस नय का प्रयोजन पर्याय है अर्थात् जो पर्याय को विषय करता है, वह पर्यायार्थिक नय है।

पल्योपम—एक योजन विस्तीर्ण व गहरे गड्ढे को एक दिन के उत्पन्न बालक के बालाग्र कोटियों से भरकर और उसके बाद सौ-सौ वर्ष मे एक-एक बालाग्र को निकालने में जितना काल लगता है उतने काल को एक पल्योपम कहते हैं।

पार्थिवी धारणा—ध्यान की अवस्था मे मध्य लोक के बराबर क्षीर सागर, उसके मध्य में जम्बूद्वीप के प्रमाण वाले सहस्रपत्रमय सुवर्ण कमल, उसके पराग समूह के भीतर पीली कान्ति से युक्त सुमेरु के प्रमाण कर्णिका और उसके ऊपर एक श्वेत वर्ण के सिंहासन पर स्थित होकर कर्मो को नष्ट करने में उद्यत आत्मा का चिन्तन करना पार्थिवी धारणा है।

पार्श्वस्थ—जो आत्म-हितकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और प्रवचन के पार्श्व में विहार करता है, उनके पूर्णतया पालन करने में प्रयत्नशील नहीं रहता है, वह पार्श्वस्थ मुनि कहलाता है।

पिण्डस्थ ध्यान—अपने शरीर में पुरुष के आकार जो निर्मल गुणवाला जीव-प्रदेशों का समुदाय स्थित है उसके चिन्तन का नाम पिण्डस्थ ध्यान है। दूसरे शब्दों में नाभिकमल आदि रूप स्थानों में जो इष्ट देवता का ध्यान किया जाता है वह पिण्डस्थ ध्यान है।

पुण्य—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है वह पुण्य है।

पुद्गल—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, परमाणु, ये रूपी हैं। इन रूपी द्रव्य को पुद्गल कहते हैं।

पुद्गल परावर्तन—ग्रहण योग्य आठ वर्गणाओं (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस-शरीर, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन, कार्मणवर्गणा) में से आहारकशरीरवर्गणा को छोड़कर शेष औदारिक आदि वर्गणाओं से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों को स्पर्श करना।

पूर्व—सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष का प्रमाण एक पूर्व होता है।

पृथिवीकायिक—जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से पृथिवी को शरीर रूप में ग्रहण करता है।

पैशुन्य—किसी के दोषों को उसकी अनुपस्थिति में प्रगट करना पैशुन्य है।

पौषधोपवास—पौषध का अर्थ पर्व है। पर्व में जो उपवास किया जाता है वह पौषधोपवास है। उसमें सावद्य अनुष्ठान का परित्याग होता है और आत्मस्थ होकर साधना की जाती है।

(ब)

बन्ध—मिथ्यात्व आदि कारणों द्वारा काजल से भरी हुई डिबिया के समान पौद्गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक में कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर अथवा अग्नि और लोहपिंड की भाँति एक दूसरे में अनुप्रवेश-अभेदात्मक एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होने को बंध कहते हैं। अथवा आत्मा और कर्म परमाणुओं के सम्बन्ध विशेष को बंध कहते हैं। अथवा अभिनव नवीन कर्मों के ग्रहण को बंध कहते हैं।

बहिरात्मा—देह को आत्मा मानने वाला बाल, अज्ञानी व मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।

बाहुबलि—भगवान ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्म—आत्मा, ब्रह्म—विद्या, ब्रह्म—अध्ययन आदि में रमण करना और ब्रह्म-वीर्य का रक्षण करना।

ब्राह्मी—यह भगवान ऋषभदेव की पुत्री थी जिसने सर्वप्रथम लिपिविद्या, का श्रीगणेश किया। उसी के नाम से ब्राह्मी लिपि प्रचलित हुई है।

(भ)

भरत—भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र, जो चक्रवर्ती थे।

भारण्डपक्षी—जिसके एक शरीर में दो जीव, दो ग्रीवा और तीन पैर होते हैं। जब एक जीव सोता है, तो दूसरा जागता है।

भवनपति—भवनों में रहने वाले देवों को भवनपति कहते हैं।

भव्य—जो मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं या मोक्ष पाने की योग्यता रखते हैं, जिनमें सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है।

भाव—जीव, अजीव द्रव्यों का अपने-अपने स्वभाव रूप से परिणमन होना।

भावकर्म—जीव के मिथ्यात्व आदि वैभाविक स्वरूप जिनके निमित्त से कर्म पुद्गल कर्म रूप हो जाते हैं।

भावप्राण—ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि जीव के गुण।

भावनिक्षेप—विवक्षित पर्याय युक्त वस्तु को उसके नाम से कहना। जैसे राज्यनिष्ठ राजा को राजा कहना।

भावलेश्या—योग और संक्लेश से अनुगत आत्मा का परिणाम विशेष। संक्लेश का मूल कषायोदय है अतः कषायोदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति भावलेश्या है। मोहकर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम अथवा क्षय से होने वाली जीव के प्रदेशों की चंचलता भावलेश्या है।

भावश्रुत—इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाला जो कि

नियमित अर्थ को कहने में समर्थ है एव शब्द और अर्थ के विकल्प से युक्त है, वह भावश्रुत है।

भाव प्रतिक्रमण—दोष विशुद्धि के लिए की गई आत्म-निन्दा व आलोचना।

भाषा-पर्याप्ति—भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप परिणमन करे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि रूप में छोड़ना भाषा पर्याप्ति है।

भोग परिभोग परिमाण व्रत—भोगलिप्सा को नियन्त्रित करने के लिए भोग एवं परिभोग की वस्तुओं के ग्रहण को सीमित करना।

भोगान्तराय कर्म—भोग के साधन उपलब्ध होने पर भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग न कर सके।

(म)

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य होने वाला ज्ञान।

मन—विचार करने का—मनन करने का साधन, मन कहलाता है।

मनःपर्यवज्ञान—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखते हुए मानव लोक के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्यवज्ञान है। अथवा मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, वह मन.पर्यवज्ञान है।

मनोगुप्ति—मन की प्रवृत्ति का गोपन करना मनोगुप्ति है।

मान—जिस दोष से नमने की वृत्ति न हो; जाति, कुल, तप आदि के अहंकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार की वृत्ति हो, वह मान है।

माया—विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता का अभाव माया है।

मार्गणास्थान—जिन-जिन के द्वारा जीवों का अन्वेषण किया जाय वे सब धर्म मार्गणा हैं जैसे इन्द्रिय, काय, योग, कषाय आदि।

मारणान्तिक समुद्घात—मरण से पूर्व उस निमित्त जो समुद्घात होता है वह मारणान्तिक समुद्घात है।

मिथ्यात्व मोहनीय—जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के स्वरूप की यथार्थ रुचि न हो वह मिथ्यात्व मोहनीय है। इसमें मिथ्यात्व के अशुद्ध दलिक होते हैं।

मिश्र—साधक की तृतीय भूमि जिसमें मिथ्यात्व के अर्द्ध शुद्ध पुद्गलों का उदय होने से जब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या अर्थात् मिश्र हो जाती है।

मोक्ष—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना।

मोहनीय कर्म—जीव को स्व-पर-विवेक तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुँचाने वाला कर्म; अथवा आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं।

(य)

यथाख्यातसंयम—समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा

पौषधोपवास—पौषध का अर्थ पर्व है। पर्व में जो उपवास किया जाता है वह पौषधोपवास है। उसमें सावद्य अनुष्ठान का परित्याग होता है और आत्मस्थ होकर साधना की जाती है।

(ब)

बन्ध—मिथ्यात्व आदि कारणों द्वारा काजल से भरी हुई डिबिया के समान पौद्गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक में कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर अथवा अग्नि और लोहपिंड की भाँति एक दूसरे में अनुप्रवेश-अभेदात्मक एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होने को बंध कहते हैं। अथवा आत्मा और कर्म परमाणुओं के सम्बन्ध विशेष को बंध कहते हैं। अथवा अभिनव नवीन कर्मों के ग्रहण को बंध कहते हैं।

बहिरात्मा—देह को आत्मा मानने वाला बाल, अज्ञानी व मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।

बाहुबलि—भगवान ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्म—आत्मा, ब्रह्म—विद्या, ब्रह्म—अध्ययन आदि में रमण करना और ब्रह्म-वीर्य का रक्षण करना।

ब्राह्मी—यह भगवान ऋषभदेव की पुत्री थी जिसने सर्वप्रथम लिपिविद्या, का श्रीगणेश किया। उसी के नाम से ब्राह्मी लिपि प्रचलित हुई है।

(भ)

भरत—भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र, जो चक्रवर्ती थे।

भारण्डपक्षी—जिसके एक शरीर में दो जीव, दो ग्रीवा और तीन पैर होते हैं। जब एक जीव सोता है, तो दूसरा जागता है।

भवनपति—भवनों में रहने वाले देवों को भवनपति कहते हैं।

भव्य—जो मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं या मोक्ष पाने की योग्यता रखते हैं, जिनमें सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है।

भाव—जीव, अजीव द्रव्यों का अपने-अपने स्वभाव रूप से परिणमन होना।

भावकर्म—जीव के मिथ्यात्व आदि वैभाविक स्वरूप जिनके निमित्त से कर्म पुद्गल कर्म रूप हो जाते हैं।

भावप्राण—ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि जीव के गुण।

भावनिक्षेप—विवक्षित पर्याय युक्त वस्तु को उसके नाम से कहना। जैसे राज्यनिष्ठ राजा को राजा कहना।

भावलेश्या—योग और संक्लेश से अनुगत आत्मा का परिणाम विशेष। संक्लेश का मूल कषायोदय है अतः कषायोदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति भावलेश्या है। मोहकर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम अथवा क्षय से होने वाली जीव के प्रदेशों की चंचलता भावलेश्या है।

भावश्रुत—इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाला जो कि

नियमित अर्थ को कहने में समर्थ है एवं शब्द और अर्थ के विकल्प से युक्त है, वह भावश्रुत है।

भाव प्रतिक्रमण—दोष विशुद्धि के लिए की गई आत्म-निन्दा व आलोचना।

भाषा-पर्याप्ति—भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप परिणमन करे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि रूप में छोड़ना भाषा पर्याप्ति है।

भोग परिभोग परिमाण व्रत—भोगलिप्सा को नियन्त्रित करने के लिए भोग एवं परिभोग की वस्तुओं के ग्रहण को सीमित करना।

भोगान्तराय कर्म—भोग के साधन उपलब्ध होने पर भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग न कर सके।

(म)

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य होने वाला ज्ञान।

मन—विचार करने का—मनन करने का साधन, मन कहलाता है।

मनःपर्यवज्ञान—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखते हुए मानव लोक के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्यवज्ञान है। अथवा मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, वह मनःपर्यवज्ञान है।

मनोगुप्ति—मन की प्रवृत्ति का गोपन करना मनोगुप्ति है।

मान—जिस दोष से नमने की वृत्ति न हो; जाति, कुल, तप आदि के अहंकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार की वृत्ति हो, वह मान है।

माया—विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता का अभाव माया है।

मार्गणास्थान—जिन-जिन के द्वारा जीवों का अन्वेषण किया जाय वे सब धर्म मार्गणा हैं जैसे इन्द्रिय, काय, योग, कषाय आदि।

मारणान्तिक समुद्घात—मरण से पूर्व उस निमित्त जो समुद्घात होता है वह मारणान्तिक समुद्घात है।

मिथ्यात्व मोहनीय—जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के स्वरूप की यथार्थ रुचि न हो वह मिथ्यात्व मोहनीय है। इसमें मिथ्यात्व के अशुद्ध दलिक होते हैं।

मिश्र—साधक की तृतीय भूमि जिसमें मिथ्यात्व के अर्द्ध शुद्ध पुद्गलों का उदय होने से जब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या अर्थात् मिश्र हो जाती है।

मोक्ष—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना।

मोहनीय कर्म—जीव को स्व-पर-विवेक तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुँचाने वाला कर्म; अथवा आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं।

(य)

यथाख्यातसंयम—समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा

का स्वरूप बताया गया है उस अवस्था रूप वीतराग संयम को यथाख्यात संयम कहा गया है।

यथाप्रवृत्तिकरण—जिस परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयु कर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोडाकोडी सागरोपम जितनी कर देता है जिसमें करण से पहले के समान की अवस्था बनी रहे उसे यथाप्रवृत्तिकरण कहा है।

योग—साध्वाचार का सम्यक् प्रकार से पालन करना अथवा आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होने को योग कहते हैं। अथवा आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन, मन-वचन और काय के द्वारा होता है अतः मन, वचन और काय के कर्म व्यापार को अथवा नामकर्म की पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन और काय से युक्त जीव की कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति योग है।

योजन—चार कोस या चार हजार कोस का एक योजन होता है।

(र)

रसघात—बँधे हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों की फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण द्वारा मन्द कर देना।

रसबन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना।

राजु—प्रमाणांगुल से निष्पन्न असंख्यात कोटाकोटि योजन का एक राजु होता है। अथवा श्रेणी के सातवें भाग को राजु कहते हैं।

रोचक सम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं में रुचि रखना रोचक सम्यक्त्व कहलाता है।

(ल)

लब्धि—ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं।

लेश्या—जीव के ऐसे परिणाम जिनके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त हो अथवा कषायोदय से अनुरक्त जीव की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है।

लोभ—धन आदि की तीव्र आकांक्षा या गृद्धता अथवा अनुराग बुद्धि लोभ है।

(व)

वर्गणा—समान जातीय पुद्गलों का समूह।

वेदनीय—सुख-दुःख की कारणभूत बाह्य सामग्री के संयोग-वियोग में हेतु रूप कर्म।

विपाक—कर्म-प्रकृति की विशिष्ट अथवा विविध प्रकार की फल देने की शक्ति को और फल देने में अभिमुख होने को विपाक कहते हैं।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान—चिन्तनीय वस्तु की पर्यायों को विविध विशेषताओं से सहित स्पष्ट रूप से जानना विपुलमति मनःपर्यवज्ञान कहलाता है।

विभङ्गज्ञान—मिथ्यात्व के उदय से रूपी पदार्थों का विपरीत अवधिज्ञान, विभंगज्ञान कहलाता है।

वेद—जिसके द्वारा इन्द्रियजन्य, संयोगजन्य सुख का वेदन किया जाय, वह वेद है।

वेदक सम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान जीव सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्‌गल के रस का अनुभव करता है उस समय के उसके परिणाम वेदक सम्यक्त्व कहलाते हैं।

वैक्रिय शरीर—जिस शरीर के द्वारा छोटे-बड़े, एक-अनेक, विविध-विचित्र रूप बनाने की शक्ति प्राप्त हो। अथवा जो शरीर वैक्रिय वर्गणाओं से निर्मित अथवा युक्त हो।

वैनयिकी बुद्धि—गुरुजनों की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

व्यंजनावग्रह—अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान।

(श)

शरीर पर्याप्ति—जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर बनते हैं अथवा रस के रूप मे बदल दिये गये आहार को रक्त आदि सप्त धातुओं के रूप में परिणमाने की जीव की शक्ति विशेष।

शीर्ष प्रहेलिका—चौरासी लाख शीर्ष प्रहेलिकांग की एक शीर्ष पहेलिका होती है।

श्रुतज्ञान—जो ज्ञान श्रुतानुसारी है जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है, जो मतिज्ञान के पश्चात् होता है तथा शब्द और अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरणपूर्वक इन्द्रिय व मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है।

शब्दनय—पदार्थों के वाचक शब्दों में ही जिसका व्यापार होता है वह शब्द-नय है।

(स)

संक्रमण—एक कर्म रूप में स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्म रूप में बदल जाना अथवा वीर्य विशेष से कर्म का अपनी ही दूसरा सजातीय कर्मप्रकृति स्वरूप हो जाना।

संज्वलन कषाय—जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति न हो।

संज्ञी—बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति करने वाले जीव; अथवा जिनमें लब्धि या उपयोग रूप मन पाया जाय वे संज्ञी हैं।

संहनन—जिस कर्म के उदय से हड्डियों का परस्पर में जुड़ जाना या रचना-विशेष।

सत्ता—बंध समय या संक्रमण समय से लेकर जब तक उन कर्म परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप से संक्रमण नहीं होता या उनकी निर्जरा नहीं होती तब तक

उनका आत्मा से लगे रहना। बन्ध आदि के द्वारा स्व-स्वरूप को प्राप्त करने वाली कर्मों की स्थिति।

समय—काल का अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अंश समय कहा जाता है।

समुद्घात—मूल शरीर को छोड़े बिना ही आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना।

सम्यक्त्वमोहनीय—जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक भाव वाली तत्त्व रुचि पर प्रतिबन्ध करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सम्यक्त्व का घात करने में असमर्थ मिथ्यात्व के शुभ दलिकों को सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं।

सागरोपम—दस कोटाकोटि पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

सामायिक—राग-द्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं। और जिस संयम से समभाव की प्राप्ति होती है; अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र को सम कहते हैं और आय लाघव प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को सामायिक कहते हैं।

सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान—क्रोधादि कषायों द्वारा संसार में परिभ्रमण होता है अतः उसे सम्पराय कहते हैं। जिसमें केवल लोभ कषाय के सूक्ष्म खण्डों का ही उदय हो वह सूक्ष्म संपराय गुणस्थान है।

स्कन्ध—दो या अधिक परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न द्वयणुक आदि छह प्रकार के सूक्ष्म स्थूल भौतिक तत्त्व पौद्गलिक पिंड आदि को स्कन्ध कहते हैं।

स्थिति—विवक्षित कर्म के आत्मा के साथ लगे रहने का काल।

स्थितिघात—कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देने अर्थात् जो कर्म दलिक आगे उदय में आने वाले हैं उन्हे अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समय से हटा देना स्थितिघात है।

स्थितिबन्ध अध्यवसाय—कषाय के उदय से होने वाले जीव के जिन परिणाम विशेषों से स्थितिबन्ध होता है, वे परिणाम स्थितिबन्ध अध्यवसाय हैं।

स्पर्द्धक—वर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं।

(ह)

हाथ—दो वितस्ति के माप को हाथ कहते हैं।

हिंसा—प्रमाद योग से किसी जीव के प्राणों का अपहरण करना।

हित—जिससे मोक्ष रूप प्रधान फल की उपलब्धि होती है। वह स्वहित और परहित के रूप में दो प्रकार का है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आचारांग

१ प्रथम श्रुतस्कन्ध—W. Schubring Leipzig 1910 जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना सन् १९२४

२ निर्युक्ति तथा शीलांक, जिनहंस व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं के साथ—धनपतसिंह, कलकत्ता, वि. सं. १९३६

३ निर्युक्ति व शीलांक की टीका के साथ—आगमोदय समिति, सूरत, वि. सं. १९७२-१९७३

४ अंग्रेजी अनुवाद—H. Jacobi, S. B. E. Series, Vol. 22, Oxford 1884

५ मूल—H. Jacobi, Pali Text Society, London, 1882.

६ प्रथम श्रुतस्कन्ध का जर्मन अनुवाद—Worte Mahavira, Schubring Leipzig 1926

७ गुजराती अनुवाद—रवजीभाई देवराज, जैन प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद, सन् १९०२ व १९०६

८ गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, वि. स. १९९२

९ हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

१० प्रथम श्रुतस्कन्ध का गुजराती अनुवाद—मुनि सौभाग्यचन्द्र, (संतबाल) महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद १९३६

११ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५७

१२ हिन्दी छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे. स्था. जैन कॉन्फ्रेन्स, बम्बई, वि. सं. १९९४

१३ प्रथम श्रुतस्कन्ध का बंगाली अनुवाद—हीराकुमारी, जैन श्वे. तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, वि. सं. २००९

१४ मूल व गुजराती अनुवाद—श्रमणी विद्यापीठ, घाटकोपर

१५ आयारो—मूल, अर्थ व टिप्पणियाँ, मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) प्रकाशन तिथि वि. सं. २०३१

१६ आयारो तह आयारचूला मूलपाठ—मुनि नथमल—श्वे. तेरापंथी महासभा, कलकत्ता-१
१७ आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, मूलपाठ—सं. छाया, शब्दार्थ, भावार्थ, टिप्पणसहित —श्री सौभागमलजी म. जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन
१८ आचारांगसूत्र प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध—संस्कृत छाया, पदार्थान्वय, मूलार्थ, हिन्दी विवेचन—सं. मुनि समदर्शी स्व. श्री आत्मारामजी महाराज-जैनस्थानक, लुधियाना
१९ आचारांगनिर्युक्ति शीलांककृत टीका सहित—जैनानन्द पुस्तकालय गोपीपुरा सूरत, सन् १९३५
२० आचारांगचूर्णि—ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वे. सं. रतलाम, सन् १९४१
२१ आचारांगदीपिका—अजितदेवसूरि, प्रथम श्रुत-स्कन्ध, मणिविजयजी गणिवर ग्रन्थमाला, लीच. वि. सं. २००५

सूत्रकृतांग

१ निर्युक्ति व शीलाङ्क की टीका के साथ—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१७; गोडीपार्श्व जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् १९५०
२ शीलाङ्क, हर्षकुल व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं के साथ—धनपतसिंह कलकत्ता, वि. सं. १९३६
३ अंग्रेजी अनुवाद—H. Jacobi, S. B. E. Series, Vol.45, Oxford 1895
४ हिन्दी छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे. स्था. जैन कान्फ्रेंस, बम्बई, सन् १९३८
५ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६
६ निर्युक्ति सहित—पी. एल. वैद्य, पूना, १९२८
७ गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद
८ प्रथम श्रुतस्कन्ध शीलाङ्ककृत टीका व उसके हिन्दी अनुवाद के साथ—अम्बिकादत्त ओझा, महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट, वि. सं. १९९३-१९९५; द्वितीय श्रुतस्कन्ध हिन्दी अनुवाद सहित—अम्बिकादत्त ओझा, बेंगलोर वि. सं. १९९७
९ हिन्दी अर्थ विवेचन सहित—आचार्य आत्माराम जी म. आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, वि. सं. २०३२
१० सूत्रकृतांगनिर्युक्ति सूत्र सहित—सम्पादक डॉ. पी. एल. वैद्य, सन् १९२८ पूना (महाराष्ट्र)
११ सूत्रकृतांग चूर्णि—ऋषभदेवजी केसरीमलजी, श्वे. सं. रतलाम, सन् १९४१
१२ हर्षकुलकृत विवरण सहित—भीमसी माणेक, बम्बई, वि. सं. १९३६

१३ साधुरंगरचितदीपिका सहित—गोडीपार्श्व जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९५०
१४ मूल अर्थ—अ. भा. सा. सस्कृति रक्षक संघ, सैलाना

स्थानांग

१ अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९२०; माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, सन् १९३७
२ आगमसंग्रह, बनारस, सन् १८८०
३ अभयदेवकृत वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—अष्टकोटि बृहद्पक्षीय संघ, मुंद्रा (कच्छ), वि. सं. १९९९
४ गुजराती अनुवाद सहित—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९३१
५ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६
६ गुजराती रूपान्तर—दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सन् १९५५
७ स्थानांग अभयदेववृत्ति—रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८०
८ मूल, हिन्दी विशेष टिप्पणी सहित—मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
९ ठाणं—मूल, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण—सम्पादक—मुनि नथमल, प्र. जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०) प्रकाशन वर्ष वि. स. २०३३

समवायांग

१ अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९१९; मफतलाल झवेरचन्द्र, अहमदावाद १९३८
२ आगमसंग्रह, बनारस सन् १८८०
३ अभयदेवकृतवृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जेठालाल, हरिभाई, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. १९९५
४ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६
५ गुजराती रूपान्तर—दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सन् १९५५
६ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६२
७ रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८०
८ मूल हिन्दी अनुवाद, टिप्पण सहित—मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

व्याख्याप्रज्ञप्ति

१ अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९२१; धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८२; ऋषभदेवजी केशरीमल जैन श्वे० संस्था, रतलाम, सन् १९३७-१९४० (१४ शतक तक)

२ १५वें शतक का अंग्रेजी अनुवाद—Hoernle Appendix to उपासकदशा Bibliotheca Indica, Calcutta, 1885-1888

३ षष्ठ शतक तक अभयदेवकृत वृत्ति व उसके गुजराती अनुवाद के साथ—बेचरदास दोशी, जिनागम प्रकाशक सभा, बम्बई, वि. सं. १९७४-१९७९; शतक ७-१५ मूल व गुजराती अनुवाद—भगवानदास दोशी, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, वि. सं. १९८५; शतक १६-४१ मूल व गुजराती अनुवाद—भगवानदास दोशी, जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद, वि. सं. १९८८

४ भगवतीसार : गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, १९३८

५ हिन्दी विषयानुवाद (शतक १-२०) मदनकुमार मेहता, श्रुत प्रकाशन मंदिर, कलकत्ता, वि. सं. २०११

६ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६१

७ हिन्दी अनुवाद के साथ—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

८ वियाहपण्णत्तिसुत्तं (प्रथमो भाग) सम्पादक पं० बेचरदास जीवराज दोशी, प्रकाशक महावीर जैन विद्यालय, बम्बई ४०००३६; प्रथम संस्करण, सन् १९७४

९ एम. आर. मेहता, बम्बई, वि. सं. १९१४

१० भगवतीविशेष पद व्याख्या—दान शेखर प्रकाशक—ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९३५

११ भगवई—मुनि नथमल सम्पादित–मूल जैन विश्वभारती, लाडनूं, वि. सं. २०२१

१२ भगवती—भाग—१-७ मूल हिन्दी विवेचन सहित, साधुमार्गी संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना

ज्ञाताधर्मकथा

१ अभयदेवकृत वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६; आगमसंग्रह, कलकत्ता, सन् १८७६; सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सन् १९५१-१९५२

२ गुजराती छायानुवाद—पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३१

३ हिन्दी अनुवाद—मुनि प्यारचंद, जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम, वि. सं. १९९५

४ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी—गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६३

५ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

६ गुजराती अनुवाद सहित (अध्ययन १ से ८)—जेठालाल जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. १९८५

उपासकदशा

१ अभयदेवकृत टीका सहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२०; धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६
२ प्रस्तावना आदि के साथ—पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १६३०
३ अंग्रेजी अनुवाद आदि के साथ Hoernle Bibliotheca Indica, Calcutta, 1885-1888
४ *गुजराती छायानुवाद—पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद १६३१*
५ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १६६१
६ अभयदेवकृत टीका के गुजराती अनुवाद के साथ—भगवानदास हर्षचन्द्र, जैन सोसायटी, अहमदाबाद वि. सं. १६६२
७ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

अन्तकृत्दशा

१ अभयदेवविहित वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२०; धनपत सिंह, कलकत्ता, सन् १८७५
२ प्रस्तावना आदि के साथ—पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १६३२
३ अंग्रेजी अनुवाद—L.O. Barnett. 1907
४ अभयदेवविहित वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. स. १६६०
५ सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १६५८
६ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६
७ गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १६४०
८ हिन्दी, मूल, विवेचन सहित—आचार्य आत्मारामजी म. आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्था० लुधियाना
६ हिन्दी अनुवाद सहित—हस्तिमल जी म. सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर
१० हिन्दी अनुवाद सहित—अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलामा
११ गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, गाधी रोड, अहमदाबाद सन् १६३२

अनुत्तरोपपातिकदशा

१ अभयदेवविहित वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १६२०; धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५
२ प्रस्तावना आदि के साथ—पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १६३२
३ अंग्रेजी अनुवाद—L. D. Barnett,1907
४ मूल—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १६२१

२ मलयगिरिकृत टीका के साथ—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९१९
३ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४५
४ मलयगिरि विरचित टीका के गुजराती अनुवाद के साथ—भगवानदास हर्षचन्द्र, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, वि. स. १९९१
५ हरिभद्र विहित प्रदेश व्याख्या सहित—ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वे. संस्था तथा जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सन् १९४७-१९४९
६ पण्णवणासुत्तं दो भाग—मुनि पुण्यविजय जी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई-३६, सन् १९७१
७ प्रज्ञापना प्रदेश व्याख्या उत्तर भाग—जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सूर्यपुर, सन् १९४९

सूर्यप्रज्ञप्ति

१ मलयगिरिविहित वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९
२ रोमन लिपि में मूल—J. F. Kohl, Stuttgart, 1937
३ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४५

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

१ शान्तिचन्द्रविहित वृत्ति सहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, सन् १९२०; धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८५
२ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

निरयावलिका

१ चन्द्रसूरिकृत वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२२
२ वृत्ति तथा गुजराती विवेचन के साथ—आगम संग्रह, बनारस सन् १८८५
३ प्रस्तावना आदि से साथ—P.L. Vaidya, Poona, 1932; A. S. Gopani and V. J. Chokshi, Ahmedabad, 1934
४ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी. स. २४४५
५ मूल व टीका के गुजराती अर्थ के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. स. १९९०
६ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट १९६०
७ गुर्जर ग्रन्थ कार्यालय, अहमदाबाद सन् १९३४

उत्तराध्ययन

१ अंग्रेजी प्रस्तावना आदि के साथ—Jarl Charpentier, Upsala, 1922
२ अंग्रेजी अनुवाद—H. Jacobi, S. B. E. Series, Vol. 45, Oxford, 1895; Motilal Banarsidass, Delhi 1964
३ लक्ष्मीवल्लभविहित वृत्ति सहित—आगम संग्रह, कलकत्ता, वि.सं. १९३६
४ जयकीर्तिकृत टीका सहित—हीरालाल हंसराज, जामनगर, १९०६

५ शांतिसूरिविहित शिष्यहिता टीका सहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१६-२७

६ भावविजय विरचित वृत्ति सहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि.सं. १९७४; विनयभक्ति सुन्दरचरण ग्रन्थमाला, वेणप, वी.सं. २४६७-२४८५

७ कमलसंयमकृत टीका के साथ—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर सन् १९२७

८ नेमिचन्द्रविहित सुखबोधावृत्ति सहित—आत्मवल्लभ ग्रन्थावली, वलाद, अहमदाबाद सन् १९३७

९ गुजराती अर्थ एवं कथाओं के साथ (अध्ययन १-१५)—जैन प्राच्य विद्याभवन, अहमदाबाद, १९५४

१० हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६; रतनलाल दोशी, सैलाना वी. सं. २४८९; घेवरचन्द्र बांठिया बीकानेर वि. सं. २०१०

११ मूल—R. D. Vadekar and N. V. Vaidya, Poona, 1954; शांतिलाल वनमाली शेठ, ब्यावर, वि.सं. २०१०; हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३८; जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदावाद, सन् १९११

१२ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५९-१९६१

१३ गुजराती अनुवाद एवं टिप्पणियों के साथ (अध्ययन १-१८)—गुजराती विद्या सभा, अहमदावाद, सन् १९५२

१४ श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वे. सं. रतलाम सन् १९३३

१५ गुजराती अनुवाद—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३४-३८ अपूर्ण

१६ हिन्दी टीका सहित—उपाध्याय आत्माराम जी, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३९-४२

१७ हिन्दी अनुवाद—मुनि सौभाग्यचन्द्र (सन्तबाल), श्वे० स्था० जैन कॉन्फ्रेंस, बम्बई, वि. सं. १९९२

१८ गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९३८

१९ चूर्णि के साथ, रतलाम, सन् १९३३

२० गुजराती अनुवाद, सन्तवाल, अहमदावाद

२१ टीका, जयन्तविजय, आगरा, सन् १९२३

२२ मूल, छाया, अनुवाद टिप्पण युक्त-मुनि नथमल, तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

दशवैकालिक

१ मूल—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदावाद;, सन् १९१२, १९२४; हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३८; उमेदचन्द रायचन्द, अहमदावाद, सन् १९३०; शांतिलाल वनमाली शेठ, ब्यावर, वि. स. २०१०

२ हरिभद्र और समयसुन्दर की टीकाओं के साथ—भीमसी माणेक, बम्बई, सन् १६००

३ समयसुन्दर विहित वृत्ति सहित—हीरालाल हंसराज, जामनगर सन् १६१५, जिनयशःसूरि ग्रन्थमाला, खम्भात, सन् १६१६

४ भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की हरिभद्रीय वृत्ति के साथ—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १६१८; मनसुखलाल हीरालाल, बम्बई, वि. सं. १६६६

५ भद्रबाहुकृत निर्युक्ति सहित—E. Leumann, ZDMG. Vol. 46, pp. 581-663.

६ अंग्रेजी अनुवाद सहित—W. Schubring, Ahmedabad, 1932; N. V. Vaidya, Poona, 1937.

७ हिन्दी टीका सहित—मुनि आत्माराम जी, ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जौहरी, महेन्द्रगढ़ (पटियाला), वि. सं. १६८६; जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, वि. सं. २००३; मुनि हस्तिमल जी, मोतीलाल बालमुकुन्द मूथा, सतारा, सन् १६४०

८ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, सुखदेव सहाय ज्वाला प्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वी.सं. २४४६; मुनि त्रिलोकचन्द्र जीतमल जैन, देहली, वि. सं. २००७; घेवरचन्द्र बांठिया, सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, वि. सं. २००२; साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, वि. सं. २०२०; मुनि अमरचन्द्र पंजाबी, विलायतीराम अग्रवाल, माच्छीवाड़ा, वि. सं. २०००

६ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट सन् १६५७-१६६०

१० सुमति साधु विरचित वृत्ति सहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १६५४

११ हिन्दी अनुवाद—मुनि सौभाग्यचन्द्र (सन्तबाल), श्वे० स्था० जैन कॉन्फ्रेंस बम्बई सन् १६३६

१२ गुजराती छायानुवाद— गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, १६३६

१३ जिनदासकृत चूर्णि—रतलाम सन् १६३३

१४ मूल, टिप्पण सहित, आचार्य तुलसी स. मुनि नथमल प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, ३ पार्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण २०२०; द्वितीय संस्करण—सन् १६७४ जैन विश्वभारती लाडनूं, (राजस्थान)

१५ दसकालियसुत्तं-निर्युक्ति, अगस्त्यसिंह चूर्णि सहित-संशोधक-सम्पादक पुण्यविजय जी महाराज, प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी ५, प्र. संस्करण १६७३

१६ दसवैकालिक दीपिका—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १६०५

१७ जिनयशसूरि ग्रन्थमाला, खम्भात, वि. सं. १९७५

१८ मूल, अर्थ—साधुमार्गी संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना

१९ स्वाध्याय सुधा में मूल—तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर

नन्दी

१ मूल—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३८; शांतिलाल वन० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर, वि. सं. २०१०; छोटेलाल यति, अजमेर, सन् १९३५; सेठिया जैन ग्रन्थमाला बीकानेर; जैन पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम; जीवन श्रेयस्कर पाठमाला, बीकानेर सन् १९४१; महावीर जैन भण्डार देहली; सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा सन् १९५८

२ अमोलक ऋषिकृत हिन्दी अनुवाद सहित—सुखदेव सहाय ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

३ मुनि हस्तिमलकृत सस्कृत छाया, हिन्दी टीका, टिप्पणी आदि से अलंकृत—रायबहादुर, मोतीलाल मूथा, भवानी पेठ, सतारा, सन् १९४२

४ मलयगिरिप्रणीत वृतियुक्त—रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, वि. सं. १९३६ आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९२४

५ चूर्णि व हरिभद्रविहित वृत्ति सहित—ऋषभदेवजी केशरीमल जी श्वे० संस्था, रतलाम सन् १९२८

६ मुनि घासीलालकृत संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी गुजराती अनुवाद के साथ—जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५८

७ आचार्य आत्मारामकृत हिन्दी टीका सहित—आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६६

८ नन्दीचूर्णि सहित—प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, सन् १९६६

९ मूल—साध्वी शीलकुंवरजी श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

अनुयोगद्वार

१ मूल—शांतिलाल वनमाली शेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर, वि. सं. २०१०

२ अमोलक ऋषिकृत हिन्दी अनुवाद सहित—सुखदेव सहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

३ उपाध्याय आत्मारामकृत हिन्दी अनुवाद सहित—श्वे० स्था० जैन कॉन्फ्रेंस, बम्बई (पूर्वार्ध); मुरारीलाल चरणदास जैन पटियाला, सन् १९३१ (उत्तरार्ध)

४ मलधारी हेमचन्द्रकृत वृत्ति सहित—रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता सन् १८८०; देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१५-१६; आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९२४; केशरबाई ज्ञानमंदिर, पाटन, सन् १९३९

५ हरिभद्रकृत वृत्ति सहित—ऋषभदेवजी केशरीमल जी श्वे० संस्था, रतलाम सन् १९२८

दशाश्रुतस्कन्ध

१ अमोलकऋषि कृत हिन्दी अनुवाद सहित—सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद वी. सं. २४४५
२ उपाध्याय आत्मारामकृत हिन्दी टीका सहित—जैन शास्त्रमाला कार्यालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर, सन् १९३६
३ मूल-निर्युक्ति-चूर्णि—मणिविजयजी गणि ग्रन्थमाला, भावनगर, वि. सं. २०११
४ मुनि घासीलालकृत संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६०

केवल आठवाँ उद्देश कल्पसूत्र

१ भूमिका सहित—H. Jacobi, Leipzig 1879
२ अंग्रेजी अनुवाद—H. Jacobi, S. B. E. Series Vol. 22, Clarendon Press Oxford 1884
३ सचित्र—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९३३
४ सचित्र—जैन प्राचीन साहित्योद्धार, अहमदाबाद सन् १९४१
५ मुनि प्यारचंद्रकृत हिन्दी अनुवाद सहित—जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम, वि. सं. २००५
६ मूल—मफतलाल झवेरचन्द्र, वि. सं. १९९९
७ माणिकमुनिकृत हिन्दी अनुवाद सहित—सोभागमल हरकावत, अजमेर, वि. स. १९७३
८ हिन्दी अनुवाद—आत्मानंद जैन सभा, जालंधर शहर, सन् १९४८
९ हिन्दी भावार्थ—जैन श्वे० संघ, कोटा, सन् १९३३
१० गुजराती भाषान्तर, चित्र विवरण, निर्युक्ति चूर्णि, पृथ्वीचन्द्र सूरि कृत टिप्पण आदि सहित—साराभाई मणिलाल नवाब, छीपा मावजीनी पोल, अहमदाबाद, सन् १९५२
११ धर्म सागर गणिविरचित वृत्ति सहित—जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, सन् १९२२
१२ संघविजयगणिसंकलित वृत्ति सहित—वाडीलाल चकुभाई, देवीशाहनो पाडो, अहमदाबाद, सन् १९३५
१३ समयसुन्दरगणि विरचित व्याख्या सहित—जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार, बम्बई, सन् १९३९
१४ विनयविजय विरचित वृत्ति सहित—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३९
गुजराती अनुवाद—मेघजी हीरजी जैन बुकसेलर, बम्बई, वि. सं. १९८१
१५ हिन्दी अर्थ, विवेचन व टिप्पण सहित—श्री देवेन्द्र मुनि जी म. श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान, सिवाना, सन् १९६८
१६ मूल पाठ निर्युक्ति, चूर्णि पृथ्वीचन्द्राचार्य विरचित टिप्पणक सहित—सं. मुनि

पुण्यविजयजी, गुजराती अनुवाद, प्रकाशक—साराभाई मणिलाल नवाब, छीपा मावजीनी पोल, अहमदाबाद, सन् १९५२
१७ कल्पसूत्र कल्पप्रदीपिका—मुक्ति विमल जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, सन् १९३५
१८ कल्पसूत्र सुबोधिका—विनयविजय उपाध्याय, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, वि. सं. १९७५
१९ देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९११, १९२३
२० पण्डित हीरालाल हंसराज जैन, जामनगर, सन् १९३९
२१ कल्पसूत्र कल्पलता—समयसुन्दरगणि कालिकाचार्य कथा सहित—जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३९
२२ कल्पसूत्र कल्पकौमुदी—शान्तिसागरगणि, प्रकाशक ऋषभदेवजी केशवलालजी, रतलाम, सन् १९३६
२३ (क) कल्पद्रुमकलिका—लक्ष्मीवल्लभ, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर वि.स.१९७५
(ख) वेलजी शिवजी, मांडवी, बम्बई, सन् १९१८
२४ सन्देहविषौषधि—जिनप्रभ, हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९२३
२५ कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी—विजय राजेन्द्रसूरि, राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (फालना) सन् १९३३
२६ मूल गुजराती, अर्थ विवेचन टिप्पण सहित—देवेन्द्र मुनि, प्र. सुधर्मा ज्ञान मन्दिर, मेघजी थोमण जैनधर्म स्थानक, १७० कांदावाड़ी, बम्बई ४

बृहत्कल्प

१ जर्मन टिप्पणी आदि के साथ—*W. Schubring Leipzig, 1905;* मूलमात्र नागरीलिपि में—Poona, 1923
२ गुजराती अनुवाद सहित—डॉ० जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९१५
३ हिन्दी अनुवाद (अमोलक ऋषि कृत) सहित—सुखदेव सहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद वी. सं. २४४५
४ अज्ञात टीका सहित—सम्यक्ज्ञान प्रचारक मंडल, जोधपुर
५ निर्युक्ति, लघुभाष्य तथा मलयगिरि—क्षेमकीर्तिकृत टीका सहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३-४१ सम्पादक : चतुर्विजयजी और पुण्यविजयजी
६ बृहत्कल्पचूर्णि—हस्तलिखित—पुण्यविजयजी के संग्रहालय में।

व्यवहार

१ W. Schubring Leipzig, 1918 जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना सन् १९२३
२ अमोलक ऋषि कृत हिन्दी अनुवाद सहित—सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वी. सं. २४४५
३ गुजराती अनुवाद सहित—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९२५

४ निर्युक्ति, भाष्य तथा मलयगिरिविरचित विवरण युक्त—केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद वि. सं. १९८२-८५ सम्पादक—मुनि माणक

निशीथ

१ W. Schubring, Leipzig 1918; जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना सन् १९२३

२ अमोलक ऋषिकृत हिन्दी अनुवाद सहित—सुखदेव सहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद वी. सं. २४४६

३ भाष्य व विशेषचूर्णिसहित—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा सं. उपा. अमर मुनि, मुनि कन्हैयालाल 'कमल' सन् १९५७-६०

४ निशीथचूर्णि—दुर्गमपद व्याख्या (चतुर्थ विभाग) के अन्तर्गत, पृ० ४१३-४४३ सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

आवश्यक

१ भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की मलयगिरिकृत टीका के साथ—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२८ (प्रथम भाग), १९३२ (द्वितीय भाग); देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत सन् १९३६ (तृतीय भाग)

२ भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की हरिभद्रविहित वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९१६-१७

३ भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की माणिक्यशेखर विरचित दीपिका सहित—विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सन् १९३९-४१

४ मलधारी हेमचन्द्र विहित प्रदेशव्याख्या—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई सन् १९२०

५ गुजराती अनुवाद सहित—भीमसी माणेक, बम्बई सन् १९०६

६ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

७ हिन्दी विवेचन सहित (श्रमण सूत्र)—उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, वि. सं. २००७

८ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५८

९ जिनदासकृत चूर्णि, रतलाम [illegible] सन् १९२[illegible] सन् १९२९

१० विशेषावश्यक भाष्य [illegible] बृहद्वृत्ति [illegible] हेमचन्द्रकृत टीका) सहित [illegible], बनारस, [illegible] २७-२४४१)

१३ स्वोपज्ञ वृत्तिसहित (प्रथम भाग)—लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, सन् १९६६
१४ कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यक भाष्य विवरण सहित—प्रकाशक ऋषभदेवजी केशरीमलजी प्रचारक संस्था, रतलाम, सन् १९३६-३७
१५ आवश्यक नमिसार वृत्ति—विजयदानसूरीश्वर ग्रंथमाला, वम्बई सन् १९३९

जीतकल्प

१ जीतकल्प स्वोपज्ञ भाष्य सहित—संशोधक मुनि पुण्यविजयजी–प्रकाशक—ववलचन्द्र केशवलाल मोदी, हाजा पटेलनी पोल, अहमदाबाद, वि. सम्वत् १९९४
२ जीतकल्प सिद्धसेनकृत चूर्णि तथा श्रीचन्द्रसूरिकृत वृत्ति सहित—सम्पादक—जिनविजय, प्रकाशक—जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद, १९२६
३ जीतकल्प चूर्णि के सारांश के साथ—E. Leumann Berlin 1892

ओघनिर्युक्ति

१ द्रोणाचार्यविहित वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१९
२ ओघनिर्युक्ति—विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सन् १९५७

पिण्डनिर्युक्ति

१ मलयगिरि विहित वृत्ति सहित—देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार वम्वई, सन् १९१८
२ पिण्डनिर्युक्ति—क्षमाररत्नकृत अवचूरि तथा वीरगणिकृत शिष्यहित व माणिक्य शेखर कृत दीपिका के आद्यन्त भाग के साथ—प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९२८
३ पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति सहित—अनुवादक—हंमसागर, प्रकाशक—शासन कटकोद्धारक ज्ञान मन्दिर मु० उलिया भावनगर सन् १९६२

पञ्चकल्प-महाभाष्य

१ प्रस्तुत कृति अप्रकाशित है। स्वर्गीय आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज के संग्रहालय में, वीर संवत् १९८३
२ बृहद्कल्प बृहद्भाष्य
यह भी अप्रकाशित है। आ. प्रभावक, पुण्यविजयजी महाराज के संग्रहालय में।

प्रकीर्णक

१ चतु:शरण—जैन ग्रंथावलि, पृ. ७२ (जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, वम्बई, वीर संवत् १९६५
२ आगमोदय समिति, वम्बई, सन् १९२७ रायबहादुर धनपतसिंह बनारस सन् १८८६
३ बालाभाई ककलभाई, अहमदावाद, वि. संवत् १९६२
४ जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर वि. संवत् १९६६
५ देवचंद लालभाई जैन ग्रंथमाला, वम्बई सन् १९६२

४ निर्युक्ति, भाष्य तथा मलयगिरिविरचित विवरण युक्त—केशवलाल प्रेमचन्द अहमदाबाद वि. सं. १६८२-८५ सम्पादक—मुनि माणक

निशीथ

१ W. Schubring, Leipzig 1918; जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना स १६२३

२ अमोलक ऋषिकृत हिन्दी अनुवाद सहित—सुखदेव सहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी हैदराबाद वी. सं. २४४६

३ भाष्य व विशेषचूर्णिसहित—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा सं. उपा. अमर मुनि मुनि कन्हैयालाल 'कमल' सन् १६५७-६०

४ निशीथचूर्णि—दुर्गमपद व्याख्या (चतुर्थ विभाग) के अन्तर्गत, पृ० ४१३-४४३ सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

आवश्यक

१ भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की मलयगिरिकृत टीका के साथ—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२८ (प्रथम भाग), १६३२ (द्वितीय भाग); देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत सन् १६३६ (तृतीय भाग)

२ भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की हरिभद्रविहित वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, बम्बई सन् १६१६-१७

३ भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की माणिक्यशेखर विरचित दीपिका सहित—विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सन् १६३६-४१

४ मलधारी हेमचन्द्र विहित प्रदेशव्याख्या—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई सन् १६२०

५ गुजराती अनुवाद सहित—भीमसी माणेक, बम्बई सन् १६०६

६ हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६

७ हिन्दी विवेचन सहित (श्रमण सूत्र)—उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, वि. सं. २००७

८ संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १६५८

६ जिनदासकृत चूर्णि, रतलाम, पूर्वभाग सन् १६२८, उत्तर भाग सन् १६२६

१० विशेषावश्यक भाष्य—शिष्यहिताख्य बृहद्वृत्ति (मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका) सहित—यशोविजय जैन ग्रंथमाला, बनारस, वीर संवत् (२४२७-२४४१)

११ गुजराती अनुवाद—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२४-२७

१२ विशेषावश्यकगाथानामकारादिः क्रमः तथा विशेषावश्यकविषयाणामनुक्रमः—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२३

१३ स्वोपज्ञ वृत्तिसहित (प्रथम भाग)—लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या-मंदिर, अहमदाबाद, सन् १६६६
१४ कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यक भाष्य विवरण सहित—प्रकाशक ऋषभदेवजी केशरीमलजी प्रचारक संस्था, रतलाम, सन् १६३६-३७
१५ आवश्यक नमिसार वृत्ति—विजयदानसूरीश्वर ग्रंथमाला, बम्बई सन् १६३६

जीतकल्प

१ जीतकल्प स्वोपज्ञ भाष्य सहित—संशोधक मुनि पुण्यविजयजी–प्रकाशक—बबल-चन्द्र केशवलाल मोदी, हाजा पटेलनी पोल, अहमदाबाद, वि. सम्वत् १६६४
२ जीतकल्प सिद्धसेनकृत चूर्णि तथा श्रीचन्द्रसूरिकृत वृत्ति सहित—सम्पादक—जिनविजय, प्रकाशक—जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद, १६२६
३ जीतकल्प चूर्णि के सारांश के साथ—E. Leumann Berlin 1892

ओघनिर्युक्ति

१ द्रोणाचार्यविहित वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १६१६
२ ओघनिर्युक्ति—विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सन् १६५७

पिण्डनिर्युक्ति

१ मलयगिरि विहित वृत्ति सहित—देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई, सन् १६१८
२ पिण्डनिर्युक्ति—क्षमारत्नकृत अवचूरि तथा वीरगणिकृत शिष्यहित व माणिक्य शेखर कृत दीपिका के आद्यन्त भाग के साथ—प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १६२८
३ पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति सहित—अनुवादक—हंससागर, प्रकाशक—शासन कंटकोद्धारक ज्ञान मन्दिर मु० उलिया भावनगर सन् १६६२

पञ्चकल्प-महाभाष्य

१ प्रस्तुत कृति अप्रकाशित है। स्वर्गीय आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज के संग्रहालय में, वीर संवत् १६८३
२ बृहद्कल्प वृहद्भाष्य
यह भी अप्रकाशित है। आ. प्रभावक, पुण्यविजयजी महाराज के संग्रहालय में।

प्रकीर्णक

१ चतुःशरण—जैन ग्रंथावलि, पृ. ७२ (जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, बम्बई, वीर संवत् १६६५
२ आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२७ रायबहादुर धनपतसिंह बनारस सन् १८८६
३ बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद, वि. संवत् १६६२
४ जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर वि. संवत् १६६६
५ देवचंद लालभाई जैन ग्रंथमाला, बम्बई सन् १६६२

आतुरप्रत्याख्यान

१ वालाभाई ककलभाई, अहमदावाद, वि. सम्वत् १९६२
२ जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर, वि. सम्वत् १९६६

महाप्रत्याख्यान

१ बालाभाई ककलभाई, अहमदावाद, १९६२

भक्तपरिज्ञा

१ वालाभाई ककलभाई, अहमदावाद, वि. संवत् १९६२
२ जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर, वि. संवत् १९६६

तन्दुलवैचारिक

१ विजयविमल विहित वृत्ति सहित—देवचन्द्र लालभाई जैन ग्रंथमाला, बम्बई सन् १९२२
२ हिन्दी भावार्थ सहित—श्वे० स्था० जैन हितकारिणी संस्था, बीकानेर, वि. सं. २००६

संस्तारक

१ जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर वि. सं. १९६६

गच्छाचार

१ वानरर्षिविहित वृत्ति सहित—आगमोदय समिति, मेहसाना सन् १९२३
२ विजयराजेन्द्रसूरिकृत गुजराती विवेचन युक्त—भूपेन्द्रसूरि जैन साहित्य समिति, आहोर, वि. सं. २००२
३ गच्छाचार वृत्ति—लेखक विजयमल गणि, दयाविमलजी जैन ग्रंथमाला, बम्बई

चन्द्रवेध्यक व वीरस्तव

१ केसरभाई ज्ञान मन्दिर, पाटन, सन् १९४१

दिगम्बर जैन आगम साहित्य

१. षट्खण्डागम—भाग १ से १६ लेखक—आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि, जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती, ई. सन् १९३९-१९५८
२. षट्खण्डागम टीका (धवला)—लेखक : वीरसेनाचार्य, जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती, ई. सन् १९३९-१९५८
३. कषायपाहुड—लेखक : आचार्य गुणधर, वीरशासन संघ, कलकत्ता, ई० सन् १९५५
४. कषायपाहुडचूर्णिसूत्र—यतिवृषभाचार्य, प्र. वीरशासन संघ, कलकत्ता, ई० सन् १९५५
५. कषायपाहुडटीका—वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य, दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, ई० सन् १९४४
६. तिलोयपण्णत्ति (भाग २)—यतिवृषभाचार्य, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर ई० सन् १९४३ और १९५१

७. प्रवचनसार—कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९६९
८. प्रवचनसारवृत्ति—अमृतचन्द्राचार्य
९. प्रवचनसारवृत्ति—जयसेनाचार्य, प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९६९
१०. समयसार—कुन्दकुन्दाचार्य, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था, काशी, ई० सन् १९१५
११. समयसारवृत्ति—अमृतचन्द्रसूरि
१२. समयसारवृत्ति—आचार्य जयसेन, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था, काशी, सन् १९१५
१३. समयसारकलश—अमृतचन्द्रसूरि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५
१४. पञ्चास्तिकाय—कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई ई. सं. १९७२
१५. पञ्चास्तिकायवृत्ति—अमृतचन्द्राचार्य
१६. पञ्चास्तिकायवृत्ति—जयसेनाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई ई. सं. १९७२
१७. नियमसार—कुन्दकुन्दाचार्य, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
१८. नियमसारवृत्ति—पद्मप्रभमलधारी, जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९१६
१९. दर्शनप्राभृतसार—कुन्दकुन्द भारती—श्रुत भण्डार ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन ई० सन् १९७०
२०. षट्प्राभृतादि संग्रह—भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
२१. भावप्राभृत—भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
२२. मोक्षप्राभृत—भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
२३. मूलाचार—(भाग १, २) वट्टकेराचार्य—भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. स. १९७७-१९८०
२४. मूलाचारवृत्ति—आचार्य वसुनन्दि—भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
२५. गोम्मटसार—ले. आचार्य नेमिचन्द्र—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था, कलकत्ता
२६. त्रिलोकसार—नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक—भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वीर निर्वाण २४४४
२७. त्रिलोकसारटीका—माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव, भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वीर निर्वाण २४४४
२८. द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक, जैन हितैषी पुस्तकालय, बम्बई, ई० सन् १९१९
२९. जम्बूद्वीपपण्णत्तिसंगहो—आचार्य पद्मनन्दि—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर वि. सं. २०१४

३०. धम्मरसायण—पद्मनन्दीमुनि—भारतीय जैन दिगम्बर ग्रन्थमाला, बम्बई
३१. आराधनासार—देवसेनाचार्य—भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
३२. तत्त्वसार—श्रीदेवसेन—भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वि. सं. १९७५
३३. दर्शनसार—हिन्दी जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि. सं. १९७३
३४. भावसंग्रह—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि. सं. १९७८
३५. बृहद्नयचक्र—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि. सं. १९७८
३६. ज्ञानसार—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि. सं. १९७३
३७. वसुनन्दी श्रावकाचार—संपादक पं० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२
३८. श्रुतस्कन्ध—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. १९७७
३९. निज आत्माष्टक—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. १९७९
४०. छेदपिंड—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. १९७८
४१. आस्रव त्रिभंगी—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. १९७८
४२. कल्लाणालोयणा—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. १९७७
४३. छेदशास्त्र—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. १९७८

आगम के अतिरिक्त ग्रन्थ

१. अभिसमयालंकार टीका (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ)
२. अभिधान चिन्तामणि
३. अंगुत्तरनिकाय
४. आगमयुग का जैनदर्शन—पं० दलसुख मालवणिया, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२
५. आगम साहित्य में भारतीय समाज—डा० जगदीश चन्द्र जैन, चौखम्बा
६. आवश्यक कथा—
७. आउटलाइन्स ऑफ पैलियोग्राफी जर्नल आफ यूनिवर्सिटी आफ बोम्बे—एच० आर० कापड़िया तथा ओझा
८. इनसायक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स; जिल्द १ होएर्नल
९. इण्डियन फिलोसफी—डा० बी० एम० बरुआ
१०. इतिवुत्तक
११. उपदेशपद—आचार्य हरिभद्र
१२. ऋषिमण्डल स्तोत्र
१३. ए हिस्ट्री आफ दी केनोनिकल लिटरेचर आफ दी जैना—ले० एच० आर० कापड़िया
१४. कठोपनिषद्
१५. कहावली

१६. कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञवृत्ति—देवेन्द्रसूरि कृत
१७. केनोनिकल लिटरेचर
१८. केनोपनिषद्
१९. खरतरगच्छीय पट्टावली
२०. गाथासहस्री—समयसुन्दरगणी
२१. गणधरवाद—पं० दलसुख मालवणिया
२२. गौडपादकारिका
२३. गीता
२४. चउपन्नमहापुरिस चरियं
२५. चित्तसम्भूत जातक
२६. जैन सत्यप्रकाश (पत्रिका)
२७. जैन साहित्य संशोधक
२८. जैन गुर्जर कवियो—भाग १-२
२९. जैन ग्रन्थावली—जैन श्वेताम्बर कॉन्फ्रेंस बम्बई वि० सं० १९६५
३०. जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका—पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री
३१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास—भाग १-२—आचार्य हस्तीमल जी
३२. जैन चित्रकल्पद्रुम
३३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग-१—पं० बेचरदास दोशी
३४. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग-२—डा० जगदीशचन्द जैन व डा० मोहनलाल मेहता
३५. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग-३—डा० मोहनलाल मेहता
प्र० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५
३६. जैनधर्मवरस्तोत्र—स्वोपज्ञवृत्ति, ले० भावप्रभसूरि, प्र०—झवेरी जीवनचन्द सागरचन्द
३७. जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ आगरा-२
३८. जर्नल ऑफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी भाग-१३
३९. तैत्तिरीयोपनिषद्—ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाद
४०. तत्त्वार्थसूत्र—पं० सुखलाल जी संघवी—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी ५
४१. तत्त्वार्थभाष्य
४२. तत्त्वार्थराजवार्तिक—अकलंक
४३. तत्त्वार्थसूत्र—श्रुतसागरीया वृत्ति
४४. तपागच्छ पट्टावली—स्वोपज्ञवृत्ति मुनि कल्याणविजयजी
४५. तित्थोगालीय पइण्णय
(पहले अप्रकाशित था अब मुनि कल्याणविजयजी ने जालोर से प्रकाशित कराया है)

४६. तैत्तिरीय उपनिषद्—भृगुवल्ली, वेलवलकर और रानाडे
४७. थेरगाथा
४८. थेरीगाथा
४९. दर्शनसार रत्नाकर
५०. दीघनिकाय
५१. दिव्यावदान
५२. द आजीविकाज प्री-बुद्धिस्ट
५३. देशी नाममाला
५४. धर्मसागरीया पट्टावली
५५. धम्मपद
५६. न्यायवार्तिक
५७. नारदपरिव्राजकोपनिषद्
५८. प्रवचनसारोद्धार
५९. प्रबन्ध-पारिजात—ले० मुनिश्री कल्याणविजयजी
६०. पातञ्जल योगसूत्र
६१. प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
६२. पाणिनीय शिक्षा
६३. प्रभावक चरित्र—प्र० सिंघी ग्रन्थमाला
६४. परिशिष्ट पर्व—आचार्य हेमचन्द्र
६५. प्रशमरतिप्रकरण—आचार्य उमास्वाति
६६. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी की वृत्ति
६७. प्राकृत साहित्य का इतिहास—डा० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
६८. प्रशस्तिसंग्रह
६९. वलाहस्स जातक
७०. ब्रह्मविद्योपनिषद्
७१. बुद्धिस्ट इण्डिया—राइस डैविड्स
७२. भगवती आराधना—विजयोदया टीका
७३. भारतीय प्राचीन लिपिमाला
७४. भारतीय इतिहास—एक दृष्टि—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी
७५. भगवान महावीर की धर्मकथाओं—पं० बेचरदास दोशी
७६. भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)
भगवान महावीर की प्रतिनिधि कथाएँ—देवेन्द्र मुनि
भगवान महावीर की दार्शनिक चर्चाएँ—देवेन्द्र मुनि
भागवत्

८०. महाजन जातक
८१. मातंग जातक
८२. मज्झिमनिकाय
८३. महावीर चरियं—गुणचन्द्र
८४. माण्डूक्योपनिषद्
८५. मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ—ब्यावर (राजस्थान)
८६. मूलाराधना विजयोदया
८७. योगशास्त्र
८८. योगदर्शन—व्यासभाष्य
८९. मुक्तिप्रबोध, रतलाम से प्रकाशित
९०. रत्नाकरावतारिका वृत्ति
९१. लाइफ इन ऐन्सियन्ट इण्डिया ऐज डेपिक्टेड इन जैन कैनन्स—
डा० जगदीशचन्द जैन
९२. वैशेषिक दर्शन
९३. विविध तीर्थकल्प
९४. विनयपिटक
९५. विशेष शतक
९६. विचार लेश (विचार सार प्रकरण)
९७. वायणाविहि
९८. बृहद्कथा-कोष—मुक्तिप्रबोध—प्र० रतलाम वि० स० १९८४
९९. बृहदारण्यक ब्राह्मण
१००. विष्णुपुराण
१०१. विसवन्त जातक
१०२. वीर निर्वाण सम्वत् और जैनकाल गणना—मुनि कल्याणविजयजी
१०३. सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र
१०४. सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद
१०५. सुखबोधा समाचारी
१०६. समाचारी शतक
१०७. सुबालोपनिषद् ९ खण्ड ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद्
१०८. स्याद्वाद रत्नाकर
१०९. सुत्तनिपात
११०. स्टोरीज फ्राम दी धर्म आफ नाया
१११. संयुक्तनिकाय
११२. सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ
११३. सांख्यकारिका—बेलवलकर और रानाडे

११४. संन्यासोपनिषद्
११५. सेन्ट मेथ्यू की सुवार्ता
११६. सोनक जातक
११७. सेन्ट ल्यूक की सुवार्ता
११८. शिक्षा समुच्चय
११९. शाकटायन व्याकरण—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१२०. श्वेताश्वतर उपनिषद् शांकरभाष्य
१२१. श्वेताम्बर इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग-११
१२२. हिन्दी विश्वकोष—डा० नगेन्द्रनाथ वसु
१२३. हिस्ट्री एण्ड डोक्ट्रिन्स आफ द आजीविकाज—ए० एल० बाशम
१२४. हरिवंशपुराण
१२५. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग-२—विन्टरनित्ज
१२६. हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्ज—ले० डा० बी० सी० लाहा
१२७. हत्थिपाल जातक
१२८. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र—आचार्य हेमचन्द्र
१२९. ज्ञानाञ्जली—पुण्यविजयजी महाराज

शब्दानुक्रमणिका

□

शुद्धि पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१४	२९	वैगचूलिका	वंगचूलिका
१४	२५	संलेखनाश्रत	संलेखनाश्रुत
४०	२	त्रिपष्ठि	त्रिषष्टि
४२	९	प्रचीन	प्राचीन
४४	१६	देवर्धिगणी	देवर्द्धिगणी
५४	२४	आचरंग	आचारांग
५६	३०	आवश्यक चूर्णि	आचारांग चूर्णि
६०	२४	उपाधि	उपधि
१०७	१५	भगवात	भगवान
१२५	२०	महयुद्ध	महायुद्ध
१३८	३	आसस्त	आसक्त
१५१	२८	जैन सहित्य	जैन साहित्य
१५६	२	श्रवक	श्रावक
१६८	१०	यभव	वैभव
२२६	५	(करता हूँ) ।	(करता हूँ) ।[२]
२४४	४	यथाकार	यथाकार
४४४	५	पास	पाठ
४६४	१३	व्यक्तियों	व्यक्तियो
४६८	२९	होगा	होगा
५२९	२७	प्रज्ञपना	प्रज्ञापना
५३४	२६	सद्धपिगणी	सिद्धपिगणी
५३९	५	वृष्णिदशा	वृष्णिदशा
५५३	२९	अंग्रजी	अंग्रेजी
५५६	२		मुनि कन्हैयालालजी कमल ने
५६२	२२	विछिन्न	विच्छिन्न
५७७	१७	धानकीखण्ड	धातकीखण्ड
५७९	५	दान	हीन

५८५	१	निकांक्षित	निःकांक्षित
५८५	८	प्रोपघ	पोपध
६०६	१३	संकृति	संस्कृति
६०८	१५	बृत	मृत्त
६०६	१२	बट्टे	वट्टे
६०६	१३	तं से	तंसे
६०६	१३	चउरं से	चउरंसे
६१५	६	कर्न	कर्म
६१५	१५	इर्याविशुद्धि	ईर्याविशुद्धि
६१८	२१	चतुमंगी	चतुर्भंगी
६२१	६	उज्झमाणीए	डज्झमाणीए
६२१	६	उज्झइ	डज्झइ
६२४	२३	से यं	सेयं
६२५	२७	छेय	सेय

□

मत-सम्मत
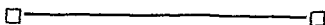
(श्री देवेन्द्र मुनि जी के साहित्य पर विद्वानों के कुछ अभिप्राय)

□ भगवान महावीर : एक अनुशीलन

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष पर महावीर के व्यक्तित्व को उजागर करने वाले छोटे बड़े कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं किन्तु प्राचीन मूल स्रोतों के आधार पर एवं आधुनिक दृष्टि से समन्वय द्वारा इस विषय पर जो ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, वे एक दो ही हैं। उनमें श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री का प्रस्तुत ग्रन्थ कई दृष्टियों से अप्रतिम है। सामान्य पाठक एवं शोधार्थियों के लिए समान रूप से उपादेय है।

उनका अगाध पाण्डित्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।…… लेखक ने महावीर के जीवन की विभिन्न घटनाओं को अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक का असाम्प्रदायिक होना इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। महावीर के चिन्तन को प्रस्तुत करते समय मुनि जी ने विशुद्ध दार्शनिक के तार्किक चिन्तन का परिचय दिया है। वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में भी महावीर के चिन्तन की सार्थकता पर लेखक ने अपने विचार इस पुस्तक में समाहित किये हैं। अनेक परिशिष्टों से युक्त यह कृति वास्तव में महावीर के जीवन और सिद्धान्त के विषय में एक सन्दर्भ-ग्रन्थ की पूर्ति करती है। गुजराती आदि भाषाओं में इसका अनुवाद प्रकाशित होना पुस्तक की सार्वभौमिकता का प्रमाण है।

—संदर्शन सन् १९७६ दर्शनपीठ, इलाहाबाद
डॉ० कमलचन्द सोगानी
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)

□ जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण

श्री देवेन्द्र मुनि जी वर्तमान युग के समर्थ एवं अन्वेषक मनस्वी विद्वान हैं। जिस विषय को अपने प्रतिपादन का केन्द्र बनाते हैं उसकी अतल गहराई में प्रवेश करते हैं और दर्शन के सूक्ष्म तन्तुओं को भी स्पर्श करते हैं।

जैनदर्शन पर यों तो इधर दो-एक दशकों में अच्छा प्रकाशन कार्य हुआ है। लेकिन प्रस्तुत कृति की अपनी एक अलग इयत्ता है। सरल, बोधगम्य भाषा में अपनी

बात कहने में मुनिजी निपुण हैं। प्रमाण और परिभाषाओं को न छोड़ते हुए भी मुनि जी ने एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति जैनदर्शन की वैश्विक महत्ता को उजागर किया है। साम्प्रदायिक अथवा पांथिक अभिनिवेश अथवा उत्तेजना से बचकर सहज-भाव से, सामान्य जिज्ञासुओं के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन सचमुच अपार धीरज का परिणाम कहा जायेगा।

.......*मुनि जी मानव-हृदय के सरस संस्पर्शित व्यक्ति हैं, उनका मानस काव्य* की कमनीयता से समलंकृत है और साधना उनकी आध्यात्मिक है। काव्य-साधना *एवं अभिव्यक्ति की सरलता ने उनमें एक यौगिक संगम निर्मित कर दिया है।* ऐसे समर्थ व्यक्तित्व से अभी भारतीय दर्शन एवं संस्कृति को बहुत आशाएँ हैं।

—श्रमण, फरवरी १९७६

☐ "जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण" ग्रन्थ को पढ़कर मुझे हार्दिक आह्लाद हुआ। जैनदर्शन पर अनेक ग्रन्थ निकले हैं किन्तु इस ग्रन्थ की अनूठी विशेषता है। भाषा के लालित्य के साथ विषय की जिस गहराई से विवेचना की है उसमें मुनिजी का गम्भीर पाण्डित्य झलक रहा है। ऐसे अद्भुत ग्रन्थरत्न का प्रत्येक भाषा में अनुवाद होना चाहिए और मेरा नम्र निवेदन है कि ऐसे ग्रन्थ पर मुनि श्री को डी० लिट्० की उपाधि से अलंकृत करना चाहिए। ग्रन्थ शोधपूर्ण, जीवनोपयोगी, जीवन को नया मोड़ देने वाला, जादू सा असर पैदा करने वाला है।

—महासती उज्ज्वलकुमारी, अहमदनगर

☐ जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण
देख नाच उठा है सारा जन-मन
सरस्वती भी नहीं कर सकती वर्णन
गुरु पुष्कर के मुनि देवेन्द्र से वसुधा भी हो गई धन-धन
कलम कलाधर, तुम्हें हमारा शत-शत हो वन्दन
पी-एच० डी० की उपाधि मिले यही चाहता जन-मन
उज्ज्वल कीर्ति दश दिशा में फैले यही भावना क्षण-क्षण
अनेकों के पथदर्शक बने आपका आदर्श जीवन
दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति करो अर्हन् !
पाप-ताप-संताप मिटे जो करे आपके दर्शन
ऐसे भाई देवेन्द्र मुनि का बार-बार अभिनन्दन !!

—जैनसाध्वी धर्मशीला
एम० ए०, पी-एच० डी०, *साहित्यरत्न*

☐ 'जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण' ग्रन्थ को पढ़कर मुझे ऐसा अनुभव कि जैनदर्शन के सर्वांगीण अध्ययन के लिए जैसे प्रतिनिधि ग्रन्थ की थी, सचमुच उसकी पूर्ति हो गई है। जैनदर्शन से सम्बन्धित सभी तात्त्विक पर जितनी स्पष्टता एवं सरलता के साथ लिखा गया है वह अतीव प्रशंसनीय है

—सौभाग्य मुनि

☐

(१)

प्रबुद्ध चिन्तक, प्रखर मनीषी, मौलिक प्रतिभा के आगार।
श्री देवेन्द्र मुनि जी के श्रम का, करता हूँ मैं सत्कार॥

(२)

अहा! जैन दर्शन का लेखक ने, विश्लेषण और स्वरूप।
पाँच खण्ड में प्रस्तुत करके, कर दिखलाया कार्य अनूप॥

(३)

जो कुछ लिखा गया वह, पल्लवग्राही नहीं, अपितु गंभीर।
तर्क-पुरस्सर, विशद विवेचन, पंक्ति-पंक्ति में अमृत क्षीर॥

(४)

जब भी देखा मैंने उनको, प्रायः लिखते रहते हैं।
चिन्तन की पावन धारा में, प्रायः बहते रहते हैं॥

(५)

स्थानकवासी श्रमण वृन्द में, सर्वश्रेष्ठ लेखक देवेन्द्र।
उक्त तथ्य में सत्य सर्वथा, स्पष्ट कह रहा मुनि 'महेन्द्र'॥

—मुनि महेन्द्र कुमार 'कमल'

☐ कल्पसूत्र

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ में सम्पादक महोदय ने कई शोधात्मक सामग्रियों उद्घाटन किया है, जो अपने आप में निश्चय ही स्तुत्य है। प्रस्तावना के ऐतिहासिक अध्ययन की सूक्ष्मता दृष्टिगोचर होती है और साथ ही विपुल का दस्तावेज भी प्राप्त होता है, जो गंभीरता के द्योतक हैं। भगवान महावीर के सम्पूर्ण जीवन सामग्रियों के साथ ही साथ भगवान पार्श्वनाथ, भगवान अरिष्टनेमि भगवान ऋषभदेव आदि के सम्बन्ध में भी पुनर्विचार किया गया है। स्थविरावली एवं समाचारी के सम्बन्ध में भी सम्यक् प्रकाश डाला है। संक्षिप्त पारिभाषिक शब्द कोष का संग्रह उपादेय है। संक्षेप में यह ग्रन्थ शोधिरसुकों एवं साधारण पाठकों के लिए भी उपयोगी एवं संग्रहणीय है। पुस्तक की छपाई साफ एवं सफाई बहुत ही सुन्दर है।

—श्रमण, दिसम्बर १९